तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

•

३

प्रबुद्धाचार्य
एवं
परम्परापोषकाचार्य

•

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहद्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

पण्डित भागचन्द, महावीराष्टक

•

तीर्थंकर महावीर
और
उनकी आचार्य-परम्परा

लेखक
(स्व०) डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्

श्री भारतवर्षीय दिगम्बरजैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

●

प्राप्ति-स्थान
मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
कार्यालय, वर्णी-भवन
सागर (मध्य प्रदेश)

●

तीर्थंकर महावीरके निर्वाण-रजतशती महोत्सवके
मङ्गलमय अवसरपर प्रकाशित

●

प्रथम संस्करण : १५००
दीपावली, वीर-निर्वाण संवत् २५०१
कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या, विक्रम संवत् २०३१
१३ नवम्बर, ईस्वी सन् १९७४

●

मूल्य पच्चीस रुपये

●

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–२२१००१

तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीर
जिनकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्र मना रहा है।

प्रकाशक की लेखनीसे

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे गुरु गोपालदास बरैया-शताब्दी समारोहके प्रसंगको लेकर जब श्री बरैया-स्मृति-ग्रन्थका प्रकाशन हुआ, तब समाजके प्रबुद्धवर्गने अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की थी। ग्रन्थका सर्वत्र समादर हुआ और उसकी समस्त प्रतियाँ हाथों-हाथ उठ गयीं। भारतवर्षके समस्त विश्वविद्यालयोंकी लाइब्रेरियोंके लिए यह संग्रहणीय ग्रन्थ विद्वत्परिषद्की ओरसे निःशुल्क भेंट किया गया। उसके उत्तरमें विश्वविद्यालयोंके प्रबन्धकोंने जो धन्यवादपत्र दिये, उनमें उन्होंने उस ग्रन्थरत्नको प्राप्तकर बड़ा हर्ष प्रकट किया था।

वर्तमानमें चल रहे श्री १००८ भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें भी विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीने **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया और इसके लेखनका भार विद्वत्परिषद्के उपाध्यक्ष और बहुमुखी प्रतिभाके धनी श्री नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग एच० डी० जैन कालेज आराको दिया गया। सम्माननीय डाक्टर साहबने इस ग्रन्थके लेखनमें चार-पाँच वर्ष अकथनीय परिश्रम किया है। परन्तु खेद है कि वे अपनी इस महनीय कृतिको अपने जीवन-कालमें प्रकाशित न देख सके। गत जनवरी ७४ में उनके दिवंगत होनेका समाचार देशभरमें संतप्त हृदयसे सुना गया।

यह महान् ग्रन्थ चार भागोंमें सम्पूर्ण हुआ है। इसके प्रकाशनके लिए विद्वत्परिषद्के पास अर्थकी व्यवस्था नगण्य थी। परन्तु विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष डॉक्टर दरबारीलालजी कोठियाने इसके अग्रिम ग्राहक बनानेकी योजना प्रस्तुत की, जिसे समाजने बड़े उत्साहके साथ स्वीकृत किया। श्री १०८ पूज्य विद्यानन्दजी महाराजने भी अपने शुभाशीर्वादसे इसके प्रकाशनका मार्ग प्रशस्त किया। यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इसके सातसौ ग्राहक अग्रिम मूल्य देकर बन गये। ग्रन्थके चारों भागोंका मूल्य ८५) है। परन्तु अग्रिम ग्राहक बननेवालों-को यह ग्रन्थ ६१) में देनेका निर्णय किया गया।

ग्रन्थका आभ्यन्तर-परिचय डॉक्टर दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखे आमुख तथा ग्रन्थकी विषय-सूचीसे स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके संपादन और प्रकाशन तथा अर्थके संग्रहमें विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष

श्रीमान् डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, एम० ए०, पी-एच०-डी०, पूर्वरीडर जैन-बौद्धदर्शनविभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसीको महान् परिश्रम करना पड़ा है, प्रेसकी दौड़धूप और प्रूफका देखना आदि कार्य आपने जिस निस्पृह भाव, लगन और निष्ठासे संपन्न किये हैं वह श्लाघ्य है। आपकी इस महनीय सेवाके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने ग्रन्थपर आशीर्वचनके रूपमें बहुमूल्य 'आद्य मिताक्षर' लिखकर हमें कृतार्थ किया, इसके लिए हम उनके प्रति विनत हैं। सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी वाराणसीने अपना महत्त्वपूर्ण 'प्राक्कथन' लिखनेकी कृपा की, अतः उनके भी अतिकृतज्ञ हैं।

श्री बाबूलालजी फागुल्ल, संचालक महावीर-प्रेसने बड़ी सुन्दरतासे इसका प्रकाशन किया है, इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

अग्रिम मूल्य भेजकर जिन ग्राहकोंने हमारी प्रकाशन-व्यवस्थाको सुकर बनाया है उनके प्रति मैं नम्र आभार प्रकट करता हूँ। ग्रन्थकी तैयार पाण्डु-लिपिके वाचनमें श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, डॉ० दरबारी-लालजी कोठिया, डॉ० ज्योतिप्रसादजी लखनऊ, आदि विद्वानोंने जो समय और सुझाव दिये हैं उनके प्रति भी मैं सविनय आभार प्रकट करता हूँ।

अन्तमें प्रकाशन-सम्बन्धी अशुद्धियोंके लिए क्षमा-याचना करता हुआ आकांक्षा करता हूँ कि भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवकी पुण्य-वेलामें इस ग्रन्थका घर-घरमें प्रचार हो और जन-मानस भगवान् महावीरके सिद्धान्तोंसे सुपरिचित हो।

विनीत

सागर
९-७-१९७४

पन्नालाल जैन
मंत्री
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
सागर

आद्य मिताक्षर

'**परम्परा**' शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है और विश्वके कण-कणसे सम्बन्धित है। परम्पराका इतिहास लेखबद्ध करना वैसे ही कठिन कार्य है, फिर श्रमण-परम्पराका इतिहास तो सर्वथा ही दुरूह है। प्रसंगमें जहाँ '**परम्परा**' शब्द सद्-आगम और सद्गुरुओंका बोधक है, वहाँ यह प्रामाणिकताका द्योतक भी है। परम्परागत आगम और गुरुओंको सर्वत्र प्रथम स्थान है। इसीलिए '**आचार्यगुरुभ्यो नमः**' के स्थान पर '**परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः**' का प्रचलन है। लोकमें आज भी यह परम्परा प्रचलित है। जैसे गृहस्थोंके विवाह आदि संस्कारोंमें परम्परा (गोत्रादि) का प्रश्न उठता है, वैसे ही मुनियोंके संबंधमें भी उनकी गुरु-परम्पराका ज्ञान आवश्यक है।

भारतमें मुनि-परम्परा और ऋषि-परम्परा ये दो परम्पराएँ प्राचीनकालसे रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रथम परम्पराका संबंध आत्मधर्मा श्रमणोंसे रहा है—श्रमणमुनि मोक्षमार्गके उपदेष्टा रहे हैं। द्वितीय परम्पराका संबंध लोक-धर्मसे रहा है—ऋषिगण गृहस्थोंके षोडश संस्कारादि सम्पन्न कराते रहे हैं। ऋषियोंको जब आत्मधर्मज्ञानकी बुभुक्षा जाग्रत हुई, वे श्रमणमुनियोंके समीप जिज्ञासाकी पूर्ति एवं मार्गदर्शनके लिए पहुँचते रहे।[१]

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ '**तीर्थङ्कर महावीर और उनकी परम्परा**' में श्रमण—मुनि-परम्पराका तथ्यपूर्ण इतिहास है। वस्तुतः

> वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयोऽर्थमायंस्तेऽनिलाय-मचरंस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानृषयो-ऽब्रुवन कया निलायं चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमोवोऽस्तु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि केन वः सपर्यामेति तानृषयोऽब्रुवन—पवित्रं नो ब्रूत येनोरेपसः स्यामेति त एतानि सूक्तान्यपश्यन्।'
>
> —तैत्तिरीय आरण्यक २ प्रपाठक ७ अनुवाक, १-२

'वातरशन—श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपदकी ओर उत्क्रमण करनेवाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन कूष्माण्डनामक मन्त्रवाक्योंमें अन्तर्हित हो गए, तब उन्हें अन्य ऋषियोंने श्रद्धा और तपसे प्राप्त कर लिया। ऋषियोंने उन वातरशन मुनियोंसे प्रश्न किया—किस विद्यासे आप अन्तर्हित हो जाते हैं? वातरशन मुनियोंने उन्हें अपने अध्यात्म धामसे आए हुए अतिथि जानकर कहा—हे मुनिजनों! आपको नमोऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें? ऋषियोंने कहा—हमें पवित्र आत्मविद्याका उपदेश दीजिए, जिससे हम निष्पाप हो जाएँ।

इतिहासकी रचनाके लिए तथ्यज्ञान आवश्यक है। यतः—

इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत्॥

—आचार्य श्रीजिनसेन, आदिपुराण, १।२५

'इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं। 'इति ह आसीत' (निश्चय ऐसा ही था), 'इतिवृत्तम्' (ऐसा हुआ—घटित हुआ) तथा परम्परासे ऐसा ही आम्नात है—इन अर्थो में इतिहास है।

इतिहास दीपकतुल्य है। वस्तुके कृष्ण-श्वेतादि यथार्थ रूपको जैसे दीपक प्रकाशित करता है, वैसे इतिहास मोहके आवरणका नाशकर, भ्रान्तियोंको दूर करके—सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जानेवाली यथार्थताका प्रकाशन करता है। अर्थात् दीपकके प्रकाशसे पूर्व जैसे कक्षमें स्थित वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होतो, वैसे ही सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भभूत सत्य इतिहासके बिना सुव्यक्त नहीं होता।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान्की लेखनीमें बल और विचारोंमें तर्कसंगतता है। समाज इनकी अनेक कृतियोंका मूल्यांकन कर चुका है—भलीभाँति सम्मानित कर चुका है। प्रस्तुत कृतिसे जहाँ पाठकोंको स्वच्छ श्रमण-परम्पराका परिज्ञान होगा, वहाँ ग्रन्थमें दिये गये टिप्पणोंसे उनके ज्ञानमें प्रामाणिकता भी आवेगी। श्रमण-परम्पराके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें श्रमणों-की मान्यताओं एवं जैन सिद्धान्तोंका भी सफल निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ सभी प्रकारसे अपनेमें परिपूर्ण एवं लेखककी ज्ञान-गरिमाको इङ्गित करनेमें समर्थ है।

यहाँ लेखकके अभिन्न मित्र डॉ० दरबारीलाल कोठियाजीके प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें किए गए सत्यप्रयत्नोंको भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जिनके द्वारा हमें प्रस्तुत ग्रन्थके लिए कुछ शब्द लिखनेका आग्रहयुक्त निवेदन प्राप्त हुआ। विद्वत्परिषद्का यह प्रकाशन-कार्य परिषद्के सर्वथा अनुरूप है। ऐसे सत्कार्य-के लिए भी हमारे शुभाशीर्वाद !

१. इतिहास-प्रदीपेन मोहावरणघातिना।
सर्वलोकधृतं गर्भं यथावत् संप्रकाशयेत्॥

—महाभारत

प्राक् कथन

भारतवर्षका क्रमबद्ध इतिहास बुद्ध और महावीरसे प्रारम्भ होता है। इनमेंसे प्रथम बौद्धधर्मके संस्थापक थे, तो द्वितीय थे जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर। 'तीर्थंकर' शब्द जैनधर्मके चौबीस प्रवर्त्तकोंके लिए रूढ़ जैसा हो गया है, यद्यपि है यह यौगिक ही। धर्मरूपी तीर्थके प्रवर्त्तकको ही तीर्थंकर कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथकी स्तुतिमें उन्हें 'धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्' पदके द्वारा धर्मतीर्थका प्रवर्त्तक कहा है। भगवान महावीर भी उसी धर्मतीर्थके अन्तिम प्रवर्त्तक थे और आदि प्रवर्त्तक थे भगवान् ऋषभदेव। यही कारण है कि हिन्दू पुराणोंमें जैनधर्मकी उत्पत्तिके प्रसंगसे एकमात्र भगवान् ऋषभदेवका ही उल्लेख मिलता है किन्तु भगवान् महावीरका संकेत तक नहीं है जब उन्हींके समकालीन बुद्धको विष्णुके अवतारोंमें स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत त्रिपिटक साहित्यमें निग्गंठनाटपुत्तका तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोंका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है। उन्हींको लक्ष्य करके स्व० डॉ० हर्मान याकोवीने अपनी जैन सूत्रोंकी प्रस्तावनामें लिखा है—'इस बातसे अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, बुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोंमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ़ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोंका, जो आज जैन अथवा आर्हत नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोंमें कुछ निर्ग्रन्थोंका बुद्ध और उनके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थोंमें किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमें नहीं आता कि निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपरसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बुद्धके जन्मसे पहले अति प्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोंका अस्तित्व चला आता है।"

अन्यत्र डॉ० याकोवीने लिखा है—'इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको जैन धर्मका संस्थापक माननेमें एकमत है। इस मान्यतामें ऐतिहासिक सत्यकी सम्भावना है।'

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन्‌ने अपने 'भारतीय दर्शन' में कहा है—'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद-में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरोंके नामोंका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।'

यथार्थमें वैदिकोंकी परम्पराकी तरह श्रमणोंकी भी परम्परा अति प्राचीन कालसे इस देशमें प्रवर्तित है। इन्हीं दोनों परम्पराओंके मेलसे प्राचीन भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है। उन्हीं श्रमणोंकी परम्परामें भगवान महावीर हुए थे। बुद्धकी तरह वे भी एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्होंने भी घरका परि-त्याग करके कठोर साधनाका मार्ग अपनाया था। यह एक विचित्र बात है कि श्रमण परम्पराके इन दो प्रवर्त्तकोंकी तरह वैदिक परम्पराके अनुयायी हिन्दू-धर्ममें मान्य राम और कृष्ण भी क्षत्रिय थे। किन्तु उन्होंने गृहस्थाश्रम और राज्यासनका परित्याग नहीं किया। यही प्रमुख अन्तर इन दोनों परम्पराओंमें है। कृष्ण भी योगी कहे जाते हैं किन्तु वे कर्मयोगी थे। महावीर ज्ञानयोगी थे। कर्मयोग और ज्ञानयोगमें अन्तर है। कर्मयोगीकी प्रवृत्ति बाह्याभिमुखी होती है और ज्ञानयोगीकी आन्तराभिमुखी। कर्मयोगीको कर्ममें रस रहता है और ज्ञानयोगीको ज्ञानमें। ज्ञानमें रस रहते हुए कर्म करनेपर भी कर्मका कर्त्ता नहीं कहा जाता। और कर्ममें रस रहते हुए कर्म नहीं करनेपर भी कर्मका कर्त्ता कहलाता है। कर्म प्रवृत्तिरूप होता है और ज्ञान निवृत्तिरूप। प्रवृत्ति और निवृत्तिकी यह परम्परा साधनाकालमें मिली-जुली जैसी चलती है किन्तु ज्यों-ज्यों निवृत्ति बढ़ती जाती है प्रवृत्तिका स्वतः ह्रास होता जाता है। इसी-को आत्मसाधना कहते हैं।

यथार्थमें विचार कर देखें—प्रवृत्तिके मूल मन, वचन और काय हैं। किन्तु आत्माके न मन है, न वचन है और न काय है। ये सब तो कर्मजन्य उपाधियाँ हैं। इन उपाधियोंमें जिसे रस है वह आत्मज्ञानी नहीं है। जो आत्मज्ञानी हो जाता है उसे ये उपाधियाँ व्याधियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इनका निरोध सरल नहीं है। किन्तु इनका निरोध हुए बिना प्रवृत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नहीं है। उसीके लिए भगवान महावीरने सब कुछ त्याग कर वनका मार्ग लिया था। संसार-मार्गियोंकी दृष्टिमें भले ही यह 'पलायनवाद' प्रतीत हो, किन्तु इस पलायनवादको अपनाये बिना निर्वाण-प्राप्तिका दूसरा

मार्ग भी नहीं है। भोगी और योगीका मार्ग एक कैसे हो सकता है। तभी तो गीतामें कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'सब प्राणियोंके लिए जो रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें प्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनिकी रात है।'

इस प्रकार भोगी संसारसे योगीके दिन-रात भिन्न होते हैं। संयमी महावीर-ने भी आत्म-साधनाके द्वारा कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रातः सूर्योदयसे पहले निर्वाण-लाभ किया। जैनोंके उल्लेखानुनार उसीके उपलक्षमें दीपमालिकाका आयोजन हुआ और उनके निर्वाण-लाभको पच्चोस सौ वर्ष पूर्ण हुए। उसीके उपलक्षमें विश्वमें महोत्सवका आयोजन किया गया है।

उसीके स्मृतिमें **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** नामक यह बृहत्काय ग्रन्थ चार खण्डोंमें प्रकाशित हो रहा है। इसमें भगवान महावीर और उनके बादके पच्चीस-सौ वर्षोंमें हुए विविध साहित्यकारोंका परिचयादि उनकी साहित्य-साधनाका मूल्यांकन करते हुए विद्वान् लेखकने निबद्ध किया है। उन्होंने इस ग्रन्थके लेखनमें कितना श्रम किया, यह तो इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढ़नेवाले ही जान सकेंगे। मेरे जानतेमें प्रकृत विषयसे सम्बद्ध कोई ग्रन्थ, या लेखादि उनकी दृष्टिसे ओझल नहीं रहा। तभी तो इस अपनी कृतिको समाप्त करनेके पश्चात् ही वे स्वर्गत हो गये और इसे प्रकाशमें लानेके लिए उनके अभिन्न सखा डॉ० कोठियाने कितना श्रम किया है, इसे वे देख नहीं सके। **'भगवान महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा'में लेखकने अपना जीवन उत्सर्ग करके जो श्रद्धाके सुमन चढ़ाये हैं उनका मूल्यांकन करनेकी क्षमता इन पंक्तियोंके लेखकमें नहीं है। वह तो इतना ही कह सकता है कि आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्रीने अपनी इस कृतिके द्वारा स्वयं अपनेको भी उस परम्परामें सम्मिलित कर लिया है।**

उनकी इस अध्ययनपूर्ण कृतिमें अनेक विचारणीय ऐतिहासिक प्रसंग आये हैं। भगवान महावीरके समय, माता-पिता, जन्मस्थान आदिके विषयमें तो कोई मतभेद नहीं है। किन्तु उनके निर्वाणस्थानके सम्बन्धमें कुछ समयसे विवाद खड़ा हो गया है। मध्यमा पावामें निर्वाण हुआ, यह सर्वसम्मत उल्लेख है। तदनुसार राजगृहीके पास पावा स्थानको ही निर्वाणभूमिके रूपमें माना जाता है। वहाँ एक तालाबके मध्यमें विशाल मन्दिरमें उनके चरण-

चिन्ह स्थापित हैं। यह स्थान मगधमें है। दूसरी पावा उत्तर प्रदेशके देवरिया जिलेमें कुशीनगरके समीप है। डॉ० शास्त्रीने मगधवर्ती पावाको ही निर्वाण-भूमि माना है।

बिम्बसार श्रेणिक भगवान महावीरका परम भक्त था। उसकी मृत्यु डॉ० शास्त्रीने भगवान महावीरके निर्वाणके बाद मानी है, उन्हें ऐसे उल्लेख मिले हैं। किन्तु यह ऐतिहासिक प्रसंग विचारणीय हैं।

उन्होंने जैन तत्त्व-ज्ञानका भी बहुत विस्तारसे विवेचन किया है और प्राय: सभी आवश्यक विषयोंपर प्रकाश डाला है। दूसरा, तीसरा तथा चौथा खण्ड तो एक तरहसे जैनसाहित्यका इतिहास जैसा है। संक्षेपमें उनकी यह बहुमूल्य कृति अभिनन्दनीय है। आशा है इसका यथेष्ट समादर होगा।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

आमुख

भारतीय संस्कृतिमें आर्हत संस्कृतिका प्रमुख स्थान है। इसके दर्शन, सिद्धांत, धर्म और उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकरों तथा उनकी परम्पराका महत्त्वपूर्ण अवदान है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर[1] और उनके उत्तरवर्ती आचार्योंने अध्यात्म-विद्याका, जिसे उपनिषद्-साहित्यमें[2] 'परा विद्या' (उत्कृष्ट विद्या) कहा गया है, सदा उपदेश दिया और भारतकी चेतनाको जागृत एवं ऊर्ध्वमुखी रखा है। आत्माको परमात्माकी ओर ले जाने तथा शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए उन्होंने[3] अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, त्याग और समाधि (आत्मलीनता) का स्वयं आचारण किया और पश्चात् उनका दूसरोंको उपदेश दिया। सम्भवतः इसीसे वे अध्यात्म-शिक्षादाता और श्रमण-संस्कृतिके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। आज भी उनका मार्गदर्शन निष्कलुष एवं उपादेय माना जाता है।

तीर्थंकर महावीर इस संस्कृतिके प्रबुद्ध, सबल, प्रभावशाली और अन्तिम प्रचारक थे। उनका दर्शन, सिद्धान्त, धर्म और उनका प्रतिपादक वाङ्मय विपुल मात्रामें आज भी विद्यमान है तथा उसी दिशामें उसका योगदान हो रहा है।

अतएव बहुत समयसे अनुभव किया जाता रहा है कि तीर्थंकर महावीरका सर्वाङ्गपूर्ण परिचायक ग्रन्थ होना चाहिए, जिसके द्वारा सर्वसाधारणको उनके जीवनवृत्त, उपदेश और परम्पराका विशद परिज्ञान हो सके। यद्यपि भगवान् महावीरपर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें लिखा पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है, पर उससे सर्वसाधारणकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती।

सौभाग्यकी बात है कि राष्ट्रने तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीरकी निर्वाण-रजतशती राष्ट्रीय स्तरपर मनानेका निश्चय किया है, जो आगामी कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या वीर-निर्वाण संवत् २५०१, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७४ से कार्त्तिक

---

१. धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

भट्टाकलङ्कदेव, लघीयस्त्रय, मङ्गलपद्य १।

२. मुण्डकोपनिषद् १।१।४१५।

३. स्वामी समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन का० ६।

कृष्णा अमावस्या, वीर-निर्वाण संवत् २५०२, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७५ तक पूरे एक वर्ष मनायी जावेगी। यह मङ्गल-प्रसङ्ग भी उक्त ग्रन्थ-निर्माणके लिए उत्प्रेरक रहा।

अतः अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्‌ने पाँच वर्ष पूर्व इस महान् दुर्लभ अवसरपर तीर्थंकर महावीर और उनके दर्शनसे सम्बन्धित विशाल एवं तथ्यपूर्ण ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनका निश्चय तथा संकल्प किया। परिषद्‌ने इसके हेतु अनेक बैठकें कीं और उनमें ग्रन्थकी रूपरेखापर गम्भीरतासे ऊहापोह किया। फलतः ग्रन्थका नाम **'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा'** निर्णीत हुआ और लेखनका दायित्व विद्वत्परिषद्‌के तत्कालीन अध्यक्ष, अनेक ग्रन्थोंके लेखक, मूर्धन्य-मनीषी, आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री आरा (बिहार) ने सहर्ष स्वीकार किया। आचार्य शास्त्रीने पाँच वर्ष लगातार कठोर परिश्रम, अद्भुत लगन और असाधारण अध्यवसायसे उसे चार खण्डों तथा लगभग २००० (दो हजार) पृष्ठोंमें सृजित करके ३० सितम्बर १९७३ को विद्वत्परिषद्‌को प्रकाशनार्थ दे दिया।

विचार हुआ कि समग्र ग्रन्थका एक बार वाचन कर लिया जाय। आचार्य शास्त्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी प्रबन्धकारिणीको बैठकमें सम्मिलत होनेके लिए ३० सितम्बर १९७३ को वाराणसी पधारे थे। और अपने साथ उक्त ग्रन्थके चारों खण्ड लेते आये थे। अतः १ अक्तूबर १९७३ से १५ अक्तूबर १९७३ तक १५ दिन वाराणसीमें ही प्रतिदिन प्रायः तीन समय तीन-तीन घण्टे ग्रन्थका वाचन हुआ। वाचनमें आचार्य शास्त्रीके अतिरिक्त सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री पूर्व प्रधानाचार्य स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, डॉक्टर ज्योतिप्रसादजी लखनऊ और हम सम्मिलित रहते थे। आचार्य शास्त्री स्वयं वाचते थे और हमलोग सुनते थे। यथावसर आवश्यकता पड़ने पर सुझाव भी दे दिये जाते थे। यह वाचन १५ अक्तूबर १९७३ को समाप्त हुआ और १६ अक्तूबर १९७३ को ग्रन्थ प्रकाशनार्थ महावीर प्रेसको दे दिया गया।

ग्रन्थ-परिचय

इस विशाल एवं असामान्य ग्रन्थका यहाँ संक्षेपमें परिचय दिया जाता है, जिससे ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है और लेखकने उसके साथ कितना अमेय परिश्रम किया है, यह सहजमें ज्ञात हो सकेगा।

यहाँ तृतीय खण्ड का परिचय प्रस्तुत है—

३. प्रबुद्धाचार्य और परम्परापोषकाचार्य

इस खण्डमें भी दो परिच्छेद हैं। इनका वर्ण्य विषय निम्न प्रकार है।

प्रथम परिच्छेद : प्रबुद्धाचार्य

इस परिच्छेदमें डॉक्टर शास्त्रीने प्रबुद्धाचार्यों और उनकी कृतियोंको संकलित किया तथा उनका विस्तृत परिचय दिया है। प्रबुद्धाचार्यसे अभिप्राय उन आचार्यों से लिया है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थप्रणयनके साथ विवृतियाँ और भाष्य भी रचे हैं। इस श्रेणीमें जिनसेन प्रथम, गुणभद्र, पाल्यकीर्ति, वादीभसिंह, महावीराचार्य, बृहत् अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, लघु-अनन्तवीर्य, वीरनन्दि, महासेन, हरिषेण, सोमदेव, वादिराज, पद्मनन्दि प्रथम, पद्मनन्दि द्वितीय, जयसेन, पद्मप्रभमलधारिदेव, शुभचन्द्र, अनन्तकीर्ति, मल्लिषेण, इन्द्रनन्दि प्रथम, इन्द्रनन्दि द्वितीय आदि पचास आचार्य परिगणित हैं। इन सबका परिचय इस परिच्छेदमें निबद्ध है। इनकी कृतियोंका भी विस्तारसे वर्ण्य-विषय प्रतिपादित है।

द्वितीय परिच्छेद : परम्परापोषकाचार्य

लेखकने परम्परापोषकाचार्य उन्हें बताया है, जिन्होंने दिगम्बर परम्पराकी रक्षाके लिए प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थोंके आधारपर अपने नये ग्रन्थ लिखे और परम्पराको गतिशील बनाये रखा है। इस श्रेणीमें भट्टारक परिगणित हैं। पार्श्वदेव, भास्करनन्दि, ब्रह्मदेव, रविचन्द्र, पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवन-कीर्ति, ब्रह्मजिनदास, सोमकीर्ति, ज्ञानभूषण, अभिनव धर्मभूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द्र, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, यशःकीर्ति, धर्म-कीर्ति आदि पचास परम्परापोषकाचार्यों का परिचय, समय-निर्णय और उनकी रचनाओंका इस परिच्छेदमें विस्तृत निरूपण है।

आभार

इस विशाल ग्रन्थके सृजन और प्रकाशनका विद्वत्परिषद्ने जो निश्चय एवं संकल्प किया था, उसकी पूर्णता पर आज हमें प्रसन्नता है। इस संकल्पमें विद्वत्परिषद्के प्रत्येक सदस्यका मानसिक या वाचिक या कायिक सहभाग है। कार्यकारिणीके सदस्योंने अनेक बैठकोंमें सम्मिलित होकर मूल्यवान् विचार-दान किया है। ग्रन्थ-वाचनमें श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० ज्योति-प्रसादजीका तथा ग्रन्थको उत्तम बनानेमें स्थानीय विद्वान् प्रो० खुशालचन्द्रजी

गोरावाला, पण्डित अमृतलालजी शास्त्री एवं पण्डित उदयचन्द्रजी बौद्धदर्शनाचार्यका भी परामर्शादि योगदान मिला है।

पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजीने 'आद्य मिताक्षर' रूपमें आशीर्वचन प्रदान कर तथा वरिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'प्राक्कथन' लिखकर अनुगृहीत किया है।

खतौली, भोपाल, बम्बई, दिल्ली, मेरठ, जबलपुर, तेंदूखेड़ा, सागर, वाराणसी, आरा आदि स्थानोंके महानुभावोंने ग्रन्थका अग्रिम ग्राहक बनकर सहायता पहुँचायी है। विद्वत्परिषद्के कर्मठ मंत्री आचार्य पण्डित पन्नालालजी सागरके साथ मैं भी इन सबका हृदयसे आभार मानता हूँ।

वीर-शासन-जयन्ती,
श्रावण कृष्णा १, वी० नि० सं० २५००,
५ जुलाई, १९७४
वाराणसी

दरबारीलाल कोठिया
अध्यक्ष
अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

प्रबुद्धाचार्य

द्वितीय परिच्छेद

परम्परापोषकाचार्य

●

खण्ड : ३

प्रबुद्धाचार्य एवं परम्परापोषकाचार्य

प्रथम परिच्छेद

प्रबुद्धाचार्य

स्वतन्त्र-रचना-प्रतिभाके साथ टीका, भाष्य एवं विवृत्ति लिखनेकी क्षमता भी प्रबुद्धाचार्योंमें थी। श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्योंने जो विषय-वस्तु प्रस्तुत की थी उसीको प्रकारान्तरसे उपस्थित करनेका कार्य प्रबुद्धाचार्योंने किया है। यह सत्य है कि इन आचार्योंने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा परम्परासे प्राप्त तथ्योंको नवीन रूपमें भी प्रस्तुत किया है। अतः विषयके प्रस्तुतीकरणकी दृष्टिसे इन आचार्योंका अपना महत्त्व है। प्रबुद्धाचार्योंमें कई आचार्य इतने प्रतिभाशाली हैं कि उन्हें सारस्वताचार्योंकी श्रेणीमें परिगणित किया जा सकता है। किन्तु विषय-निरूपणकी सूक्ष्म क्षमता प्रबुद्धाचार्योंमें वैसी नहीं है, जैसी सारस्वताचार्योंमें पायी जाती है। यहाँ इन प्रबुद्धाचार्योंके व्यक्तित्व और कृतितत्वका विवेचन प्रस्तुत है।

आचार्य जिनसेन (प्रथम)

आचार्य जिनसेन प्रथम ऐसे प्रबुद्धाचार्य हैं जिनकी वर्णन-क्षमता और काव्य-प्रतिभा अपूर्व है। इन्होंने हरिवंशपुराण नामक कृतिका प्रणयन किया

है। ये पुन्नाटसंघके आचार्य हैं। इनके गुरुका नाम कीर्तिषेण था। हरिवंश-पुराणके ६६ वें सर्गमें भगवान् महावीरसे लेकर लोहाचार्य पर्यन्त आचार्योंकी परम्परा अंकित है। वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके अनन्तर गुरु कीर्तिषेणकी अविच्छिन्न परम्परा इस ग्रन्थमें दी गयी है। इस गुरु-परम्परामें अमितसेनको पुन्नाटगणका अग्रणी और शतवर्षजीवी बतलाया है। पुन्नाट कर्नाटकका प्राचीन नाम है। हरिषेणके कथाकोपमें आया है कि भद्रबाहु स्वामीके आदेशानुसार उनका संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्यके साथ दक्षिणापथके पुन्नाट देशमें गया। अतः इस देशके मुनिसंघका नाम पुन्नाटसंघ पड़ गया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री नाथूराम प्रेमीका[1] अनुमान है कि अमितसेन पुन्नाटसंघको छोड़कर सबसे पहले उत्तर-की ओर बढ़े होंगे और पूर्ववर्ती जयसेन गुरु तक यह संघ पुन्नाटमें ही विचरण करता रहा होगा। अतएव यह माना जा सकता है कि जिनसेनसे ५०–६० वर्ष पूर्व ही यह संघ उत्तरभारतमें प्रविष्ट हुआ होगा।

हरिवंशकी रचना और रचना-स्थानका निर्देश करते हुए ग्रन्थकर्त्ताने लिखा है कि शक संवत् ७०५ (ई० सन् ७८३) में जब कि उत्तर दिशाकी इन्द्रायुध, दक्षिण दिशाकी कृष्णका पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्वकी अवन्तिनृपति वत्सराज और पश्चिमकी—सौरोंके अधिमण्डल सौराष्ट्रकी वीरजयवराह रक्षा करता था, तब लक्ष्मीसे समृद्ध वर्द्धमानपुरके पार्श्व-जिनालयमें, जो नन्नराज वसतिके नामसे प्रसिद्ध था, इस ग्रन्थका प्रणयन आरम्भ हुआ और पीछे दोस्त-टिकाके शान्ति-जिनालयमें पूर्ण किया गया[2]।

इसी वर्धमानपुरमें हरिषेणने भी अपने कथाकोपकी रचना की है। इस नगरकी अवस्थितिके सम्बन्धमें डॉ० ए० एन० उपाध्येका मत है कि यह वर्धमान

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ११५।

२. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम्॥
हरिवंशपुराण, सर्ग ६६, पद्य ५२, ५३।

पुर काठियावाड़का वर्त्तमान बढ़वान[1] है। डॉ० हीरालाल जैन इस नगरको मध्यप्रदेशके धार जिलेके बदनावर स्थानको मानते हैं। डॉ० जैनका अभिमत है कि इस बदनावरमें प्राचीन जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं और यहाँसे दुतरिया—प्राचीन दोस्तटिका नामक ग्राम भी समीप है तथा हरिवंशमें वर्णित राज्य-विभाजनकी सीमाएँ भी इस स्थानसे सम्यक् घटित हो जाती[2] हैं।

डॉ० जैनका कथन अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। यतः जिनसेन से ५०–६० वर्ष पहले ही पुन्नाट संघका उत्तर भारतमें प्रवेश हो चुका था। अतः गिरनारकी यात्राके लिये संघ गया और वहाँ हरिवंशपुराण तथा उसके १५० वर्ष बाद कथा-कोषकी रचना हुई, यह बात संदिग्ध-सी प्रतीत होती है। वर्धमानपुरको जैन संघका केन्द्र होना चाहिए, जहाँ उक्त दोनों विशाल ग्रन्थ लिखे गए। बहुत सम्भव है राष्ट्रकूट नरेशोंका मालवामें प्रभुत्व स्थापित होनेपर बदनावरमें जैन पीठकी स्थापना हुई हो। जिस प्रकार पञ्चस्तूपान्वयी वीरसेन स्वामीका वाटनगरमें ज्ञानकेन्द्र था, सम्भवतः उसी प्रकार अमितसेनने बदनावर-में ज्ञानकेन्द्रकी स्थापना की हो और उसी केन्द्रमें उक्त दोनों ग्रन्थोंकी रचना सम्पन्न हुई हो।

स्थिति-काल

जिनसेनने ग्रन्थ-रचनाका समय स्वयं निर्दिष्ट किया है। अतः इनके स्थिति-कालके सम्बन्धमें मतभेदकी आशंका नहीं की जा सकती। शक संवत् ७०५ (ई० सन् ७८३) में हरिवंशपुराणकी रचना सम्पन्न हुई है। यदि हरिवंश-पुराणके समय कविकी आयु ३०-३५ वर्षकी मानी जाय, तो कविका जन्म अनुमानतः ई० सन् ७४८ के लगभग आता है। यतः इतनी प्रौढ़ रचना इस अवस्थाके पूर्व नहीं हो सकती। कविकी आयु ७०-७५ वर्ष होना चाहिये। अतएव आचार्य जिनसेन प्रथमका समय लगभग ई० सन् ७४८-८१८ सिद्ध होता है।

कुवलयमालाके कर्त्ता उद्योतनसूरिने अपनी 'कुवलयमाला'में जिस तरह रविषेणके 'पद्मचरित' और जटासिंहनन्दिके 'वराङ्गचरित' की स्तुति की है, उसी प्रकार हरिवंशकी भी। उन्होंने लिखा है कि मैं हजारों विद्वज्जनोंके

१. बृहत्कथाकोषकी प्रस्तावना, पृ० १२१।
२. इण्डियन कल्चर, खण्ड ११, सन् १९४४-४५, पृ० १६१ तथा जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १२, किरण २।

प्रिय हरिवंशोत्पत्तिकारक प्रथम वन्दनीय और विमलपद हरिवंशकी वन्दना करता हूँ।[1]

रचना

इनकी एक ही रचना प्राप्त है, हरिवंशपुराण। यह दिगम्बर सम्प्रदायका प्रमुख पुराण-ग्रन्थ है। रविषेणाचार्यके पद्मपुराण और जटासिंहनन्दिके वराङ्ग-चरितका इसपर प्रभाव है। जिनसेनने अपने हरिवंशमें महासेनकी सुलोचना तथा अन्यान्य ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है, किन्तु वे अभी तक प्राप्त नहीं हैं। हरिवंशपुराणकी कथावस्तु जिनसेनको अपने गुरु कीर्तिसेनसे प्राप्त हुई थी। वर्णनशैलीपर रविषेणके पद्मचरितका पूर्ण प्रभाव है। जिस प्रकार रविषेण ने पद्मचरितमें वृत्तानुगन्धी गद्यका प्रयोग किया है, उसी प्रकार जिनसेनने भी हरिवंशके ४९वें सर्गमें नेमि जिनेन्द्रका स्तवन करते हुए वृत्तानुगन्धी गद्य-का प्रयोग किया है। इस पुराणग्रन्थका लोकविभाग एवं शलाकापुरुषोंका वर्णन त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे मेल खाता है। द्वादशांगवर्णन तत्त्वार्थवार्तिकके अनुरूप है। संगीतका वर्णन भरतमुनिके नाट्यशास्त्रसे अनुप्राणित है। तत्त्व-प्रतिपादन-में तत्त्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धिका आधार ग्रहण किया गया है। अतएव इस पुराण-ग्रन्थपर पूर्वाचार्योंका पूर्ण प्रभाव है।

हरिवंशपुराणकी कथावस्तु—इस पुराणमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथका चरित्र निबद्ध है, पर प्रसंगोपात्त अन्य कथानक भी लिखे गये हैं। भगवान नेमिनाथके साथ नारायण श्री कृष्ण और बलभद्रपदके धारक श्री बलरामके भी कौतुकावह चरित्र अंकित हैं। पाण्डवों और कौरवोंका लोकप्रिय चरित भी बड़ा सुन्दरताके साथ निबद्ध किया गया है। कथावस्तु ६६ सर्गोंमें विभक्त है। प्रथम सर्गमें मंगलाचरण और ग्रन्थकी महत्ता, द्वितीय सर्गमें तीर्थंकर महावीरका जीवनवृत्त, तृतीय सर्गमें महावीरका समवशरण और विपुलाचल पर उपदेश तथा त्रिषष्टि शलाकापुरुषोंके चरित्रोंको जाननेकी जिज्ञासा, चतुर्थ सर्गमें अधोलोकका वर्णन, पञ्चम सर्गमें तिर्यक्लोकका निरूपण, षष्ठ सर्गमें ज्योतिर्देव एवं उर्ध्वलोकका चित्रण, सप्तम सर्गमें कुलकरोंकी उत्पत्ति और उनके द्वारा की गयी समाजव्यवस्थाका चित्रण, अष्टम सर्गमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेवका जन्म, नवम सर्गमें तीर्थंकर ऋषभदेवकी बाल-क्रीड़ा, दीक्षाकल्याणक एवं ज्ञानकल्याणकका वर्णन किया गया है। दशम सर्गमें मुनिधर्म और श्रावकधर्मके निरूपणके पश्चात् श्रुतज्ञानका चित्रण, एकादश

---

१. बुहजणसहस्सदइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवंसं चेव विमलपयं॥ —कुवलयमाला, गाथा ३८।

सर्गमें भरतका जीवनवृत्त और बाहुबली-दीक्षा, द्वादश सर्गमें जयकुमार और सुलोचनाकी कथा, त्रयोदश सर्गमें अजितनाथ तीर्थंकरसे लेकर शीतलनाथ तीर्थंकर तक पौराणिक इतिवृत्त, चतुर्दश सर्गमें सुमुख और वनमालाकी कथा एवं पञ्चदश सर्गमें हरिवंशका आदि इतिवृत्त अंकित है। षोडश सर्गमें मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरका जीवनवृत्त, सप्तदश सर्गमें मुनिसुव्रतनाथके पुत्र सुव्रतका जीवनवृत्त, अष्टादश सर्गमें अन्धकवृष्णिका जीवनवृत्त, एकोनविंश सर्गमें वसुदेवका भ्रमणवृत्तान्त, विंशति सर्गमें विष्णुकुमारकी कथा, एकविंशति सर्गमें चारुदत्तका आख्यान, द्वाविंशति सर्गमें वसुदेवकी कथा, त्रयोविंशतिसर्गमें वसुदेव और सोमश्रीके विवाहका वर्णन एवं चतुर्विंशति सर्गमें वसुदेव और वनमालाके विवाहकी कथा अंकित है। पच्चीसवें और छब्बीसवें सर्गमें विभिन्न कन्याओंके साथ वसुदेवके विवाहका चित्रण आया है। सत्ताईसवें सर्गमें श्रीभूति पुरोहितकी कथा, अट्ठाईसवें सर्गमें मृगध्वज केवली और महिषका वृत्तान्त, उनतीसवें सर्गमें वसुदेव और बन्धुमती तथा प्रियंगु सुन्दरीकी प्राप्तिका चित्रण है। तीसवें सर्गमें वसुदेवका वेगवती और प्रभावतीकी प्राप्तिका वर्णन आया है। इकतीसवें सर्गमें वसुदेवका अपने बड़े भाई समुद्रविजयसे मिलना वर्णित हैं। बत्तीसवें सर्गमें वसुदेवकी रोहिणी नामक स्त्रीसे बलराम नामक पुत्रकी उत्पत्तिका वर्णन है। तेंतीसवें सर्गमें जरासंध और कंसकी कथा आयी है। चौंतीसवें सर्गमें नेमिनाथके पूर्वभवोंका वर्णन, पैंतीसवेंमें कृष्ण-जन्म, छत्तीसवेंमें बलभद्र और कृष्णका कंसके साथ युद्ध, सैंतीसवें सर्गमें नेमिनाथके गर्भकल्याणक और अड़तीसवें सर्गमें नेमिनाथके जन्मका वर्णन आया है। उनतालीसवें सर्गमें तीर्थंकर नेमिनाथकी परिचर्या और चालीसवें सर्गमें जरासंध द्वारा शौरीपुर पर आक्रमण करना वर्णित है। इकतालीसवें सर्गमें कृष्ण द्वारा परमेष्ठीका ध्यान; बयालीसवें सर्गमें नारदका द्वारिकामें आगमन और तैंतालीसवें सर्गमें प्रद्युम्नके पूर्वभवोंका वर्णन आया है। चवालीसवें सर्गमें श्रीकृष्णका जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुषीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारीके साथ विवाहित होना वर्णित है। पैंतालीसवें सर्गमें पाण्डवोंका यादवोंके यहाँ द्वारिकामें जाना और लाक्षागृहमें आग लगनेपर अज्ञातरूपसे पाण्डवोंका निकल जाना वर्णित है। छयालीसवें और सैंतालीसवें सर्गमें भीमका कीचकके साथ युद्ध वर्णित है। अड़तालीसवें सर्गमें यदुवंश कुमारोंका वर्णन तथा उनचासवें सर्गमें कृष्णकी छोटी बहनकी सुन्दरता और तपस्याका वर्णन आया है। पचासवें, इक्यावनवें और बावनवें सर्गमें जरासंध और कृष्णके युद्धका वर्णन है। तिरेपनवें सर्गमें कृष्णकी विजय, चौवनवें सर्गमें नारदका द्रौपदीसे रुष्ट होकर प्रतिशोध लेना वर्णित है। पचवनवें सर्गमें नेमिनाथके विवाहकी तैयारियाँ

और उनके वैराग्यका चित्रण आया है। छप्पनवें सर्गमें नेमिनाथकी तपस्या और केवलज्ञानकी उत्पत्ति, सत्तावनवें सर्गमें समवशरण, अट्ठानवें सर्गमें नेमिनाथकी दिव्यध्वनि एवं उनसठवें सर्गमें नेमिनाथके विहारका वर्णन आया है। साठवें सर्गमें गजकुमारके निर्वेदका वर्णन आया है। इकसठवें सर्गमें द्वारिकाका भस्म होना, बासठवें सर्गमें कृष्णकी मृत्यु, तिरेसठवें सर्गमें श्रीकृष्णका दाह-संस्कार वर्णित है। चौसठवें सर्गमें नेमिनाथका पल्लवदेशमें विहार, पैंसठवेंमें पाण्डवोंकी तपस्या एवं छियासठवें सर्गमें भगवान् महावीरके निर्वाणका प्रसंग वर्णित है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें त्याग, संयम और अहिंसाकी त्रिवेणी समाहित है। नेमिनाथ-का पावन जीवन मानव-जीवनके समक्ष कर्त्तव्य और आदर्शकी स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करता है।

प्रतिभा एवं रचनाशैली—हरिवंशपुराण ज्ञानकोष है। इसमें कर्म-सिद्धान्त, आचारशास्त्र, तत्त्वज्ञान एवं आत्मानुभूति सम्बन्धी चर्चाएँ निबद्ध हैं। यह पुराणग्रन्थ होनेपर भी उच्चकोटिका महाकाव्य है। सैंतीसवें सर्गसे साहि-त्यिक सुषमाकी वृद्धि उत्तरोत्तर परिलक्षित होने लगती है। इस ग्रन्थका पचपनवां सर्ग तो यमकादि शब्दालंकारोंकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। ऋतु-वर्णन, चन्द्रोदय-वर्णन, वन, पर्वत, नगर, सरोवर, ऊषा, सन्ध्या आदिके चित्रण महा-काव्यके अनुरूप आये हैं। कृष्णकी मृत्युके उपरान्त बलदेव द्वारा किया गया करुण विलाप पाषाणहृदयको भी द्रवित करनेमें समर्थ है। नेमिनाथका वैराग्य-चित्रण प्रत्येक संसारीको माया-ममतासे विमुख होनेका संकेत करता है। राजीमतिके परित्यागपर पाठकोंके नेत्रोंसे सहानुभूतिकी अश्रुधारा प्रवाहित हुए बिना नहीं रहती। कवि वसन्तऋतुके वर्णन-प्रसंगमें पुष्पावचय-क्रीड़ाका जीवन्त चित्रण उत्प्रेक्षा द्वारा करता हुआ कहता है—

> कुसुमभारभृतः प्रणता भृशं प्रणयभङ्गभियेव नता द्रुमाः।
> युवतिहस्तधुताः कुसुमोच्चयेऽतनुसुखं तरुणा इव भेजिरे॥
> अनतिनम्रतया निजशाखया कथमपि प्रमदाकरलब्धया।
> तरुगणः कुसुमग्रहणेऽभजदृढकचग्रहसौख्यमिव प्रभुः॥[1]

पुष्पोंके भारको धारण करनेवाले वृक्ष अत्यन्त नम्रीभूत हो रहे थे। उनसे वे ऐसे प्रतिभासित होते थे, मानों स्नेहभंगके भयसे ही नम्रीभूत हों, पुरुषोंके समान अतनु—बहुत भारी अथवा कामसम्बन्धी सुखका अनुभव प्राप्त कर रहे हैं।

१. हरिवंशपुराण, पचपनवां सर्ग, पद्य ३९, ४०।

पुष्पावचय करते समय वृक्षोंकी ऊँची शाखाओंको सुन्दरियाँ किसी प्रकार अपने हाथसे पकड़ कर नीचेको ओर खींच रही थीं, उससे वे वृक्ष नायकके समान प्रेयसी द्वारा केश खींचनेके सुखका अनुभव कर रहे थे।

उपर्युक्त मनोरम वर्णनके लिये कविने रस-वर्षक, द्रुतविलम्बित छन्दको चुना है, जो कि कविकी काव्य-ज्ञानसम्बन्धी विशेष प्रज्ञाका सूचक है।

कृष्णकी मृत्यु हो जानेपर बलराम द्वारा जगाये जानेपर भी जब वे जागते नहीं तब बलराम नारायणको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि अब सोनेका समय नहीं, अतः उठना चाहिये। इस सन्दर्भमें कविने कल्पनाकी ऊँची उड़ानके साथ श्लेषालङ्कारका प्रयोग कर काव्य-चमत्कार प्रस्तुत किया है—

वारुणीमतिनिषेव्य वारुणश्चक्रवाकनिवहैरुदश्रुभिः।
शोचितः पतितभानुमानधः को न वा पतितवारुणीप्रियः॥[1]

सूर्य वारुणी—पश्चिम दिशारूपी मदिराका अधिक सेवन कर लाल-लाल हो रहा है। उसकी मूर्च्छित दीन-दशापर चक्रवाकपक्षियोंका समूह अश्रु-वर्षा करता हुआ शोक प्रकट कर रहा है। सत्य है वारुणीके सेवनसे किसका अधः-पतन नहीं होता।

इस पद्यमें कविने सूर्यकी रूपाकृतिके बिम्ब द्वारा सन्ध्यासमयका संकेत प्रस्तुत किया है। साथ ही मदिरा-पानके दोषोंपर भी प्रकाश डाला है।

आचार्य जिनसेन द्वन्द्वात्मक स्थितियोंके चित्रणमें भी अत्यन्त पटु हैं। नेमि-कुमारके विवाहके अवसरपर एकत्र पशु-समूहकी विह्वल स्थितिका तो मूर्तिमान चित्रण है ही, साथ ही नेमिकुमारके हृदयकी आन्तरिक अवस्थाका बहुत ही स्पष्ट चित्र उपस्थित किया है। आचार्यने लिखा है—

स खलु पश्यति तत्र तदा वने विविधजातिभृतस्तृणभक्षिणः।
भयविकम्पितमानसगात्रकान् पुरुपरुद्धमृगानतिविह्वलान्॥

× × ×

रणमुखेषु रणार्जितकीर्तयः करितुरङ्गरथेष्वपि निर्भयान्।
अभिमुखानभिहन्तुमधिष्ठितानभिमुखाः प्रहरन्ति न हीतरान्॥[2]

एकत्रपशु भयसे अत्यन्त विह्वल हैं। उन्हें एक स्थानपर बलपूर्वक अवरुद्ध किया गया है। वे अपने प्राण जानेकी आशंकासे अत्यन्त त्रस्त हैं और अपनी

१. हरिवंशपुराण, सर्ग ६३, पद्य ३०।
२. वही, सर्ग ५५, पद्य ८५, ९०।

असमर्थ अवस्थापर आँसू बहाते हैं। जब नेमिकुमारको पशुओंका चीत्कार सुनाई पड़ता है तो वे द्रवीभूत हो जाते हैं और उनके अन्तसमें द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। वे सोचते हैं कि जिन पशुओंका उपयोग रणभूमिमें सवारीके लिये करते हैं, जो मनुष्यकी नाना प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं, जो पूर्णतः निर्दोष हैं उन पशुओंपर माँसलोलुपी यह मानव किस प्रकार अस्त्र प्रहार करता है ? उनकी विचारधारा और आगेकी ओर बढ़ती है और वे गम्भीरतापूर्वक सोचने लगते हैं—

चरणकण्टकवेधभयाद्रुटा विदधते परिधानमुपानहाम्।
मृदुमृगान् मृगयासु पुनः स्वयं निशितशस्त्रशतैः प्रहरन्ति हि ॥[1]

क्रूर मनुष्यको धिक्कार है, जो स्वयं तो पैरमें काँटा चुभनेके भयसे जूता धारण करता है, पर मूक पशुओंपर तीक्ष्ण शस्त्र प्रहार करता है।

आचार्यने अपने इस पुराणको सरस बनानेके लिये विभिन्न छन्दोंका प्रयोग तो किया ही है, साथ ही 'मौनं सर्वार्थसाधनम्' (९।१२९) 'दुर्वारा भवितव्यता' (६१।७७) 'किन्न स्याद् गुरुसेवया,' (९।१३१) 'पुण्यस्य किमु दुष्करम्,' (१६।८६) 'पातकात्पतनं ध्रुवम्,' (१७।१५१) 'जातनां हि समस्तानां जीवानां नियता मृतो,' (६१।२० जैसी सूक्तियोंका मणि-काञ्चन संयोग वर्त्तमान है।

साहित्यिक सुषमाके साथ सृष्टिविद्या, धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान, षट्द्रव्य, पञ्चास्तिकाय आदिका भी विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। आचार्य जिनसेनने अपने समयकी राजनीतिक परिस्थितिका भी चित्रण किया है।

श्रीगुणभद्राचार्य

प्रतिभामूर्ति गुणभद्राचार्य संस्कृतभाषाके श्रेष्ठ कवि हैं। ये योग्य गुरुके योग्यतम शिष्य हैं। सरसता और सरलताके साथ प्रसादगुण भी इनकी रचनाओंमें समाहित है। गुणभद्रका समस्त जीवन साहित्य-साधनामें ही व्यतीत हुआ। ये उत्कृष्ट ज्ञानी और महान् तपस्वी थे।

गुणभद्राचार्यका निवास स्थान दक्षिण आरकट जिलेका 'तिरुम रुङ्कुण्डम' नगर माना जाता है। इनके गृहस्थ-जीवनके सम्बन्धमें तथ्य अज्ञात हैं। इनके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंसे स्पष्ट है कि ये सेनसंघके आचार्य थे। इनके गुरुका नाम आचार्य जिनसेन द्वितीय और दादा गुरुका नाम वीरसेन है। गुणभद्रने आचार्य दशरथको भी अपना गुरु लिखा है। सम्भवतः ये दशरथ इनके विद्यागुरु रहे होंगे।

१. हरिवंशपुराण, सर्ग ५५, पद्य १२।

आचार्य जिनसेन प्रथम या द्वितीयके समान गुणभद्रकी भी साधना-भूमि कर्नाटक और महाराष्ट्रकी भूमि रही है। इन्हीं प्रान्तोंमें रहकर इन्होंने अपने ग्रन्थोंका प्रणयन किया है।

स्थिति-काल

गुणभद्राचार्य जिनसेन द्वितीयके शिष्य थे तथा उनके अपूर्ण महापुराण (आदिपुराण) को इन्होंने पूर्ण किया था। अतः इनका समय आचार्य जिनसेन द्वितीयके कुछ वर्ष बाद ही होना चाहिये। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें ४२ पद्य हैं, जिनमेंसे आरम्भके २७ पद्य गुणभद्रद्वारा विरचित और अवशेष १५ पद्य उनके शिष्य लोकसेन द्वारा विरचित माने जाते हैं। गुणभद्र स्वयं उत्तरपुराण-के रचना कालके सम्बन्धमें मौन हैं, पर ३२वेंसे ३६वें पद्यतक बताया है कि राष्ट्रकूट अकालवर्षके सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानीमें रहकर समस्त वनवास देशका शासन करते थे। उस समय शक संवत् ८२० में श्रावण कृष्णा पञ्चमी गुरुवारके दिन यह उत्तरपुराण पूर्ण हुआ और जनताने इसको पूजा की। अतः गुणभद्रका समय शक संवत् ८२०, ई० सन् ८९८ अर्थात् ई० सन् की नवम शतीका अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

रचनाएँ

(१) आदिपुराण—गुणभद्राचार्यने अपने गुरु जिनसेन द्वितीय द्वारा अधूरे छोड़े आदिपुराणके ४३ वें पर्वके चौथे पद्यसे समाप्ति पर्यन्त कुल १६२० पद्य लिखे हैं।

(२) उत्तरपुराण—यह महापुराणका उत्तर भाग है।

(३) आत्मानुशासन।

(४) जिनदत्तचरित-काव्य।

उत्तरपुराण—अजितनाथ तीर्थंकरसे लेकर महावीर पर्यन्त २३ तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र, नौ प्रतिनारायण और जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषोंके चरित इसमें दिये गये हैं। कथावस्तु पर्याप्त विस्तृत है। आचार्यने जहाँ-तहाँ कथानकोंको नये रूपमें भी उपस्थित किया है। रामकथा पद्मपुराणकी अपेक्षा भिन्न है। इस कथामें बताया है कि राजा दशरथ काशी देशमें वाराणसीके राजा थे। रामकी माताका नाम सुबाला और लक्ष्मणकी माताका नाम कैकेयी था। भरत, शत्रुघ्न किसके गर्भमें आये थे, यह स्पष्ट नहीं है। सीता मन्दोदरीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी। परन्तु भविष्य-वक्ताओंके यह कहनेसे कि वह नाशकारिणी है, रावणने उसे मंजूषामें रखवा कर मरीचिके द्वारा मिथिलामें भेजकर पृथ्वीमें गड़वा दिया। संयोगसे हल

की नोकमें उलझ जानेसे वह मंजूषा राजा जनकको मिल गयी और उन्होंने उससे प्राप्त सीताको अपनी पुत्रीके रूपमें स्वीकार किया। इसके पश्चात् जब वह विवाहके योग्य हुई, तब जनकको चिन्ता हुई। उन्होंने एक वैदिक यज्ञ किया और उसकी रक्षाके लिये राम-लक्ष्मणको आग्रहपूर्वक बुलवाया। रामके साथ सीताका विवाह हो गया। यज्ञके समय रावणको आमन्त्रण नहीं भेजा गया, इससे वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और इसके बाद जब नारदके द्वारा उसने सीताके रूपकी अतिशय प्रशंसा सुनी, तब उसका हरण करनेके लिये सोचने लगा।

कैकेयीके हठ करने, रामको वनवास देने आदिकी इस कथामें कोई चर्चा नहीं है। पंचवटी, दण्डकवन, जटायु, सूर्पणखा, खरदूषण आदिके प्रसंगोंका भी अभाव है। बनारसके पास ही चित्रकूट नामक वनसे रावण सीताका हरण करता है और सीताके उद्धार हेतु लंकामें राम-रावण युद्ध होता है। रावणको मारकर राम दिग्विजय करते हुए लौटते हैं और दोनों भाई बनारस में राज्य करने लगते हैं। सीताके अपवादका और उसके कारण उसे निर्वासित करनेका भी जिक्र नहीं है। लक्ष्मण एक असाध्य रोगमें ग्रसित होकर मृत्यु प्राप्त करते हैं। इससे रामको उद्वेग होता है। वे लक्ष्मणके पुत्र पृथ्वीसुन्दर-को राजपदपर और सीताके पुत्र अजितञ्जयको युवराज पदपर अभिषिक्त करके अनेक राजाओं और सीता आदि रानियों के साथ जिनदीक्षा ले लेते हैं।

यह कथा प्रचलित रामकथासे बिल्कुल भिन्न है। कविको यह किस पर-म्परासे प्राप्त हुई, यह नहीं कहा जा सकता है। दशरथजातकसे कुछ कथा-सूत्र साम्य रखते हैं।

अन्य कथाओंमें बलराम और श्रीकृष्णकी कथा हरिवंशपुराणको कथासे भिन्न है। इसी प्रकार पचहत्तरवें पर्वमें जीवन्धरस्वामीका चरित निबद्ध किया गया है। इस चरितमें भी वादीभसिंह द्वारा लिखित गद्यचिन्तामणि और छत्र-चूड़ामणिके कथानकमें पर्याप्त अन्तर है। इन सभी कथा-सूत्रोंके देखनेसे यह ज्ञात होता है कि गुणभद्राचार्यने किसी अन्य परम्परासे कथानकोंको ग्रहण किया है।

कथानकोंकी शैली रोचक और प्रवाहपूर्ण है। ८ वें, १६ वें, २२ वें, २३ वें और २४ वें तीर्थंकरको छोड़कर अन्य तीर्थंकरोंके चरित्र अत्यन्त संक्षेपमें लिखे गये हैं, पर वर्णन-शैलीकी मधुरताके कारण यह संक्षेप भी रुचिकर हो गया है। कथानकोंके साथ रत्नत्रय, द्रव्य, गुण, कर्म, सृष्टि एवं सृष्टिकर्तृत्व आदि विषयोंका भी विवेचन किया गया है।

उत्तरपुराणका रचनास्थल बंकापुर है। यह स्थान पूना-बेंगलोर रेलवे लाइनमें हरिहर स्टेशनके समीपवर्ती हावेर रेलवे स्टेशनसे पन्द्रह मीलपर धारवाड़ जिलेमें है। उत्तरपुराणके समाप्तिकालमें बंकापुरमें जैन वीर बंकेयका सुयोग्य पुत्र लोकादित्य कृष्णराज द्वितीयके सामन्तके रूपमें राज्य करता था। बंकापुर की स्थापना लोकादित्यने अपने वीर पिता बंकेयके नामपर की थी। बंकेयकी धर्मपत्नी विजया बड़ी विदुषी थी। इसने संस्कृतमें एक काव्य रचा है, जो भीमरावने 'कर्नाटकगत वैभव' नामक अपनी रचनामें उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया है। गुणभद्रके अनुसार लोकादित्य स्वतन्त्र सामन्त था और इसने बंकापुरमें जैन मन्दिरोंकी सुन्दर व्यवस्था की थी। निश्चयतः उन दिनोंमें बंकापुरमें अनेक जैनाचार्य निवास करते थे। यही कारण है कि गङ्गनरेश मारसिंहने यहाँ आकर सल्लेखना व्रत ग्रहण किया था। इसी बंकापुरमें गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणकी रचना की है।

आत्मानुशासन

इस महत्त्वपूर्ण धर्म एवं नीति-ग्रन्थमें २६९ पद्य हैं। आत्माके यथार्थ स्वरूपकी शिक्षा देनेके लिए इसका प्रणयन किया गया है। इसपर प्रभाचन्द्राचार्यने संस्कृत-टीका और पण्डित टोडरमल्लने हिन्दी-टीका लिखी है। ग्रन्थके अन्तिम पद्यमें आचार्यने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि वे जिनसेनाचार्य द्वितीयके शिष्य हैं।

उत्थानिकाके अनन्तर सुभाषितरूपमें सुख-दुःखविवेक, सम्यग्दर्शन, दैवकी प्रबलता, सत्साधु-प्रशंसा, मृत्युकी अनिवार्यता, तपाराधना, ज्ञानाराधना, स्त्री-निन्दा, समीचीन गुरु, साधुओंकी असाधुता, मनोनिग्रह, कषायविजय, यथार्थ-तपस्वी, प्रभृति विषयोंपर पद्य-रचना प्रस्तुत की गयी है। इस ग्रन्थकी शैली भर्तृहरिके 'शतकत्रय'के समान है। कविने इस सूक्ति-काव्यमें अन्योक्तियोंका आधार ग्रहण कर विषयको सरस बनाया है—

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं तद्वान् भवः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः॥[1]

हे चन्द्रमा! तू मलिनतारूप दोषसे सहित क्यों हुआ? यदि तुझे मलिन ही होना था, तो पूर्णरूपसे उस मलिन स्वरूपको क्यों नहीं प्राप्त हुआ? तेरी उस मलिनताके अतिशयको प्रकट करनेवाली चाँदनीसे क्या लाभ? यदि तू सर्वथा मलिन हुआ होता, तो वैसी अवस्थामें राहुके समान सदोष तो दिखलाई पड़ता।

१. आत्मानुशासन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, पद्य १४०।

इस पद्यमें चन्द्रमाको लक्ष्य बनाकर ऐसे साधुकी निन्दा की गयी है, जो साधुवेषमें रहकर साधुत्वको मलिन करता है। यदि व्रत-संयमादिसे युक्त दम्भी साधु न होता, तो किसीका ध्यान ही उस ओर न जाता।

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्यमाप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात् संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥[1]

हे प्राण! यदि तूने संसारमें भाई-बन्धु आदि कुटुम्बी जनोंसे कुछ भी हितकर बन्धुत्वका कार्य प्राप्त किया है, तो उसे सत्य बतला। उनका इतना ही कार्य है कि मर जानेके पश्चात् वे एकत्र होकर तेरे अहितकारक शरीरको जला देते हैं।

इस पद्यमें अन्योक्ति द्वारा यह बतलाया गया है कि बन्धुजन राग-द्वेषके कारण ही बनते हैं। अतएव बन्धुजनोंमें अनुरक्त रहकर आत्म-कल्याणसे वञ्चित रहना उचित नहीं।

सुख-दुःखविवेकके अन्तर्गत बताया गया है कि सातावेदनीय कर्मके उदयसे प्राणीको कुछ कालके लिये जो सुखका अनुभव होता है, वह यथार्थ सुख नहीं है, किन्तु सुखका आभास है। इन्द्रियजन्य विषयसुख विद्युत्के प्रकाशके समान विनश्वर है। विषय-तृष्णाके कारण हो प्राणी संतप्त रहता है और इस संताप-को दूर करनेके लिये विषयोंकी ओर अनुधावित होता है। अतएव इन्द्रिजन्य विषयसुख दुःख ही है। अतः परद्रव्योंकी अपेक्षा रहनेके कारण पराधीन, अनेक प्रकारकी बाधाओंसे सहित, प्रतिपक्षभूत, असातावेदनीय आदिके उदयसे संयुक्त, अतएव विनश्वर है। संसारके प्राणी दुःखसे डरते हैं और सुख चाहते हैं, पर अविनश्वर सुखका कार्य नहीं करते। यथा—

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥[2]

संसारमें सुखका कारण सम्यग्दर्शन है, अपने स्वरूपको पहचानना है। जो आत्मानुभूति कर लेता है उसीको समता और शान्तिकी प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों आराधनाओंका सेवन करनेसे जन्म, जरा और मरण रोगका विनाश होता है। श्रद्धागुण जब तक स्वानुभूतिसे संयुक्त नहीं होता, तबतक सम्यक्त्वरूप परिणमन नहीं होता। स्वानुभूतिके बिना जो श्रुतमात्रके आलम्बनसे श्रद्धा होती है, वह

---

१. आत्मानुशासन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, श्लोक ८३।

२. वही, पद्य २।

तत्त्वार्थसे सम्बद्ध होनेपर भी यथार्थ श्रद्धा नहीं है, क्योंकि वहाँ तत्त्वार्थकी उपलब्धि नहीं है। जिस प्रकार बीजके बिना वृक्ष न उत्पन्न होता है, न अवस्थित रहता है, न बढ़ता है और न फलोंको उत्पन्न कर सकता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्र भी यथार्थ स्वरूपमें न उत्पन्न हो सकते हैं, न अवस्थित रह सकते हैं और न मोक्षरूप फलकी प्राप्ति ही हो सकती है। अतएव चारों आराधनाओंमें सम्यग्दर्शनकी आराधना प्रधान है।

दैवकी प्रबलताका विश्लेषण करते हुए इन्द्र और ऋषभदेव तीर्थंकरका उदाहरण दिया गया है। बताया है कि इन्द्रका बृहस्पति मन्त्री है, शस्त्र वज्र है, सैनिक देव हैं, ऐरावत हाथी वाहन है और साक्षात् विष्णुका अनुग्रह भी है, तो भी इन्द्र शत्रुओं द्वारा पराजित होता है, यह अदृष्टकी ही क्रीड़ा है। यदि पूर्वोपार्जित पुण्य शेष है, तो प्राणीके लिये आयु, धन-सम्पत्ति एवं शरीरादि सभी अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाती है। और यदि पुण्य शेष नहीं है, तो प्राणी उसकी प्राप्तिके लिये कितना भी परिश्रम क्यों न करे, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। बताया है—

> नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
> स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः।
> इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे
> तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥[1]

दुष्ट दैवकी प्रबलता बतलाते हुए ग्रन्थकारने आदि तीर्थंकरका उदाहरण प्रस्तुत किया है और बतलाया है कि जिन ऋषभजिनेन्द्रने समस्त साम्राज्यको तृणके समान तुच्छ समझ कर छोड़ दिया था और तपस्याको स्वीकार किया था। वे ही भगवान् क्षुधित होकर दीनकी तरह दूसरोंके घरोंपर घूमे, पर उन्हें भोजनप्राप्त नहीं हुआ, जब आदिदेव गर्भमें आये थे, तब उसके छह महीने पूर्वसे ही इन्द्र हाथ जोड़कर दासके समान सेवामें संलग्न रहा। इधर इनका पुत्र भरत चक्रवर्ती चौदह रत्न और नौ निधियोंका स्वामी था। युगके आदिमें स्वयं सृष्टिके स्रष्टा थे, फिर भी उन्हें क्षुधाके वशमें होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमना पड़ा। यह उस दैवकी प्रबलता नहीं तो और क्या है—

> समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
> तपस्यन् निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।

---

१. आत्मानुशासन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, श्लोक ३२।

किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः[1] ॥

मरण-सम्बन्धी पद्योंमें जन्म और मरणका अविनाभाव सम्बन्ध वतलाते हुए मृत्युकी अनिवार्यता सिद्ध की गयी है। स्त्रीनिन्दा-प्रसंगमें प्रकारान्तरसे विषय-वासनाकी ही निन्दा की गयी है। जो नारी विषय-वासनाको जागृत करती है, आध्यात्मिक दृष्टिसे वह त्याज्य है। समीचीन गुरुका स्वरूप वतलाते हुए संयम, त्याग और तपस्याका महत्त्व वतलाया है। संयमरूप राज्यके संरक्षणार्थ जिस प्रकार बाह्य शत्रुओंका जीतना आवश्यक है, उसी प्रकार अन्तरंग शत्रुओंका भी। मन बन्दरके समान चपल है, अतएव उसे आत्म-नियन्त्रणमें रखनेके लिये श्रुतरूप वृक्षके ऊपर विचरण कराना चाहिये। मनको वशमें करनेका एकमात्र साधन श्रुतज्ञान है। इसी प्रकार कषायविजय, संसारकी अनित्यता, ज्ञानाराधना, तपाराधना, चारित्राराधना आदिका विश्लेषण किया है।

गुणभद्राचार्यने अनुप्रास अलंकारका भी सुन्दर नियोजन किया है। अन्य अलंकारोंमें उपमा (पद्य ८१), अतिशयोक्ति (पद्य ७५), रूपक (पद्य ७८), अपह्नुति (पद्य ८६), अप्रस्तुतप्रशंसा (पद्य १३९), श्लेष (पद्य १०९) विभावना (पद्य १०९) आदि अलंकारोंका संयोजन पाया जाता है। अनुप्रास की छटा दर्शनीय है—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः[2] ॥

जिनदत्तचरित

इस प्रबन्ध-काव्यमें ९ सर्ग हैं। समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्दमें लिखा गया है। सर्गान्तमें छन्द-परिवर्तन भी हुआ है। अंगदेशान्तर्गत वसन्तपुर नामके नगरमें सेठ जीवदेव और उनकी पत्नी जीवञ्जसाका पुत्र जिनदत्त है। अन्य जैन महाकाव्योंके समान कविने इस काव्यके आदिमें भी पुत्र प्राप्तिकी चिन्ता एवं पुत्रका महत्त्व प्रतिपादित किया है। जिनदत्त शैशव समाप्त कर जब पूर्ण युवक हुआ, तो उसका मन संसारके विषयोंसे विरक्त रहने लगा।

---

१. आत्मानुशासन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, पद्य ११८।
२. वही, पद्य ५।

कविने जिनदत्तकी इस विरक्तिको बड़े कौशलके साथ अनुरक्तिके रूपमें परिवर्तित किया है। कवि कहता है कि एक दिन जिनदत्त अपने मित्रोंके साथ कोटिकूट चैत्यालयमें दर्शनार्थ गया। वहाँ सीढ़ियाँ चढ़ते समय दरवाजेके पास एक स्त्री-मूर्ति पर उसकी दृष्टि पड़ी। यह मूर्ति अत्यन्त रमणीय थी। उसका अंगविन्यास अमृत और मधुसे निर्मित हुआ था। इस अनिन्द्य सौन्दर्यका अवलोकन कर जिनदत्त मुग्ध हो गया और अपनी सुध-बुध खो बैठा। जब वह इस अवस्थामें घर लौटा, तो पिता जीवदेवने चिन्तित होकर उस मूर्तिके शिल्पीको बुलाया और पूछा कि मूर्ति किस नारी की है? शिल्पीने बतलाया कि यह मूर्ति चम्पानगरीके विमल सेठकी पुत्री विमलमतीकी है। फलतः प्रेमाकर्षण द्वारा जिनदत्तका पाणिग्रहण विमलमतीके साथ सम्पन्न हो गया।

दुर्गुण और व्यसन व्यक्तिमें किस प्रकार प्रविष्ट होते हैं, इस तथ्यांशको कविने इस काव्यके तृतीय सर्गमें अभिव्यक्त किया है। जिनदत्त अपने मित्रोंके कुसंसर्गके कारण द्यूत खेलना सीख लेता है और शनैः शनैः सारा द्रव्य द्यूतदेवकी भेंट हो जाता है। कवि नाटकके समान घटनाचक्रको दूसरी ओर मोड़ता है और जिनदत्तको धनार्जनके हेतु विदेश भेज देता है और वहाँ जिनदत्त बहुत-सा धन अर्जन करता है तथा राजा-महाराजाओंसे सम्पर्क स्थापित कर श्रीमती नामक राजकुमारीके साथ विवाह सम्पन्न करता है। समुद्रपथसे वापस लौटते समय श्रीमतीके सौन्दर्यसे आकृष्ट हो समुद्रदत्त नामका व्यापारी जिनदत्तको समुद्रमें गिरा देता है। जिनदत्त एक काष्ठकी पट्टिकाके सहारे समुद्रको पार करने लगा। आकाशमार्गसे जाते हुए विद्याधर उसके बल-पौरुषसे प्रभावित हुए। अतः उन्होंने उसे अपने विमानमें बैठा लिया और अपने अधिपति अशोकश्रीकी पुत्री शृङ्गारमतीके साथ जिनदत्तका विवाहसंस्कार सम्पन्न करा दिया। कुछ दिनों पश्चात् जिनदत्त अपनी पत्नी शृङ्गारमतीके साथ चम्पापुरमें आया और रातको एक वाटिकामें निवासके हेतु ठहर गया। मध्यरात्रिके समय शृङ्गारमतीको उसी वाटिकामें सोते छोड़ वह कहीं चल दिया। शृङ्गारमती भी चम्पापुरके एक चैत्यालयमें निवास करने लगी। यहाँ विमला और श्रीमती भी उसे मिल गयीं।

जिनदत्त वामनका रूप धारण कर नगरमें अपनी गान-विद्या द्वारा लोगोंका अनुरञ्जन करने लगा। राजदरबारमें उसे गायकका पद प्राप्त हो गया। एक दिन किसी व्यक्तिने राजाके यहाँ सूचना दी कि इस नगरके जिनालयमें तीन परम सुन्दरियाँ निवास करती हैं, जो न कभी हँसती हैं और न कभी परपुरुषसे बात-चीत ही करती हैं। जिनदत्तने राजासे प्रतिज्ञा की कि

मैं इन सुन्दरियोंको हँसा सकता हूँ। उसने वहाँ जाकर अपने वृत्तान्त द्वारा उन युवतियोंको अनुरञ्जित कर हँसाया। जिनदत्तने एक मदोन्मत्त गजको भी वश कर राजाको प्रसन्न किया और उसकी कन्याके साथ विवाह सम्पन्न किया, पश्चात् जिनदत्त अपने माता-पितासे मिला और मुनि द्वारा अपनी भवावलि अवगत कर उसने मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। कठोर तपश्चरण कर उसने आठवाँ स्वर्ग प्राप्त किया।

कविने इस काव्यमें सुन्दर कवित्वका भी नियोजन किया है। नदी और वेश्याओंकी समता करते हुए श्लेष और उत्प्रेक्षा द्वारा एक साथ चमत्कार निबद्ध किया है—

सविभ्रमाः सपद्माश्च सर्वसेव्यपयोधराः।
कुटिला यत्र राजन्ते नद्यः पण्याङ्गना इव ॥[1]

कवि वसन्तपुरकी खातिकाओंके सौन्दर्यका उत्प्रेक्षा द्वारा प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि खातिकाके व्याजसे समुद्र ही यहाँ प्रविष्ट हो गया है। कविने समुद्रके समस्त गुणोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

महीप्रवेशमाविश्य चौरेणेव पयोधिना।
खातिकाव्याजतो वव्रे यद्रत्नहरणेच्छया ॥[2]

कवि कल्पनाका कितना धनी है, यह निम्नांकित पद्यसे सहजमें जाना जा सकेगा। रात्रि समाप्त हो गयी है, सूर्यका उदय होने जा रहा है। यह सूर्य पूर्व दिशाके कुंमकुम भूषणके समान, रात्रिरूपी अङ्गनाके विस्मृत लोहित कमलके समान, कामदेवनृपतिके रक्त आतप पत्रके समान, अन्धकारनाशक चक्रके समान और आकाशरूपी स्त्रीके माङ्गल्यकलशके समान परिलक्षित हो रहा है—

प्राची कुंकुममण्डनं किमथवा रात्र्यंगनाविस्मृतं।
रक्ताम्भोजमथो मनोजनृपते रक्तातपत्रं किमु।
चक्रं ध्वान्तविभेदकं द्युवनितामांगल्यकुम्भः किमु।
इत्थं शंकितमंबरे स्फुटमभूद्भानोस्तदा मण्डलम् ॥[3]

रस-परिपाक और भाव-योजनाकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल है।

शाकटायन पाल्यकीर्ति

ये वैयाकरण शाकटायन बहुत प्राचीन आचार्य हैं, जिनके मतका उल्लेख

१. जिनदत्तचरित्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, विक्रमाब्द १९७३, पद्य १।८।

२. वही, पद्य १।१७।

३. जिनदत्तचरित्र, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पद्य २।१२७।

पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है। ऋग्वेद और शुक्लयजुर्वेदके प्रातिशाख्यों में तथा यास्काचार्यके निरुक्तमें भी इनका निर्देश आया है। ये शाकटायन पाणिनीसे साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व हुए हैं, पर प्रस्तुत शाकटायन उक्त शाकटायनाचार्यसे भिन्न हैं। ये जैन आचार्य हैं और इन्होंने स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति सहित शाकटायन-शब्दानुशासनकी रचना की है। अमोघवृत्तिके आरम्भमें शाकटायन नामसे ही इनका निर्देश किया गया है। मंगलाचरणकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थ-प्रणयनके प्रतिज्ञावाक्यमें बताया है—

"एवं कृतमङ्गलरक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रंथं लघूपायं शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं महाश्रमणसंघाधिपतिर्भगवानाचार्यः शाकटायनः प्रारभते, शब्दार्थज्ञान-पूर्वकं च सन्मार्गानुष्ठानम्"।[1]

इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थके रचयिता आचार्य शाकटायन हैं। शाकटायन-की चिन्तामणिटीकाके रचयिता यक्षवर्माने भी शाकटायनको इस शब्दानुशासनका रचयिता माना है। उन्होंने लिखा है—

"स्वस्ति श्रीसकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्।
महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः॥

× × ×

"विघ्नप्रशमनार्थमर्हद्देवतानमस्कारं परममङ्गलमारभ्य भगवानाचार्यः शाकटायनः शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं प्रारभते।"[2]

शाकटायनका अन्य नाम पाल्यकीर्त्ति भी मिलता है। वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें इनका स्मरण पाल्यकीर्तिके नामसे किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥[3]

अर्थात् उस महातेजस्वी पाल्यकीर्तिकी शक्तिका क्या वर्णन किया जाय, जिसका श्रीपद श्रवण ही लोगोंको शाब्दिक या वैयाकरण कर देता है। श्री नाथूरामजी प्रेमीका अभिमत है कि "श्रीवीरममृतं ज्योतिः" आदिपदसे शाक-टायनका प्रारम्भ होता है। इसी कारण वादिराजसूरिने श्रीपदको लक्ष्य करके उक्त

१. शाकटायन-व्याकरण, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, सन् १९७१, पृष्ठ १।
२. जैन साहित्य और इतिहास, लेखक—नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक—हेमचन्द्र मोदी, ठि० हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग गिरगाँव, बम्बई, प्रथम संस्करण सन् १९४२, पृ० १५६, १५७।
३. श्रीपार्श्वनाथचरित, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, १।२५।

निर्देश किया है।[1] शुभचन्द्रने पार्श्वनाथचरित-पञ्जिकामें लिखा है—"तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनम्।" अर्थात् शुभचन्द्र पाल्यकीर्तिको शाकटायनसूत्रोंका रचयिता मानते हैं।

शाकटायन-प्रक्रियासंग्रहके मंगलाचरणमें जिनेश्वरको पाल्यकीर्ति और मुनीन्द्र विशेषण दिये गये हैं, जो श्लिष्ट हैं। एक अर्थके अनुसार जिनेश्वरको और दूसरे अर्थके अनुसार प्रसिद्ध वैयाकरण पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया गया है। अभयचन्द्रके इस मंगलाचरणसे शाकटायनसूत्रोंका रचयिता पाल्यकीर्ति सिद्ध होते हैं—

मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्।
मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे ॥[2]

शाकटायन या पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदायके विद्वान् थे। वि० संवत्की १३वीं शताब्दीके मलयगिरि नामक श्वेताम्बराचार्यने नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्हें यापनीय-यतियोंका अग्रणी लिखा है—

"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह—'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिं सर्ववेधसाम्।' अत्र च न्यासकृतव्याख्या—सर्ववेधसां सर्वज्ञानां सकलशास्त्रानुगतपरिज्ञानानां आदिं प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति।"[3]

पाल्यकीर्ति या शाकटायन श्वेताम्बरोंके समान स्त्रीमुक्ति और केवली कवलाहारको भी मानते हैं। यह मान्यता यापनीयसंघकी है।

अमोघवृत्तिमें "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः" कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता माना है और ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं, जिनके चरणोंके समीप बैठकर भगवती-आराधनाके कर्त्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था। शिवार्य यापनीय सम्प्रदायके आचार्य थे। अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतलाने वाले शाकटायन भी यापनीय होंगे। श्री प्रेमीजीने किसी आधारसे शाकटायनको 'श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य' लिखा है। चिन्तामणिटीकाके कर्त्ता यक्षवर्माने उन्हें "सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्" माना है। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार वीर निर्वाण सं० ६८३ वर्षके पश्चात्

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १५०।

२. प्रक्रियासंग्रहका मंगलाचरण।

३. नन्दिसूत्र, पृ० २३।

केवलियों या एकदेशश्रुतकेवलियोंका विच्छेद हो गया है। अतएव उनका श्रुतकेवलिदेशीयरूपसे उल्लेख यापनीयसंघका द्योतक है।

शाकटायनने अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख नहीं किया है और न अपने गुरुका नाम ही दिया है। अमोघवर्षके पिता प्रभूतवर्ष या गोविन्दराज तृतीयका जो दानपत्र कदम्ब (मैसूर) में मिला है वह शक संवत् ७३५ का अर्थात् अमोघवर्षके राजा होनेसे एक वर्ष पहलेका है। उसमें अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर ग्रामके शिलाग्रामजिनेन्द्रभवनके लिए एक गाँव दान करनेका उल्लेख है। अर्ककीर्ति यापनीयनन्दिसंघ पुन्नागवृक्ष मूलगणके थे। अर्ककीर्तिके गुरुका नाम विजयकीर्ति और प्रगुरुका नाम श्रीकीर्ति था। बहुत सम्भव है कि पाल्यकीर्ति अर्ककीर्तिके शिष्य रहे हों।

शाकटायनसूत्रपाठमें इन्द्र, सिद्धनन्दि और आर्यवज्र इन तीन पूर्वाचार्योंके मतोंका निर्देश पाया जाता है। इन तीनों आचार्योंमें इन्द्रका उल्लेख गोम्मटसार जीवकाण्डमें संशयी मिथ्यादृष्टिके रूपमें आया है। सिद्धनन्दि भी यापनीयसंघके आचार्य प्रतीत होते हैं। तिलोयपण्णत्तिमें वज्रयशका नाम आता है। अतः सम्भव है कि आर्यवज्र दिगम्बराचार्य हों अथवा श्वेताम्बर कल्पसूत्रस्थविरावलीमें निर्दिष्ट अज्जवइर हों। तपागच्छकी पट्टावलीके अनुसार इनकी गणना दशपूर्वधारियोंमें की गयी है। अतएव पाल्यकीर्त्ति-शाकटायन यापनीयसम्प्रदायके आचार्य हैं और इनके गुरुका नाम सम्भवतः अर्ककीर्ति रहा होगा।

स्थितिकाल

पाल्यकीर्ति-शाकटायनके समय-निर्धारणके सम्बन्धमें विशेष मतभेद नहीं है। वादिराज द्वारा निर्देश होनेके कारण इनका समय ई० सन् १०२५ के पूर्व है।[१] शाकटायनने लिखा है—ख्यातेऽदृश्ये ॥४।३।२०८॥ भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तुः सख्यदर्शने वर्तमानाद्धातोर्लङ्प्रत्ययो भवति। लिडपवादः। अरुणदेवः पाण्ड्यम्। अदहदमोघवर्षोऽरातीन्। ख्यात इति किम् ? चकार कटं देवदत्तः। दृश्य इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः। अनद्यतन इति किम् ? उदगादादित्यः।"

अर्थात् जो घटना आँखोंके समक्ष घटित हुई हो अथवा लोकविज्ञात हो उसे प्रकट करनेके लिए धातुसे लङ् प्रत्यय होता है। यथा—अरुणदेवः पाण्ड्यम्—देव—नृप तुंगदेव (अमोघवर्षका नामान्तर) ने पाण्ड्य नरेशको रोका तथा अदहदमोघवर्षोऽरातीन्—अमोघवर्षने शत्रुओंको जला दिया। इन उदाहरणोंमें अमोघ-

---

१. संस्कृत-काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० १७४।

वर्ष द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेकी घटनाका उल्लेख आया है। शक संवत् ८३२ (ई० सन् ९१०) के एक राष्ट्रकूट अभिलेखमें इसी प्रकारकी घटनाका निर्देश किया है—भूपालान् कण्टकाभान्—वेष्टयित्वा ददाह—अर्थात् इस घटनाका भी वही तात्पर्य है कि सम्राट् अमोघवर्षने अपनेसे विपरीत हुए राजाओंको घेरा या जला दिया। अभिलेख अमोघवर्षसे पीछेका है। अतएव यहाँ परोक्षार्थंके लिट्लकारका प्रयोग किया गया है।

बाबुराके दानपत्रमें[1], जो शक संवत् ७८९ (ई० सन् ८६७) का लिखा हुआ है, इस घटनाका उल्लेख है। अमोघवर्ष शक संवत् ७३६ (ई० सन् ८१४) में सिंहासनासीन हुआ था और यह दानपत्र शक संवत् ७८९ (ई० सन् ८६७) का है। अतएव पाल्यकीर्तिका समय अमोघवर्षका राज्य-काल है। 'अदहृदमोघवर्षोऽरातीन्' उदाहरणसे अमोघवृत्तिके रचयिता पाल्यकीर्तिकी समकालीनता स्पष्ट है।

मि० राईस साहबने चिदानन्द कविके मुनिवंशाभ्युदयनामक कन्नड़काव्यसे एक प्रमाण दिया है। यह कवि मैसूरके चिक्कदेव राजाके समयमें (ई० सन् १६७२-१७०४) हुआ है। बताया है—

"उस मुनिने अपने बुद्धिरूप मन्दराचलसे श्रुतरूप समुद्रका मन्थन कर यशके साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायनने उत्कृष्ट शब्दानुशासनको बना लेनेके बाद अमोघवृत्तिनामकी टीका, जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं, बनायी, जिसका परिमाण १८००० है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनिने व्याकरणके सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकारका पुण्य सम्पादन किया। एक बार अबिद्धकरण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दिने मुनियोंके मध्य पूजित शाकटायनको मन्दरपर्वतके समान 'धीर' विशेषणसे विभूषित किया।"[2]

गणरत्नमहोदधिके कर्त्ता वर्धमानने ई० सन् ११४० में शाकटायनका निर्देश किया है। अतएव शाकटायनका समय उससे पूर्व निश्चित है।

रचनाएँ

पाल्यकीर्ति या शाकटायनकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—

१. अमोघवृत्तिसहित शाकटायनशब्दानुशासन—
२. स्त्रीमुक्ति।
३. केवलिभुक्ति।

(१) शाकटायनका शब्दानुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार पादोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें

१. एपि ग्राफिया एण्डिका, जिल्द १, पृ० ५४।
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १५९ पर उद्धृत।

१८१ सूत्र, द्वितीय पादमें २२३ सूत्र, तृतीय पादमें १९५ सूत्र और चतुर्थ पादमें १३२३ सूत्र हैं। द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें २२९ सूत्र, द्वितीय पादमें १७२ सूत्र, तृतीय पादमें ११३ सूत्र और चतुर्थ पादमें २३९ सूत्र हैं। तृतीय अध्यायके प्रथम पादमें २०१ सूत्र, द्वितीय पादमें २२७ सूत्र, तृतीय पादमें १८१ सूत्र और चतुर्थ पादमें १४६ सूत्र हैं। चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादमें २७१ सूत्र, द्वितीयपादमें २६१ सूत्र, तृतीयपादमें २८९ सूत्र और चतुर्थ पादमें १८६ सूत्र हैं। इस प्रकार प्रथम अध्यायमें ७२२, द्वितीय अध्यायमें ७५३, तृतीय अध्यायमें ७५५ और चतुर्थ अध्यायमें १००७ सूत्र हैं। इन सूत्रोंकी कुल संख्या ३,२३७ है। यह शब्दानुशासन अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। रचयिताकी अमोघवृत्तिके अतिरिक्त प्रभाचन्द्रका 'शाकटायन-न्यास', यक्षवर्माकी 'चिन्तामणि-टीका', अजितसेनाचार्यकी 'मणिप्रकाशिका टीका', अभयचन्द्राचार्यकी 'प्रक्रियाटीका', भावसेन त्रैविद्यकी 'शाकटायनटीका', एवं दयापाल मुनिकी 'रूपसिद्धि' टीकाएँ पायी जाती हैं।

शाकटायनव्याकरण प्रत्याहारशैलीमें लिखा गया है। इसके प्रत्याहारसूत्रोंकी यह विशेषता है कि इसमें 'लण्' सूत्रको स्थान नहीं दिया है और 'ल' वर्णको पूर्व सूत्रमें ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्णके प्रथमादि अक्षरोंके क्रमसे अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गोंके प्रथम वर्णोंके ग्रहणके लिये दो सूत्र हैं—'पाणिनीयवर्णसमाम्नाय' की भाँति शाकटायनव्याकरणमें भी हकार दो बार आया है। पाणिनीयव्याकरणमें ४१-४३ या ४४ प्रत्याहारसूत्रोंकी उपलब्धि होती हैं। किन्तु शाकटायनमें केवल ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं। इस व्याकरणमें निम्नलिखित प्रत्याहार सूत्र आये हैं—

अइउण् ॥१॥ ऋक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐओच् ॥४॥ हयवरलञ् ॥५॥ ञमङणनम् ॥६॥ जबगडदश् ॥७॥ झभघढधष् ॥८॥ खफछठथट् ॥९॥ चटतव् ॥१०॥ कपय् ॥११॥ शषस अंअः, ꣵक, ꣵप, र् ॥१२॥ हल् ॥१३॥

यहाँ एक विशेषता यह है कि शाकटायनमें प्रत्याहारसूत्रोंका संग्रह पाणिनि जैसा ही नहीं है, प्रत्युत उन्होंने सूत्रोंमें संशोधन और परिवर्द्धन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायनमें 'लृ' स्वरको माना ही नहीं गया है। इसका अन्तर्भाव 'ऋ' वर्णमें ही कर लिया गया है। इसी तरह अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीयकी गणना व्यञ्जनोंके अन्तर्गत की गयी है। पाणिनिने अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीयको विकृत व्यञ्जन कहा है। वास्तवमें अनुस्वार मकार या नकार जन्य होनेके कारण व्यञ्जन है। विसर्ग कहीं सकारसे और कहीं रेफसे स्वतः उत्पन्न होता है। अतः यह भी व्यञ्जन है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः 'क', 'ख,' तथा 'प', 'फ' के पूर्व विसर्गके ही

विकृत रूप हैं। पाणिनिने इन सभी वर्णोंका अपने प्रत्याहार सूत्रोंमें—जो उनकी वर्णमाला कही जायगी, स्वतन्त्र रूपसे कोई स्थान नहीं दिया। बादके पाणिनीय वैयाकरणोंमेंसे कात्यायनने उक्त चारोंको स्वर और व्यञ्जन दोनोंमें ही परिगणित करनेका निर्देश किया है। शाकटायनव्याकरणमें अनुस्वार, विसर्ग आदिके मूल रूपोंको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रत्याहारसूत्रोंमें सम्मिलितकर उनके व्यञ्जन होनेकी घोषणा कर दी गयी है।

शाकटायन व्याकरणमें सामान्य संज्ञाएँ बहुत अल्प हैं। इत्संज्ञा और 'स्व' (सवर्ण) संज्ञा करनेवाले, बस ये दो ही संज्ञाविधायक सूत्र हैं और इस व्याकरणमें अवशेष दो सूत्र ग्राहक हैं। ग्राहक सूत्रोंमें प्रथम सूत्र वह है, जो स्वर (व्यञ्जन भी) से उसके जातीय दीर्घादि वर्णोंका बोध कराता है और दूसरा प्रत्याहारबोधक 'सात्मेतत्' ॥ १।१।१ सूत्र है। यह सूत्र अपनेमें तो अस्पष्ट है, पर अमोघवृत्तिमें इतना स्पष्ट कर दिया है कि इसके समझनेमें कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार शाकटायनव्याकरणमें संज्ञाविधायक सूत्रोंको बहुत कमी है। संज्ञाप्रकरणमें कुल छह सूत्र हैं, उनमें दो ही सूत्र ऐसे हैं, जिन्हें संज्ञाविधायक माना जा सकता है :

शाकटायनमें "न ॥ १।१।७०" सूत्रके द्वारा विराममें सन्धि कार्यका निषेध करते हुए अविराममें सन्धिका विधान मानकर इस सूत्रको अधिकारसूत्र बतलाया है। 'अच्' सन्धिके आरम्भमें सबसे पहले अयादि सन्धिका विधान—"एचोऽच्ययवायाव् ॥१।१।७१" सूत्र द्वारा कर दिया है। पश्चात्—"अस्वे ॥१।१।७३" द्वारा यण्सन्धिका निरूपण किया है। इस प्रकार पाणिनिकी अपेक्षा शाकटायनमें अयादिसन्धिकी प्रमुखता है। शाकटायनके इस क्रमको 'हेमशब्दानुशासन' में भी अपनाया गया है। शाकटायनके १।१।८५, १।१।८६, १।१।८८, १।१।९७, सूत्र हेमके स्वरसन्धिप्रकरणमें १।२।१५, १।२।१८, १।२।१७ और १।२।३० ज्यों-के-त्यों उपलब्ध हैं। प्रकृतिभावप्रकरणको शाकटायनने निषेधसन्धिप्रकरण कहा है और इसमें स्वरसन्धिके अन्तर्गत द्वित्वसन्धिको भी रखा गया है और इसका अनुशासन ९ सूत्रोंमें किया है। शाकटायनव्याकरणमें 'हल्' सन्धिका विधान करते हुए झलोंको जश् करनेकी विधि बतलायी है। यह विधि पाणिनिकी अपेक्षा लाघवपूर्ण है।

शब्दसाधुत्वकी प्रक्रियामें शाकटायन पाणिनिके समक्ष होते हुए भी उन्होंने स्वरान्त और व्यञ्जनान्त शब्दोंके साधुत्वमें लाघवप्रक्रियाको स्थान दिया है। शाकटायनमें स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दोंका साधुत्व प्रायः छोड़ दिया है। जैसे 'दीर्घपुच्छी', 'दीर्घपुच्छा', 'कवरपुच्छी', 'मणिपुच्छी', 'विषपुच्छी', 'उलूकपक्षी',

'अश्वक्रुती', मनसाक्रुती' आदि प्रयोगोंका शाकटायनमें अभाव है। पर शाकटायन-के टीकाकारोंने इस कमीको पूरा करनेका प्रयास किया है।

शाकटायनव्याकरणमें कारककी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है और न कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकके लक्षण ही बतलाये गये हैं। इस प्रकरणमें केवल अर्थानुसारिणी विभक्तियोंकी ही व्यवस्था मिलती है। शाकटायनने १।३।१०० सूत्र द्वारा हा, धिक्, समया, निकषा, उपरि, उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधो, अत्यन्त्य, अन्तरा, अन्तरेण, परितः, अभितः और उभयतः शब्दोंके योगमें अनिभिहित अर्थमें वर्तमानसे अम्, औट् और शस्का विधान किया है। यहाँ सीधे द्वितीया विभक्तिका कथन न कर द्वितीया विभक्तिके प्रत्ययोंका निर्देश कर दिया है। इसी प्रकार १।३।१२७, १।३।१५२ तथा १।३।१७१ आदि सूत्रोंमें भी विभक्तिसम्बन्धी प्रत्ययोंका निरूपण किया है। यह प्रक्रिया देखनेमें भले ही गौरव प्रतीत हो, पर है वैज्ञानिक। शाकटायनने तुल्यार्थमें तृतीया और षष्ठीके विधानके लिये पृथक्-पृथक् सूत्र लिखे हैं।

समासप्रकरण प्रारम्भ करते ही शाकटायनमें बहुव्रीहि समासविधायक सूत्रोंका निर्देश है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये हैं, जिनका संयोग प्रायः बहुव्रीहि समासमें होता है। जैसे—नञ्, दुस्, सु इनसे परे प्रजाशब्दान्त बहु-व्रीहिसे 'अम्' प्रत्यय नञ्, दुस् तथा अल्पशब्दसे परे मेधाशब्दान्त बहुव्रीहिसे अम् प्रत्यय, जातिशब्दान्त बहुव्रीहिसे छ प्रत्यय एवं धर्मशब्दान्त बहुव्रीहिसे 'अन्' प्रत्यय होता है। इसके पश्चात् बहुव्रीहि समासमें पुंवद्भाव, ह्रस्व आदि अनुशासनोंका नियमन है। सुगन्धि, पूतगन्धि, सुरभिगन्धि, घृतगन्धि, पद्मगन्धि आदि सामासिक प्रयोगोंके साधुत्वके लिये 'इत्' प्रत्ययका विधान किया है। इस व्याकरणमें बहुव्रीहिसमासका अनुशासन समाप्त होनेके बाद ही अव्ययीभावप्रकरण आरम्भ होता है तथा युद्ध वाच्यमें ग्रहण और प्रहरण अर्थमें केशाकेशी और दण्डादण्डिको अव्ययीभाव समास माना है। यतः शाकटायनके मतानुसार अव्ययीभावसमासके तीन भेद हैं—(१) अन्यपदार्थप्रधान, (२) पूर्व-पदार्थप्रधान, (३) उत्तरपदार्थप्रधान। अतः "केशाश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे" जैसे विग्रहवाक्यसाध्य प्रयोगोंमें अन्यपदार्थप्रधान अव्ययीभावसमास होता है। इस प्रकार शाकटायनमें समाससम्बन्धी नियमन विशेष रूपमें पाया जाता है।

शाकटायनव्याकरणमें समासके पश्चात् तद्धित प्रकरण आरम्भ होता है। इस प्रकरणका पहला सूत्र है, 'प्राग्जितादण् ॥२।४।४' प्रत्ययका नियमन शाक-टायनने पाणिनिके समान ही किया है और प्रायः वे ही प्रत्यय प्रयुक्त हैं, जिनका पाणिनिने अनुशासन किया है। इतना होने पर भी शाकटायनने पाणिनिकी

अपेक्षा लाघवको महत्त्व दिया है और कई नये शब्द दिये गये हैं। तिङन्त प्रकरणमें 'क्रियार्थो धातुः' सूत्रको धातुसंज्ञक अधिकारसूत्र बतलाया है और पाणिनिकी लकारप्रक्रियाके अनुसार क्रियारूपोंका साधुत्व दिखलाया गया है। कृदन्तप्रकरण पाणिनिके तुल्य होनेपर भी नियमनमें कई विशेषताएँ हैं। इस प्रकार शाकटायन-शब्दानुशासन कई मौलिक मान्यताओंसे सम्पृक्त है।

स्त्रीमुक्ति-प्रकरण

इस लघुकाय ग्रन्थमें ४६ कारिकाएँ हैं। शाकटायनने श्वेताम्बर सम्प्रदायानुसार मान्य तर्क द्वारा स्त्रीमुक्तिका समर्थन किया है। प्रभाचन्द्राचार्यने प्रमेय-कमल-मार्तण्ड नामक अपने तर्कग्रन्थमें इन कारिकाओंको पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थितकर स्त्रीमुक्तिका निरसन किया है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ कारिकाएँ प्रस्तुत की जाती हैं—

अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत्, यदविकलहेतुकं स्त्रीषु।
न विरुध्यति हि रत्नत्रयसंपद् निर्वृतेर्हेतुः॥
रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथाऽमरादिभावेन।
इति वाङ्मात्रं नात्रं प्रमाणमाप्ताऽऽगमोऽन्यद् वा[1]॥

केवलिभुक्ति-प्रकरण

इसमें ३७ कारिकाएँ हैं। प्रभाचन्द्रने पूर्वपक्षके रूपमें केवली-कवलाहार-खण्डनमें इसी ग्रन्थकी कारिकाओंको उद्धृत किया है। कारिकाएँ तार्किकशैली में लिखी गयी हैं। यहाँ दो-तीन कारिकाएँ उद्धृत की जाती हैं—

अस्ति च केवलिभुक्तिः समग्रहेतुर्यथा पुरा भुक्तेः।
पर्याप्ति-वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयो हेतुः ॥ १ ॥

× × ×

आहारविषयकाङ्क्षारूपा क्षुद् भवति भगवति विमोहे।
कथमन्यरूपताऽस्या न लक्ष्यते येन जायेत ॥ ६ ॥

× × ×

न क्षुद् विमोहपाको यत् प्रतिसंख्यानभावननिवर्त्या।
न भवति विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्यः[2] ॥ ७ ॥

१. स्त्रीमुक्ति-प्रकरण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, शाकटायनव्याकरणके अन्तर्गत, कारिका २, ३।

२. केवलभुक्तिप्रकरण, का० १, ६, ७। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, शाकटायन व्याकरणके अन्तर्गत।

राजशेखरने पाल्यकीर्तिके वचनोंको उद्धृत किया है, जिससे अवगत होता है कि इनका कोई काव्यशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ भी रहा है। बताया है—"वस्तुका स्वरूप चाहे जैसा भी हो, सरसता तो कविकी प्रकृतिके आधारपर है। अर्थात् कविकी प्रकृति सरस है, तो उसे सरस बना देती है और कविकी प्रकृति रूक्ष या नीरस हो, तो सरस वस्तु भी नीरस हो जाती है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तुकी स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसीकी निन्दा करता है और मध्यस्थ व्यक्ति उस सम्बन्धमें उदासीन रहता है। बताया है—"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते इति पाल्यकीर्तिः।"

वादीभसिंह

श्रेण्य-गद्य-संस्कृत-साहित्यमें जो स्थान महाकवि बाणका है, जैन-संस्कृत-गद्य-साहित्यमें वही स्थान वादीभसिंहका। कवि वादीभसिंहने गद्यचिन्तामणि जैसा गद्यकाव्यका उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखकर जैन संस्कृत-काव्यको अमरत्व प्रदान किया है। डॉ० कीथने[१] लिखा है—

'कादम्बरीसे प्रतिस्पर्धा करनेका दूसरा प्रयत्न ओडयदेव (वादीभसिंह) के गद्यचिन्तामणिमें परिलक्षित होता है। उनका उपनाम वादीभसिंह था। वे एक दिगम्बर जैन थे और पुष्पसेनके शिष्य थे। जिनकी प्रशंसा इन्होंने अपनी रचनामें अत्युक्तिपूर्ण शैलीमें की है। इनकी रचनाका सम्बन्ध जीवक अथवा जीवन्धरके उपाख्यानसे है, जो जीवन्धरचम्पूका भी प्रतिपाद्य विषय है। इन्होंने बाणका अनुकरण किया है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। मनीषी शुक-नास द्वारा युवक चन्द्रापीडको दिये गये उपदेशको अधिक सुन्दररूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न भी सम्मिलित है।'

कविका वादीभसिंह यह नाम वास्तविक नाम नहीं, उपाधिप्राप्त नाम है। वास्तविक नाम तो ओडयदेव है। गद्यचिन्तामणिकी तंजौर वाली पाण्डुलिपि की प्रशस्तिमें[२] यही नाम अंकित मिलता है। यद्यपि प्रशस्तिके ये पद्य सभी पाण्डुलिपियोंमें नहीं मिलते, तो भी उपलब्ध पाण्डुलिपिके प्रशस्ति-पद्योंकी

१. History of sanskrit Litrature by Keith, London. 1941, Page 331.

२. श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः॥

—गद्यचिन्तामणि प्रशस्ति, पृ० २५७, श्रीरंगम् १९१६ ई०।

उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जब तक कविका वास्तविक नाम किसी सबल प्रमाणके आधार पर कोई दूसरा सिद्ध नहीं होता, तब तक ओडयदेव मान लेना तर्कसंगत ही है।

निवासस्थान

कवि वादीभसिंहके निवासस्थानके सम्बन्धमें भी अभी तक विवाद है। पण्डित के० भुजबली शास्त्री[1] इन्हें तमिल या द्रविड प्रान्तका निवासी मानते हैं। वी० शेष[2] गिरि रावने कलिंग (तेलुगु) के गंजाम जिलेके आस-पासका निवासी बताया है। गञ्जाम जिला मद्रासके उत्तरमें है और अब उड़ीसामें सम्मिलित कर दिया गया है। यहाँपर ओडेय और गोडेय दो जातियाँ निवास करती हैं। सम्भवतः वादीभसिंह ओडेय जातिके रहे होंगे। गञ्जाम जिलेमें प्रचलित लोक-कथाओंमें जीवन्धरचरित आज भी उपलब्ध होता है। तमिल भाषामें जो लोक-कथाएँ प्रचलित हैं, उनमें जीवन्धरकी कथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। तमिल भाषाके जीवकचिन्तामणि-काव्यके कर्त्ता तिरुत्तक्कदेव नामक कवि हैं, जिनका निवासस्थान तमिलनाड है। अतः हमें श्री शेषगिरिरावका मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। तञ्जौरमें गद्यचिन्तामणिकी पाण्डु-लिपियोंका प्राप्त होना भी इस बातको ओर संकेत करता है कि कविका निवास तमिलनाडमें या उसके आस-पास किसी स्थानमें होना चाहिये।

गुरु

ओडयदेव या वादीभसिंहने गद्यचिन्तामणिके प्रारम्भमें अपने गुरुका नाम पुष्पसेन लिखा है और बताया है कि गुरुके प्रसादसे ही उन्हें वादीभसिंहता और मुनिपुंगवता प्राप्त हुई। कविने गद्यचिन्तामणिके मंगलवाक्योंमें अपने गुरुका स्मरण निम्न प्रकार किया है—

श्रीपुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्मम सदा हृदि संनिदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति[3] ॥

इससे स्पष्ट है कि पुष्पसेन कविके काव्यगुरु ही नहीं थे, अपितु वे विद्या और दीक्षा गुरु भी थे।

समय-निर्णय

वादीभसिंहके समय-निर्णयके सम्बन्धमें विद्वानोंमें पर्याप्त मतभेद है। अभी

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ६, किरण २, पृ० ७८-८७।

२. वही, भाग ८, किरण २, पृ० ११७।

३. गद्यचिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १।६।

तक उपलब्ध साहित्यमें इनके समयके सम्बन्धमें निम्नलिखित विचार-धाराएँ प्राप्त होती हैं—

१. ई० सन् ७७०-८६० ई० की मान्यता
२. विक्रमकी ११वीं शतीके प्रारम्भकी मान्यता
३. ग्यारहवीं शतीके उत्तरार्द्धकी मान्यता
४. बारहवीं शतीकी मान्यता

(१) प्रथम मान्यताके पोषक पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री[1] और डा० प्रो० दरबारीलाल कोठिया[2] हैं। आप दोनों महानुभावोंने जिनसेनके आदिपुराण[3] (ई० सन् ८३८), वादिराजके पार्श्वनाथचरित[4] (ई० सन् १०२५) एवं लघु समन्तभद्रके अष्टसहस्रीटिप्पण[5] (विक्रम १३वीं शतो) के वादीभसिंहविषयक उल्लेखोंके आधारपर उनका समय ई० सन् ८-९वीं शती माना है। डा० दरबारीलाल कोठियाने 'स्याद्वादसिद्धि' के संदर्भांशोंके साथ जयन्तभट्टकी 'न्यायमञ्जरी', कुमारिलके 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' एवं बौद्ध दार्शनिक शंकरानन्दकी 'अपोहसिद्धि' और 'प्रतिबन्धसिद्धि' के तुलनात्मक उद्धरण प्रस्तुत कर वादीभसिंहका समय ई० सन् ७७०-८६० के मध्य सिद्ध किया है। डॉ० कोठियाने श्री कैलाशचन्द्र शास्त्रीके समान ही वादीसिंह और वादीभसिंहको एक ही विद्वान् स्वीकार किया है।

पण्डित नाथूराम प्रेमी भी वादिसिंह और वादीभसिंहको एक ही व्यक्ति मानते थे। पर जैन साहित्य और इतिहासके द्वितीय संस्करणमें उक्त दोनों नामोंको एक ही माननेमें अस्वीकृति प्रकट की है। पर प्रेमीजीने इस मत-परिवर्तनका कोई कारण नहीं बतलाया है।

(२) द्वितीय मान्यताके समर्थक विद्वानोंमें पण्डित नाथूराम प्रेमी और टी०

---

१. न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावना, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पृ० १११।

२. स्याद्वादसिद्धि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्रस्तावना, पृ० ११।

३. कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥
—महापुराण (भारतीय ज्ञान० १९५१) १।५४

४. स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिग्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः॥ —पार्श्व० १।२१।

५. तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यमाणिक्यमकारिकाघटमदेकटकाराः सूरयो.........प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह—अष्टसहस्री-टिप्पण, पृ० १।

एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री प्रमुख हैं। उक्त दोनों विद्वानोंने "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" परिमल कविकी इस धारानरेश भोज सम्बन्धी उक्तिका पूर्वार्द्ध सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसंगमें गद्यचिन्तामणिमें प्राप्त कर वादीभसिंहका समय भोजदेवके पश्चात् माना है। भोजदेवका राज्यकाल विक्रम संवत् १०७६ से वि० संवत् १११२ माना जाता है। अतएव पण्डित प्रेमी और कुप्पुस्वामी शास्त्री दोनों ही विद्वान् वादीभसिंहको वि० सं० की ११वीं शताब्दीका आचार्य मानते हैं।[1]

(३) ११वीं शतीकी उत्तरार्द्धसम्बन्धी मान्यताके समर्थक श्री पण्डित के० भुजबली शास्त्री हैं। इन्होंने अजितसेनको वादीभसिंहका ही अपर नाम मानकर, उनका काल ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध माना है। शास्त्रीजीका दूसरा तर्क क्षत्रचूड़ामणिके—"राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूड़ामणिर्गुणैः॥"[2] पद्यमें आया हुआ 'राजराज' पद है। इस पदको शास्त्रीजीने श्लेषात्मक मानकर चरितनायक जीवन्धरके अतिरिक्त तत्कालीन शासक राजराजसे सम्बद्ध[3] माना है। यह शासक चोलवंशी 'राजराज' हो सकता है। चोल राजाओंमें इस नामके दो व्यक्ति हुए हैं। प्रथम राजराजका काल ई० सन् ९८५-१०१२ तक तथा द्वितीयका ई० सन् ११४६-११७८ तक माना गया है। शास्त्रीजीने द्वितीय राजराजका ही वादीभसिंहको समकालीन माना है। तथा उन्होंने श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४, ३, ४० और ३७ द्वारा अपने तथ्योंकी पुष्टि की है। अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है—"मेरे पूर्व कथनानुसार जब वादीभसिंहका समय ११वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध निर्विवाद सिद्ध होता है, तब वादीभसिंहको दशम शतकका मानना ठीक नहीं है।"[4]

"मेरे इस अनुमानको श्रीयुत् स्व० आर० नरसिंहाचार्य और श्रीयुत् प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठशास्त्री इन दोनों पुरातत्त्वविशारदोंने स्वीकार किया है। परन्तु पूर्वोक्त अपने-अपने निर्धारित समयानुकूल आर० नरसिंहाचार्य वादीभसिंहको द्वितीय राजराजका समकालीन एवं प्रो० एस० श्रीकण्ठशास्त्री प्रथम राजराजका समकालीन मानते हैं। शास्त्रीजीका कहना है कि द्वितीय राजराजकी अपेक्षा प्रथम राजराज बहुत प्रसिद्ध था, पर मेरे जानते यह कोई सबल तर्क

१. जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई १९५६, पृ० ३२५।

२. क्षत्रचूड़ामणि, ११।१०६।

३. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ६, किरण २, पृ० ७८-८७ तथा भाग ७, किरण १ पृ० १-८।

४. वही, भाग ६, किरण २, पृ० ८६।

नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्ताको, तो प्रायः प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तत्कालीन शासकका उल्लेख कर देना भर ही ध्येय रहता है।[1]

स्पष्ट है कि पण्डित के० भुजबली शास्त्री वादीभसिंहका समय ११वीं शतीका उत्तरार्द्ध मानते हैं।

(४) १२वीं शताब्दीकी मान्यता संस्कृत-साहित्यके इतिहास लेखक श्री एम० कृष्णमाचारियरकी है। इन्होंने श्री कुप्पुस्वामीके तर्कके आधारपर ही भोजका राज्यकाल १२वीं सदी मानकर अपना अभिमत प्रकट किया है। लिखा है—"King Bhoja flourished in the 11th century A. D. and Vadibhasingha who must have therefore come after him way be orgsigned to the 12th century A. D.[2]

समालोचन

उपर्युक्त अभिमतोंपर विचार करनेसे तथा वादीभसिंहकी कृतियोंके अवलोकनसे ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि वादीभसिंहके समयके सम्बन्धमें विद्वानोंने पर्याप्त ऊहापोह किया है। द्वितीय मतके प्रवर्त्तक श्रीप्रेमीजी और कुप्पु स्वामीने परिमल कविकी उक्तिकी छाया गद्यचिन्तामणिमें प्राप्त की है। पर यह मान्यता निःसार है। गद्यचिन्तामणिके समस्त सन्दर्भका अवलोकन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि वादीभसिंहका उक्त गद्य-खण्ड अपनेमें मौलिक और पूर्ण है, वह किसीका अनुकरण नहीं है। प्रेमीजी एवं कुप्पु स्वामी उक्त सन्दर्भांशको सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसंगमें बतलाते हैं, पर वस्तुतः वह सन्दर्भ उस समयका[3] है जबकि जीवन्धरने काष्ठांगारके हाथीको कड़ा मारा था, जिससे काष्ठांगार क्रोधित हुआ। गन्धोत्कटने जीवन्धर स्वामीको बांधकर काष्ठांगारके पास भेज दिया और उसने उनके प्राण-वधका आदेश दिया, तो समस्त नगरमें शोक व्याप्त हो गया और नगरवासी सन्तापसे मग्न हो कहने लगे—

"अद्य निराश्रया श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निस्सारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता, इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणीं वाणीं, सखेदायां च खेचरचक्रवर्तिदुहितरि दयितविमोक्षणाय........।"[4]

---

१. जैन सिद्धांत भास्कर, भाग ७, किरण १, पृ० ७।

२. History of classical Sanskrit literature by M. Krishna machariyar, page 477 Madras 1937.

३. डॉ० दरबारीलाल कोठियाने इस तथ्यका उद्घाटन स्याद्वादसिद्धिकी प्रस्तावना पृ० २७ में किया है।

४. गद्यचिन्तामणि, पंचम लम्ब, पृ० १३१, श्रीरंगम्, १९१६ ई०।

यदि उक्त सन्दर्भांशमें परिमल कविके पद्यकी छाया मानी जाय, तो गद्यके रूपमें "निराश्रया श्रीः" यह पद पहले नहीं आता। अतः बहुत सम्भव है कि परिमल कविने ही गद्यचिन्तामणिके उक्त सन्दर्भके आधारपर अपने पद्यको रचा हो। परिमल कविकी रचनापर पूर्ववर्त्ती कवियोंका ऋण सुस्पष्ट है। अतः वादीभसिंहपर परिमलका ऋण न स्वीकार कर परिमलपर ही वादीभसिंहका ऋण स्वीकार करना अधिक उचित है। ऐसा मान लेनेसे आदिपुराण और पार्श्वनाथचरितके उल्लेखोंका भी औचित्य सिद्ध हो जाता है।

महाकवि वादीभसिंहने अपने क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणिमें क्षत्रिय-कुलचूड़ामणि जीवन्धरका चरित निबद्ध किया है। इस चरितका आधार कोई पुराणग्रन्थ अवश्य है। मुझे डॉ० प्रो० दरबारीलाल कोठियाका यह अनुमान ठीक मालूम पड़ता है कि कविने उक्त कथानक कवि परमेष्ठीके 'वागर्थ-संग्रह' से लिया हो। जीवकचिन्तामणि ग्रन्थका निर्माण तो निश्चयतः क्षत्रचूड़ामणि समक्ष रखकर ही किया गया है। श्री प्रेमीजीने लिखा है—"तमिलसाहित्यके विशेषज्ञ पण्डित स्वामीनाथैयाका मत है कि इस ग्रन्थकी रचना क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर की गयी है और श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री अपने सम्पादित किये हुए क्षत्रचूड़ामणिमें इस तरहके छायामूलक बीसों पद्य टिप्पणके रूपमें उद्धृत करके इस बातकी पुष्टि भी की है।"[१]

तमिल विद्वानोंने तिरुत्तक्कदेवका समय ई० सन्‌की १०वीं शताब्दी माना है। अतः वादीभसिंहका समय इनसे पूर्व सुनिश्चित है। वादीभसिंहने गद्य-चिन्तामणिमें जिस कथाके आधारका निरूपण किया है उस सम्बन्धमें उन्होंने स्वयं ही गणधर द्वारा प्रथित परम्पराका निर्देश किया है—

> इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्रवं शृण्वतां
> तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः।
> विद्यास्फूर्तिविधायिधर्मजननीवाणीगुणाभ्यर्थिनां
> वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धये ॥[२]

श्री पं० के० भुजबली शास्त्रीने वादीभसिंहका दूसरा नाम अजितसेन माना है, पर अजितसेनके गुरुका नाम पुष्पसेन नहीं मिलता। शास्त्री जीने खींचतान कर एक पुष्पसेनको अजितसेनका गुरु सिद्ध करनेका आयास किया है, पर आश्चर्य

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२५।

२. गद्यचिन्तामणि, १।१५।

यह है कि उन पुष्पसेनका अजितसेन नामका कोई शिष्य ही नहीं है। उनके शिष्यका नाम वासुपूज्य सिद्धान्तदेव मिलता है। साथ ही अजितसेन और पुष्पसेनके स्थिति-कालके एक होनेमें भी बाधा है। अजितसेनके सम्बन्धमें कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता कि वे महाकवि या काव्यग्रन्थोंके निर्माता थे। गद्य चिन्तामणि जैसे श्रेष्ठ गद्य-काव्यके निर्माताके रूपमें मल्लिषेण-प्रशस्तिमें उनका उल्लेख अवश्य ही होना चाहिए था, जबकि इस प्रशस्तिमें उनकी प्रशंसा लगभग ५० पंक्तियोंमें की गयी है। एक दूसरी बात यह भी है कि जिन अजितसेनको शास्त्रीजी वादीभसिंह कहते हैं वे अजितसेन दार्शनिक विद्वान् हैं, कवि नहीं। अतः के० भुजबली शास्त्री द्वारा समर्थित वादीभसिंहका समय तर्कसंगत नहीं है।

श्री कृष्णमाचारियरने जो अपना अभिमत प्रकट किया है, उसका आधार तो श्री टी० एस० कुप्पु स्वामी द्वारा प्रस्तुत तर्क ही है। अतएव वादीभसिंहका समय डा० प्रो० दरबारीलाल कोठिया द्वारा समर्थित ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्रीने अकलंकदेवका गुरुभाई पुष्पसेनको माना है। इन्हीं पुष्पसेनके शिष्य वादीभसिंह थे। अतः जिनसेन और वादिराज द्वारा उल्लिखित वादिसिंह ही वादीभसिंह हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। संक्षेपमें समस्त प्रमाणोंका अध्ययन करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वादीभसिंहका समय नवम शती है।

रचनाएँ

वादीभसिंहकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं—(१) क्षत्रचूड़ामणि और (२) गद्य चिन्तामणि। तीसरी रचना स्याद्वादसिद्धि इनकी बतायी जाती है, पर इसे अजितसेनकी होना चाहिए। अतः मेरी दृष्टिमें इसके कर्त्ता संदिग्ध हैं।

१. क्षत्रचूड़ामणि—क्षत्रचूड़ामणि अनुष्टुप् छन्दोंमें लिखित एकार्थक प्रबन्धकाव्य है। इस काव्यमें ११ लम्ब हैं और जीवन्धरस्वामीकी कथा वर्णित है। नीति और सूक्तिवाक्योंके कारण यह काव्य अत्यन्त सरस है।

कथावस्तु

हेमांगद देशकी राजधानी राजपुरीमें महाराज सत्यन्धर राज्य करते थे। ये अपनी महारानी विजयामें अत्यासक्त थे। अतः राज्यका भार मंत्री काष्ठांगारको सौंप दिया। कृतघ्न काष्ठांगारने राज्यतृष्णाके वशीभूत होकर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। युद्धभूमिमें क्षात्र धर्मका पालन करते हुए सत्यन्धर काम आये। महाराजकी रानी विजया गर्भिणी थी, अतएव राजवंशकी आशाके एकमात्र केन्द्र गर्भस्थ शिशुके संरक्षणार्थ महाराजने पहलेसे ही आकाश

में उड़ने वाला मयूरयंत्र बनवाया था और उसमें युद्धकी विकट स्थितिके समय महारानीको बैठाकर आकाशमें उड़ा दिया गया। सौभाग्यवश वायुयान श्मशान भूमिमें पहुँचा और वहीं महारानीके एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। महारानी तपस्वियोंके आश्रममें रहकर अपना समय व्यतीत करने लगी और पुत्रका पालन गन्धोत्कटके यहाँ होने लगा। बालक जीवन्धरने आर्यनन्दि नामक आचार्यसे विद्या ग्रहण की। तरुण होनेपर कुमारको ज्ञात हुआ कि मैं क्षत्रियपुत्र हूँ। मेरे राज्यका अधिकारी काष्ठांगार बन गया है। अतएव अवसर पाकर वीरशिरोमणि जीवन्धरने काष्ठांगारको मारकर अपना राज्य प्राप्त कर लिया। बहुत समय तक वैभव-विभूतिका आनन्द प्राप्तकर स्थायी शान्ति प्राप्तिके हेतु जीवन्धर अपने पुत्र वसुन्धरको राज्यका भार सौंपकर प्रव्रजित हो गये और भगवान् महावीरके समवशरणमें रहकर कर्मोंकी निर्जरा कर मुक्तिलाभ प्राप्त किया।

कविने कथावस्तुको बहुत ही सुन्दर रूपमें ग्रथित किया है। प्रत्येक पद्यमें प्रायः अर्थान्तरन्यास अलंकार पाया जाता है। नीति और सूक्तियोंका तो यह सागर है। शिक्षाके सम्बन्धमें कहा गया है—'अनवद्या हि विद्या स्यात् लोकद्वयफलावहा' (३।४५) अर्थात् निर्दोषज्ञान ही इस लोक और परलोकमें फलदायी है। इसीकी पुष्टिमें कविने दूसरी उक्तिमें बतलाया है—'हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ' (२।४४) यदि हेय-उपादेयरूप विवेकबुद्धि जागृत न हुई तो शास्त्राभ्यासमें किया गया श्रम व्यर्थ है। कविने निर्धनताका सफल चित्रण करते हुए लिखा है—

> दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तूनामप्यरुन्तुदम्।
> अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता॥
> रिक्तस्य हि न जागर्त्ति, कीर्तनीयोऽखिलो गुणः।
> हन्त किं तेन विद्यापि, विद्यमाना न शोभते॥[1]

निर्धनतासे बढ़कर संसारमें अन्य कोई भी कष्टदायक वस्तु नहीं है। यह प्राण ही नहीं लेती, पर अन्य सभी प्रकारके कष्टोंको प्रदान करती है। वस्तुतः यह विपत्तियोंका घर है।

निर्धन व्यक्तिके प्रशंसनीय सम्पूर्ण गुण जागृत नहीं होते और तो क्या विद्यमान गुण भी शोभित नहीं होते।

कविने विषयासक्तिके दुष्परिणाम, वृद्धावस्था, उदारता, आत्मनिरीक्षण, आत्मोद्धार, विपत्ति, वैराग्य, सज्जन-दुर्जन स्वभाव आदिका सफल चित्रण किया है। इस काव्यमें गर्भित सूक्तियोंका सांस्कृतिक अध्ययन करने पर ८ वीं, ९ वीं शताब्दीकी अनेक मान्यताएँ मुखरित हो उठती हैं।

---

१. क्षत्रचूड़ामणि ३।६, ७।

२. गद्य-चिन्तामणि

यह गद्यकाव्य है। इसकी भी कथावस्तु पूर्वोक्त क्षत्रचूड़ामणिकी कथा ही है। कविने कथानकको ११ लम्बोंमें विभक्त किया है। कविकी गद्यशैली कादम्बरीकी गद्यशैलीके समान है। कविने इस कथामें काव्यत्वका पूर्णतया समावेश किया है। पात्रोंके चरित्र भी जीवन्तरूपमें चित्रित हुए हैं। इस कृति-में अप्रतिम कल्पना-वैभव, वर्णन-पटुता और मानव-मनोवृत्तियोंका मार्मिक निरीक्षण पाया जाता है। महाराज सत्यन्धर काष्ठांगारका आक्रमण सुनकर आशा-निराशाके द्वन्द्वमें पड़ जाते हैं। उनकी इस द्वन्द्वात्मक विचारधाराका कविने हृदयग्राही चित्रण किया है।

प्रासाद, नगर, वन, श्मशान, राजसभा एवं पूर्वभवावलीका ब्यौरेवार चित्रण किया गया है। वर्णन-विविधताके साथ भावानुकूल भाषाका प्रयोग भी श्लाघ्य है। "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" की उक्ति इस ग्रन्थके समक्ष झूठी प्रतीत होती है। कविने भाषाका प्रयोग रमणीय और भावोंके अनुसार दीर्घ समास एवं अल्प समासके रूपमें किया है। जहाँ विषय भाव-प्रधान मार्मिक अथवा गम्भीर होता है वहाँ शैली बड़ी ही सशक्त एवं प्रभावोत्पादक पायी जाती है। जब जीवन्धर अपने राज्यको पुनः प्राप्त करनेके लिए काष्ठांगारपर आक्रमण करता है, उस समय काष्ठांगारका रौद्र रूप दर्शनीय है यथा—

"स रुष्टः काष्ठांगारः क्रोधवेगस्फुरदोष्ठपुटतया निकटवर्तिनो निजाह्वानकृते कृतागमान्कृतान्तदूतानिव स्वान्तसन्तोषिभिः सान्त्वयन्वचोभिः नातिचिरभावि-नरकावसथेभवदवतमसप्रचयमिवात्मानं प्रतिग्रहीतुकाममागतं करालं कालमेघा-भिधानं करिणमारुह्य रोषाशुशुक्षणि विजृम्भमाणशोणेक्षणतीक्ष्णार्चिश्छटा-च्छन्नाङ्गतया सप्तार्चिषि निमज्जयन्निजस्वामिद्रोहभावं विभावयितुं सत्याप-यन्निव सत्यन्धरमहाराजतनयाभिमुखमभीयाय। ···।"[१]

कवि जिस समय किसी उत्सव या विलासका चित्रण करता है उस समय उसकी शैली अपेक्षाकृत क्लिष्ट एवं प्रगाढ़ हो जाती है। दीर्घकाय समास, विपुल वाक्य, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली चित्रकाव्यके समस्त साधनोंको उपलब्ध कर देती है। जीवन्धरके जन्मोत्सवका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

"यस्मिंश्च जातवति जातपिष्टातकमुष्टिवर्षपिञ्जरितहरिन्मुखमुन्मुखकुब्ज-वामनहठाकृष्यमाणनरेन्द्राभरणं प्रणयभरप्रवृत्तवारयुवतिवर्गवल्गनरणितमणि-भूषणनिनदभरितहरिदवकाशं निर्मर्यादमदपरवशपण्ययोषिदाश्लेषलज्जमानराज-वल्लभं ······।"[२]

१. गद्यचिन्तामणि, दशम लम्ब, पृ० २१९।
२. वही, प्रथम लम्ब, पृ० ४३।

वस्तुतः गद्यचिन्तामणिकाव्यका महत्त्व कथानकगठन, चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास एवं रसोन्मेषमें है।

३. स्याद्वादसिद्धि

महाकवि वादीभसिंहकी एक तीसरी कृति स्याद्वादसिद्धिनामक न्यायरचना भी मानी जाती है। डॉ० प्रो० दरबारीलाल कोठियाने इस कृतिका सम्पादन किया है और माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा यह प्रकाशित है। कोठियाजीने इसे महाकवि वादीभसिंहकी रचना बतलायी है। पर मेरा विचार है कि यह कृति महाकवि वादीभसिंहकी न होकर अजितसेनकी है। अजितसेनको उपाधि वादीभसिंह थी और मल्लिषेण-प्रशस्तिके अनुसार ये दार्शनिक आचार्य थे। अतएव इस रचनाके कर्त्ता ओडयदेव वादीभसिंह न होकर अजितसेन वादीभसिंह हैं।

क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणिकी परम्परा इसमें उपलब्ध नहीं है। इन दोनों ग्रन्थोंके मंगलाचरणमें कविने 'श्रीपति' शब्दका प्रयोग किया है, पर स्याद्वादसिद्धिका मंगलाचरण उक्त दोनों ग्रन्थोंकी मंगलाचरणशैलीसे भिन्न शैलीमें निबद्ध है।

तीसरी बात यह है कि 'गद्यचिन्तामणि' और 'क्षत्रचूड़ामणि' के अध्ययनसे वादीभसिंहके दार्शनिक और तार्किक ज्ञान पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है। यदि ओडयदेव वादीभसिंह स्याद्वादसिद्धिके रचयिता होते तो इन रचनाओंमें दार्शनिक तथ्य अवश्य सम्मिलित रहते। अतएव स्याद्वादसिद्धिके रचयिता अजितसेन वादीभसिंह हैं, ओडयदेव वादीभसिंह नहीं।

महावीराचार्य

भारतीय गणितके इतिहासमें महावीराचार्यका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है। जैन गणितको व्यवस्थित रूप देनेका श्रेय इन्हींको प्राप्त है। महावीराचार्यकी गुरुपरम्परा और जीवनवृत्तके सम्बन्धमें कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। इन्होंने ग्रन्थके आरम्भमें अमोघवर्ष नृपतुंगके सम्बन्धमें प्रशंसात्मक विचार व्यक्त किये हैं। इन विचारोंसे महावीराचार्यके समय पर तो प्रकाश पड़ता है, पर उनके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें सामग्री उपलब्ध नहीं हो पाती। महावीराचार्यकी इस गणित-ग्रन्थकी पाण्डुलिपियों एवं कन्नड़ और तमिल टीकाओंके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महावीराचार्य मैसूर प्रान्तके किसी कन्नड़ भागमें हुए होंगे। सुदूर दक्षिणमें गणित-विज्ञानको वृद्धिगत करनेका उस समय प्रयत्न किया गया, जब उत्तरीय भारतमें ब्रह्मगुप्त

और भास्करके समयके बीच श्रीधराचार्यको छोड़कर कोई अन्य प्रकाण्ड गणितज्ञ न हुआ।

महावीराचार्यने पूर्ववर्ती गणितज्ञोंके कार्यमें पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन किये। नवीन प्रश्न दिये, दीर्घवृत्तका क्षेत्रफल निकाला तथा मूलबद्ध तथा द्विघातीय समीकरण आदिके गणितका प्रणयन किया। इन्होंने शून्यके विषयमें भागक्रिया करनेकी प्रणालीका आविष्कार किया। किसी संख्यामें शून्य द्वारा विभाजनके लिये फलोंका निरूपण करते हुए बतलाया कि संख्या शून्य द्वारा विभाजित होनेपर परिवर्तित नहीं होती है। जिस दृष्टिकोणको लेकर यह सिद्धान्त निबद्ध किया है, वह सिद्धान्त स्थूल विभाजन पर आधृत है। यों तो शून्य द्वारा किसी संख्याको विभाजित करनेपर फल परिमित (Finite) आता है। महावीराचार्य और ब्रह्मगुप्त आदिके प्रश्नों तथा अन्य प्रकरणोंकी भिन्नताके सम्बन्धमें डेविड यू जेन स्मिथका वक्तव्य द्रष्टव्य है।[१]

समय-निर्णय

महावीराचार्यने अमोघवर्षके सम्बन्धमें छह श्लोक निबद्ध किये हैं। इन पद्योंसे अवगत होता है कि आचार्य अमोघवर्षके आश्रयमें अवश्य रहे हैं। उन्होंने लिखा है—"धन्य हैं वे अमोघवर्ष, जो हमेशा अपने प्रिय पात्रोंके हित-चिन्तन में संलग्न रहते हैं और जिनके द्वारा प्राणी तथा वनस्पति महामारी और दुर्भिक्ष आदिसे मुक्त होकर सुखी हुए हैं। जिस अमोघवर्षके चित्तकी क्रियाएँ अग्नि-पुञ्ज सदृश होकर समस्त पाप-रूपी वैरियोंको भस्ममें परिणत करनेमें सफल हैं और जिनका क्रोध व्यर्थ नहीं जाता, जिन्होंने समस्त संसारको अपने वशमें कर लिया है और जो किसीके वशमें न रहकर शत्रुओं द्वारा पराजित नहीं हो सके, अपूर्व मकरध्वजकी तरह शोभायमान हैं। जिनका कार्य अपने पराक्रम द्वारा पराभूत राजाओंके चक्रसे होता है और जो न केवल नामसे चक्रिकाभंजन हैं, अपितु वास्तवमें भी चक्रिकाभंजन—जन्म-मरणके नाशक हैं। जो अनेक ज्ञान-सरिताओंके अधिष्ठाता होकर सच्चरित्रताकी वज्रमयी मर्यादा वाले हैं और जो जैनधर्मरूप रत्नको हृदयमें रखते हैं, इसलिये वे यथाख्यातचारित्रके महान् सागरके समान सुप्रसिद्ध हुए हैं। एकान्त पक्षको नष्ट कर जो स्याद्वादरूपी न्यायशास्त्रके वादी हुए हैं, ऐसे महाराज नृपतुंगका शासन वृद्धिगत हो।"[२]

उक्त उद्धरणसे ज्ञात है कि यह अमोघवर्ष प्रथम जगत्तुंगदेव गोविन्दतृतीय

1. Introduction to English translation and notes of गणितसारसंग्रह by M. Rangacharya (1912)

२. गणितसारसंग्रह, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, संज्ञाधिकार, पद्य २, ८।

के पुत्र थे। नृपतुंग, शर्व, सण्ड, अतिशय धवल, वीर नारायण, पृथ्वीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महराजाधिराज, भटार, परम भट्टारक आदि उनकी उपाधियाँ थीं। ये बड़े पराक्रमी राजा थे। इन्होंने राष्ट्रकूट वंशकी राज्यलक्ष्मीका उद्धार किया था। शक संवत् ७३५ में जब धवलाकी समाप्ति हुई थी, तब ये राजा थे। शक संवत् ७८२ के ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि इन्होंने स्वयं मान्यखेटमें जैनाचार्य देवेन्द्रको दान दिया था। यह दानपत्र इनके राज्यके ५२वें वर्षका है। शक संवत् ७९९ का एक अभिलेख कन्हेरीकी गुफामें मिला है, जिसमें इनका और सामन्त[1] कपर्दी द्वितीयका उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि अमोघवर्षका राज्यकाल ईसाकी नवम शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। यही समय महावीराचार्यका भी होना चाहिये। महावीराचार्यने गणितसारसंग्रहमें अमोघवर्षको स्याद्वाद-न्यायवादी और यथाख्यातचारित्रका धारक बतलाया है। इससे यह ध्वनित होता है कि गणितसारसंग्रहके रचनाकाल तक उन्होंने राज्य तो नहीं छोड़ा था, पर उनकी वृत्ति युद्धको ओरसे हट गयी थी और उनका कोप वंध्य हो गया था। इस प्रकार महावीराचार्यका समय अमोघवर्षका राज्यकाल है।

रचना

महावीराचार्यका प्रामाणिकरूपसे एक 'गणितसारसंग्रह' ही प्राप्त है। यों इनके नामसे 'ज्योतिषपटल' का भी उल्लेख मिलता है, पर यह रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।

'गणितसारसंग्रह' में नव अध्याय हैं। प्रथम अध्याय संज्ञाधिकार है। इसमें गणितशास्त्रकी प्रशंसाके अनन्तर क्षेत्रपरिभाषा, कालपरिभाषा, धान्यपरि-भाषा, सुवर्णपरिभाषा, रजतपरिभाषा, लोहपरिभाषा, परिकर्मनामावली, स्थानमान और संख्यासंज्ञा आदिका वर्णन आया है। द्वितीय अधिकार परिकर्म-व्यवहार है। इसमें प्रत्युत्पन्न—गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, संकलित और व्युत्कलित गणितका उदाहरणसहित विवेचन आया है। तृतीय अधिकार कलासवर्ण-व्यवहार है। इसमें भिन्न प्रत्युत्पन्न, भिन्न भागहार, भिन्न सम्बन्धी वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न संकलित, भिन्न व्युत्कलित भागजाति, प्रभागजाति, भागाभागजाति, भागानुबन्ध जाति, भागापवाहजाति, भागमात्रिजातिका गणित उदाहरणसहित वर्णित है। चतुर्थ अधिकार प्रकीर्ण-व्यवहार है। इसमें भिन्नोंके विविध प्रश्न वर्णित हैं। भाग और शेषजाति, मूल जाति, शेषमूलजाति, द्विरग्रशेषमूलजाति, अंशमूलजाति, भाग, संवर्गजाति, ऊनाधिक अंशवर्गजाति, मूलमिश्रजाति और भिन्नदृश्यजातिका गणित आया है। पञ्चम अधिकार त्रैराशिकव्यवहारसंज्ञक है। इसमें अनुक्रम त्रैराशिक,

1. जनरल बोम्बे ब्रांच, रॉयल ऐशिआटिक सोसाइटी, जिल्द १०, पृ० १९४।

व्यस्त त्रैराशिक, व्यस्त पञ्चराशिक, व्यस्त सप्तराशिक, व्यस्त नवराशिक, गतिनिवृत्ति, पञ्चराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड एवं क्रय-विक्रयका गणित वर्णित है। षष्ठ अधिकार मिश्रक व्यवहार है। इसमें संक्रमण, विषम-संक्रमण, पञ्चराशिक विधि, वृद्धि विधान, प्रक्षेपक कुट्टीकार, वल्लिका-कुट्टीकार, विषम कुट्टीकार, सकलकुट्टीकार, सुवर्णकुट्टीकार विचित्रकुट्टी-कार एवं श्रेढ़ीबद्ध संकलित गणितका सोदाहरण निरूपण आया है। अप्तम अधि-कार क्षेत्र गणित व्यवहार है। इसमें क्षेत्रफलसम्बन्धी विविध प्रकारके गणितों-का कथन आया है। व्यावहारिक गणित सूक्ष्मगणित, जन्य व्यवहार एवं पैशा-चिक व्यवहार गणितका उदाहरण सहित निरूपण किया गया है। अष्टम अधि-कार खात व्यवहार है। इसमें सूक्ष्म गणित, चितिगणित और क्रकचिका व्यव-हार गणित निबद्ध है। नवम अधिकार छाया व्यवहार संज्ञक है। इसमें छाया सम्बन्धी विभिन्न प्रकारके गणितोंका उदाहरण सहित विवेचन किया गया है।

महावीराचार्यने $(अ + ब)^3$ का आनयन किया है जो न्यूटनके द्विपद श्रेढ़ीको दिशा प्रदान करता है।

$$(अ + ब)^3 = अ^3 + ३अ^2उ + ३ब^2अ + ब^3$$

इस 'गणितसासंग्रह' में गणितकी अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं। ग्रन्थ-कारने भाग देनेकी वर्त्तमान विधिका कथन किया है। इस सुविधाजनक विधि से उभयनिष्ठ गुणन खण्डोंको हटाकर विभाजन किया जाता है। व्याज निकालने की विधिका निरूपण करते हुए लिखा है—

महावीराचर्यने मूलधन, व्याज, मिश्रधन और समय निकालनेके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण नियम दिये हैं। मूलधन = स, मिश्रधन = म, समय = ट, व्याज = ई

१— (i) $$स = \cfrac{म}{\cfrac{१ + ई \times ट \times ई}{ट + स}}$$

(ii) $$स = \cfrac{म}{\cfrac{ट \times ई}{ट \times स} + १}$$

(iii) आ = अनेक प्रकारके मूलधन

२— $$आ = \cfrac{म}{\cfrac{स \times ट}{ई \times स} + १} \quad \Big\{ \; म = आ + ट$$

$$\sqrt{म^2 - \frac{स \times ट}{ई} \times ४ \times आ} + - म \quad \left\{ म = स + ट \right.$$

(i) स =

$$\text{(ii)} \quad \frac{स_1 \times ट_1 \times म}{ट_1 \times ट_1 + स_2 \times ट_2 + स_3 \times ट_3 + \cdots} = आ_1$$

$$\text{(iii)} \quad \frac{स_2 \times ट_2 \times म}{स_1 \times ट_1 + २स \times ट_2 + स_3 \times ट_3 + \cdots} = आ_2$$

$$म = आ_1 + आ_2 + आ_3 + \cdots$$

व्याजके लिये नियम (Formula) :—

$$३—\text{(i)} \quad \frac{म}{\frac{आ_1}{ट_1} + \frac{आ_2}{ट_2} + \frac{आ_3}{ट_3} + \cdots} \times \frac{आ_1}{ट_1} = स_1$$

$$\text{(ii)} \quad \frac{म}{\frac{आ_1}{ट_1} + \frac{आ_2}{ट_2} + \frac{आ_3}{ट_3} + \cdots} \times \frac{आ_2}{ट_2} = स_2$$

$$म = स_1 + स_2 + स_3 + \cdots$$

समय निकालनेके लिये नियम (Formula) :—

$$४—\text{(i)} \quad \frac{म}{\frac{आ_1}{स_1} + \frac{आ_2}{स_2} + \frac{आ_3}{स_3}} \times \frac{आ_1}{स_1} = ट_1 \quad \left\{ म = ट_1 + ट_2 + ट_3 + \cdots \right.$$

$$\text{(ii)} \quad \sqrt{\frac{स \times ट}{ट} \times म + \left(\frac{स \times २}{२ \times ट}\right)^2} - \frac{स \times ट}{२ \times ट} = ई = स$$

$$५— \frac{म \times ट}{\frac{स_1 \times ट_1}{ई_1} + \frac{स_2 \times ट_2}{ई_2} + \cdots} = आ$$

इस प्रकार गणितसारसंग्रहमें गणित-सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ प्रतिपादित हैं।

बृहत् अनन्तवीर्य

सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार और रविभद्रपादोपजीवी आचार्य अनन्तवीर्य

न्यायशास्त्रके पारंगत और अनेक शास्त्रोंके मर्मज्ञ थे। सिद्धिविनिश्चय-टीकासे अवगत होता है कि इनका दर्शन-शास्त्रीय अध्ययन बहुत व्यापक और सर्वतो-मुखी था। वैदिक संहिताओं, उपनिषद्, उनके भाष्य एवं वार्त्तिक आदिका भी इन्होंने गहरा अध्ययन किया था। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग, मीमांसा, चार्वाक और बौद्धदर्शनके ये असाधारण पण्डित थे। सिद्धिविनिश्चयटीकाके पुष्पिका-वाक्योंसे इनके गुरुका नाम रविभद्र जान पड़ता है। इन्होंने अपनेको उनका 'पादोपजीवी' बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके विषयमें और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

अनन्तवीर्य नामके अनेक विद्वान्

साहित्य और शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि अनन्तवीर्य नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक अनन्तवीर्य वे हैं, जिन्होंने आचार्य माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखपर अपनी परीक्षामुखवृत्ति, जिसे 'प्रमेयरत्नमाला' कहा जाता है और जो प्रकाशित है, लिखी है। ये अनन्नवीर्य लघु अनन्तवीर्य कहे जाते हैं और जो प्रभाचन्द्रके उत्तरवर्त्ती तथा १२वीं शतीके विद्वान् हैं।

एक वे अनन्तवीर्य हैं, जिनका पेग्गूरके कन्नड़ शिलालेखमें[1] वीरसेन सिद्धान्तदेवके प्रशिष्य और गोणसेन पण्डित भट्टारकके शिष्यके रूपमें उल्लेख है।[2] ई० सन् ९७७ के दानलेखके अनुसार ये श्रीवेलगोलके निवासी थे। इन्हें वेद्दोरेगरेके राजा श्रीमत् रक्कसने पेरग्गदूर तथा नयी खाईका दान किया था।

एक अनन्तवीर्यका निर्देश मरोंल (बीजापुर बम्बई) के अभिलेखमें[3] आया है। यह अभिलेख चालुक्य जयसिंह द्वितीय और जगदेकमल्ल प्रथम ई० सन् १०२४के समयका हुआ है। इसमें कमलदेव भट्टारक, प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य-का उल्लेख आया है। ये अनन्तवीर्य समस्त शास्त्रोंके विशेषतः जैनदर्शनके पारगामी थे। अनन्तवीर्यके शिष्य गुणकीर्त्तिसिद्धान्त भट्टारक और देवकीर्ति पण्डित थे।

एक अनन्तवीर्यका उलेख अकलंकसूत्रके वृत्तिकर्त्ताके रूपमें हुम्मचकी पञ्च-वस्तिके आंगनके एक पाषाणलेखमें आया है। ये अरुङ्गलान्वय नन्दिसंघकी आचार्योंकी परम्परामें हुए हैं। यह अभिलेख ई० सन् १०७७ का है। इसी लेखमें आगे कुमारसेनदेव, मौनिदेव और विमलचन्द्र भट्टारकका निर्देश है।

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० १९९।

२. 'श्रीबेलगोलनिवासिगलप्प श्रीवीरसेनसिद्धान्तदेववरशिष्यर् श्रीगोणसेनपण्डितभट्टारक-वरशिष्यर् श्रीमान् अनन्तवीर्य्यय्यङ्गल ...' जैन शिलालेख० भाग १।

३. बम्बई कर्नाटक इन्सक्रीप्शन, जिल्द १, भाग १, नं० ६१।

एक अन्य अनन्तवीर्यका निर्देश ई० सन् १११७ के अभिलेखमें उपलब्ध होता है। यह अभिलेख चामराजनगरके पार्श्वनाथस्वामीवस्तिके एक पाषाणपर उत्कीर्ण[1] है।

एक अनन्तवीर्य वे हैं, जिनका उल्लेख कल्लूर गुड्डके सिद्धेश्वर मन्दिरके पाषाणलेखमें[2] काणूरगणके आचार्योंमें शुद्धाक्षरा करदके रूपमें किया गया है। यह अभिलेख ई० सन् ११२१ का है। इस अभिलेखमें माघनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य प्रभाचन्द्रके सधर्मा अनन्तवीर्य और मुनिचन्द्रका उल्लेख है। अनन्तवीर्यके गृहस्थशिष्य रक्कस गंगदेवने भी इसी समय दान किया था।

एक अनन्तवीर्य महावादीका उल्लेख हुम्मचके तोरण बागिलके उत्तर खम्भेके लेखमें श्रीपालदेवके लघुसधर्माके रूपमें आया है।[3] ये द्रविड़ संघके नन्दिगणके आचार्य थे। यह लेख ई० सन् ११४७ का है।

उपर्युक्त अभिलेखोंसे अवगत होता है कि प्रस्तुत अनन्तवीर्य द्राविड़ संघ नन्दिगण, अरुङ्गलान्वयकी परम्पराके अनन्तवीर्य हैं। ये वादिराजके दादागुरु और श्रीपालके लघुसधर्मा हैं। वादिराजका समय ई० सन् १०२५ है। अतः उनके दादागुरु ५० वर्ष पहले अर्थात् ई० सन् ९७५ के आस-पास हुए होंगे।

अभिलेखोंके सूक्ष्म अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि प्रस्तुत अनन्तवीर्य काणूरगणके न होकर द्रविड़ संघीय हैं। अकलंकसूत्रके वृत्तिकार दो अनन्तवीर्य हैं—एक रविभद्रपादोपजीवी और दूसरे इन्हीं अनन्तवीर्य द्वारा उल्लिखित सिद्धिविनिश्चयके प्राचीन व्याख्याकार अनन्तवीर्य, जिन्हें हम वृद्ध अनन्तवीर्य कह सकते हैं। सिद्धिविनिश्चय-टीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्य ई० सन् ९७५ के बाद और ई० सन् १०२५ के पहले किसी समयमें हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जो अनन्तवीर्य वादिराजके दादागुरु, श्रीपालके सधर्मा रूपसे उल्लिखित हैं, वही सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार हैं। अतएव अनन्तवीर्यका समय ई० सन् की दशम शताब्दीका उत्तरार्द्ध और ११वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। पार्श्वनाथचरितमें वादिराजने अनन्तवीर्यकी स्तुति करते हुए लिखा है कि उस अनन्त सामर्थ्यशाली मेघके समान अनन्तवीर्यकी स्तुति करता हूँ, जिनकी वचनरूपी अमृतवृष्टिसे जगत्को चाटजाने वाला शून्यवादरूपी हुताशन शान्त हो गया था। इन्होंने 'न्यायविनिश्चयविवरण'में अनन्तवीर्यको उस दीपशिखाके समान लिखा है, जिससे अकलंकवाङ्मयका गूढ़ और अगाध अर्थ पद-पदपर प्रकाशित होता है।

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, द्वितीय भाग, पृ० २९२।

२. वही, पृ० ४०८, पृ० ४१६।

३. वही, भाग २, पृ० ७२।

अतएव 'सिद्धिविनिश्चयटीका' के रचयिता अनन्तवीर्यका समय पूर्वोक्त ई० सन् ९७५-१०२५ घटित होता है।

रचनाएँ

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यकी दो रचनाएँ हैं—सिद्धिविनिश्चयटीका और प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालङ्कार।

सिद्धिविनिश्चयटीका

यह अकलङ्कदेवके 'सिद्धिविनिश्चय' पर लिखी गयी विशाल टीका है। अनन्तवीर्यने अपनी इस टीकामें मूलके अभिप्रायको विशद और पल्लवित किया है। साथ ही बीच-बीचमें प्रकरणगत अर्थको स्वरचित श्लोकोंमें भी व्यक्त किया है, जिससे पाठकको दर्शनशास्त्रके इस ग्रन्थका अध्ययन करते हुए कहीं-कहीं मणिप्रवालकी तरह गद्य-पद्यमय चम्पूकाव्यका आनन्द आ जाता है। कितने ही नये प्रमेयोंकी भी इसमें चर्चा समाहित है। इस टीकासे अनन्तवीर्यकी बहुज्ञता प्रकट होती है।

प्रमाणसंग्रहभाष्य

इनका दूसरा ग्रन्थ प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालङ्कार है। यह अकलङ्कदेवके प्रमाणसंग्रहकी टीका है। इसका उल्लेख सिद्धिविनिश्चयटीकामें किया गया है। अतः यह उससे पूर्व रची गयी है। परन्तु यह अभी तक प्राप्त नहीं है, केवल इसके अस्तित्वके निर्देश ही मिलते हैं।

माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि जैन न्यायशास्त्रके महापण्डित थे। इनका परीक्षामुखसूत्र जैन न्यायशास्त्रका आद्य न्यायसूत्र है। इसके स्रोतका निर्देश करते हुए प्रमेयरत्नमालामें कहा गया है—

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥[1]

अर्थात् जिस धीमान्ने अकलङ्कदेवके वचन-सागरका मन्थन करके 'न्यायविद्यामृत' निकाला, उस माणिक्यनन्दिको नमस्कार है।

माणिक्यनन्दि नन्दिसंघके प्रमुख आचार्य थे। धारानगरी इनकी निवासस्थली रही है, ऐसा प्रमेयरत्नमालाकी टिप्पणी तथा अन्य प्रमाणोंसे अवगत होता है।[2]

---

१. प्रमेयरत्नमाला १।२।

२. प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण पृ० १।

शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ६४ के एक पद्यमें माणिक्य-नन्दिको जिनराज लिखा हैं—

"माणिक्यनन्दीजिनराजवाणीप्राणाधिनाथ: परवादिमर्दी।
चित्रं प्रमाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्डवृद्धो नितरां व्यदीपि ॥"

न्यायदीपिकामें इनका 'भगवान' के रूपमें उल्लेख किया गया है[1]। प्रमेय कमलमार्तण्डमें प्रमाचन्द्रने इनका गुरुके रूपमें स्मरण करते हुए इनके पद-पंकजके प्रसादसे ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी रचना करनेका उल्लेख किया है। इससे माणिक्यनन्दीके असाधारण वैदुष्यका परिज्ञान होता है। माणिक्यनन्दीने अकलङ्कके ग्रन्थोंके साथ दिङ्नागके न्यायप्रवेश और धर्मकीतिके न्यायबिन्दुका भी अध्ययन किया था। वस्तुत: माणिक्यनन्दि अत्यन्त प्रतिभाशाली और विभिन्न दर्शनोंके ज्ञाता हैं। 'सुदंसणचरिउ' के कर्ता नयनन्दि (वि० सं० ११००) के उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दीके गुरुका नाम रामनन्दी है और स्वयं नयनन्दी उनके शिष्य हैं। 'सुदंसणचरिउ' की प्रशस्तिमें लिखा है—

जिणिंदागमब्भासणे एयचित्तो तवायारणिट्ठाइलद्धाइजुत्तो।
णरिंदामरिंदेहि णंदणंदी हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी ॥
असेसाण गंथाण पारंमि पत्तो तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो।
गुणावासभूवो सुतिल्लोक्कणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी ॥
पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदि अणिंदिउ।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अबाहहो विरइउं बुह अहिणंदिउ ॥

अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें जिनेन्द्र-आगमके विशिष्ट अभ्यासी, तपस्वी, गणो रामनन्दी हुए। उनके शिष्य महापण्डित माणिक्यनन्दी हुए, जो कि सर्वग्रन्थोंके पारगामी, अंगोंके ज्ञाता एवं सद्गुणोंके निवासभूत थे। नयनन्दी उनके शिष्य थे।

समय

प्रमेयरत्नमालाकारके पूर्वोक्त उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दी अकलंकके उत्तरवर्त्ती हैं और अकलंकका समय ई० सन् ७२०-७८० ई० माना गया है। अतएव माणिक्यनन्दीके समयकी पूर्वावधि ई० सन् ८०० निर्बाध मानी जा सकती है। प्रज्ञाकारगुप्त भाविकारणवाद और अतीतकारणवाद स्वीकार करते हैं। माणिक्यनन्दीने अपने परीक्षामुखसूत्रमें इन दोनों कारणवादोंका खण्डन किया है। यथा—

१. तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारक:—न्यायदीपिका, अभिनव धर्मभूषण।

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रतिहेतुत्वम् ॥[1]

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥[2]

षष्ठ अध्यायके ५७वें सूत्रमें प्रभाकरगुरुकी प्रमाणसंख्याका खण्डन किया गया है और इनका समय ई० सन् की ८वीं शतीका प्रारम्भिक भाग है। इससे भी माणिक्यनन्दिके समयकी पूर्वावधि ई० सन् ८०० है। आचार्य प्रभाचन्द्र (ई० सन् ११००) ने परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक टीका लिखी है। अतः प्रभाचन्द्रका समय (११वीं शती) इनकी उत्तरावधि है। ध्यातव्य है कि डॉ० दरबारीलाल कोठियाने अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया है कि माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्रके साक्षात् गुरु थे।[3] अतः माणिक्यनन्दि उनसे कुछ पूर्ववर्त्ती (ई० १०२८ के लगभग) हैं।

आचार्य नयनन्दीने अपने 'सुदंसणचरिउ' को वि० सं० ११०० में धारानरेश भोजदेवके समयमें पूर्ण किया है और अपनेको माणिक्यनन्दीका प्रथम शिष्य कहा है—

णिवविक्कमकालहो ववगएसु एयारहसंवच्छरसएसु।
तहिं केवलिचरिउ अमरच्छरेण णयणंदी विरयउ वित्थरेण ॥

अतएव माणिक्यनिन्दका समय नयनन्दीके समय वि० सं० ११०० से ३०-४० वर्ष पहले अर्थात् वि० सं० १०६०, ई० सन् १००३ (ई० सन् की ११वीं शताब्दी का प्रथम चरण) अवगत होता है।

रचना

माणिक्यनन्दिका एकमात्र ग्रन्थ 'परीक्षामुख' ही मिलता है। इस ग्रन्थका नामकरण बौद्धदर्शनके हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थोंके अनुकरणपर मुखान्त नामपर किया गया है।

परीक्षामुखमें प्रमाण और प्रमाणाभासोंका विशद प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार दर्पणमें हमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार परीक्षामुखरूपी दर्पणमें प्रमाण और प्रमाणाभासको स्पष्ट रूपसे ज्ञात किया जा सकता है।

यह ग्रन्थ न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र आदि सूत्रग्रन्थोंकी तरह सूत्रात्मक शैलीमें लिखा गया है।

इसके सूत्र सरल, सरस और गम्भीर अर्थ वाले हैं। इसकी भाषा प्राञ्जल

---

१. परीक्षामुखसूत्र, ३।५८-५९।

२. सुदंसणचरिउ, प्रशस्ति, कडवक ९, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली।

३. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ३१, ३२, ३३, वीरसेवा मन्दिर-संस्करण, ई० १९४९।

और सुबोध है। समस्त ग्रन्थमें २०८ सूत्र हैं और यह छः समुद्देशोंमें विभक्त है। प्रथम समुद्देशमें १३ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके विशेषणोंकी सार्थकता, दीपकके दृष्टान्तसे ज्ञानमें 'स्व' और 'पर' की व्यवसायात्मकताकी सिद्धि तथा प्रमाणकी प्रमाणताकी ज्ञप्तिको कथञ्चित् स्वतः और कथञ्चित् परतः सिद्ध किया गया है। हिताहितप्राप्ति-परिहारमें समर्थ होनेके कारण ज्ञान-को ही प्रमाण माना गया है। अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि प्रमाणलक्षणोंकी मीमांसा की है।

द्वितीय समुद्देशमें १२ सूत्र हैं। प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद, प्रत्यक्ष-का लक्षण, सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका वर्णन, अर्थ और आलोकमें ज्ञानके प्रति कारणताका निरास, पदार्थसे ज्ञानोत्पत्तिका खण्डन, स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यतासे ज्ञानके द्वारा प्रतिनियत विषयकी व्यवस्था, ज्ञानके कारणको ज्ञानका विषय माननेमें व्यभिचारका प्रतिपादन और निरावरण एवं अतीन्द्रियस्वरूप मुख्यप्रत्यक्षका लक्षण प्रतिपादित किया गया है।

तृतीय समुद्देशमें ९७ सूत्र हैं। इसमें परोक्षका लक्षण, परोक्ष प्रमाणके पाँच भेद, उदाहरणपूर्वक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानका लक्षण, हेतु और अविनाभावका स्वरूप, साध्यका लक्षण, साध्यके विशेषणोंकी सार्थकता, धर्मीका प्रतिपादन, धर्मीकी सिद्धिके प्रकार, पक्षप्रयोगकी आवश्यकता, अनुमानके दो अंगोंका प्रतिपादन, उदाहरण, उपनय और निगमनको अनुमानके अंग मानने-में दोषोद्भावन, शास्त्र (वीतराग) कथा में उदाहरणादिके भी अनुमानके अवयव होनेकी स्वीकृति, अनुमानके स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, हेतुके उपलब्धि और अनुपलब्धि, उपलब्धिके अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि, तथा अनुप-लब्धिके अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि एवं अविरुद्धोपलब्धिके व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर, विरुद्धोपलब्धिके भी अविद्धोपलब्धिके समान विरुद्धव्याप्य, विरुद्ध-कार्य, विरुद्ध-कारण, विरुद्धपूर्वचर, विरुद्धउत्तरचर, और विरुद्ध-सहचर, अनुपलब्धिके प्रथम भेद अविरुद्धानुपलब्धिके अविरुद्धस्वभावा-नुपलब्धि, व्यापकानुपलब्धि, कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, पूर्वचरानुपलब्धि, उत्तरचरानुपलधि और सहचरानुपलब्धि; विरुद्धानुपलब्धिके विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि और विरुद्धस्वभावानुपलब्धि इन सभीका विशद प्रतिपादन है। बौद्धोंके प्रति कारणहेतुकी सिद्धि, आगमप्रमाणका लक्षण और शब्दमें वस्तु-प्रतिपादनकी शक्तिका भी इसी समुद्देशमें वर्णन है।

चतुर्थ समुद्देशमें ९ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणके सामान्य-विशेष उभयरूप विषय-की सिद्धि करते हुए सामान्य और विशेषके दो-दो भेदोंका उदाहरण सहित प्रति-पादन किया गया है।

पञ्चम समुद्देशमें ३ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलको बतलाकर उसे प्रमाणसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न सिद्ध किया है।

षष्ठ समुद्देशमें ७४ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणाभासोंका विशद वर्णन आया है। स्वरूपाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, पक्षाभास, हेत्वाभास, हेत्वाभासके असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेद तथा उनके उदाहरण, दृष्टान्ताभास; दृष्टान्ताभासके भेद, बालप्रयोगाभास, आगमाभास, संख्याभास, विषयाभास, फलाभास तथा वादी और प्रतिवादीकी जय-पराजयव्यवस्थाका प्रतिपादन किया गया है।

टीकाएँ

इसपर उत्तरकालमें अनेक टीका-व्याख्याएँ लिखी गयी है। इनमें प्रभाचन्द्राचार्यका विशाल प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, लघु अनन्तवीर्यकी मध्यम परिमाण वाली प्रमेयरत्नमाला, भट्टारक चारु कीर्तिका प्रमेयरत्नमालालङ्कार एवं शान्ति वर्णीकी प्रमेयकण्ठिका आदि टीकाएँ उपलब्ध हैं। परीक्षामुखसूत्रका प्रभाव आचार्य देवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोक और आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा पर स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। उत्तरवर्त्ती प्रायः समस्त जैन नैयायिकोंने इस ग्रन्थसे प्रेरणा ग्रहण की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्रने परीक्षामुख पर १२००० श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नामकी बृहत् टीका लिखी है। यह जैन न्यायशास्त्रका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके नामसे ही यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ प्रमेयरूपी कमलोंको उद्भासित करनेके लिए मार्त्तण्ड—सूर्यके समान है। इसके अध्ययनसे प्रभाचन्द्रका वैदुष्य एवं व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय विदित होता है। इन्होंने वैदिक और अवैदिक दर्शनोंका गहन अध्ययन किया था।

इनकी अद्भुत विशेषता है कि किसी भी विषयका समर्थन या निरास, जो भी हो, प्रचुर युक्तियोंसे करते हैं। ये तार्किक और दार्शनिक दोनों हैं। इनकी प्रतिपादनशैली एवं विचारधारा अपूर्व है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रशस्तिके अनुसार इनके गुरुका नाम 'पद्मनन्दि सैद्धान्त' है। श्रवणबेलगोलाके ४० संख्यक अभिलेखमें गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। इसी अभिलेखमें प्रथित तर्कग्रन्थकार शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रको उनका शिष्य बताया है। प्रभाचन्द्रके प्रथित तर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनों विशेषण बतलाते हैं कि प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे तर्कग्रन्थोंके रच-

यिता होनेके साथ शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यासके कर्त्ता भी थे। इसी अभिलेखमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकरण और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन दोनों विशेषणोंसे अवगत होता है कि पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहले ही दीक्षा धारण की होगी और इसी कारण वे कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीय गणके गोल्लाचार्यके शिष्य थे। प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणमुनि थे। कुलभूषणमुनि भी सिद्धान्त-शास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस अभिलेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका उल्लेख हैं, जो दक्षिण भारतमें हुई थी। प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि से शिक्षा-दीक्षा लेकर उत्तर भारतमें धारा नगरीमें चले आये और यहाँ आचार्य माणिक्यनन्दिके सम्पर्कमें आये। प्रभाचन्द्रने अपनेको माणिक्यनन्दिके पदमें रत कहा है। इससे उनका साक्षात् शिष्यत्व प्रकट होता है। अतः यह सम्भव है कि प्रभाचन्द्रने जैन न्यायका अभ्यास माणिक्यनन्दिसे किया हो और उन्हींके जीवनकालमें प्रमेयकमलमार्त्तण्डको रचना की हो। बताया है—

> शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो
> माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात्।
> अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयाँ-
> ल्लोकस्य भानुकरविस्फुरितादगवाक्षः[१] ॥

× × ×

> गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
> नन्दताद्दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥
> श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
> प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः[२] ॥

श्रवणवेलगोलके अभिलेख संख्या ५५ में मूल-संघके देशोयगणके देवेन्द्र सिद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका उल्लेख आता है। पद्य निम्न प्रकार है—

> श्रीधाराधिपभोजराज-मुकुट-प्रोताश्म-रश्मि-च्छटा-
> च्छाया-कुङ्कुम-पङ्क-लिप्त-चरणाम्भोजात-लक्ष्मीधवः।

१. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, मंगलाचरणपद्य २।

२. वही, प्रशस्तिपद्य, संख्या ३-४।

न्यायब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणि-
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीक-तरणिश्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः ॥
श्रीचतुर्मुख-देवानां शिष्योऽधृष्यःप्रवादिभिः ।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादि-गजाङ्कुशः[१] ॥

इन पद्योंमें वर्णित प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजके द्वारा पूज्य थे। न्यायरूप कमल समूह—प्रमेयकमलके दिनमणि-मार्त्तण्ड थे। 'शब्दरूप अब्ज'—शब्दाम्भोजके विकास करनेको 'रोदोमणि'—भास्करके समान थे। पण्डितरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य थे। रुद्रवादि-गजोंको वश करनेके लिये अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे।

उपर्युक्त अभिलेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र निश्चय ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके रचयिता प्रभाचन्द्रसे अभिन्न हैं। एक ही बात यहाँ विचारणीय है कि गुरुरूप-से चतुर्मुखदेवका उल्लेख किस प्रकार घटित होता है। इनके आद्य गुरु पद्म-नन्दि सैद्धान्तिकदेव हैं। बहुत सम्भव है कि द्वितीय गुरु या गुरुसम चतुर्मुख देव रहे हों। धारानगरीमें आनेके पश्चात् देशीयगणके आचार्य चतुर्मुखदेवको गुरुके रूपमें स्मरण किया गया हो। प्रभाचन्द्रने अपना 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' धारानगरीमें लिखा है, यह इस ग्रन्थकी प्रशस्तिसे भी प्रकट है—

"श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जिता-मलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेय-स्वरूपोद्द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति[२]"।

श्रवणवेलगोलके उक्त अभिलेखमें प्रभाचण्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचन्द्र' की प्रशस्तियोंमें 'पण्डित' शब्दका उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे इनका गृहस्थ होना ज्ञात होता है; पर आराधनागद्यकोषकी ८९ कथामें ग्रन्थान्तमें तथा प्रशास्तियोंमें 'भट्टारक' लिखा है। अतः जान पड़ता है कि ये जीवनके उत्तरकालमें मुनि हुए होंगे।

समय-निर्णय

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके सम्बन्धमें कई मान्यताएँ प्रचलित हैं। इन समस्त मान्यताओंके अध्येताओंने पर्याप्त छान-बीन की है। हम यहाँ उन सभी मतोंका संक्षेपमें उल्लेख कर प्रभाचन्द्रके समयके सम्बन्धमें निष्कर्ष उपस्थित करेंगे।

१. आदिपुराण, भारतीन ज्ञानपीठ, १।४७।
२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४१, अन्तिम प्रशस्ति।

(१) ई० सन् की ८वीं शताब्दीकी मान्यता ।
(२) ई० सन् ११वीं शताब्दीको मान्यता ।
(३) ई० सन् १०६५ की मान्यता ।

१. आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके सम्बन्धमें डॉ० पाठक, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार आदि प्रभाचन्द्रका समय ८वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध एवं ९वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध मानते हैं। इनका मुख्य आधार है जिनसेन कृत 'आदिपुराण' का निम्नलिखित पद्य, जिसमें प्रभाचन्द्र कवि और उनके चन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) का उल्लेख हुआ है—

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे ।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाल्हादितं जगत्[1] ॥

यहाँ चन्द्रोदयसे तात्पर्य न्यायकुमुदचन्द्रसे लिया गया है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराणकी रचना ई० सन् ८४० के लगभग की होगी। अतः उक्त पद्यमें प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् की ८ वीं शताब्दीका उत्तार्द्ध माना है।

पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने डॉ० पाठक आदिकी उक्त मान्यताका निरसन करते हुए बताया है कि जिनसेनने आदिपुराणमें जिस प्रभाचन्द्रका स्मरण किया है, वह प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्रसे भिन्न हैं। हरिवंशपुराणमें भी जिनसेन प्रथमने एक प्रभाचन्द्रका स्मरण किया है, जो कुमारसेनके शिष्य थे। यथा—

"आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्जवलम् ।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2] ॥

यदि इन दोनों पुराणोंमें उल्लिखित प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं, तो वे कुमारसेनके शिष्य होनेके कारण न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्तासे स्वतः पृथक् सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि उनके गुरुका नाम पद्मनन्दि था। शास्त्रीजीने तर्क उपस्थित करते हुए लिखा है—"न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्रने स्वामी विद्यानन्द और अन्तवीर्यका स्मरण किया है। यदि आदिपुराणमें उल्लिखित प्रभाचन्द्र और उनका चन्द्रोदय प्रकृत प्रभाचन्द्र और उनका ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र ही है, तो यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि आदिपुराणकार न्यायकुमुदचन्द्रका तो स्मरण करें, किन्तु उसमें स्मृत आचार्य विद्यानन्द और अनन्तवीर्य सरीखे यशस्वी

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, भाग १, अभिलेख संख्या ५५, पद्य १७, १८।
२. हरिवंशपुराण, १।३८।

ग्रन्थकारोंको भूल जायें। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यके ग्रन्थोंके उल्लेखोंके आधार पर दोनोंका समय ईसाकी नवीं शताब्दीसे पहले नहीं जाता। अतः उनके स्मरण-कर्त्ता प्रभाचन्द्रका स्मरण नवमी शताब्दीके पूर्वार्द्धकी रचना आदिपुराणमें नहीं किया जा सकता।"[१]

पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने अन्य तर्कोंके आधारपर भी डॉ० पाठक आदिके मतका खण्डन किया है और प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् ९५० से १०२० निर्धारित किया है।

प्रभाचन्द्रने पहले प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी रचना करके ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी अन्तिम प्रशस्तिमें 'भोजदेवराज्ये' उल्लिखित मिलता है, पर न्यायकुमुदचन्द्रकी पुष्पिकामें 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पद उल्लिखित है। अतएव श्रीप्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवका राज्यकाल सन् १०६५ तक माना जा सकता है। यदि प्रभाचन्द्रकी ८५ वर्षकी आयु हो, तो उनकी पूर्वावधि ई० सन् ९८० सिद्ध होती है। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार और पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाये जाने वाले 'श्रीभोजदेवराज्ये' और 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते। पर न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्र-कुमारजी उक्त प्रशस्ति-लेखोंको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रच-यिता प्रभाचन्द्रके ही मानते हैं।

प्रभाचन्द्रने यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यके केवलिमुक्ति और स्त्री-मुक्ति प्रकरणोंकी कुछ कारिकारिकाओंको पूर्वपक्षके रूपमें उद्धृत किया है। शाक-टायनाचार्यका समय अमोघवर्षका राज्यकाल (ई० सन् ८१४-८७७) नवम शती है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् ९०० से पहले नहीं माना जा सकता।

आचार्य देवसेनने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थके बाद 'भावसंग्रह' बनाया है। इसकी रचना ई० ९४० के आस-पास हुई होगी। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र-में देवसेनकी 'नोकम्मकम्महारो' गाथा उद्धृत मिलती है। अतएव प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् ९४० के बाद होना चाहिये। श्रीधरकी न्यायकन्दलीकी छाया भी प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंपर दिखलाई पड़ती है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९९० के लगभग होनी चाहिये।

शिलालेखके आधारपर प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दि बताये गये हैं। 'हले बेलगोल' के एक अभिलेख (अभिलेख सं० ४९२) में होय्सलनरेश, एरेयङ्ग

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३८ प्रस्तावना, पृ० ११८।

द्वारा गोपनन्दि पण्डित देवको दिये गये दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुक्ला त्रयोदशी संवत् १०१५ में दिया गया है। इस तरह ई० सन् १०९३ में प्रभाचन्द्र-सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०९३ ईस्वीके पश्चात् नहीं हो सकता है।

वादि देवसूरिने ई० सन् १११८ के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वाद-रत्नाकरकी रचना की है। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है, किन्तु कवलाहार-समर्थनप्रकरणमें तथा प्रतिबिम्बचर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमल-मार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खण्डन भी किया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि ई० सन् ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

श्री पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने अनेक पुष्ट प्रमाणोंके आधारपर ई० सन् ९८० से १०६५ ईस्वी तक प्रभाचन्द्रका समय माना है। 'सुदंसणचरिउ' की प्रशस्तिमें नयनन्दिने माणिक्यनन्दिका उल्लेख किया है। 'सुदंसणचरिउ' की समाप्ति वि० सं० ११०० में हुई है। अतः माणिक्यनन्दिका समय वि० सं० की ११वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकार आचार्य प्रभाचन्द्रने माणिक्य-नन्दिके समक्ष धारानगरीमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। आचार्य माणिक्यनन्दि भी धारानगरीमें निवास करते थे। अतः बहुत सम्भव है कि माणिक्यनन्दिसे परीक्षामुखका अध्ययन कर प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड रचा हो। डॉ दरबारीलालजी कोठियाके सप्रमाण अनुसन्धानके अनुसार प्रभाचन्द्र और माणिक्यनन्दिकी समसामयिकता प्रकट होती है और उनमें परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्यत्व भी सिद्ध होता है[1]। इससे भी आचार्य प्रभाचन्द्रका समय ई० सन्‌की ११वीं शती निर्णीत होता है।

रचनाएँ

इनकी निम्नलिखित रचनाएँ मान्य हैं—

१. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड : परीक्षामुख-व्याख्या
२. न्यायकुमुदचन्द्र : लघीयस्त्रय-व्याख्या
३. तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण : सर्वार्थसिद्धि-व्याख्या
४. शाकटायनन्यास : शाकटायनव्याकरण-व्याख्या
५. शब्दाम्भोजभास्कर : जैनेन्द्रव्याकरण-व्याख्या
६. प्रवचनसारसरोजभास्कर : प्रवचनसार-व्याख्या
७. गद्यकथाकोष : स्वतंत्र रचना

१. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना पृ० २७-३३, वीर सेवा मन्दिर संस्करण, १९४९।

८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार-टीका
९. समाधितंत्र-टीका
१०. क्रियाकलाप-टीका
११. आत्मानुशासन-टीका
१२. महापुराण-टिप्पण।

आचार्य जुगुलकिशोर मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितंत्रकी टीकाको प्रस्तुत प्रभाचन्द्र द्वारा रचित न मानकर किसी अन्य प्रभाचन्द्रकी रचनाएँ माना है। पर जब प्रभाचन्द्रका समय ११ वीं शताब्दी सिद्ध होता है, तो इन ग्रन्थोंके उद्धरण रह भी सकते हैं। रत्नकरण्डटीका और समाधितंत्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्ट शैलीमें उल्लेख होना भी इस बातका सूचक है कि ये दोनों टीकाएँ प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही हैं। यथा—

"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"—रत्नकरण्डटीका पृष्ठ–६। "यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।"—समाधितन्त्रटीका, पृष्ठ १५।

ये दोनों अवतरण प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके उद्धरणसे मिलते जुलते हैं—

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पायी जाने वाली अञ्जनचोर आदिकी कथाएँ रत्नकरण्डकश्रावकाचारगत कथाओंसे पूर्णतः मिलती हैं। अतएव रत्नकरण्डक श्रावकाचार और समाधितन्त्रकी टीकाएँ प्रस्तुत प्रभाचन्द्रकी ही हैं।

क्रियाकलापकी टीकाकी एक हस्तलिखित प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें है। इस प्रतिकी प्रशस्तिमें क्रियाकलापटीकाके रचयिता प्रभाचन्द्रके गुरुका नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक है और न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके ही शिष्य हैं। अतएव क्रियाकलापटीकाके रचयिता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही जान पड़ते हैं। प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

"वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभुः
संसृद्धतिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य संशोषकः।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः
तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः॥"

इसी प्रकार आत्मानुशासनतिलकके रचयिता भी प्रस्तुत प्रभाचन्द्र[1] हैं। निश्चयतः आचार्य प्रभाचन्द्र अद्‌भुत भाष्यकार हैं। इन्होंने जिन टीकाओंका निर्माण किया है वे टीकाएँ स्वतन्त्र ग्रन्थका रूप प्राप्त कर चुकी हैं। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण, गद्यकथाकोश, रत्नकरण्डटीका, समाधितंत्रटीका, क्रियाकलापटीका, आत्मानुशासनतिलक आदि टीका ग्रन्थ प्रभाचन्द्रद्वारा रचित हैं, यह स्पष्ट है।

लघु अनन्तवीर्य

जैन न्याय-साहित्यमें ग्रन्थकारके रूपमें दो अनन्तवीर्योंके नामोंका उल्लेख मिलता है। इनमेंसे एक अनन्तवीर्य तो वे ही हैं, जिनने अकलंकके सिद्धिविनिश्चयकी टीका लिखी है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें इनका स्मरण किया है। दूसरे अनन्तवीर्य वे हैं, जिन्होंने प्रमेयरत्नमाला बनायी है। इस प्रमेयरत्नमालामें अनन्तवीर्यने प्रभाचन्द्रका उल्लेख किया है। अतः उत्तरकालवर्ती होनेके कारण प्रमेयरत्नमालाके रचयिता अनन्तवीर्यको लघु अनन्तवीर्य या द्वितीय अनन्तवीर्य कहा जाता है। प्रमेयरत्नमालाके टिप्पणमें इनका उल्लेख 'लघु अनन्तवीर्यदेव' के नामसे किया भी गया है। इन्होंने परीक्षामुखके सूत्रोंकी संक्षिप्त, किन्तु विशद व्याख्या की है। साथ ही प्रसङ्गतः चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनोंके कतिपय सिद्धान्तोंकी आलोचना भी की है।

इनकी एकमात्र कृति 'प्रमेयरत्नमाला' प्राप्त है। ग्रन्थके आरम्भमें इस टीकाको इन्होंने परीक्षामुख-पञ्जिका कहा है। प्रत्येक समुद्देश्यके अन्तमें दी गयी पुष्पिकाओंमें इसे परीक्षामुख-लघुवृत्ति भी कहा है।

आचार्य अनन्तवीर्यने ग्रन्थके प्रारम्भमें तथा अन्तिम प्रशस्तिमें उल्लेख किया है कि इन्होंने इस टीकाकी रचना वैजेयके प्रिय पुत्र हीरपके अनुरोधसे शान्तिषेणके पठनार्थकी थी। प्रशस्तिमें वैजेयके ग्रामादिकका कोई निर्देश नहीं है, पर उन्हें बदरीपालवंश या जातिका ओजस्वी सूर्य कहा है। उनकी पत्नीका नाम नागम्बा था, जो अपने विशिष्ट गुणोंके कारण रेवती, प्रभावती आदि नामोंसे उस समय संसारमें प्रसिद्ध थी। उसके दानवीर हीरप नामक पुत्र हुआ, जो सम्यक्त्वरूप आभूषणसे भूषित था और जो लोकहितकारी कार्योंको करनेके लिये प्रसिद्ध था। उसके आग्रहसे सम्भवतः उन्हींके पुत्र शान्तिषेणके पठनार्थ इस लघुवृत्तिकी रचना की गयी। यह रचना जैन न्यायके अध्येताओंके लिये विशेष उपयोगी है।

१. विशेष जाननेके लिए देखिए—प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रस्तावना, पृ० ७६, ७७।

समय-विचार

प्रमेयरत्नमालाकी रचना प्रभाचन्द्रके 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' के पश्चात् की गयी है। प्रमेयरत्नमालाके आरम्भिक पद्योंमें बताया है—

प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिका-प्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गण-सन्निभाः[1] ॥

अर्थात्, जब प्रभाचन्द्राचार्यकी वचनरूप उदारचन्द्रिका (प्रमेयकमल मार्त्तण्ड) प्रसृत है, तो खद्योतसदृश हम सरीखे मन्दबुद्धियोंकी क्या गणना है? इससे स्पष्ट है कि लघु अनन्तवीर्यका समय प्रभाचन्द्रके पश्चात् है और प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् की ११वीं शताब्दी है। उधर आचार्य हेमचन्द्र (वि० सं० ११४५-१२३०) की 'प्रमाणमीमांसा' पर शब्द और अर्थ दोनोंकी दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा-पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः अनन्त-वीर्यका समय प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्रके मध्य होना चाहिये। इस प्रकार अनन्त-वीर्यका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध प्रतिफलित होता है। डॉ० ए० एन उपाध्येने भी प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यका यही समय अनुमानित किया है।

रचना

लघु अनन्तवीर्यकी एकमात्र उपलब्ध रचना यही प्रमेयरत्नमाला है। परी-क्षामुखके समान प्रमेयरत्नमालाका भी विषय प्रमाण और प्रमाणाभासका प्रति-पादन है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें जिन विषयोंका विस्तारसे वर्णन है, उन्हींका संक्षेपमें स्पष्टरूपसे कथन करना प्रमेयरत्नमालाकी विशेषता है। परीक्षामुखके समान इसमें छह समुद्देश्य हैं और उनमें उसीके समान प्रमाणलक्षण, प्रमाणभेद प्रमाणविषय, प्रमाणफल, प्रमाणाभास और नयका विवेचन परीक्षामुखकी व्याख्याके रूपमें है। प्रतिपादनशैली बड़ी सरल, विशद और हृदयग्राही है।

वीरनन्दि

आचार्य वीरनन्दि सिद्धान्तवेत्ता होनेके साथ जनसाधारणके मनोभावों, हृदयकी विभिन्न वृत्तियों एवं विभिन्न अवस्थाओंमें उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकारोंके सजीव चित्रणकर्ता महाकवि थे। इनके द्वारा रचित चन्द्रप्रभ-महा-काव्य इनकी काव्य-प्रतिभाका चूड़ान्त-निदर्शन है। ये नन्दिसंघ देशीयगणके आचार्य हैं। चन्द्रप्रभके अन्तमें इन्होंने जो प्रशस्ति[2] लिखी है, उससे ज्ञात होता

---

१. प्रमेयरत्नमाला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १।३।

२. चन्द्रप्रभ-चरितम्, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, सन् १९२६, प्रशस्ति पद्य १, तथा ४।

है कि ये आचार्य अभयनन्दिके शिष्य थे। अभयनन्दिके गुरुका नाम गुणनन्दि था।

श्रवणबेलगोलके ४७वें अभिलेखमें बताया है कि गुणनन्दि आचार्यके ३०० शिष्य थे। उसमें ७२ सिद्धान्त-शास्त्रके मर्मज्ञ थे। इनमें देवेन्द्र सैद्धान्तिक सबसे प्रसिद्ध थे। इन देवेन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य कलधौतनन्दि या कनकनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। कनकनन्दिने इन्द्रनन्दि गुरुके पास सिद्धान्त-शास्त्रका अध्ययन किया था।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें अभय-नन्दि, इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि इन तीनों आचार्योंको नमस्कार[1] किया है।

एक अन्य गाथामें[2] उन्होंने बताया है कि जिनके चरणप्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य अनन्त संसारसे पार हुए हैं, उन अभयनन्दि गुरुको नमस्कार है—

अतः प्रतीत होता है कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि, दादागुरु गुणनन्दि और सहाध्यायी इन्द्रनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इनके शिष्य अथवा लघु गुरुभाई प्रतीत होते हैं। इन्होंने उन्हें नमस्कार किया है।[3]

स्थिति-काल

पार्श्वनाथचरितमें महाकवि वादिराजने (ई० सन् १०२५) चन्द्रप्रभकाव्य और उसके रचयिता वीरनन्दिकी संस्तुति करते हुए लिखा है कि—

चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनः प्रियं।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः[4] ॥

जिस प्रकार चन्द्रमाकी प्रभा कुमुदवतीको प्रफुल्लित करती है, उसी प्रकार शृङ्गारादि नव रसोंसे पुष्ट चन्द्रप्रभचरितमें ग्रथित वीरनन्दिस्वामीकी वाणी, हमारे मनको प्रफुल्लित करती है।

---

१. णमिऊण अभयणंदिं सुद-सायर-पारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं॥
—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ७८५।

२. जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं॥

३. वही, गाथा ४३६।

४. गो० क० गा० ७८५, पार्श्वनाथचरित, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला सीरीज, १।३०।

इससे अवगत होता है कि आचार्य वीरनन्दि वादिराज (ईस्वी सन् १०२५) से पूर्ववर्ती हैं और उनका चन्द्रप्रभचरित रचा जा चुका था।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन्द्रनन्दिको अपना गुरु लिखा है तथा वीरनन्दि इन्हीं इन्द्रनन्दिके सहाध्यायी हैं। अतः प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि नेमिचन्द्रके समकालीन हैं। आचार्य नेमिचन्द्रने अपने गोम्मटसार-की रचना गङ्गवंशीय राजा राचमलके प्रधानमन्त्री और सेनापति चामुण्डरायकी प्रेरणासे की है। राचमलके भाई रक्कस गंगराजने शक संवत् ९०६-९२१ (ई० सन् ९८४-९९९) तक राज्य किया है। कन्नड़के महाकवि रन्नने शक संवत् ९१५ (ई० सन् ९८३) में पुराणतिलक नामक ग्रन्थकी रचना की है और उसने अपने-को रक्कस गंगराजका आश्रित लिखा है। चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोलकी प्रसिद्ध गोम्मटस्वामीकी मूर्ति १३ मार्च सन् ९८१ ई० में प्रतिष्ठित हुई।[1] अतः इन समस्त संदर्भोंके प्रकाशमें वीरनन्दिका समय ई० सन् १०२५ से पूर्व और ई० सन् ९०० के बाद अर्थात् ९५०-९९९ सिद्ध होता है।

रचना-परिचय

आचार्य वीरनन्दिकी एकमात्र रचना चन्द्रप्रभचरित है, जो उपलब्ध तथा प्रकाशित है।[2] इस महाकाव्यमें १८ सर्ग और १६९७ पद्य हैं। कविने संस्कृतके सभी प्रसिद्ध छन्दोंका इसमें प्रयोग किया है। आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभका इसमें जीवन-चरित वर्णित है। रचना बड़ी सरस और हृदयग्राही है। सभी रस और अलङ्कार इसमें समाहित हैं। प्रसङ्गतः सिद्धान्तका प्रतिपादन भी असाधारण और बहुबोधवर्धक है। श्रावकधर्म और मुनिधर्मका भी विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। अतएव वीरनन्दिकी यह महत्त्वपूर्ण कृति न केवल काव्यत्त्वकी दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं, अपितु धर्म, दर्शन, आचार आदिकी दृष्टिसे भी समृद्ध है। यतः इसकी कथावस्तु तीर्थंकरसे सम्बद्ध हैं, अतः यह और भी अधिक रोचक है।

महासेनाचार्य

महासेन लाट-वर्गट या लाड़-वागड़ संघके आचार्य थे। प्रद्युम्नचरितकी कारञ्जाभंडारको प्राप्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उससे ज्ञात होता है कि लाट-वर्गट संघमें सिद्धान्तोंके पारगामी जयसेन मुनि हुए और उनके शिष्य गुणाकर-सेन। इन गुणाकरसेनके शिष्य महासेनसूरि हुए, जो राजा मुञ्ज द्वारा पूजित थे

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-६, किरण-४, श्रवणबेलगोल एवं यहांकी गोम्मट मूर्ति, पृ० २०५ तथा इसी अंकमें गोम्मट मूर्तिकी प्रतिष्ठाकालीन मूर्तिका फल।

२. इसका एक संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे सन् १९२६ में निकला और दूसरा संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला सोलापुरसे सन् १९७१ में प्रकट हुआ है।

और सिन्धुराज या सिन्धुलके महामात्य पर्पटने जिनके चरणकमलोंकी पूजा की थी। इन्हीं महासेनने 'प्रद्युम्नचरित' काव्यकी रचना की और राजाके अनुचर विवेकवान् मघनने इसे लिखकर कोविदजनोंको[1] दिया।

प्रद्युम्नचरितके प्रत्येक सर्गके अन्तमें आनेवाली पुष्पिकामें—"श्री सिन्धुराज सत्कमहामहत्तश्रीपप्पटगुरोः पण्डितश्रीमहासेनाचार्यस्य कृते" लिखा मिलता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि सिन्धुलके महामात्य पर्पटकी प्रेरणासे ही प्रस्तुत काव्य निर्मित हुआ है।

लाट-वर्गटसंघ माथुरसंघके ही समान काष्ठासंघकी शाखा है। यह संघ गुजरात और राजपूतानेमें विशेष रूपसे निवास करता था। कवि आचार्य महासेन पर्पटके गुरु थे। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य महासेनका व्यक्तित्व अत्यन्त उन्नत था और राजपरिवारोंमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

स्थितिकाल

'प्रद्युम्नचरित' की प्रशस्तिमें काव्यके रचनाकालका निर्देश नहीं किया गया, पर मुञ्ज और सिन्धुलका निर्देश रहनेसे अभिलेख और इतिहासके साक्ष्य द्वारा समय-निर्णय करनेकी सुविधा प्राप्त है। इतिहासमें बतलाया गया है कि मुञ्ज वि०सं० १०३१ (ई० सन् ९७४) में परमारोंकी गद्दी पर आसीन हुआ। उदयपुरके अभिलेखसे विदित होता है कि उसने लाटों, कर्नाटकों, चोलों और केरलोंको अपने पराक्रमसे त्रस्त कर दिया था। मुञ्जके दो दानपत्र वि० सं० १०३१ (ई० सन् ९७४) और वि० सं० १०३६ (ई० सन् ९७९) के उपलब्ध हुए हैं। कहा जाता है कि ईस्वी सन् ९९३-९९८ के बीच किसी समय तैलपदेवने उनका बध किया था। इन्हीं मुञ्जके समयमें वि० सं० १०५० (ई० सन् ९९३) में अमितगतिने 'सुभाषितरत्नसंदोह' समाप्त किया था।[2]

मुञ्ज या वाक्पतिका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिन्धुल हुआ। इसका दूसरा नाम नवसाहसांक या सिन्धुराज है। इसके यशस्वी कृत्योंका वर्णन पद्म-गुप्तने नवसाहसांकचरितमें किया है। इसी सिन्धुलका पुत्र भोज था, जिसका मेरुतुंगकी 'प्रबन्धचिन्तामणि' में वर्णन पाया जाता है[3]। अतएव प्रद्युम्नचरितकी

---

१. श्रीलाट-वर्गटनभस्तलपूर्ण चन्द्र········। जैन साहित्य इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४११।

२. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारतका इतिहास, बनारस, १९५६ ई०, पृ० २८३।

३. अथ (संवत् १०७८ वर्षे) यदा मालवमण्डले श्रीभोजराजा राज्यं चकार····।
—प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघीसिरीज १९३३ ई०, भोजभीमप्रबन्ध, पृ० २५।
पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि मासाः सप्तदिनत्रयम्।
भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥ —वही, पृ० २२।

रचना ई० सन् ९७४ के आस-पास हुई है और आचार्य महासेनका समय १०वीं शतीका उत्तरार्द्ध है।

रचना

आचार्य महासेनका 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य उपलब्ध है। इस काव्यमें १४ सर्ग हैं। परम्पराप्राप्त कथानकको आचार्यने महाकाव्योचित रूप प्रदान किया है।

प्रद्युम्नचरितकी कथा-वस्तु

द्वारावती नगरीमें यदुवंशी श्रीकृष्ण नामके राजा हुए। इनकी पटरानी सत्यभामा थी। इस पृथुवंशकी पुत्रीने दृष्टिसे मृगीको, वाणीसे कोकिलाको, मुखसे चन्द्रमाको, गतिसे हंसिनीको और अपने कुन्तलसे चमरीको पराजित कर दिया था। यह विधाताकी अपूर्व सृष्टि थी। श्रीकृष्णके समक्ष शत्रु नतमस्त होते थे। प्रथम सर्ग—

एक दिन नारदमुनि पृथ्वीका परिभ्रमण करते हुए द्वारिकामें आये। श्रीकृष्णने उनका स्वागत किया। नारद सत्यभामाके भवनमें गये, पर शृंगार करनेमें संलग्न रहनेके कारण सत्यभामा मुनिको न देख सकी। फलतः सत्यभामासे रुष्ट हो नारद श्रीकृष्णके लिए सुन्दरी स्त्रीकी तलाश करते हुए कुण्डिनपुर पहुँचे। राजा भीष्मकी सभामें रुक्मिणी द्वारा प्रणाम किये जानेपर उन्होंने उसे श्रीकृष्ण प्राप्तिका आशीर्वाद दिया। कुण्डिनपुरसे चलकर नारद रुक्मिणीका चित्रपट लिये हुए पुनः द्वारिकामें पधारे। चित्रपटको देखकर श्रीकृष्ण रुक्मिणीपर अनुरक्त हो गये। रुक्मिणीके भाईका नाम रुक्म था, यह रुक्मिणी-का विवाह शिशुपालके साथ करना चाहता था। अतः शिशुपालने ससैन्य कुण्डिन-पुरको घेर लिया, पर रुक्मिणी शिशुपालको नहीं चाहती थी। नारदने श्रीकृष्णको रुक्मिणी हरणकी सलाह दी। द्वितीय सर्ग—

श्रीकृष्ण और बलराम कुण्डिनपुरके बाहर उपवनमें छिपकर बैठ गये। नगर-के चारों ओर शिशुपालकी सेना घेरा डाले थी। रुक्मिणी उस उपवनमें कामदेव-के अर्चनके लिये गयी। श्रीकृष्णने उसका अपहरण किया। भीष्म, रुक्म और शिशुपाल द्वारा पीछा किये जानेपर श्रीकृष्णने शिशुपालका बध किया और सकुशल रुक्मिणीको लेकर आ गये। उपवनमें रुक्मिणीके साथ उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। एक दिन श्रीकृष्णने रुम्मिणीको श्वेतवस्त्र पहनाकर उपवनमें एक शिलापर बैठा दिया और स्वयं लताकुञ्जमें छिप गये। जब सत्यभामा वहाँ आयी, तो रुक्मिणोको सिद्धांगना या देवांगना समझ उसकी पूजा करने लगी

तथा उससे वरदान माँगा कि माधव रुक्मिणीका त्यागकर मेरे दास बनें। इसी समय श्रीकृष्ण कुञ्जसे निकल आये और हँसने लगे। रुक्मिणी और सत्यभामामें मित्रता हो गयी। दूसरे दिन मैत्रीका संदेश लेकर दूत आया। श्रीकृष्णने वस्त्राभूषण देकर उसे वापस लौटा दिया। तृतीय सर्ग—

रुक्मिणी और सत्यभामाने बलरामके समक्ष प्रतिज्ञा की कि जिसके पहले पुत्र होगा, वह पीछे होनेवाले पुत्रकी माताके बालोंका अपने पुत्रके विवाहके समय मुण्डन करा देगी। रुक्मिणीको पुत्र उत्पन्न हुआ। जन्मके पाँचवें दिन धूमकेतु नामक दैत्यने उस शिशुका अपहरण किया। उसने उस शिशुको वातरक्षकगिरिकी कन्दरामें रख दिया और एक शिलासे उस कन्दराके द्वारको भी आवृत कर दिया। दैत्यके चले जानेके उपरान्त वहाँ कालसंवर राजा अपनी प्रेयसी कंचनमालाके साथ विहार करता हुआ आया। कालसंवरने कन्दरासे पुत्रको निकालकर कंचनमालाको सौंप दिया और नगरमें आकर यह घोषित किया कि कञ्चनमालाने पुत्रको जन्म दिया है। जन्मोत्सव सम्पन्न किया और बालकका नाम प्रद्युम्न रक्खा गया। —चतुर्थ सर्ग

पुत्रके अपहरणसे द्वारावतीमें तहलका मच गया। रुक्मिणी बिलख-बिलख कर रोने लगी। कृष्णने पुत्रकी तलाश करनेका बहुत प्रयास किया, पर पता न चला। नारदने विदेहमें जाकर सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें श्रीकृष्णके नवजात शिशुके अपहरणके सम्बन्धमें प्रश्न किया। उत्तर प्राप्त हुआ कि पूर्वजन्मकी शत्रुताके कारण धूमकेतु दैत्यने पुत्रको चुराया है। अब उसे कालसंवर प्राप्त कर चुका है। वह पुत्रवत् पालन करेगा और सोलह वर्षकी अवस्था होनेपर वापस आयेगा। केवलीने प्रद्युम्नके पूर्वजन्मका आख्यान भी कहा।—पञ्चमसर्ग

अयोध्या नगरीमें अरिञ्जय राजा रहता था। इसकी रानी प्रीतिकराके गर्भसे पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दो पत्र हुए। राजा मुनिका उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और पुत्रको राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी समय दो वणिक्पुत्रोंने श्रावकधर्म ग्रहण किया। एक मुनि द्वारा कुतिया और मातंगकी पूर्वभवावलि सुन वे दोनों दीक्षित हो गये और तपश्चरण द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया। —षष्ठ सर्ग

कौशल नगरीमें हेमनाग राजा रहता था। इसके मधु और कैटभ पुत्र थे। मधुको राज्य और कैटभको युवराज पद देकर वह भार्या सहित संन्यासी हो गया। मधु और कैटभ बड़े प्रतापी थे। समस्त राजा इनके चरणोंमें नतमस्तक होते थे। एक दिन भीमने उनके राज्यमें प्रवेश कर नगरको जलाया और जनताको कष्ट दिया। मधुने उसके राज्यपर आक्रमण किया। मार्गमें हेमरथने उसका

स्वागत किया। वह हेमरथकी सुन्दरी भार्याको देखकर मोहित हो गया मंत्रियोंके परामर्शानुसार उसने प्रथम भीमका बध किया। अनन्तर हेमरथकी रानीको ले लिया। प्रियाके अभावमें हेमरथ उन्मत्त हो गया। एक दिन हेमरथकी रानी द्वारा सम्बोधन प्राप्त होनेपर वह अपने पुत्रको राज्य सौंपकर मुनि हो गया। कैटभने भी श्रमण दीक्षा धारण की। समाधिमरण धारणकर वे दोनों स्वर्गमें देव हुए। वहाँसे च्युत हो मधुका जीव प्रद्युम्न, कैटभका जीव जाम्बवती पुत्र और हेमरथका जीव धूमकेतु हुआ है। इसी धूमकेतुने प्रद्युम्नका अपहरण किया है। —सप्तम सर्ग

कालसंवरके घर प्रद्युम्न वृद्धिगत होने लगा। युवक होनेपर प्रद्युम्नने कालसंवरके शत्रुओंको परास्त किया, जिससे उसने प्रसन्न हो, अपनी पत्नीके समक्ष की गयी प्रतिज्ञाके अनुसार ५०० पुत्रोंके रहनेपर भी प्रद्युम्नको युवराज बना दिया। उसके युवराज होने पर कालसंवरके अन्य पुत्र उससे द्वेष करने लगे। वे उसे विजयार्द्धकी गुफाओंमें ले गये, जिसमें नाग, राक्षस आदि निवास करते थे। प्रद्युम्नने सभीको अपने अधीन किया। कालसंवर प्रद्युम्नकी इस वीरतासे बहुत प्रसन्न हुआ और वह पिताकी अनुमतिसे माता कञ्चनमालाके भवनमें गया। रानी कञ्चनमाला उसके रूपसौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो गयी। प्रद्युम्नने उसे समझाया, पर उसकी अनुरक्ति न घटी। प्रद्युम्नने कञ्चनमालासे दो विद्याएँ सीख लीं। अन्ततोगत्वा जब उसने देखा कि प्रद्युम्न वासनाको पूरा नहीं करता है, तो उसने उसपर बलात्कारका दोषारोपण किया। राजाने मृत्युदण्ड देनेके लिये सेना भेजी। स्वयं भी उसने प्रद्युम्नको पकड़ना चाहा, पर विद्याबलसे वह प्रद्युम्नका कुछ भी नहीं कर सका। नारदने आकर प्रद्युम्न-के सम्बन्धमें समस्त बातें बतला दीं, जिससे कालसंवर बहुत प्रसन्न हुआ। —अष्टम सर्ग।

प्रद्युम्न नारदमुनिके साथ द्वारावतीको चला। सत्यभामाका पुत्र भानु दुर्योधनकी पुत्री उदधिसे विवाह करना चाहता था। प्रद्युम्नने वनचरका-रूप धारण कर उन सबको परास्त किया और उदधिको हर लाया। उदधि नारदमुनिके समक्ष रोने लगी। प्रद्युम्नने अपना वास्तविक रूप दिखलाया, जिससे वह अनुरक्त हो गयी। प्रद्युम्नने सत्यभामा तनयभानुको परास्त किया और मर्कटरूप धारणकर सत्याभामाके उपवनको नष्ट कर दिया। उसने बाजार नष्ट किया। मेष द्वारा बलरामको मूर्च्छित किया। अनन्तर प्रद्युम्न अपनी माँ रुक्मिणीके भवनमें अत्यन्त कुरूप और विकृत वेशमें आया। श्रीकृष्णके निमित्त बने समस्त पक्वान्न उसे खिला दिये। प्रद्युम्नने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और माताके आदेशसे विद्याबल द्वारा बाल-क्रीड़ाएँ प्रस्तुत कीं। अनन्तर

दुर्योधनकुमारी उदधिको माँके पास छोड़कर यादव और पाण्डवकी सेनाके साथ मायामयी युद्ध करने लगा। उस युद्धको देखनेके लिये देव और दैत्य दोनों आये। —नवम सर्ग

प्रलयसमुद्रके समान दोनों पक्षकी सेनाएँ अपना पराक्रम दिखलाने लगीं। श्रीकृष्ण प्रद्युम्नके पराक्रम और बाणकौशलको देखकर आश्चर्यचकित थे। अतः उन्होंने बाहुयुद्धका प्रस्ताव प्रद्युम्नके समक्ष रखा। दोनों बाहुयुद्धकी तैयारीमें थे कि नारद आ गये और उन्होंने श्रीकृष्णको प्रद्युम्नका परिचय कराया। श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और धूमधामपूर्वक प्रद्युम्नका नगरमें प्रवेश कराया। उदधिके साथ प्रद्युम्नका विवाह सम्पन्न हुआ, जिसमें कालसंवर और कञ्चनमालाको भी आमन्त्रित किया गया। —दशम सर्ग

श्रीकृष्णकी जाम्बवती नामक पत्नीसे शम्ब नामक शूरवीर और दानी पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीकृष्ण उसकी वीरतासे बहुत प्रसन्न थे। किन्तु एक दिन किसी कुलीन स्त्रीके शीलभंगके अपराधमें इसे नगरसे निर्वासित कर दिया। वसन्त-में प्रद्युम्न वनविहारके लिये गया और वहाँ उसे शम्ब मिला। शम्बका विवाह सम्पन्न किया गया। प्रद्युम्नके भी कई विवाह हुए। उसके अनिरुद्ध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। —एकादश सर्ग

तीर्थंकर नेमिनाथ पल्लवदेशसे विहार कर सौराष्ट्र आये। यादवोंने समव-शरणमें जाकर तीर्थंकरकी वन्दना की। बलदेवने द्वारकाविनाश और श्रीकृष्णकी मृत्युके सम्बन्धमें प्रश्न किया। तीर्थंकरने मद्यपानके कारण द्वीपायनमुनिके निमित्तसे इस देवनगरीके विनाश और जरत्कुमारके बाणसे श्रीकृष्णकी मृत्युके सम्बन्धमें भविष्यवाणी की। जरत्कुमार वनमें चला गया और वहाँ आखेटक-का जीवन यापन करने लगा। यादव इस भविष्यवाणीको सुनकर बहुत चिन्तित रहने लगे। रात्रि व्यतीत होने पर प्रातःकाल हुआ। —द्वादश सर्ग

श्रीकृष्ण रत्नजटित सिंहासन पर शोभित थे। सामन्त और सचिव उनकी सेवामें उपस्थित थे। विषयविरक्त और शान्त चित्त प्रद्युम्न अन्य राजकुमारों-के साथ हरिके समक्ष पहुँचा। उसने तीर्थंकरके पास दीक्षा ग्रहण करनेका विचार प्रकट किया। वह माता-पितासे अनुमति प्राप्त कर नेमिनाथके चरणोंमें दीक्षित हो गया। रुक्मिणी और सत्यभामाने भी दीक्षा धारण कर ली। —त्रयोदश सर्ग

प्रद्युम्नने घोर तपश्चरण किया। गुणस्थानका आरोहण कर कर्म-प्रकृतियों-को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। शम्ब, अनिरुद्ध और काम आदि भी मुनि बन गये। प्रद्युम्नने अघातिया कर्मोंको नष्ट कर निर्वाण लाभ किया। —चतुर्दश सर्ग

श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणसे तुलना

प्रद्युम्नका पावन-जीवन जैन-साहित्यके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदि ग्रन्थोंमें भी वर्णित है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ५२वें अध्यायसे ५५वें अध्याय तक यह चरित्त आया है। बताया गया है कि विदर्भ-देशके अधिपत्ति भीष्मकके पाँच पुत्र और सुन्दरी कन्या थी। सबसे बड़े पुत्रका नाम रुक्म था। यह अपनी बहन रुक्मिणीका विवाह शिशुपालके साथ करना चाहता था। अतः उस कन्याने एक विश्वासपात्र ब्राह्मणको श्रीकृष्णके यहाँ अपना सन्देश देकर भेजा। ब्राह्मणने श्रीकृष्णसे रुक्मिणीके प्रेमकी बात कह सुनायी और शीघ्र ही विदर्भ चलनेके लिये उनसे अनुरोध किया। ब्राह्मणने वापस लौटकर रुक्मिणीको श्रीकृष्णके पधारनेकी सूचना दी। भीष्मकने श्री-कृष्ण और बलरामका स्वागत किया। रुक्मिणी अपनी सखियोंके साथ देवीके मन्दिरमें गयी और भगवतीसे श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने लगी। श्रीकृष्ण शत्रुओंकी सेनाको मोहित कर और रथमें रुक्मिणीको सवार कराकर चल दिये। रुक्मने श्रीकृष्णका पीछा किया। श्रीकृष्णने उसकी मूँछकी बाल उखाड़कर उसे विकृत कर दिया और रुक्मिणीकी प्रार्थना पर उसे प्राणदान दिया। द्वारिकामें आनेपर विधिपूर्वक रुक्मिणीके साथ कृष्णका विवाह सम्पन्न हो गया।

समय पाकर रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्नका जन्म हुआ। अभी प्रद्युम्न दश दिनका भी नहीं हो पाया था कि शम्बासुरने वेश बदलकर सूतिका-गृहसे बालक-का अपहरण कर उसे समुद्रमें फेंक दिया। समुद्रमें बालक प्रद्युम्नको एक मच्छ निगल गया। मछुओं द्वारा वह मच्छ पकड़ा गया और उन्होंने उसे शम्बासुर-को भेंट किया। मच्छसे निकले बालकको शम्बासुरने अपनी दासी मायावतीको समर्पित किया। यह मायावती कामदेवकी पत्नी रति ही थी। उसने कुमार प्रद्युम्नका लालन-पालन किया। जब प्रद्युम्न युवा हो गया, तब मायावती उसके समक्ष कामके भाव प्रकट करने लगी। प्रद्युम्नने उससे कहा—'पालन करनेवाली तुम मेरी माँ हो! तुम इस प्रकारके विकृत विचार क्यों करती हो'? मायावतीने कहा—"प्रभो! आप स्वयं नारायणके पुत्र हैं, शम्बासुर आपको सूतिकागृहसे चुरा लाया था। आप मेरे पति कामदेव हैं और मैं सदाकी आपकी पत्नी रति हूँ। शम्बासुरने आपको समुद्रमें डाल दिया था, वहाँ एक मछली निगल गयी थी। मछलीके पेटसे मैंने आपको प्राप्त किया। शम्बासुर माया जानता है। अतः मायात्मक विद्याओंके अभावमें उसका जीतना सम्भव नहीं।" उसने महामाया नामकी विद्या प्रद्युम्नको सिखलायी। प्रद्युम्नने युद्धमें शम्बा-

सुरकी सेनाको परास्त किया। अनन्तर वह द्वारिकामें मायावतीके साथ गया और वहाँ भी उसने मायाके कारण चमत्कार उत्पन्न किये। इस समय नारद वहाँ आये और प्रद्युम्नका परिचय कराया।

इसी प्रकारका विष्णुपुराणके पञ्चम स्कन्धके २६वें और २७वें अध्यायमें प्रद्युम्नचरित उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणके चरितमें प्रायः समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि शम्बासुर प्रद्युम्नको विष्णु- पुराणके अनुसार जन्म लेनेके छठे दिन ही समुद्रमें गिरा देता है। शेष कथानक दोनों ग्रन्थोंमें समान है।

'प्रद्युम्नचरितम्' महाकाव्यकी कथावस्तुकी उक्त दोनों ग्रथोंकी कथा-वस्तु-के साथ तुलना करनेपर निम्नांकित साम्य और असाम्य उपलब्ध होते हैं—

साम्य

(१) प्रद्युम्न श्रीकृष्ण और रुक्मिणीके पुत्र थे।
(२) जन्मकी छठी रात्रि अथवा दश दिनके पूर्व ही असुर द्वारा अपहरण।
(३) नारद ऋषि द्वारा रुक्मिणीको समस्त स्थितिकी जानकारी।
(४) द्वारिकामें प्रद्युम्नके लौटने पर नारद द्वारा प्रद्युम्नका परिचय।

असाम्य

प्रद्युम्नका शम्बासुर द्वारा अपहरण, उसका समुद्रमें डाला जाना, समुद्रमें मत्स्य द्वारा निगला जाना और फिर शम्बासुरके घर जाकर मत्स्यके पेटसे जीवित निकलना, मायावतीका मोहित होना और बालक प्रद्युम्नका पालन करना तथा अन्तमें युवा होनेपर शम्बासुरको मारकर मायावतीसे विवाह करना।

यदि उपर्युक्त असमताओं पर विचार किया जाये, तो ज्ञात होगा कि जैन-लेखकोंने उक्त कथांशोंमें अपनी सुविधानुसार परिवर्तन कर उसे बुद्धि-ग्राह्य बनाया है। प्रद्युम्नको समुद्रमें न डलवाकर, गुफामें अथवा शिलाके नीचे रखवाना अधिक बुद्धिसंगत है। मत्स्यके पेटसे जीवित निकलनेकी सम्भावना बहुत कम है, जबकि शिलातल या गुफामें जीवित रह जानेकी सम्भावनामें आशंका नहीं की जा सकती। शम्बासुरके स्थानपर धूमकेतु अपहरण करनेवाला कल्पित किया गया है तथा कालसंवर विद्याधर उसका पालन करनेवाला माना गया है। कालसंवरकी पत्नी कंचनमाला भी मायावतीके समान 'प्रद्युम्न' पर मोहित होती है। कालसंवर पत्नीके अपमानका बदला चुकानेके लिये प्रद्युम्न-को मार डालना चाहता है। मायावती जिस प्रकार प्रद्युम्नको विद्या सिख-लाती है उसी प्रकार कंचनमाला भी। जैन-लेखकोंने जन्म-जन्मान्तरके आख्यान

जोड़कर प्रत्येक घटनाको तर्कपूर्ण बनानेका प्रयास किया है। उन्होंने यह दिखलाया है कि वर्तमान जीवनकी प्रत्येक घटनाके पीछे पूर्वजन्मके संचित संस्कार कार्य करते हैं। धूमकेतुने पूर्वजन्मकी शत्रुताके कारण ही प्रद्युम्नका अपहरण किया था और कंचनमाला भी पूर्वजन्मके प्रेमके कारण ही, प्रद्युम्न-पर आसक्त होती है। शम्ब उसका पूर्वजन्मका भाई होनेसे ही प्रेम करता है।

कथावस्तुका गठन और महाकाव्यत्व

प्रस्तुत महाकाव्यका कथानक शृङ्खलाबद्ध एवं सुगठित है। क्रमनियोजन पूर्णतया पाया जाता है। सभी कथानक शृङ्खलाकी छोटी-छोटी कड़ियोंके समान परस्परमें सम्बद्ध है। प्रद्युम्नचरितमें कथानकका उद्घाटन सत्यभामा द्वारा नारदको असतुष्ट करने और ईर्ष्यावश नारदका सुन्दरीकी तलाशमें जाने एवं रुक्मिणीके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेसे होता है। कथा-वस्तुकी पंखुड़ियाँ सहजमें खुलती हुई अपना पराग और सौरभ विकीर्ण कर मुग्ध करती हैं। सत्यभामा और रुक्मिणीमें सपत्नीभावका उदय, द्वंद्व और शमन कई बार होता हुआ दिखलाया गया है। इस प्रकार कविने कथानकोंकी योजना शृङ्खलाबद्ध कर मनोरंजकताका समावेश किया है। काव्य-प्रवाहको स्थिर एवं प्रभावोत्पादक बनाये रखनेके लिये अवान्तर कथाएँ भी गुम्फित हैं। रचना सरस और रोचक है।

हरिषेण

हरिषेण नामके कई आचार्य हुए हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्येने[1] छह हरिषेण नामके ग्रन्थकारोंका निर्देश किया है। प्रथम हरिषेण तो समुद्रगुप्तके राजकवि हैं, जिन्होंने इलाहाबाद-स्तम्भलेख ई० सन् ३४५ में लिखा है। द्वितीय हरिषेण अपभ्रंश भाषामें लिखित 'धर्मपरीक्षा' के रचयिता हैं। इन्होंने अपने सम्बन्धमें लिखा है कि मेवाड़की सीमामें स्थित श्रीउजौरा (श्री ओजपुर) प्रदेशके धक्काड-कुल नामक स्थानमें निवास करनेवाले विविध कलाओंके मर्मज्ञ हरिनामक पुरुष हुए। इनके पुत्रका नाम गोवर्धन था और उसको पत्नी गुणवती जिन भगवानके चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाली थी। उनका पुत्र हरिषेण आगे चलकर विद्वान् कविके रूपमें विख्यात हुआ। वह किसी कार्यवश चित्तौड़ छोड़कर अकालपुर गया। वहाँ उसने छन्दशास्त्र और अलंकारशास्त्रका अध्ययन किया और वि० सं० १०४४ के व्यतीत होनेपर धर्म-परीक्षा नामक ग्रंथकी रचना की। उसने लिखा

---

१. बृहत् कथाकोश, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, सन् १९४३, अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० ११७-११९।

है कि धर्म-परीक्षा पहले जयरामद्वारा गाथाछन्दमें लिखी गयी थी, अब मैं इसे 'पद्धड़िया' छन्दमें लिख रहा हूँ। अमितगतिकी संस्कृत धर्म-परीक्षासे हरिषेण-की यह धर्म-परीक्षा २६ वर्ष पुरानी है। तृतीय हरिषेण कर्पूरप्रकार या सूक्ता-वलीके रचयिता हरिषेण या हरि हैं। इन्होंने बताया है कि नेमिचरित भी इन्हींके द्वारा लिखित है। त्रिषष्ठीसारप्रबन्धके रचयिता वज्रसेन उनके गुरु हैं। इनका स्थितिकाल सन्देहास्पद है। यदि ये वज्रसेन त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरितनामक अधूरे संस्कृतगद्य-ग्रन्थके रचयिता हों, तो इन्हें हेमचन्द्रके पश्चात् रखा जा सकता है और इस स्थितिमें इन हरिषेणका समय ई० सन्की १२वीं शतीके पश्चात् अवश्य होगा। इनके समय-निर्धारणमें सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि वि० सं० १५०४ के पूर्व ये अवश्य वर्त्तमान थे, जब सोमचन्द्रने सूक्ता-वलीकी उदाहरणात्मक कहानियोंसे युक्त कथा-महोदधि नामक ग्रन्थ लिखा।

चतुर्थ हरिषेणका परिज्ञान भाण्डारकर प्राच्य-विद्या-शोध-संस्थान पूनाके एक हस्तलिखित ग्रंथसे प्राप्त होता है कि योनि-प्राभृतके प्राप्य न होनेके कारण विविध चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थोंके आधारपर जगत्सुन्दरीयोगमलाधिकारकी रचना हरिषेण या पं० हरिषेणने की है। इनके व्यक्तित्व और समय आदिका निर्णय उक्त पाण्डुलिपिके अध्ययनके पश्चात् ही सम्भव है।

पंचम हरिषेणका निर्देश प्रभञ्जनके साथ वासवसेनके 'यशोधरचरित' नामक ग्रन्थमें प्राप्त होता है। उद्योतनसूरिने ई० सन् ७७८ में अपनेकुवलयमाला ग्रन्थमें प्रभञ्जनका उल्लेख किया है। गन्धर्वने वि० सं० १३६५ में वासवसेन-रचित यशोधरचरितका उपयोग पुष्पदन्तके अपूर्ण 'जसहरचरिउ' को पूरा करने-में किया था। सोमकीर्तिने भी वि० सं० १५३५ में रचित अपने यशोधरकाव्यमें इस हरिषेणका निर्देश किया है।

षष्ठ हरिषेणका भी परिज्ञान भाण्डारकर प्राच्य-विद्या-शोध-संस्थान, पूनाके एक हस्तलिखित ग्रन्थसे होता है। इन्होंने अष्टाह्निकाकथाकी रचना की थी। ये मूलसंघके आचार्य थे। और इनकी गुरुपरम्परामें रत्नकीर्ति, देवकीर्ति, शीलभूषण और गुणचन्द्रके बाद हरिषेणका नाम आया है।

बृहत्कथाकोशके रचयिता हरिषेण इन सभी हरिषेणोंसे भिन्न प्रतीत होते हैं। इन्होंने इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें लिखा है—

> यो बोधको भव्यकुमुद्वतीनां निःशेषराद्धान्तवचोमयूखैः।
> पुन्नाटसंघाम्बरसंनिवासी श्रीमौनिभट्टारकपूर्णचन्द्रः॥
> जैनालयव्रातविराजितान्ते चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले।
> कार्तस्वरापूर्णजनाधिवासे श्रीवर्धमानाख्यपुरे वसन् सः॥

सारागमाहितमतिर्विदुषां प्रपूज्यो नानातपोविधिविधानकरो विनेयः ।
तस्याभवद् गुणनिधिर्जनताभिवन्द्यः श्रीशब्दपूर्वपदको हरिषेणसंज्ञः[१] ॥

अर्थात् मौनी भट्टारकके शिष्य भरतषेण और श्रीहरिषेणके श्रीहरिसेन, भरतसेनके हरिषेण। प्रस्तुत हरिषेणने अपने गुरु भरतसेनको उन्होंने छन्द, अलंकार, काव्य, नाटक आदि शास्त्रोंका ज्ञाता, काव्यका रचयिता, वैयाकरण, तर्कनिपुण और तत्त्वार्थवेदी बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि हरिषेणके दादा-गुरुके गुरु मौनी भट्टारक जिनसेनकी उत्तरवर्ती दूसरी, तीसरी पीढ़ीमें ही हुए होंगे। हरिषेण पुन्नाट संघके आचार्य हैं और इसी पुन्नाट संघमें हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन प्रथम भी हुए हैं।

हरिषेणने कथाकोषकी रचना वर्द्धमानपुरमें की है। इस स्थानको डॉ ए० एन० उपाध्ये काठियावाड़का बड़वान मानते हैं। पर डॉ० हीरालाल जैनने इसे मध्यभारतके धार जिलेका बधनावर सिद्ध किया है। बृहत् कथाकोषकी रचना वर्धमानपुरमें उस समय की गयी थी, जबकि वहाँपर विनायकपालका राज्य वर्तमान था। उसका यह राज्य शक्र या इन्द्रके समान विशाल था। यह विनायकपाल गुर्जर प्रतिहारवंशका राजा है। इसके साम्राज्यकी राजधानी कन्नौज थी। उस समय प्रतिहारोंके अधिकारमें केवल राजपूतानेका ही अधिकांश भाग नहीं था, अपितु गुजरात, काठियावाड़, मध्यभारत और उत्तरमें सतलजसे लेकर विहार तकका प्रदेश शामिल था। यह विनायकपाल महाराजाधिराज महेन्द्रपाल-का पुत्र था और भोज द्वितीयके बाद राज्यासीन हुआ था। कथाकोशकी रचनाके लगभग एक वर्ष पहले (वि० स० ९५५) का एक दानपत्र[२] मिला है। इस दान-पत्रसे भी विनायकपालकी स्थिति स्पष्ट होती है।

स्थितिकाल

हरिषेण कथाकोशकी प्रशस्तिमें बताया है—

नवाष्टनवकेष्वेषु स्थानेषु त्रिषु जायतः ।
विक्रमादित्यकालस्य परिमाणमिदं स्फुटम् ॥
शतेष्वष्टसु विस्पष्टं पञ्चाशत्यधिकेषु च ।
शककालस्य सत्यस्य परिमाणमिदं भवेत् ॥
संवत्सरे चतुर्विंशे वर्तमाने खराभिधे ।
विनयादिकपालस्य राज्ये शक्रोपमानके[३] ॥

१. बृहत् कथा-कोश, सिंघीसिरीज, प्रशस्ति, पद्य, ३-५ ।

२. राजपूतानेका इतिहास, जिल्द १, पृ० १६३ तथा इण्डियन एन्टीक्वयरी, वाल्यूम १५, पेज १४०-१४१ ।

३. बृहत् कथाकोश, सिंघी सीरीज, प्रशस्ति, पद्य ११-१३ ।

शक संवत् ८५३, वि० सं० ९८८, (ई० सन् ९३१) में कथाकोशग्रन्थ रचा गया है। अतः अन्तरंग प्रमाणके आधारपर हरिषेणका समय ई० सन् की १०वीं शताब्दीका मध्यभाग सिद्ध होता है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें जिस विनायकपाल-का निर्देश किया है, उसका समय लगभग वि० सं० ९५५ (ई० सन् ८९८) है। काठियावाड़के हड्डाला गाँवमें विनायकपालके बड़े भाई महीपालके समयका भी शक संवत् ८३६ (ई० सन् ९१४) का दानपत्र मिला है, जिससे मालूम होता है कि उस समय वर्धमानपुरमें उसके सामन्त धरणिवराहका अधिकार था। इसके सत्रह वर्षोंके उपरान्त इस नगरमें कथाकोशका प्रणयन हुआ। अतएव प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री नाथूराम जी प्रेमीका अनुमान है कि वर्धमानपुरमें प्रति-हारोंके किसी सामन्तका अधिकार होनेकी सम्भावना है।

रचना

आचार्य हरिषेणने पद्यबद्ध बृहत् कथाकोश ग्रन्थ लिखा है। इस कोशग्रन्थमें छोटी-बड़ी सब मिलाकर १५७ कथाएँ हैं और ग्रन्थका प्रमाण अनुष्टुप् छन्दमें १२५०० (साढ़े बारह हजार) श्लोक हैं। इन कथाओंको निम्नलिखित सात वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. व्रताचरण और साधनाकी महत्ता-सूचक कथाएँ।
२. भक्ति-सूचक कथाएँ।
३. पापाचरणके कुफल-सूचक आख्यान।
४. अर्द्ध ऐतिहासिक तथ्य-सूचक कथाएँ।
५. मुनि और आचार्योंके जीवन-वृत्त आख्यान।
६. हिंसा, झूठ, चोरी आदिसे सम्बद्ध दृष्टान्त-कथाएँ।
७. पञ्चाणुव्रत या अन्य व्रतोंके साधक व्यक्तियोंके आख्यान।

चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि एवं स्वामिकार्तिकेय प्रभृति व्यक्तियोंके अर्द्ध ऐतिहासिक आख्यान आये हैं। इस श्रेणीकी कथाओंमें ऐतिहासिक व्यक्तियों-के सम्बन्धमें आराधना या व्यक्तित्वनिर्माण सम्बन्धी किसी आख्यानको प्रकट करते हुए कतिपय तथ्योंका समावेश हुआ है। श्रीप्रेमीजीने भद्रबाहुकथामें आये हुए तथ्योंकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि भद्रबाहुने बारह वर्षोंके घोर दुर्भिक्ष पड़नेका भविष्य जानकर अपने शिष्योंको लवण समुद्रके समीप चलनेको कहा और अपनी आयु क्षीण जानकर वे स्वयं वहीं रह गये तथा उज्जयिनीके निकट भाद्रपद देशमें समाधिमरण धारण कर स्वर्ग प्राप्त किया। उज्जयिनीके राजा चन्द्रगुप्तने भद्रबाहुके समीप दीक्षा ग्रहण की। यह चन्द्रगुप्त

मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त है। मुनि होनेपर जिसका नाम विशाखाचार्य कहलाया, जो दश पूर्वधारियोंमें प्रथम थे[1]।

करकण्डुकी कथा पर्याप्त विस्तृत आयी है और यह कथा 'करकण्डुचरित' तथा प्राकृत-साहित्यमें उपलब्ध करकण्डुकथासे कई बातोंमें भिन्न है। इस कथाके अध्ययनसे एक नयी परम्पराका ज्ञान होता है। यद्यपि कथाका अन्तिम रूप परम्पराके समान ही है, पर कथामें आयी हुई उत्थानिका विशिष्ट है। मध्य-भागमें भी कथाका विस्तार पर्याप्त रूपमें हुआ है। धनश्री और नागदत्ताका आख्यान रात्रि-भोजनत्यागव्रतसे सम्बद्ध है। पद्मावतीके जन्मकी कथा भी विचित्र ही रूपमें वर्णित है। इसमें बताया है कि वत्सकावती देशमें कौशाम्बी नामकी प्रसिद्ध नगरी है। इस नगरीका राजा वसुपाल था और रानी वसुमती। वसुपालके नगरसेठका नाम वसुदत्त था। वसुदत्त बड़ा ही जिनभक्त था। धनमती-की बहिन धनश्रीका विवाह इसी राजसेठ वसुदत्तके साथ सम्पन्न हुआ और यह भी वसुदत्तके संसर्गसे जिनभगवानकी भक्त श्राविका बन गयी। कुछ दिनोंके पश्चात् वसुदत्तका स्वर्गवास हो गया। जब यह समाचार धनश्रीकी माता नाग-दत्ताको मिला तो वह बहुत शोकातुर हुई और पुत्रीको सांत्वना देनेके लिये कौशाम्बी जा पहुँची और वहीं पर कुछ दिनों तक निवास करने लगी।

एक दिन धनश्रीने देखा कि माताका मुखकमल शोकके कारण मलिन हो रहा है, तो वह माँको मुनिराजके पास ले गयी। मुनिराजने नागदत्ताको समझाया और रात्रिभोजन न करनेका उसे उपदेश दिया। नागदत्ताने मुनिराज द्वारा दिये गये व्रतको स्वीकार किया और फिर अपनी दूसरी कन्या धनमतीके पास नालन्दा नगर चली गयी। जब नागदत्ता धनमती पुत्रीके यहाँ पहुँची, तो पुत्रीके संसर्गके कारण यहाँ उसने रात्रिमें भोजन कर लिया और फिर कौशाम्बी नगरमें भी उसने रात्रिभोजन किया। इस प्रकार तीन बार उसने रात्रिभोजनका त्याग भंग किया फिर चौथी बार कौशाम्बी नगरीमें रहनेवाली अपनी कनिष्ठा कन्या धनश्रीके पास यह पहुँची और वहाँ रहते-रहते एक दिन इसकी मृत्यु हो गयी और अपने शुभ-अशुभ कर्मोंके कारण कौशम्बी नगरीके राजा वसुपालकी वसुमती नामक पत्नीके गर्भमें कन्याके रूपमें उत्पन्न हुई। ज्यों ही नागदत्ताका जीव वसुमतीके गर्भमें आया, वसुमतीको अत्यन्त दुःखद, श्वांस-कास आदि रोगोंने पीड़ित कर दिया, जिससे रानीको इसके प्रति बड़ी अनास्था हुई। जैसे ही कन्याका जन्म हुआ, वसुमतीने उसके लिये एक सुन्दर अगूँठी बनवायी और उसमें यह लेख

१. बृहत् कथाकोश १३१वीं कथा तथा जैनसाहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० २२०-२२१।

अंकित करा दिया कि यह कौशाम्बीके राजा वसुपालकी वसुमती पत्नीकी पुत्री है। यदि किसी बलवान पूर्व पुण्यके कारण यह बच जाये और किसीको मिले, तो वह इसे कृपापूर्वक पालित-पोषित करे। इस प्रकार इस अँगूठी और एक रत्नकम्बलके साथ इस कन्याको एक पिटारीमें बन्द कराकर रानीने इसे यमुना नदीमें प्रवाहित कर दिया। वह पिटारी यमुनाके वेगवान प्रवाहके कारण तैरती हुई प्रयागमें जाकर गंगाकी धारामें मिल गयी।

अङ्ग नामके महादेशमें चम्पा नामकी नगरी थी। इस नगरीका राजा दन्तिवाहन था और उसकी पत्नीका नाम वसुमित्रा। चम्पापुरीके निकट कुसुमपुर नामका एक नगर था। इस नगरमें कुन्ददन्त नामक माली रहता था और इसकी पत्नीका नाम कुमुददन्तिका था। कुन्ददन्त नगरसे बाहर निकला ही था कि उसे प्रभातके समय गंगामें बहती हुई वह पिटारी दिखलायी दी। उसने पिटारी पकड़ ली और जैसे ही खोली उसमें एक बालिका रखी हुई दिखलायी दी। कुन्ददन्त यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह इस पिटारी तथा इसके अन्दर रखी हुई सुकुमार बालिकाको लेकर अपनी पत्नीके पास आया और उसे अपनी पत्नी के हाथोंमें देकर कहने लगा—"लो आजसे तुम इसे अपनी पुत्री समझना।" कुमुददन्ताने उस बालिकाका यथोचित पालन-पोषण किया और उसका नाम पद्मावती रखा। जब यह बालिका युवती हुई, तो चम्पापुर नरेश दन्तिवाहनके साथ उस कन्याका विवाह हो गया। राजाने जब कुन्ददन्तसे पद्मावतीके सम्बन्ध में विशेष पूछ-ताछ की, तो उसने पिटारीके मिलनेका सब वृतान्त राजाको सुना दिया। कुन्ददन्त कहने लगा—"राजन्। इसके नामकी एक रत्ननिर्मित अँगूठी और रत्नकम्बल तथा एक पिटारी है, जो सब आपको सेवामें उपस्थित हैं। दन्तिवाहन पद्मावतीका परिचय प्राप्तकर बहुत प्रसन्न हुआ। विवाहके पश्चात् कालान्तरमें पद्मावतीके गर्भमें एक पुण्यशाली देवने स्वर्गसे च्युत हो प्रवेश किया। इस समय पद्मावतीके मनमें एक दोहद उत्पन्न हुआ, परन्तु उसकी पूर्ति न हो सकनेके कारण वह दिन-प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। एक दिन राजाने पद्मावतीकी इस दुर्बलताका कारण जानना चाहा। पद्मावती कहने लगी— "प्राणनाथ! जबसे मेरे गर्भमें यह जीव आया है, तबसे एक विचित्र दोहद उत्पन्न हो रहा है कि मैं पुरुषका वेष धारण करके नर्मदातिलक नामक उन्नत हाथीपर आपके साथ उस समय सवारी करूँ, जिस समय मेघ मन्द-मन्द गर्जनापूर्वक नन्हीं-नन्हीं बूँद गिरा रहे हों।"

जब राजाने पद्मावतीका यह दोहद सुना, तो उसने मनुष्योंके द्वारा नर्मदातिलक हाथीको बुलाकर उसे झूल आदिसे मण्डित कराया और सोलह प्रकारके

आभूषणोंसे भूषित पद्मावतीको पुरुषके वेशमें सज्जित कर दिया। इस तरह सब प्रकारकी तैयारीके पश्चात् दन्तिवाहन भूपतिने रानीको मदोन्मत्त हाथीके आगे बैठाया और स्वयं उसके पीछे बैठ गया तथा नगरकी प्रदक्षिणा करने लगा।

पद्मावती और दन्तिवाहन महाराज नगरकी प्रदक्षिणा कर ही रहे थे कि राजाका प्रियमित्र वायुवेग नामक एक विद्याधर आया और उसने विद्याबलसे आकाशमें गर्जना करता हुआ एक मेघ तैयार किया। विद्याधरके प्रभावसे सुगन्धित जलकी वर्षा होने लगी और मन्द-मन्द वायु प्रवाहित होने लगी। इधर नर्मदातिलक हाथीने ज्यों ही आकाशमें छाये हुए और जलकण बरसाते हुए मेघोंको देखा और दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली सुगन्धित वायुको सूँघा तो उसे अपने चिरवसित और वृक्षमालासे अलंकृत विन्ध्याचलके शल्लकी वनकी स्मृति हो उठी और वह बलवान् हाथी जनसमूहके देखते-देखते ही नगरसे अटवी-की ओर चल दिया।

इस प्रकार इस कथामें पद्मावतीको पूर्वभवावलि तथा उसके जन्मकी कथा आयी है, जो करकण्डुकथामें अन्यत्र नहीं मिलती।

इस ग्रन्थमें 'उक्तञ्च' कहकर प्राकृत गाथाएँ भी सम्मिलित की गयी हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्येका अभिमत है कि इस कथाकोशका एक अंश सम्भवतः किसी प्राकृत ग्रन्थसे संस्कृतमें अनूदित किया गया है। यतः इस ग्रन्थमें बहुतसे प्राकृत नाम भी अपने मूलरूपमें पाये जाते हैं। यथा—मेतार्यके स्थानपर मेदज्ज और वाराणसीके स्थानपर बाणारसी प्रयोग पाये जाते हैं।

प्रस्तुत कथाकोश अनेक जैनाख्यानोंकी विकासपरम्पराको अवगत करनेमें बहुत ही सहायक है। लेखकने इसमें अनेक आख्यानोंके पूर्वजन्मवृत्तान्त विस्तार-से दिये हैं। अतः अनेक काव्योंके स्रोतोंका परिज्ञान इस कथाकोशकी कथाओंसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस कथाकोषमें कामशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, शकुन, दर्शन आदि विभिन्न विषयोंका वर्णन आया है। पंचपापोंका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। आचार सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य भी इस कथामें समाविष्ट हैं। चारुदत्तकथानक-में आया है कि यज्ञमें हवन किये जानेवाला पशु कहता है--

> नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
> संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव।
> स्वर्गं गन्तुमभीप्सिता यदि भवेद् वेदे च तथ्या श्रुतिः
> भूपे किं न करोषि मातृपितृभिर्दारान् सुतान् बान्धवान्[1]॥

---

१. बृहत् कथाकोश, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० २२५, पद्य २४८।

सोमदेवसूरि

आचार्य सोमदेव महान् तार्किक, सरस साहित्यकार, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रबुद्ध तत्त्वचिन्तक और उच्चकोटिके धर्माचार्य थे। उनके लिए प्रयुक्त होने वाले स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविकुलराजकुंजर, अनवद्यगद्य-पद्यविद्याधरचक्रवर्ती आदि विशेषण उनकी उत्कृष्ट प्रज्ञा और प्रभावकारी व्यक्तित्वके परिचायक हैं। नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें उक्त सभी उपाधियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

ये नेमिदेवके शिष्य, यशोदेवके प्रशिष्य और महेन्द्रदेवके अनुज थे।

यशोदेवको देवसंघका तिलक कहा गया है।[2] पर वद्दिगके दानपत्रमें गौड-संघका। नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलककी प्रशस्तियोंके अनुसार नेमिदेव अनेक महावादियोंके विजेता थे। महेन्द्रदेवको भी दिग्विजयी कहा जाता है। सोमदेव भी गुरु और अनुजके समान तार्किक होनेके साथ सहृदय कवि भी थे। यशस्तिलकके प्रारम्भमें लिखा है—

> आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
> मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतीनां पुण्यैः॥[3]

मेरी बुद्धिरूपी गौने जीवनभर तर्करूपी घास खायी, पर अब उसी गौसे

---

१. "इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य रमणीयपञ्चपञ्चाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपविचित्रत्रिभुवनस्य परतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीनेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवादीभपंचाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजकुञ्जरप्रभृतिप्रशस्तिप्रस्तावालङ्कारेण षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणि-त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरित-महाशास्त्रवेधसा श्रीमत्सोमदेवसूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं नाम राजनीतिशास्त्रं समाप्तम्।"

—नीतिवाक्यामृतम्, गोपालनारायण कम्पनी, बुकसेलर्स, सन् १८९१, अन्तिम प्रशस्ति।

२. श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः।
शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः॥
तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनाम्।
शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः॥

—यशस्तिलक, खण्ड २, पृ० ४१८।

३. वही, १।१७।

सज्जनोंके पुण्यके कारण यह काव्यरूपी दूध उत्पन्न हो रहा है। पाण्डित्यके सम्बन्धमें स्वयं लिखा है—

> लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलङ्काराः समयागमाः।
> सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्गा इव स्मृताः[1]॥

व्याकरण, प्रमाण, कला, छन्द, अलङ्कार और समयागम—दर्शनशास्त्र तीर्थ-मार्गके समान सर्वसाधारण हैं।

सोमदेवके संरक्षक अरिकेशरी नामक चालुक्य राजाके पुत्र वाद्यराज या वद्दिग नामक राजकुमार थे। यह वंश राष्ट्रकूटोंके अधीन सामन्त पदवीधारी था। यशस्तिलकका प्रणयन गंगधारा नामक स्थानमें रहते हुए किया गया है। धारवाड़, कर्नाटक, महाराष्ट्र और वर्तमान हैदराबाद प्रदेश पर राष्ट्रकूटोंका साम्राज्य व्याप्त था। राष्ट्रकूट नरेश आठवीं शतीसे दशवीं शती तक महाप्रतापी और समृद्ध रहे हैं। इनका प्रभुत्व केवल भारतवर्षमें ही नहीं था, अपितु पश्चिम-के अरब राज्योंमें भी व्याप्त था। अरबोंसे उनका मैत्रीव्यवहार था तथा अरब अपने यहाँ उनको व्यापारको सुविधाएँ दिये हुए थे। इस वंशके राजाओंका विरुद वल्लभराज था। इसका रूप अरबलेखकोंमें बल्लहरा पाया जाता है।

सोमदेवने अपने साहित्यमें राष्ट्रकूटोंके साम्राज्यके तत्कालीन अभ्युदयका परिचय प्रस्तुत किया है। वस्तुतः राष्ट्रकूटोंके राज्यकालमें साहित्य, कला, दर्शन एवं धर्मकी बहुमुखी उन्नति हुई है। कविका यशस्तिलकचम्पू मध्य-कालीन भारतीय संस्कृतिके इतिहासका अपूर्व स्रोत है।

सोमदेवसूरि और कन्नौजके गुर्जर-प्रतिहार

नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकचम्पूसे अवगत होता है कि सोमदेवका सम्बन्ध कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रदेवसे रहा है। नीतिवाक्यामृतकी संस्कृतटीका-से भी ज्ञात होता है कि कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रदेवके आग्रहसे इस ग्रन्थकी रचना सम्पन्न हुई थी।[2]

ज्ञात होता है कि सोमदेवका महेन्द्रदेवके साथ सम्बन्ध रहा है। यशस्तिलक के मंगलपद्यमें श्लेष द्वारा कन्नौज और महेन्द्रदेवका उल्लेख आया है।

१. यशस्तिलक १।२०।

२. "अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावस्थायिपराक्रमपालितकर्ण्यकुब्जेन महाराजश्रीमन्महेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रदुःखबोधग्रन्थगौरवखिन्न-मानसेन सबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः।"—नीतिवाक्यामृत, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पृ० २, संस्कृतटीका।

यशस्तिलकके ही निम्नलिखित पद्यसे भी सोमदेव और महेन्द्रदेवके सम्बन्धकी अभिव्यञ्जना होती है—

सोऽयमाशार्पितयशः महेन्द्रामरमान्यधीः ।
देयात्ते सततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः[१] ॥

अब विचारणीय है कि सोमदेका सम्बन्ध किस महेन्द्रदेवके साथ घटित होता है। कन्नौजके इतिहासमें महेन्द्रदेव या महेन्द्रपाल नामके दो राजा हुए हैं। महेन्द्रपालदेव प्रथमका समय ई० सन् ८८५ से ई० सन् ९०७ तक माना जाता है। यह महाराज भोज (ई० सन् ८३६-८८५) के पश्चात् राजगद्दीपर आसीन हुआ था। महाकवि राजशेखरको बालकविके रूपमें इसका संरक्षण प्राप्त था[२]। राजशेखर त्रिपुरीके युवराज द्वितीयके समय (ई० सन् ९९०) लगभग ९० वर्षकी अवस्थामें विद्यमान थे। सोमदेवने अपने यशस्तिलकमें महाकवियोंके उल्लेखके प्रसंगमें राजशेखरको अन्तिम महाकविके रूपमें निर्दिष्ट किया है[३]। यशस्तिलकको सोमदेवने ९५९ ई० में समाप्त किया है। यदि राजशेखरको सोमदेवसे ८-१० वर्ष भी बड़ा माना जाय, तो राजशेखरको सोमदेव द्वारा महाकवि कहा जाना ठीक प्रतीत होता है। इस प्रकार सोमदेवका आविर्भाव ई० सन् ९०८ के आसपास होना चाहिए, क्योंकि महेन्द्रपाल प्रथमकी समसामयिकता तथा नीतिवाक्यामृतके रचे जानेका आग्रह घटित नहीं होता है। इस कारण महेन्द्रपालदेव प्रथमके साथ सोमदेवका सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

महेन्द्रपालदेव द्वितीयका समय ई० सन् ९४५-४६ माना गया[४] है। सोमदेव इस समय सम्भवतः ३५-३६ वर्षके रहे होंगे। अतएव महेन्द्रपालदेव द्वितीय और सोमदेवके पारस्परिक सम्बन्धमें काल-सम्बन्धी कठिनाई नहीं है।

स्थिति-काल

सोमदेवका समय सुनिश्चित है। इन्होंने यशस्तिलकमें उसका रचना-समय शकसंवत् ८८१ (ई० सन् ९५९) दिया है। लिखा है—

"चैत्रशुक्ला त्रयोदशी शकसंवत् ८८१ (ई० सन् ९५९) को, जिस समय कृष्णराजदेव पांड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटी नामक स्थानके सेना-शिविरमें थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त-

१. यशस्तिलक, १।२२० ।
२. The Age of Imperial Kanauj, p. 33.
३. यशस्तिलक, उत्तरार्ध, पृ० ११३ ।
४. The Age of Imperial Kanauj p. 37.

वद्दिगकी, जो चालुक्यवंशीय अरिकेशरीके प्रथम पुत्र थे, राजधानी गंगधारामें यह काव्य समाप्त हुआ।[1]

अतः सोमदेव ई० सन् ९५९ अर्थात् दशम शतीके विद्वानाचार्य हैं।

रचनाएँ

इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. नीतिवाक्यामृत, २. यशस्तिलकचम्पू और अध्यात्मतरंगिणी।

इनके अतिरिक्त युक्तिचिन्तामणिस्तव, त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प, षण्णवतिप्रकरण और स्याद्वादोपनिषद्की भी सूचना मिलती है। वद्दिगके दानपत्रसे सोमदेवके एक सुभाषितका भी संकेत मिलता है।

नीतिवाक्यामृत

नीतिवाक्यामृत राजनीतिका कौटिल्यके अर्थशास्त्रकी तरह उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें राजा, मंत्री, कोषाध्यक्ष और शासन-संचालनके मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। नीतिवाक्यामृत मूलरूपमें बम्बईसे सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ था। सन् १९२२ में माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे संस्कृतटीका सहित प्रकाशित हुआ। सन् १९५० में पण्डित सुन्दरलाल शास्त्रीने हिन्दी अनुवादके साथ इसका प्रकाशन किया। नीतिवाक्यामृतपर दो टीकाएँ हैं। एक प्राचीन सस्कृतटीका है, जिसके लेखकका नाम और समय ज्ञात नहीं है। पर मंगलाचरणके श्लोकसे इनका नाम हरिबल ज्ञात होता है—

> हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम्।
> हरीज्यं च ब्रुवे टीकां नीतिवाक्यामृतोपरि[2]॥

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मूल ग्रन्थ रचयिताने अपना नाम मङ्गलपद्यमें समाहित कर दिया है, उसी प्रकार हरिबलने हरि अर्थात् विष्णुको नमस्कार करते हुए अपने नामको समाहित कर दिया है।

इस ग्रन्थमें ३२ समुद्देश्य हैं। जिनके नाम क्रमशः (१) धर्मसमुद्देश्य, (२) अर्थसमुद्देश्य, (३) कामसमुद्देश्य, (४) अरिषड्वर्ग, (५) विद्यावृद्ध, (६) आन्वीक्षिकी, (७) त्रयी, (८) वार्ता, (९) दण्डनीति, (१०) मंत्री, (११) पुरोहित, (१२) सेनापति, (१३) दूत, (१४) चार, (१५) विचार, (१६) व्यसन, (१७) स्वामि, (१८) अमात्य, (१९) जनपद, (२०) दुर्ग, (२१) कोश, (२२) बल, (२३) मित्र, (२४) राजरक्षा, (२५) दिवसानुष्ठान, (२६) सदाचार, (२७) व्यवहार,

१. यशस्तिलक, उत्तरा०, पृ० ४१८।

२. नीतिवाक्यामृतम्, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, मङ्गलपद्य

(२८) विवाद, (२९) षाड्गुण्य, (३०) युद्ध, (३१) विवाह और (३२) प्रकरण हैं। धर्मसमुद्देश्यमें धर्मका लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

अर्थात् जिसके साधनसे स्वर्ग व मोक्षकी सिद्धि हो वह धर्म है। धर्माधिगमोपायमें शक्तिके सनुसार त्याग, तपको स्थान दिया है। समस्त प्राणियोंके प्रति समताभावके आचरणको परमाचरण बताया है। जो व्यक्ति सभी प्रकारके भेदभाव और पक्षपातोंका त्याग कर प्राणिमात्रके प्रति समताभावका आचरण करता है, संसारमें उसका कोई भी शत्रु नहीं रहता, सभी मित्र बन जाते हैं। समताभावके आचरणसे ही राग-द्वेषका अभाव होता है और व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास होता है। अतएव अहिंसाव्रतके आचरणके लिये समताभावका निर्वाह करना परमावश्यक है। दान देना, शक्ति अनुसार त्याग करना भी धर्माचरणके अन्तर्गत है। ग्रन्थकारने पात्र तीन प्रकारके बतलाये हैं— १ धर्मपात्र, २ कार्यपात्र और ३ कामपात्र। इन तीनों प्रकारके पात्रोंकी आर्थिक सहायता करना धर्मके अन्तर्गत है। ग्रन्थकारने लौकिक जीवनको समृद्ध बनानेके लिये त्याग, तप और समताके आचरणपर विशेष बल दिया है। तपकी परिभाषा बताते हुए लिखा है कि इन्द्रिय और मनका नियमानुकूल प्रवर्तन करना तप है, केवल काषाय वस्त्र धारणकर वनमें विचरण करना तप नहीं है। यथा—

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः।

× × ×

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः[1]॥

धर्मका स्वरूप और धर्माचरणका महत्त्व सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिसे प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद अर्थपुरुषार्थका विस्तारसे विचार किया है। सोमदेवने धर्म, अर्थ और कामको समान महत्त्व दिया है। इनका अभिमत है—

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्।

× × ×

समं वा त्रिवर्गं सेवेत[2]।

१. नीतिवा०, सूत्र सं० २०, २१।

२. वही, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, कामसमुद्देश्य, सूत्रसं० २, ३।

जो त्रिवर्गमेंसे किसी एकको महत्त्व देता है, उसका अहित होता है, सोमदेवने अर्थकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः[१]।

अर्थात् जिससे सभी कार्योंकी सिद्धि होती है, वह अर्थ है। समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि सोमदेवको उक्त परिभाषा बहुत ही समीचीन है। यतः द्रव्य (Money) के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुसे समस्त इच्छाएँ तृप्त नहीं हो सकतीं। जिस एक वस्तुके विनिमय द्वारा आवश्यकतानुसार अन्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकें, वही एक वस्तु सब प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन कही जा सकती है। अतः सोमदेवके परिभाषानुसार विनिमय कार्यमें प्रयुक्त होनेवाली वस्तु ही अर्थ (Wealth) है। सोमदेवने इस ग्रन्थमें अर्थकी महत्ता स्वीकार करते हुए अन्याय और अनर्थका निषेध किया है। अर्थार्जन, अर्थसंरक्षण और अर्थवृद्धिके कारणोंका भी उल्लेख किया गया है। देश और कालके अनुसार अर्थसम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाएँ भी प्रतिपादित हैं। कृषि, पशुपालन और वाणिज्यको वार्ता कहा है और इस वार्ताकी समृद्धि ही राज्यकी समृद्धि बतलायी है। राजाको कृषि और वाणिज्यकी वृद्धिमें किस प्रकार सहयोग देना चाहिये आदि बातोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

जहाँ आर्थिक पुष्टि राष्ट्रकी समृद्धि, खुशहालीके लिए आवश्यक है वहाँ राजनीतिक जागरूकता उसकी रक्षाका सबल साधन है। सोमदेवने इन्हीं दोनोंपर इसमें गहरा और विस्तृत विचार किया है। अतः इस ग्रन्थमें वर्णित विचारोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) आर्थिक विचार और (२) राजनीतिक विचार। राजनीतिके अनुसार शासनकी बागडोर ऐसे व्यक्तिके हाथमें होती है, जो वंशपरम्परासे राज्यका सर्वोच्च अधिकारी चला आ रहा हो। राजा राज्यको स्थायी समझकर सब प्रकारसे अपनी प्रजाका विकास करता है। राजाकी योग्यता और गुणोंका वर्णन करते हुए बताया गया है—"जो मित्र और शत्रुके साथ शासनकार्यमें समान व्यवहार करता है, जिसके हृदयमें पक्षपातका भाव नहीं रहता और जो निग्रह—दण्ड, अनुग्रह—पुरस्कारमें समानताका व्यवहार करता है, वह राजा होता है। राजाका धर्म दुष्ट, दुराचारी, चोर, लुटेरे आदिको दण्ड देना एवं साधु—सत्पुरुषोंका यथोचित रूपसे पालन करना है। सिर मुड़ाना, जटा धारण करना, व्रतोपवास करना राजाका धर्म नहीं है। वर्ण, आश्रम, धान्य, सुवर्ण, चाँदी, पशु आदिसे परिपूर्ण पृथ्वीका पालन करना राजा-

१. नीतिवा०, अर्थसमुद्देश्य, सूत्रसं० १।

का राज्यकर्म[1] है।" राज्यकी योग्यताके सम्बन्धमें सोमदेवसूरिने लिखा है कि राजाको शस्त्र और शास्त्रका पूर्ण पण्डित होना आवश्यक है। यदि राजा शास्त्र-ज्ञानरहित हो, और शस्त्रविद्यामें प्रवीण हो, तो भी वह कभी-न-कभी धोखा खाता है और अपने राज्यसे हाथ धो बैठता है। जो शस्त्रविद्या नहीं जानता वह भी दुष्टों द्वारा पराजित किया जाता है। अतएव पुरुषार्थी होनेके साथ-साथ राजाको शस्त्र-शास्त्रका पारगामी होना अनिवार्य है। मूर्ख राजासे राजाहीन पृथ्वीका होना श्रेष्ठ है, क्योंकि मूर्ख राजाके राज्यमें सदा उपद्रव होते रहते हैं। प्रजाको नाना प्रकारके कष्ट होते हैं, अज्ञानी नृप पशुवत् होनेके कारण अन्धा-धुन्ध आचरण करते हैं, जिससे राज्यमें अशान्ति रहती है।

राज्यप्राप्तिका विवेचन करते हुए बताया है कि कहीं तो यह राज्य वंश-परम्परासे प्राप्त होता है और कहींपर अपने पराक्रमसे राजा कोई विशेष व्यक्ति बन जाता है। अतः राजाका मूल क्रम—वंशपरम्परा और विक्रम—पुरुषार्थ शौर्य है[2]। राज्यके निर्वाहके लिये क्रम, विक्रम दोनोंका होना अनिवार्य है। इन दोनोंमेंसे किसी एकके अभावसे राज्य-संचालन नहीं हो सकता है। राजाको काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष इन छह अन्तरंग शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आवश्यक[3] है क्योंकि इन विकारोंके कारण नृपति कार्य-अकार्यके विचारोंसे रहित हो जाता है, जिससे शत्रुओंको राज्य हड़पनेके लिए अवसर मिल जाता है। राजाके विलासी होनेसे शासन-प्रवन्ध भी यथार्थ नहीं चलता है, जिससे प्रजामें भी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है और राज्य थोड़े दिनोंमें ही समाप्त हो जाता है। शासककी दिनचर्याका निरूपण करते हुए बताया है कि उसे प्रतिदिन राजकार्यके समस्त विभागों, न्याय, शासन, आय-व्यय, आर्थिक दशा, सेना, अन्तर्राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक निरीक्षण, अध्ययन, संगीत, नृत्य-अवलोकन और राज्यकी उन्नतिके प्रयत्नोंकी ओर ध्यान देना चाहिये।

सोमदेवसूरिने राजाकी सहायताके लिए मन्त्री तथा अमात्य नियुक्त किये जानेपर जोर दिया है। मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि कर्मचारियोंको नियुक्त

---

१. राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः।

× × ×

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकं॥ —नीतिवाक्यामृतम्, माणिकचन्द ग्रन्थमाला, वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यकृषिप्रदानफला च पृथ्वी, विद्यावृद्ध-समुद्देश्य, सूत्र २, ३, ५।

२. वही, सूत्र २६।

३. वही, अरिषड्वर्ग, सूत्र १।

करनेवाला नृप आहार्यबुद्धि—राज्य-संचालनप्रतिभा सम्पन्न होता है। जो राजा मन्त्री या अमात्यवर्गकी नियुक्ति नहीं करता उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। राज्यका संचालन मन्त्रीवर्गकी सहायता और सम्मतिसे ही यथार्थ हो सकता है। जो शासक ऐसा नहीं करता वह अपने राज्यकी अभिवृद्धि एवं संरक्षण सम्यक् रूपसे नहीं कर सकता। मन्त्रियोंके गुणोंका वर्णन करते हुए बताया है कि 'पवित्र, विचारशील, विद्वान्, पक्षपातरहित, कुलीन, स्वदेशज, न्यायप्रिय, व्यसनरहित, सदाचारी, शस्त्रविद्यानिपुण, शासनतन्त्रके विशेषज्ञको ही मन्त्री बनना चाहिये। मन्त्रिमण्डल राज्य-व्यवस्थाका अविच्छेद्य अंग माना गया है। मन्त्रिमण्डलके सदस्योंकी संख्या तीन, पाँच अथवा सातसे अधिक नहीं होना चाहिये।

सेना-विभाग

राज्यको सुरक्षित रखने एवं शत्रुओंके आक्रमणोंसे बचानेके लिये एक सुदृढ़ और बहुत बड़ी सेनाकी आवश्यकता[1] है। यह विभाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। राज्यकी आयका अधिकांश भाग इसमें खर्च होना चाहिये। इस विभागकी आवश्यक सामग्री एकत्र करने एवं सेना सम्बन्धी व्यवहारके संचालनके लिये एक अध्यक्ष होता है, जिसे सेनापति या महाबलाधिकृत कहा गया है। गजबल, अश्वबल, रथबल और पदातिबल ये चार शाखाएँ सेनाकी बतायी हैं। इन चारों विभागोंके पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते हैं, जो सेनापतिके आदेशानुसार काय करते हैं। चारों प्रकारकी सेनामें गजबल सबसे प्रधान[2] है, क्योंकि एक-एक सुशिक्षित हाथी सहस्रों योद्धाओंका संहार करनेमें समर्थ होता है। शत्रुके नगरको ध्वंस करना, चक्रव्यूह तोड़ना, नदी जलाशय आदि पर पुल बनाना एवं सेनाकी शक्तिको सुदृढ़ करनेके लिये व्यूह रचना करना आदि कार्य भी गजबल[3] के हैं। गजबलका निर्वाचन बड़ी योग्यता और बुद्धिमत्ताके साथ करना चाहिये। मन्द, मृग, संकीर्ण और भद्र इन चार प्रकारकी जातियोंके हाथी तथा ऐरावत, पुण्डरीक, कामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और

१. द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम्। —नीतिवाक्यामृतम्, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, बल-समुद्देश्य, सूत्र १।

२. बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति। —वही, सूत्र २।

३. हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्तिसहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि। सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धा वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः। —वही, सूत्र ३-६।

सुप्रतिकार इन आठ कुलोंके हाथियोंको ही ग्रहण करना इस बलके लिये आवश्यक है। गजोंके चुनावके समय जाति, कुल, वन और प्रचार इन चारों बातोंके साथ शरीर, बल, शूरता और शिक्षा पर भी ध्यान रखना आवश्यक[१] है। अशिक्षित गजबल राजाके लिये धन और जनका नाशक बतलाया गया है।

अश्वबलकी शक्ति भी सैनिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। इसे जङ्गम सैन्य-बल बताया है। इस सेना द्वारा दूरवर्ती शत्रु भी वशमें हो जाता है। शत्रुकी बढ़ी-चढ़ी शक्तिका दमन, युद्ध-क्षेत्रमें नाना प्रकारका रण-कौशल एव समस्त मनोरथसिद्धि इस बल द्वारा[२] होती है। अश्वबलके निर्वाचनमें भी अश्वोंके उत्पत्तिस्थान, उनके गुणावगुण, शारीरिक शक्ति, शौर्य, चपलता आदि बातोंपर ध्यान देना चाहिये[३]। रथबलका निरूपण करते हुए उसका कार्य, अजेय शक्ति आदि बातोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस बलके निर्वाचनमें धनुर्विद्याके ज्ञाता योद्धाओंकी उपयुक्तताका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। पदातिबलमें पैदलसेनाका निरूपण किया है। पैदलसेनाको अस्त्र-शस्त्रमें पारंगत होनेके साथ-साथ शूर-वीर, रणानुरागी, साहसी, उत्साही, निर्भय, सदाचारी, अव्यसनो, दयालु होना अनिवार्य बतलाया है। जब-तक सैनिकमें उपर्युक्त गुण न होंगे, वह प्रजाके कष्ट निवारणमें समर्थ नहीं हो सकता है। सेवाभावी तथा कर्त्तव्यपरायणता होना प्रत्येक प्रकारकी सेनाके लिये आवश्यक है। सेनापतिकी योग्यता और गुणोंका कथन करते हुए सोमदेवसूरिने कहा है कि कुलीन आचार-व्यवहारसम्पन्न, पण्डित, प्रेमिल, क्रियावान, पवित्र, पराक्रमशाली, प्रभावशाली, बहुकुटुम्बी, नोति-विद्यानिपुण, सभी अस्त्र-शस्त्र, सवारी, लिपि, भाषाओंका पूर्ण जानकार, सभीका विश्वास और श्रद्धाभाजन, सुन्दर, कष्टसहिष्णु, साहसी, युद्धविद्यानिपुण तथा दया-दाक्षिण्यादि नाना गुणोंसे विभूषित सेनापति होता है। सेनापतिका निर्वाचन मन्त्रियोंकी सहायतासे राजा करता है। सोम-

---

१. जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्य शिक्षा च तदुचिता च सामग्री सम्पत्तिः।

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः।—नीतिवाक्यामृत, बलसमुद्देश्य, सूत्र ४-५।

२. अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति, भवन्ति दूरस्था अपि करस्थाः शत्रव आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धयस्तुरंगमा एव शरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरंगमसाध्यमेतत्। —वही, सूत्र ८।

३. तर्जिका (स्व) स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गाव्हरा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्तिस्थानानि। —वही, सूत्र १०।

देवसूरिने इस विभागका बड़ा भारी दायित्व बतलाया है। राज्यकी रक्षा करना और उसकी अभिवृद्धि करना इस विभागका ही काम है।

पुलिस-विभाग

इस विभागकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें उल्लेख करते हुए सोमदेवसूरिने कोट्टपाल—दण्डपाशिकको इस विभागका प्रधान बतलाया है। चोरी, डकैती, बलात्कार आदिके मामले पुलिस द्वारा सुलझाये जाते थे। पुलिसको बड़े-बड़े मामलोंमें सेनाकी सहायता भी लेनेको लिखा है। इस विभागको सुदृढ़ करनेके लिये गुप्तचर नियुक्त करना आवश्यक है। गाँवोंमें मुखियाको ही पुलिसका उच्चाधिकारी बतलाया है। धन-सम्पत्ति, पशु आदिके अपहरणकी पूरी तहकीकात मुखियाको ही करनी चाहिये। मुखिया अपने मामलोंकी जाँचमें गुप्तचरोंसे भी सहायता ले सकता है। पुलिस-विभागकी सफलता बहुत कुछ गुप्तचर—सी० आई० डी० पर ही आश्रित मानी गयी[1] है। गुप्तचरोंके गुणोंका निरूपण करते हुए बताया है कि सन्तोषी, जितेन्द्रिय, सजग, निरोगी, सत्यवादी, तार्किक और प्रतिभाशाली व्यक्तिको इस महत्त्वपूर्ण पदपर नियुक्त करना चाहिये। गुप्तचरके लिए कपटी, धूर्त, मायावी, शकुन-निमित्त-ज्योतिष-विशारद, गायक, नर्तक, विदूषक, वैतालिक, ऐन्द्रजालिक होना चाहिए[2]।

यों तो ३४ प्रकारके व्यक्तियोंको चर नियुक्त करने पर जोर दिया है। पुलिसविभागकी व्यवस्थाके लिए अनेक कानून भी बतलाये गए हैं तथा शासनके लिए अनेक कार्यों एवं पदोंका प्रतिपादन किया है।

कोष-विभाग

इस विभागका वर्णन करते हुए सोमदेवसूरिने राज्य-संचालनके लिए कोषपर बड़ा जोर दिया है। जो राजा सम्पत्ति-विपत्तिके लिए कोष सञ्चय करता है, वही अपने राज्यका विकास कर सकता है। कोषमें सोना, चाँदी द्रम्म [मुद्राएँ] एवं धान्यका संग्रह अपेक्षित[3] है। इन आचार्यने कोषकी महत्ता दिखलानेके

१. स्वपरमण्डलकार्याकार्यविलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्।—नीतिवाक्यामृतम्, चारसमुद्देश्य, सूत्र १।

२. अलौल्यममान्द्यमृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः।
कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसकितवकिरातयमपट्टिकाहितुण्डिकशौण्डिकशोभिकपाटच्चरविटविदूषकपीठमर्दकनटनर्तकगायकवादकवाग्जीवकगणकशाकुनिकभिषगैन्द्रजालिकनैमित्तिकसूदारालिकसंवाहिकतीक्ष्णक्रूररसद्जडमूकबधिरान्धच्छद्मानस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः—वही, चारसमुद्देश्य, सूत्र २ और ८।

३. वही, कोशसमुद्देश्य, सूत्र १, २।

लिए कोषको ही राजा बताया है, क्योंकि जिसके पास द्रव्य है वही संग्राममें विजय प्राप्त कर लेता है। धनहीनको संसारमें कुटुम्बी—स्त्री, पुत्र आदि भी छोड़ देते हैं, तब राजाओंके लिये धनहीनता किस प्रकार बड़प्पन हो सकती है। कोषसंग्रहमें प्रमुख धान्यसंग्रहको बतलाया है, क्योंकि सबसे अधिक प्रधानता इसीकी है। धान्यके होनेसे ही प्रजा और सेनाकी जीवन-यात्रा चल सकती है। युद्धकालमें भी धान्यकी विशेष आवश्यकता पड़ती है। रस-संग्रहमें लवणको प्रधानता दी गयी है।

आय-व्यय

आय-व्ययकी व्यवस्थाके लिए पाँच प्रकारके अधिकारी नियुक्त करनेका नियमन किया है। इन अधिकारियोंके नाम आदायक, निबन्धक, प्रतिबन्धक, नीविग्राहक और राजाध्यक्ष बतलाये हैं। आदायकका कार्य दण्डादिकके द्वारा प्राप्त द्रव्यको ग्रहण करना, निबन्धकका कार्य विवरण लिखना, प्रतिबन्धकका रुपये देना, नीविग्राहकका भांडारमें रुपये रखना और राज्याध्यक्षका कार्य सभी आय-व्ययके विभागोंका निरीक्षण करना है। राज्यकी आमदनी व्यापार, कर, दण्ड आदिसे तो करनी ही चाहिये, पर विशेष अवसरों पर देवमन्दिर, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका संचित धन, वेश्याओं, विधवा स्त्रियों, जमीन्दारों, धनियों ग्रामकूटों, सम्पन्न कुटुम्बियों एवं मंत्री, पुरोहित, सेनापति प्रभृति अमात्योंसे धन लेना चाहिये।

व्यापारिक उन्नति

जिस राज्यमें कृषि, व्यापार और पशुपालनकी उन्नति नहीं होती, वह राज्य नष्ट हो जाता है। राजाको अपने यहाँके मालको बाहर जानेसे रोकनेके लिए तथा अपने यहाँ बाहरके मालको न आने देनेके लिए अधिक कर लगाना चाहिये[१]। अपने यहाँ व्यापारकी उन्नतिके लिए राजाको व्यापारिक नीति निर्धारित करना, यातायातके साधनोंको प्रस्तुत करना एवं वैदेशिक व्यापारके सम्बन्धमें कर लगाना या अन्य प्रकारके नियम निर्धारित करना राजाके लिये

१. "कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ॥"

× × ×

"वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ॥"

× × ×

शुल्कवृद्धिर्बलात्पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः।—नीतिवाक्यामृतम्, वार्तासमुद्देश्य, सूत्र १, २, ११।

आवश्यक है। राज्यकी आर्थिक उन्नतिके लिए वाणिज्य और व्यवसायको बढ़ाना मालके आने-जाने पर कर लगाना प्रत्येक राजाके लिए अनिवार्य है।

न्यायालयकी व्यवस्था

सोमदेवसूरिने 'नीतिवाक्यामृत' में न्यायालय-व्यवस्थाके लिए अनेक आवश्यक बातें बतलायीं हैं। इन्होंने जनपद—प्रान्त, विषय—जिला, मंडल—तहसील, पुर—नगर और ग्राम इनकी शासन-प्रणाली संक्षेपमें बतलायी है। राजाकी एक परिषद् होनी चाहिए, जिसका राजा स्वयं सभापति हो और यही परिषद् विवादों—मुकद्दमोंका फैसला करे। परिषद्के सदस्य राजनीतिके पूर्ण ज्ञाता, लोभ-पक्षपातसे रहित और न्यायी हों। वादी एवं प्रतिवादीके लिए अनेक प्रकारके नियम बतलाते हुए कहा है कि जो वादी या प्रतिवादी अपना मुकद्दमा दायर कर समयपर उपस्थित न हो, जिसके बयानमें पूर्वापर विरोध हो, जो बहस द्वारा निरुत्तर हो जाये, या वादी प्रतिवादीको छलसे निरुत्तर कर दे, वह सभा द्वारा दण्डनीय है। वाद-विवादके निर्णयके लिए लिखित साक्षी, भुक्ति—अधिकार, जिसका बारह वर्ष तक उपयोग किया जा सका है, प्रमाण है। न्यायालयमें साक्षीके रूपमें ब्राह्मणसे सुवर्ण और यज्ञोपवीतके स्पर्शनरूप शपथ, क्षत्रियसे शस्त्र, रत्नभूमि, वाहनके स्पर्शनरूप शपथ, वैश्यसे कान, बाल और कांकिणी—(एक प्रकारका सिक्का) के स्पर्शनरूप शपथ एवं शूद्रोंसे दूध, बीजके स्पर्शनरूप शपथ लेनी चाहिये। इसी प्रकार जो जिस कामको करता है, उससे उसी कार्यको छुआ कर शपथ लेनी चाहिये। सोमदेवने शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी कुछ नियम भी बतलाये हैं।

अवाय

नीतिका वर्णन करते हुए सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीकरण और संश्रय इन छह गुणोंका तथा राजनीतिके साम, उपदान, दण्ड और भेद इन चारो अंगोंका विस्तारसहित प्रतिपादन किया है।

सन्धि

"पणबन्धः सन्धिः"—अर्थात् जब राजाको यह विश्वास हो जाये कि थोड़े ही दिनमें उसकी सैन्य-संख्या बढ़ जायेगी, तथा उसमें अपेक्षाकृत अधिक बल आ जाये, तो वह क्षति स्वीकार कर भी सन्धि कर ले। अथवा प्रबल राजासे आक्रान्त हो और बचावका उपाय न हो, तो कुछ भेंट देकर सन्धि कर ले।

विग्रह

"अपराधो विग्रहः"—अर्थात् जब अन्य राजा अपराध करे, राज्यपर आक्रमण करे या राज्यकी वस्तुओंका अपहरण करे, तो उस समय उसे दण्ड

देनेकी व्यवस्था करना विग्रह है। विग्रहके समय राजाको अपनी शक्ति, कोष और बल—सेनाका अवश्य विचार करना चाहिये।

यान

'अभ्युदयो यानं'—शत्रुके ऊपर आक्रमण करना, या शत्रुको बलवान समझकर अन्यत्र चला जाना यान है।

आसन

'उपेक्षणमासनं'—यह एक प्रकारसे विराम-सन्धिका रूपान्तर है। जब उभयपक्षका सामर्थ्य घट जाये, तो अपने-अपने शिविरमें विश्रामके लिए आदेश देना अथवा मन्त्री, परपक्ष और स्वस्वामीकी शक्ति एवं सैन्य-संख्या समान देखकर अपने राजाको एकभावस्थान लेनेका आदेश देना आसन है।

संश्रय

'परस्यात्मार्पणं संश्रयः'—शत्रुसे पीड़ित होनेपर या उससे क्लेश पानेकी आशंका होनेपर अन्य किसी बलवान राजाका आश्रय लेना संश्रय है।

द्वैधीकरण

"एकेन सह सान्ध्यमन्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः"—जब दो शत्रु एक साथ विरोध करें, प्रथम एकके साथ सन्धि कर दूसरेसे युद्ध करे और जब वह पराजित हो जाये, तो प्रथमके साथ भी युद्ध कर उसे भी हरा दे। इस प्रकार दोनोंको कूटनीतिपूर्वक पराजित करना या मुख्य उद्देश्य गुप्त रखकर वैरंगमें शत्रुसे सन्धि कर अवसर प्राप्त होते ही अपने उद्देश्यके अनुसार विग्रह करना द्वैधीकरण है। यह कूटनीतिका एक अङ्ग है। इसमें बाहर कुछ और भीतर कुछ भाव रहते हैं।

भेद

जिस उपाय द्वारा शत्रुकी सेनामेंसे किसीको बहकाकर अपने पक्षमें मिलाया जाये अथवा शत्रुदलमें फूट डालकर अपना कार्य साध लिया जाये, भेद है। इस प्रकार चतुरंग राजनीतिका भी भेद-प्रभेदपूर्वक नीतिवाक्यामृतमें वर्णन आया है। राजा अपनी राजनीतिके बलसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश बन जाता है। जनताके जान-मालकी रक्षाके लिए नियम, उपनियम और विधान भी राजाको ही बनाना होता है। राजाको प्रधानतः नियम और व्यवस्था, परम्परा और रूढ़ियोंका संरक्षक होना अनिवार्य है।

सोमदेवसूरिने राज्यका लक्ष्य धर्म, अर्थ और कामका संवर्द्धन माना है। धर्म सवर्द्धनसे उनका अभिप्राय सदाचार और सुनीतिको प्रोत्साहन देना तथा जनता-

में सच्ची धार्मिक भावनाका संचार करना है। अर्थ-संवर्द्धनके लिए कृषि, उद्योग और वाणिज्यकी प्रगति, राष्ट्रीय साधनोंका विकास एवं कृषि-विस्तारके लिए सिंचाई और नहर आदिका प्रबन्ध करना आवश्यक बतलाया है। काम-संवर्द्धनके लिए शान्ति और सुव्यवस्था कर प्रत्येक नागरिकको न्यायपूर्वक सुख भोगनेका अवसर देना एवं कला-कौशलकी उन्नति करना बताया है। इस प्रकार राज्यमें शान्ति और सुव्यवस्थाके स्थापनके लिए जनताका सर्वाङ्गीण, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और शारीरिक विकास करना राजाका परम कर्त्तव्य है। इसी कारण राजाके अनेक गुण बतलाये हैं।

राज्याधिकार

बताया है कि सबसे पहले पुत्रका, अनन्तर भाईका, भाईके अभावमें विमाता-के पुत्र—सौतेले भाईका, इसके अभावमें चाचाका, चाचाके अभावमें सगोत्रीका, सगोत्रीके न रहने पर नाती—लड़कीके पुत्रका एवं इसके अभावमें किसी आग-न्तुकका अधिकार होता है।

इस प्रकार इस 'नीतिवाक्यामृत' में राजनीति और अर्थशास्त्र पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

यशस्तिलकचम्पू

आचार्य सोमदेवका दूसरा ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पू है। इसकी कथावस्तु महा-राज यशोधरका चरित है, जो आठ आश्वासोंमें विभक्त है। प्रथम आश्वासमें कथाकी पृष्ठभूमि है। अन्तके तीन आश्वासोंमें उपासकाध्ययन अर्थात् श्रावका-चार वर्णित है। यशोधरकी वास्तविक कथावस्तु मध्यके चार आश्वासोंमें स्वयं यशोधर द्वारा अभिहित है। कथाकी गद्य-शैली बाणकी 'कादम्बरी' के तुल्य है। 'कादम्बरी' में 'वैशम्पायन शुक' कथा कहना आरम्भ करता है और कथावस्तु तीन जन्मोंमें लहरिया गतिसे भ्रमण कर यथास्थान पहुँच जाती है। सम्राट् मारिदत्त द्वारा आयोजित महानवमीके अनुष्ठानमें अपार जनसमुदायके बीच बलिके लिए लाया गया प्रव्रजित राजकुमार यशस्तिलकको कथाका प्रारम्भ करता है। आठ जन्मोंकी कथा शीघ्र ही घूमती हुई अपने मूल सूत्र पर मुड़ जाती है। यशस्तिलककी यह कथा अत्यन्त लोकप्रिय रही है और आठवीं शताब्दीके दार्शनिक एवं हरिभद्रसे लेकर संस्कृत और अपभ्रंशके अनेक कवियों द्वारा भी गृहीत होती रही है। यही कारण है कि संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें अनेक यशोधर-काव्य लिखे गये हैं।

यौधेय नामका एक जनपद था, जिसकी राजधानी राजपुर थी। यहाँ मारि-दत्त राजा राज्य करता था। एक दिन उसे वीरभैरव नामक कवँलाचार्यने

बताया कि चण्डमारि देवीके सामने सभी प्रकारके पशुयुगलके साथ सर्वांग सुन्दर मनुष्ययुगलकी बलि करनेके लिए, वह विद्याधर-लोकको जीतने चला। मारिदत्त विद्याधर-लोककी विजय करने और वहाँकी कमनीय कामनियोंके कटाक्षावलोकनकी उत्सुकताको रोक न सका। उसने चण्डमारि मन्दिरमें महानवमीके आयोजनको अपूर्व उत्साह और धूम-धामसे सम्पन्न करनेकी घोषणा की। सभी तरहके पशु एकत्र किये गये। मनुष्ययुगलकी कमी देखकर राज्य-कर्मचारी उसकी तलाशमें निकले। इसी समय राजधानीके निकट सुदत्त नामके मुनि आकर ठहरे। उनके साथ अन्य दो अल्पवयस्क शिष्य भी थे। ये दोनों भाई-बहन, अल्प अवस्थामें ही राज्य त्याग कर साधु हो गये थे। मध्याह्नमें वे दोनों अपने गुरुकी आज्ञा लेकर भिक्षाके लिए नगरमें गये। यहाँ उनकी राज्य-कर्मचारियोंसे भेंट हुई। कर्मचारी बिना किसी रहस्यका उद्घाटन किये ही, बहाना बनाकर उन दोनोंको चण्डमारि मन्दिरमें ले गये। मारिदत्त इस सर्वांग सुन्दर नर-युगलको प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने विद्याधर-लोक जीतनेकी इच्छा छोड़ दी। उसने इस सुन्दर नर-युगलको देखकर उनका परिचय जानना चाहा। —प्रथम आश्वास

मुनि कहने लगा—भरतक्षेत्रमें अवन्ति नामका एक जनपद है। इसकी राजधानी उज्जयिनी शिप्रा नदीके किनारे बसी है। यहाँ राजा यशबन्धु राज्य करता था। उसकी चन्द्रमती नामकी रानी थी। उन दोनोंके यशोधर नामका एक पुत्र हुआ। एक दिन राजाने अपने सिरपर श्वेत केश देखे, उन्हें देखकर उसे वैराग्य हो गया और उसने अपने पुत्रको राज्य देकर संन्यास ले लिया। यशोधरका राज्याभिषेक और अमृतमतीके साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार शिप्राके तटपर एक विशाल मण्डपमें धूम-धामके साथ सम्पन्न हुआ। —द्वितीय आश्वास

यशोधरने राज्य प्राप्त कर उसकी सुव्यवस्था की। प्रजाके हितके अनेक कार्य सम्पन्न किये। —तृतीय आश्वास

एक दिन राजा यशोधर रानी अमृतमतीके साथ विलास करके लेटा ही था कि रानी उसे सोया समझ धीरेसे पलंगसे उतरी और दासीके वस्त्र पहनकर भवनसे निकल पड़ी। यशोधर इस रहस्यको अवगत करनेके लिए चुपकेसे उसके पीछे हो गया। उसने देखा कि रानी गजशालामें पहुँचकर अत्यन्त गन्दे विजय मकरध्वज नामक महावतके साथ विलास कर रही है। उसके आश्चर्य, क्रोध और घृणाका ठिकाना न रहा। वह क्रोधाभिभूत होकर उन दोनोंको मारनेके लिए सोचने लगा, पर कुछ क्षण रुक कर उल्टे पाँव लौट आया और राजमहलमें आकर पलंग पर पुनः सो गया। महावतके साथ रति

करनेके उपरान्त रानी लौट आयी और यशोधरके साथ पलंग पर इस प्रकार चुपकेसे सो गयी, मानो कुछ हुआ ही न हो।

इस घटनासे यशोधरके मनको बड़ी चोट लगी। उसका दिल चूर-चूर हो गया। संसारकी असारता उसके समक्ष नृत्य करने लगी। वह नारीजातिके छल-कपटके सम्बन्धमें बार-बार सोचने लगा। जितना ही वह सोचता जाता था, उतना ही उसका मन घृणासे भरता चला जाता था। प्रातःकाल होनेपर यशोधर राजसभामें पहुँचा, तो उसकी माता चन्द्रमतीने उसे उदास देखकर पूछा—"वत्स ! तुम्हारी उदासीका क्या कारण है ? आज तुम्हारा मुख म्लान क्यों हो रहा है ?" यशोधरने बात टालनेकी दृष्टिसे कहा—"आज मैंने रात्रिके अन्तिम प्रहरमें एक भयंकर स्वप्न देखा है। मैं अपने पुत्र यशोमतिको राज्य देकर संन्यस्त हो गया हूँ। शत्रु मेरे राज्य पर आक्रमण कर रहे हैं और यशोमति उन शत्रुओंका सामना करनेमें असमर्थ है।"

"अतएव हे माता ! मैं अब अपनी कुलपरम्पराके अनुसार राजकुमारको सिंहासन देकर दिगम्बर मुनि होना चाहता हूँ।" पुत्रके इन वचनोंको सुनकर राजमाता अत्यन्त चिन्तित हुईं और उसने कुलदेवी चण्डमारीके मन्दिरमें बलि चढ़ाकर स्वप्नकी शान्ति करानेका उपाय बतलाया। यशोधर पशुहिंसाके लिए किसी भी मूल्य पर तैयार नहीं हुआ, तो राजमाताने कहा कि आटेका मुर्गा बनाकर उसीकी बलि करेंगे। यशोधरको विवश होकर यह मानना पड़ा। उसने विचार किया कि "कहीं राजमाता मेरे द्वारा अवज्ञा होने पर कोई अनिष्ट न कर बैठें। अतएव मुझे माँकी बात स्वीकार कर लेनी चाहिये।" एक ओर चण्डमारिके मन्दिरमें बलिका आयोजन होने लगा और दूसरी ओर कुमार यशोमतिके राज्याभिषेककी तैयारियाँ होने लगीं।

अमृतमतीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तो भीतरसे वह प्रसन्न हुई, पर दिखावा करती हुई कहने लगी—"स्वामिन् ! मुझे छोड़कर आप संन्यास लें, यह उचित नहीं। अतः कृपाकर मुझे भी अपने साथ ले चलें।"

यशोधर कुलटा रानीकी ढिठाईसे तिलमिला उठा। उसके मनको गहरी व्यथा हुई, फिर भी वह शान्त रहा। मन्दिरमें जाकर उसने आटेके मुर्गेको बलि चढ़ायी। इससे उसकी माँ तो प्रसन्न हुई, किन्तु रानीको दुःख हुआ कि कहीं राजाका वैराग्य क्षणिक न हो। अतएव उसने बलि किये हुए आटेके मुर्गेके प्रसादको बनाते समय, उसमें विष मिला दिया। जिसके खानेसे यशोधर और उसकी माँ दोनोंकी मृत्यु हो गयी। —चतुर्थ आश्वास

मृत्युके बाद माँ और पुत्र दोनों ही छह जन्मों तक पशुयोनिमें भटकते

रहे। प्रथम जन्ममें यशोधर मोर हुआ और उसकी माँ चन्द्रमती कुत्ता। दूसरे जन्ममें यशोधर हिरण हुआ और चन्द्रमती सर्प। तृतीय जन्ममें वे दोनों शिप्रा नदीमें जल-जन्तु हुए। यशोधर एक बड़ी मछली हुआ और चन्द्रमती एक मगर। चतुर्थ जन्ममें दोनों बकरा-बकरी हुए। पञ्चम जन्ममें यशोधर पुनः बकरा हुआ और चन्द्रमती कलिंगदेशमें भैंसा हुई। छठे जन्ममें यशोधर मुर्गा और चन्द्रमती मुर्गी हुई।

मुर्गा-मुर्गीका मालिक वसन्तोत्सवमें कुक्कुट युद्ध दिखानेके लिए उन्हें उज्जयिनी ले गया। यहाँ सुदत्त नामके आचार्य ठहरे हुए थे। उनके उपदेशसे उन दोनोंको अपने पूर्व जन्मोंका स्मरण हो गया और उन्हें अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। अगले जन्ममें वे दोनों मरण कर राजा यशोमतिके यहाँ उसकी रानी कुसुमावलिके गर्भसे युगल भाई-बहनके रूपमें उत्पन्न हुए। उनके नाम क्रमशः अभयरुचि और अभयमति रखे गये। एक बार राजा यशोमति सपरिवार आचार्य सुदत्तके दर्शन करने गया और वहाँ अपने पूर्वजोंकी परलोक यात्राके सम्बन्धमें प्रश्न किया। आचार्य सुदत्तने अपने दिव्यज्ञानके प्रभावसे बतलाया कि तुम्हारे पितामह यशोर्ध अथवा यशबन्धु अपने तपश्चरणके प्रभावसे स्वर्गमें सुख भोग रहे हैं और तुम्हारी माता अमृतमती विष देनेके कारण नरकमें वास कर रही है। तुम्हारे पिता यशोधर तथा उनकी माता चन्द्रमती आटेके मुर्गेकी बलि देनेके पापके कारण छह जन्मों तक पशु योनिमें भ्रमण कर अपने पापका प्रायश्चित्त कर तुम्हारे पुत्र और पुत्रीके रूपमें उत्पन्न हुए हैं। आचार्य सुदत्तने उनके पूर्वजन्मकी यह कथा सुनायी, जिसे सुनकर उन बालकोंको संसारके स्वरूपका ज्ञान हो गया और इस भयसे कि बड़े होनेपर पुनः संसार-चक्रमें न फँस जायें, उन्होंने कुमारकालमें ही दीक्षा ले ली। इतना कहकर अभयरुचिने कहा—"राजन्! हम दोनों वही भाई-बहन हैं। हमारे वे आचार्य सुदत्त इसी नगरके पास ठहरे हुए हैं। हम लोग उन्हींकी आज्ञा लेकर भिक्षाके लिए नगरमें आये थे कि आपके कर्मचारी हमें पकड़ कर यहाँ ले आये।"

—पञ्चम आश्वास

आगेकी कथावस्तुमें बताया गया है कि मारिदत्त यह वृत्तान्त सुनकर आश्चर्यचकित हुआ और कहने लगा—"मुनि कुमार हमें शीघ्र ही अपने गुरुके निकट ले चलो। मुझे उनके दर्शनोंकी तीव्र उत्कंठा है। सभी लोग आचार्य सुदत्तके पास पहुँचे और उनके उपदेशसे प्रभावित होकर धर्ममें दीक्षित हो गये।

इस कथावस्तुके पश्चात् अन्तिम तीन आश्वासोंमें उपासकाध्ययनका वर्णन है, जो ४६ कल्पोंमें विभाजित है। प्रथम कल्पका नाम समस्तसमयसिद्धान्ता-

वबोधन है। इसमें वैशेषिक, पाशपत, कुलाचार्य, सांख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्त आदि दर्शनोंके तत्त्वोंकी समीक्षा की गयी है। द्वितीय कल्पका नाम आप्तस्वरूप-मीमांसन है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध और सूर्य आदिके आप्तत्वकी मीमांसा की गयी है। तृतीय कल्पका नाम आगमपदार्थ-परीक्षण है, इसमें सोमदेवने आगमकी समीक्षा करते हुए जैन मुनियोंके आचार-से सम्बन्धित स्नान नहीं करना, आचमन नहीं करना, नग्न रहना, खड़े होकर भोजन करना जैसे आचारमें उद्भावित दोषोंका निराकरण किया है। चतुर्थ मूढ़तोन्मथन कल्पमें प्रचलित लोक-मूढ़ताओंकी समीक्षा की गयी है। लोक-मूढ़ताओंमें ग्रहण-स्नान, संक्रान्ति-दान, अग्नि-पूजन, धर्मभावनासे नदी-समुद्रमें स्नान, वृक्ष-पूजा, स्तूप-वन्दन, गोमूत्र-सेवन, रत्न, भूमि, यक्ष, शस्त्र, पर्वत पूजन आदिकी गणना की गयी है। अन्ततः सम्यक् आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन निरूपित किया है।

चार कल्पोंके पश्चात् आगेके सोलह कल्पोंमें सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंमें प्रसिद्ध अञ्जन चोर, अनन्तमती, उद्यायन, रेवतीरानी, जिनेन्द्रभक्त सेठ, वारि-षेण, विष्णुकुमार मुनि और वज्रकुमार मुनिकी रोचक कथाएँ दी गयी हैं। २१वें कल्पमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति-निमित्तोंका कथन करते हुए निसर्गज और अधिगमज भेदों एवं सराग और वीतराग भेदों तथा उनके अभिव्यञ्जक प्रश-मादिका स्वरूप बतलाया गया है। २२से २५वें कल्प तक मद्य, मांस, मधु आदिके दोष बतलाते हुए मद्यपान और मांस-भक्षणके संकल्पसे उत्पन्न दोष और उनके त्यागसे उत्पन्न होनेवाले कल्याणका कथाओं द्वारा वर्णन किया गया है। २६ से ३२वें कल्प तक पंचाणुव्रतोंका वर्णन है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे उत्पन्न हुई बुराइयोंको बतलाते हुए पाँच कथाएँ प्राञ्जल गद्यमें लिखी गयी हैं। तैतीसवें कल्पमें तीन गुणव्रतोंका वर्णन है।

चौतीसवें कल्पसे चलीसवें कल्प तक सामायिकशिक्षाव्रतका निरूपण है। सोमदेवने सामायिकका अर्थ जिनपूजासम्बन्धी क्रियाएँ लिया है। अतः ३४वें कल्पमें स्नान-विधि, ३५वेंमें समाचार-विधि, ३६वेंमें अभिषेक और पूजन-विधि, ३७वेंमें स्तवन-विधि, ३८वेंमें जप-विधि, ३९वेंमें ध्यान-विधि और ४०वें कल्पमें श्रुताराधन-विधि वर्णित है। ४१वें कल्पमें प्रोषधोपवास, ४२वें कल्पमें भोगोप-भोगपरिमाणव्रत और ४३वें कल्पमें दानकी विधिका वर्णन आया है। ४४वें कल्पके प्रारम्भमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंको संक्षेपमें बतलाकर यतियोंके लिए जैनेतर सम्प्रदायमें प्रचलित नामोंकी निरुक्तियाँ दी गयी हैं, जो एक नयी वस्तु है। ४५वेंमें संल्लेखना और ४६वें कल्पमें कुछ फुटकर बातोंका कथन है। इस तरह सोमदेवका यह उपासकाध्ययननिरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है।

सोमदेवके इस उपासकाध्ययननिरूपणपर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचारका है। उसीके अनुसार इसमें सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण, द्वादशव्रत, एकादश प्रतिमाएँ और समाधिमरणका कथन हैं। जटासिंहनन्दिके वरांगचरितका भी प्रभाव इस पर है।

जिनसेनके महापुराण और गुणभद्रके आत्मानुशासनका भी प्रभाव उपासकाध्ययनपर दिखलाई पड़ता है।

अध्यात्मतरंगिणी

इस ग्रन्थका दूसरा नाम योगमार्ग भी है। यह अध्यात्मविषयक रचना है। इसमें ४० पद्य हैं। एक प्रकारसे यह ग्रन्थ स्तोत्रशैलीमें लिखा गया है। आत्माका स्वरूप, शक्ति, गुण, समुद्घात, चारित्र, आस्रव, बन्ध आदिका विश्लेषण करते हुए नित्य कर्मबन्धनरहित आत्माका स्वरूप निरूपित किया है। आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानका भी संक्षेपमें कथन किया है। रचना बड़ी हृद्य और उपदेशप्रद है[1]।

सोमदेवकी काव्यप्रतिभा और पाण्डित्य

सोमदेव अद्वितीय प्रतिभाशाली कवि और दार्शनिक विद्वान् हैं। इनके गद्य और पद्य दोनोंमें शब्द-रमणीयताके साथ अर्थरमणीयता विद्यमान है। उदात्त वर्णन, नवीन शब्दावलि और उच्च-भावभूमिके कारण ही कविकी 'कविकुलराज' उपाधि रही होगी। अप्रयुक्त और क्लिष्ट शब्दोंके प्रयोगके लिए सोमदेव प्रसिद्ध हैं। इनके मतसे दोषरहित, माधुर्य आदि गुणयुक्त रसभाव समन्वित एवं अलंकृत रचना ही काव्यकी कोटिमें परिगणित की जाती है।

आचार्य वादिराज

दार्शनिक, चिन्तक और महाकविके रूपमें वादिराज ख्यात हैं। ये उच्चकोटिके तार्किक होनेके साथ भावप्रवण महाकाव्यके प्रणेता भी हैं। इनकी बुद्धिरूपी गायने जीवनपर्यन्त शुष्कतर्करूपी घास खाकर काव्य-दुग्धसे सहृदयजनोंको तृप्त किया है। इनकी तुलना जैन कवियोंमें सोमदेवसूरिसे और इतर संस्कृतकवियोंमें नैषधकार श्रीहर्षसे की जा सकती है।

वादिराज द्रमिल या द्रविड़ संघके आचार्य थे। इसमें भी एक नन्दिसघ था, जिसकी अरुङ्गल शाखाके अन्तर्गत इनकी गणना की गयी है। अनुमान है कि अरुङ्गल किसी स्थान या ग्रामका नाम है, जहाँकी मुनिपरम्परा अरुङ्गालान्वयके नामसे प्रसिद्ध हुई है।

---

१. अध्यात्मतरंगिणी, तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत, माणिकचन्द दि० जैनग्रन्थमाला, वि० सं० १९७५।

वादिराजकी षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादी[1] उपाधियाँ थीं। एकीभावस्तोत्रके अन्तमें निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः॥

अर्थात् समस्त वैयाकरण, तार्किक और भव्यसहायक वादिराजसे हीन हैं, अर्थात् वादिराजकी समता नहीं कर सकते हैं।

एक शिलालेखमें कहा गया है कि वे सभामें अकलंकदेव (जैन), धर्मकीर्ति (बौद्ध), बृहस्पति (चार्वाक्) और गौतम (नैयायिक) के तुल्य हैं। इससे स्पष्ट है कि वादिराज अनेक धर्मगुरुओंके प्रतिनिधि[2] थे।

मल्लिषेणप्रशस्तिमें वादिविजेता और कविके रूपमें इनकी स्तुति की गयी गयी है। इन्हें जिनेन्द्रके समान शक्तिशाली वक्ता और चिन्तकके रूपमें बताया गया है—

त्रैलोक्य-दीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः[3]॥

वादिराज श्रीपालदेवके प्रशिष्य, मतिसागरके शिष्य और रूपसिद्धिके कर्त्ता दयापाल मुनिके गुरुभाई[4] थे। वादिराज यह नाम उपाधि जैसा प्रतीत होता है। सम्भवतः अधिक प्रचलित होनेके कारण ही कवि इस नामसे ख्यात हो गया होगा। ऐतिहासिक शोध और खोजके आधार पर कुछ विद्वानोंने कविका नाम कनकसेन[5] बतलाया है। पर सबल तर्कोंसे इसकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः अभी तक उक्त तथ्य मान्य नहीं हो सका है।

पार्श्वनाथचरितकी प्रशस्तिमें अपने दादागुरु श्रीपालदेवको 'सिंहपुरैक-

---

१. षट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापति गलु जगदेकमल्लवादिगलु एनिसिद श्रीवादिराज-देवरुम···· —श्रीराइस द्वारा सम्पादित नगर तालुकाका इन्सक्रपशन्स नं० ३६।

२. सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिर्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरुणामेकतः संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥
—इन्स्क्रपशन्स नं० ३९।

३. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, मल्लिषेणप्रशस्ति, पद्य ४०।

४. हितैषिणां यस्य नृणामुदात्त-वाचा निबद्धा हित-रूप-सिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचासिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः॥ —वही, पद्य ३८।

५. Introduction of Yashodhar charitra, Dharwar Edition 1963, page 5.

मुख्यः' कहा है और न्यायविनिश्चयकी प्रशस्तिमें अपने आपको 'सिंहपुरेश्वर''[1] लिखा है। इन दोनों पदोंका आशय सिंहपुरनामक स्थानके स्वामीसे है। अतः प्रेमीजीका अनुमान[2] है कि सिंहपुर उन्हें जागीरमें मिला हुआ था और वहाँ पर उनका मठ भी था।

श्रवणबेलगोलके शक संवत् १०४७ के अभिलेखमें[3] वादिराजकी शिष्य-परम्पराके श्रीपाल त्रैविद्यदेवको ह्रोय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन णेयरुलदेव द्वारा जिनमन्दिरोंके जीर्णोद्धार और मुनियोंके आहारदानके हेतु शल्यनामक ग्रामको दानरूप देनेका वर्णन है। शक सं० ११२२ में उत्कीर्ण किये गये ४९५ संख्यक अभिलेखमें बताया गया है कि षट्दर्शनके अध्येता श्रीपालदेवके स्वर्गवासी होने-पर उनके शिष्य वादिराजने परवादिमल्लनामका जिनालय निर्मित कराया था और उसके पूजन एवं मुनियोंके आहारदानके हेतु भूमिदान दिया था।

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि वादिराजकी गुरुपरम्परा मठाधीशोंकी थी, जिसमें दान लिया और दिया जाता था। ये स्वयं जिनमन्दिरोंका निर्माण कराते, जीर्णोद्धार कराते एवं अन्य मुनियोंके लिए आहारदानकी व्यवस्था करते थे।

देवसेनसूरिके दर्शनसारके अनुसार द्रमिल या द्रविड़ संघके मुनि कच्छ, खेत, वसति (मन्दिर) और वाणिज्यरूपमें आजीविका करते थे तथा शीतल जलसे स्नान भी करते थे। इसी कारण द्रमिल संघको जैनाभास कहा गया[4] है। कर्नाटक और तमिलनाड इस संघके कार्यक्षेत्र थे।

वादिराजसूरिके विषयमें एक कथा प्रचलित है कि इन्हें कुष्ठ रोग हो गया था। एक बार राजाकी सभामें इसकी चर्चा हुई, तो इनके एक अनन्य भक्तने अपने गुरुके अपवादके भयसे झूठ ही कह दिया कि उन्हें कोई रोग नहीं है। इस पर वाद-विवाद हुआ और अन्तमें राजाने स्वयं ही परीक्षा करनेका निश्चय किया। भक्त घबराया हुआ वादिराजसूरिके पास पहुँचा और समस्त घटना कह सुनायी। गुरुने भक्तको आश्वासन देते हुए कहा—"धर्मके प्रसादसे ठीक होगा, चिन्ता मत करो"। अनन्तर एकीभावस्तोत्रकी रचना कर अपनी व्याधि दूर की।

१. सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४ ई०, अन्तिम प्रशस्ति।
२. प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, द्वितीय संस्करण, पृ० २९४।
३. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ४९३, पृ० ३९५।
४. न्यायविनिश्चयविवरण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रस्तावना, पृ० ५९-६१।

एकीभावस्तोत्रके संस्कृतटीकाकार चन्द्रकीर्तिभट्टारकने उक्त कथा पूर्णरूपसे तो उद्धृत नहीं की है, पर जो अंश लिखा है, उससे कुष्ठ-व्याधिका संकेत मिलता है। बताया है—"मेरे अन्तःकरणमें जब आप प्रतिष्ठित हैं, तब मेरा यह कुष्ठ रोगाक्रान्त शरीर यदि सुवर्ण हो जाये, तो क्या आश्चर्य है[1]।"

स्थिति-काल

वादिराजने अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें रचना-कालका निर्देश किया है। ये प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रके समकालीन और अकलंकदेवके ग्रन्थोंके व्याख्याता हैं। कहा जाता है कि चालुक्य नरेश जयसिंहकी राज्यसभामें इनका बड़ा सम्मान था और ये प्रख्यात वादी गिने जाते थे। जयसिंह (प्रथम) दक्षिणके सोलंकीवंशके प्रसिद्ध महाराज थे। इनके राज्यकालके तीससे अधिक दानपत्र और अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें सबसे पहला अभिलेख शक संवत् ९३८ (ई० सन् १०१६) का है और अन्तिम शक संवत् ९६४ (ई० सन् १०४२) का है। अतएव इनका राज्य-काल ई० सन् १०१६–१०४२ ई० तक है।

वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित 'सिंहचक्रेश्वर' या 'चालुक्यचक्रवर्ती' जयसिंहदेवकी राजधानीमें निवास करते हुए शक संवत् ९४७ (ई० सन् १०२५) कार्त्तिक शुक्ला तृतीयाको पूर्ण किया[2] था। यह राजधानी लक्ष्मीका निवास और सरस्वतीकी जन्मभूमि थी।

यशोधरचरितके तृतीय सर्गके अन्तिम पद्य और चतुर्थ सर्गके उपान्त्य पद्यमें कविने कौशलपूर्वक महाराज जयसिंहदेवका उल्लेख किया है। अतः इससे स्पष्ट है कि यशोधरचरितकी रचना भी कविने जयसिंहके समयमें की है। पार्श्वनाथचरितकी प्रशस्तिके आधारपर जयसिंहकी राजधानी कट्टगेरि नामक स्थान माना जाता है। यह स्थान मद्रास प्रान्तमें एक साधारण गाँव है, जो बादामीसे बारह मील उत्तरकी ओर है।

---

१. हे जिन मम स्वान्तः गेहं ममान्तःकरणमन्दिरं त्वं प्रतिष्ठ सन् इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं·······एकीभाव, वृत्ति, श्लोक ४।

२. शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्त्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे याति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पीतं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये॥

—पा० च०, प्र० ५ पद्य।

डॉ० कीथने 'History of Sanskrit Literature' नामक ग्रन्थमें बताया है—

"दक्षिणदेश निवासी कनकसेन वादिराज द्वारा रचित ऐसा ही काव्य है, जिसमें चार सर्ग और २९६ पद्य हैं। उनके शिष्य श्रीविजयका समय लगभग ९५० ई० है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि डॉ० कीथ वादिराजको सोमदेवसे पूर्ववर्त्ती मानते हैं और इनका समय दसवीं शतीका उत्तरार्द्ध सिद्ध करते हैं। हूल्त्स् (Hultzsch) ने लिखा है कि अजितसेन वादीभसिंह वादिराज द्वितीयके शिष्य थे और यादवराज ऐरेयंग तथा शान्तराज तेलगुके (सन् ११०३ ई०) गुरु थे।[2]

डॉ० कीथने जिन कनकसेन वादिराजका उल्लेख किया है, वे प्रस्तुत वादिराजसे भिन्न कोई वादिराज हैं। हुल्त्स् द्वारा निर्दिष्ट वादिराज भी पार्श्वनाथचरितके रचयितासे भिन्न ही कोई अन्य व्यक्ति हैं। प्रस्तुत वादिराज जगदेकमल्ल द्वारा सम्मानित हुए थे, अतः इनका समय सन् १०१०से १०६५ ई० प्रतीत होता है। यतः जगदेकमल्लका समय अनुमानतः सन् १०१८-१०३२ ई० के बीच होना चाहिये।

पार्श्वनाथचरितके अतिरिक्त यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय रचनाएँ भी वादिराजकी प्राप्त हैं।

रचनाओंका परिचय

पार्श्वनाथचरित

महाकाव्यकी दृष्टिसे वादिराजका पार्श्वनाथचरित श्रेष्ठ काव्य है। इसमें बारह सर्ग हैं। कथावस्तु निम्न प्रकार है।

पोदनपुरमें अरविन्दनामका एक अत्यन्त प्रतापी एवं श्रीनिलय राजा रहता था। यह नगर समृद्ध और महिमामण्डित था। राजा दानी, कृपालु और यशस्वी था। मन्त्री विश्वभूति विलक्षण गुणयुक्त था। उसने एक दिन राजासे निवेदन किया कि अब संसारके विषय-भोगोंसे मुझे वितृष्णा हो गयी है, अतः आत्मकल्याण करनेकी अनुमति प्रदान कीजिए। विश्वभूतिके प्रव्रजित होनेपर राजाने उसके छोटे पुत्र मरुभूतिको मन्त्री नियुक्त कर लिया। विश्वभूतिके बड़े पुत्रका नाम कमठ था।

एक समय व्रजवीर नामक प्रान्तिक शत्रु अरविन्दका विरोध करने लगा। उसे पराजित करनेके लिए अरविन्दके साथ मरुभूतिको भी जाना पड़ा और उसके बड़े भाई कमठको राजाने मन्त्रीपद पर प्रतिष्ठित किया। जब अरविन्द अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर चला, तो व्रजवीरने भी सैनिकतैयारी की, पर उसकी सेना अरविन्दकी सेनाके समक्ष ठहर न सकी और विजयलक्ष्मी अरविन्द-

---

१. History of Sanskrit Literature (Oxford 1928), Page 142.

२. Introduction of Yashodhar charita (Dharwar 1963) P. 7.

को प्राप्त हुई। वह विजयपताका फहराता हुआ अपने नगरमें लौट आया।

—प्रथमसर्ग।

मन्त्रिपद प्राप्त करनेके उपरान्त कमठने अपने छोटे भाई मरुभूतिकी पत्नी वसुन्धराको देखा। वह उसके रूप-सौन्दर्यसे अत्यधिक आकृष्ट हुआ, अतः उसके अभावमें उसके प्राण जलने लगे। मदनज्वरने उसे धर दबाया। कमठके मित्रोंको चिन्ता हुई और एक मित्रने वास्तविक तथ्य जानकर वसुन्धराको कमठकी बीमारीका समाचार देकर बुलाया। वसुन्धरा कमठको देखते ही उसके विकारोंको जान गयी, उसने कमठके अनाचारसे बचनेका पूरा प्रयास किया। पर अन्तमें बाध्य होकर उसे कमठकी बातें स्वीकार करनी पड़ीं।

राजा अरविन्दको वापस लौटने पर कमठके दुराचारका पता चला, तो उसने उसे नगरसे निर्वासित कर दिया। कमठ तापसियोंके आश्रममें गया और वहाँ उसने तपस्वियोंके व्रत ग्रहण कर लिये। मरुभूति भाईको बहुत प्यार करता था, अतः वह उसको खोजने लगा। राजा अरविन्दने मरुभूतिको कमठके पास जानेसे बहुत रोका, पर भ्रातृ-वात्सल्यके कारण वह रुक न सका। कमठ भूताचल पर्वत पर तपस्या कर रहा था। मरुभूतिको आया हुआ जानकर उसने पहाड़की एक चट्टान उसके ऊपर गिरा दी, जिससे मरुभूतिका प्राणान्त हो गया। इधर पोदनपुरमें स्वयंप्रभ नामके मुनिराज पधारे। राजा उनकी वन्दनाके लिए गया।

—द्वितीय सर्ग।

वन्दना करनेके उपरान्त अरविन्दने मुनिराजसे मरुभूतिके सम्बन्धमें पूछा। मुनिराजने कमठ द्वारा प्राणान्त किये जानेकी घटनाका निरूपण करते हुए कहा कि मरुभूतिका जीव सल्लकीवनमें वज्रघोष नामका हाथी हुआ है। जब आश्रमवासियोंको कमठकी उद्दण्डता और नृशंसताका पता चला तो उन्होंने उसे आश्रमसे निकाल दिया। अतएव वह दुःखी होकर किरातोंके साथ जीवन व्यतीत करने लगा। जीव-हिंसा करनेके कारण उसने भी सल्लकीवनमें कुकवाकु नामक सर्पपर्याय प्राप्त की। मरुभूतिकी माता पुत्रवियोगके दुःखसे मरण कर उसी वनमें बानरी हुई।

अरविन्दनृपति मुनिराजसे उक्त वृत्तान्त सुनकर विरक्त हो गया और उसने मुनिव्रत धारण किये। मुनिराज अरविन्द अपनी बारह वर्ष आयु अवशिष्ट जानकर तीर्थवन्दनाके लिए ससंघ चल दिये। मार्गमें उन्हें सल्लकीवन मिला। मनुष्योंके आवागमन एवं कोलाहलको देखकर वज्रघोष बिगड़ गया और लोगोंको कुचलता हुआ आगे आया। जब उसने अरविन्द मुनिराजको देखा तो उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया और उनके चरणोंमें स्थिर हो गया। अवधिज्ञानके बलसे मुनि-

राजने उसे मरुभूतिका जीव जानकर सम्बोधित किया। वज्रघोषको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया और निरतिचार व्रत पालन करने लगा। संघ सम्मेदाचलकी ओर चला गया। तपश्चरणके कारण वज्रघोष हाथी कृश हो गया। एक दिन वह जल पीनेके लिए एक जलाशयमें गया और वहाँ अपनी शारीरिक दुर्बलताके कारण पंकमें फँस गया। कुकबाकुने जब हाथीको देखा तो पूर्वजन्मके वैरके स्मरण हो आनेसे उसे मस्तकमें डँस लिया, जिससे हाथीकी मृत्यु हो गयी। मृत्युके समय हाथीके परिणाम बहुत ही शुभ रहे, जिससे वह महाशुक्र स्वर्गके स्वयंप्रभ विमानमें देव हुआ। इधर वानरीने सर्पके उस कुकृत्यको देखकर पत्थर-की चट्टान गिरा कर उसे मार डाला, जिससे वह नरक गया। स्वर्गके वैभवको देख-कर तथा अवधिज्ञानसे अपने उपकारीको जानकर उसने भूमिपर अरविन्द मुनिके चरणोंकी पूजा की। पश्चात् स्वर्गमें रहकर दिव्य सुख भोगने लगा।

—तृतीय सर्ग।

विजयार्ध पर त्रिलोकोत्तम नामक नगर है। इस नगरका स्वामी विद्युद्वेग नामका विद्याधर था। इसकी पत्नी विद्युन्माला नामकी थी। इस दम्पत्तिके यहाँ मरुभूतिका जीव स्वर्गसे च्युत हो रश्मिवेग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अति तेजस्वी और सुन्दर था। एक दिन पूर्वजन्मका स्मरण हो जानेसे वह विरक्त हो गया और समाधिगुप्त नामक मुनिके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली। एक दिन मुनिराज रश्मिवेग हिमालय पर्वतकी गुफामें कायोत्सर्ग कर रहे थे कि कमठका जीव अजगर, जो कि नरकसे निकलकर अजगर पर्यायमें आया था, उनपर झपटा और उनके मस्तकमें काट लिया। मुनिराजने इस असह्य वेदना-को बहुत शान्तिपूर्वक सहन किया, जिससे उन्हें अच्युत स्वर्गकी प्राप्ति हुई। यहाँ वे विद्युत्प्रभके नामसे प्रसिद्ध हुए। उस अजगरने भी मरकर तमप्रभा नामक छठी भूमिमें जन्म ग्रहण किया।

पश्चिम विदेहके अश्वपुर नामक नगरमें वज्रवीर्य शासन करता था। इसकी पत्नी विजया नामकी थी। कालान्तरमें विद्युत्प्रभ स्वर्गसे च्युत हो विजयाके गर्भसे वज्रनाभ नामका पुत्र हुआ। —चतुर्थ सर्ग।

वज्रनाभ धीरे-धीरे बढ़ने लगा और कुछ ही समयमें अस्त्र-शस्त्रमें पारंगत हो गया। बादमें वह युवराजपद पर प्रतिष्ठित हुआ। वसन्तादि षड् ऋतुओं का आनन्द लेता हुआ वज्रनाभ समय यापन करने लगा। एक दिन किसीने आकर आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न होनेकी सूचना दी। —पंचम सर्ग।

वज्रनाभने चक्ररत्नकी पूजा की और याचकोंको यथेष्ट दान देकर वह दिग्विजयके लिए तैयारियाँ करने लगा। उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया। चक्रवर्ती वज्रनाभका प्रथम स्कन्धावार सीतोदा नदीके तटपर अवस्थित हुआ।

चक्रवर्ती, सेनापति, सामन्त और अन्य राजाओंने अपने-अपने योग्य निवासस्थानका चयन किया —षष्ठ सर्ग।

चक्रवर्तीकी सेनाने नदीको पार किया और बारह योजन जानेपर चक्रवर्तीका रथ रुक गया। आकाशभाषित वाणी सुनकर उसने मागध व्यन्तरके पास बाण छोड़ दिया। उसे देख व्यन्तर क्रोधाविष्ट हो गया और उसकी सेना युद्धके लिए सन्नद्ध हो गयी। एक वृद्ध पुरुषने मागधको समझाया कि बलशाली पुण्यात्माओंसे विग्रह करना उचित नहीं है। उनसे सन्धि करनेपर ही लाभ होता है। अतः मागध देव बहुत-सी अमूल्य वस्तुएँ लेकर चक्रवर्तीकी सेवामें उपस्थित हुआ। वहाँसे चक्रवर्ती सिन्धु नदीके घाटीमें प्रविष्ट हुआ तथा वरतनु देवको अपने अधीन किया। अनन्तर चक्रवर्तीकी सेना विजयार्धपर पहुँची। इस पर्वतका शासन करनेवाले विजयार्धकुमारने नम्रीभूत हो चक्रवर्तीकी पूजा की और अनेक वस्तुएँ भेंट दीं। कृतमालदेवने चौदह आभूषण दिये और गुहाका द्वार खोलनेकी विधि बतलायी। गुहाके भीतर प्रविष्ट होकर सेनापतिने म्लेच्छोंको जीत लिया। वहाँसे चलकर वह वृषभाचल पर आया। विद्याधरोंको पराजित कर विद्याधरकुमारियोंका पाणिग्रहण किया। इस प्रकार षट्खण्डकी विजय कर वह अश्वपुर नगरमें वापस आया। —सप्तम सर्ग।

वज्रनाभको छयानबे हजार रानियाँ, चौरासी लाख हाथी, अठारह करोड़ घोड़े और इतने ही सवार थे। एक दिन वह राजा वनमालीसे प्रार्थित हो वसन्तकी शोभा देखने गया। इस प्रसंगमें कविने वसन्तका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। जब चक्रवर्ती वनसे वापस लौटने लगा, तो वसन्तश्री समाप्त हो चुकी थी। सर्वत्र प्रकृतिमें उदासी छायी हुई थी। इस परिवर्तनको देखकर राजाको वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने राज्यभार अपने पुत्रको सौंप दिया। क्षेमंकर मुनिके पास जाकर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। कमठका जीव उसी वनमें कुरंग नामका किरात हुआ, जिस वनमें वज्रनाभ तपस्या कर रहे थे। उस किरातने समाधिस्थ मुनिके ऊपर बाण चलाया, जिससे वे धराशायी हो गये। समाधिपूर्वक शरीर छोड़नेसे चक्रवर्ती मुनिराजने मध्य ग्रैवेयकमें अहमिन्द्रका शरीर प्राप्त किया। मुनिराजका अन्त करनेवाले उस भीलने सप्तम नरकमें जन्म ग्रहण किया। चक्रवर्तीका जीव मध्य-ग्रैवेयकसे च्युत हो अयोध्या नगरीके वज्रबाहु राजाकी प्रभाकरी नामक रानीके गर्भमें आया। जन्म लेनेसे समस्त प्रजाको आनन्द हुआ। अतएव राजाने उसका नाम आनन्द रखा। युवा होनेपर राजाने आनन्दको राज्याधिकार दे दिया। आनन्दने राज्यलक्ष्मीको समृद्ध बनाया—अष्टम सर्ग।

आनन्दने समस्त मंगलोंका उत्पादक जिनयज्ञ आरम्भ किया। उसे देखनेके

लिए सद्गुण-सम्पन्न दृढ़मूर्ति मुनि भी आये। राजा आनन्द जिनमहोत्सव करता हुआ निवास करने लगा। एक दिन अपने श्याम केशोंमें एक श्वेत केशको देखकर उसे विरक्ति हो गयी और अपने पुत्रको राज्य देकर वह वनमें तपश्चरण करने चला गया। मुनि आनन्द तपस्यामें लीन था कि कमठके जीव सिंहने देखा। पूर्वजन्मके वैरका स्मरण कर उसने मुनिपर आक्रमण किया। शान्ति और समाधिपूर्वक मरण करनेसे आनत स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ। छः मास आयुके शेष रहने पर वाराणसी नगरीमें रत्नोंकी वर्षा होने लगी। महाराज विश्वसेनकी महिषी ब्रह्मदत्ताने सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिसे स्वप्नोंका निवेदन किया। पतिने उन स्वप्नोंका फल त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरका जन्म बतलाया।

—नवम सर्ग।

ब्रह्मदत्ताने जिनेन्द्रको जन्म दिया। चतुर्निकायके देवजन्मोत्सव सम्पन्न करने आये। इन्द्राणी प्रसूति गृहमें गयी और मायामयी बालक माताके पास सुलाकर जिनेन्द्रको ले आयी और उस बालकको इन्द्रको दे दिया। इन्द्रने सुमेरु पर्वतपर जन्माभिषेक सम्पन्न किया और पार्श्वनाथ नामकरण किया। पार्श्वनाथका बाल्यकाल बीतने लगा। जब वे युवा हुए तो एक दिन एक अनुचरने आकर निवेदन किया कि एक साधु वनमें पंचाग्नि तप कर रहा है। पार्श्वनाथने अवधिज्ञानसे जाना कि वह कमठका ही जीव मनुष्य पर्याय पाकर कुतप कर रहा है। वे उस तपस्वीके पास पहुँचे और कहा कि तुम्हारी यह तपस्या व्यर्थ है। इस हिंसक तपसे कर्म-निर्जरा नहीं हो सकती है। तुम जिस लकड़ीको जला रहे हो उसमें नाग-नागिन जल रहे हैं। अतः लकड़ीको फाड़कर नाग-नागिन निकाले गये। पार्श्वनाथने उन्हें णमोकार मन्त्र सुनाया, जिससे उन नाग-नागिनने धरणेन्द्र और पद्मावतीके रूपमें जन्म ग्रहण किया। धरणेन्द्र-पद्मावतीने आकर पार्श्वनाथकी पूजा की। —दशमसर्ग।

पार्श्वनाथकी सेवामें अनेक राजा कन्या-रत्न लेकर आये। महाराज विश्वसेनने उनसे निवेदन किया कि विवाह कर गृहस्थजीवन व्यतीत कीजिए। पार्श्वनाथने विवाह करनेसे इनकार कर दिया और वे विरक्त हो गये। लौकान्तिक देवोंने आकर उनके वैराग्यकी उत्पत्तिपर पुष्पवृष्टि की। पार्श्वनाथने पंचमुष्टि लोंच कर दीक्षा ग्रहण की। उन्हें दूसरे ही क्षण मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। उपवासके पश्चात् गुल्मभेदनगरके राजा धर्मोदयके यहाँ पार्श्वनाथने पायसान्नका आहार ग्रहण किया। वनमें आकर प्रतिमा-योगमें अवस्थित हो गये। कमठका जीव भूतानन्द देव आकाश मार्गसे जा रहा था। तीर्थङ्करके प्रभावसे विमान रुक गया। वह विमान रुकनेके कारणकी तलाश कर ही रहा

था कि उसकी दृष्टि पार्श्वनाथ पर पड़ी। उसने पूर्वजन्मका स्मरण कर वाणवृष्टि की, पर वह तीर्थङ्करके प्रभावसे पुष्पवृष्टि बन गयी। धरणेन्द्र-पद्मावतीको जब भूतानन्दके उपद्रवोंका पता लगा, तो दोनों तत्क्षण वहाँ आये और प्रभुके उपसर्गका निवारण किया। भगवान्ने शुक्ल-ध्यान द्वारा घातियाकर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। देवोंके जय-जयनादको सुनकर भूतानन्द आश्चर्यचकित हो गया और वह तीर्थङ्करकी स्तुति करने लगा। —एकादश सर्ग

इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवशरणकी रचना की। तिर्यञ्च, मनुष्यादि सभी भगवान्का उपदेश सुनने लगे। मानव-कल्याणका उपदेश सुनकर सभी प्राणी सन्तुष्ट हुए। रत्नत्रय और तत्त्वज्ञानकी अमृतवर्षा हुई। पश्चात् एक महीनेका योगनिरोध कर अघातियाकर्मोंका भी नाश किया और निर्वाण-लक्ष्मी प्राप्त की। —द्वादश सर्ग

कथावस्तुका स्रोत और गठन

पार्श्वनाथकी परम्परा-प्रसिद्ध कथावस्तुको ही कविने अपनाया है। यह कथावस्तु उत्तरपुराणमें[1] निबद्ध है। संस्कृत भाषामें काव्य रूपमें पार्श्वनाथ-चरितको सर्वप्रथम गुम्फित करनेका श्रेय वादिराजको ही है। इनसे पूर्व जिनसेन द्वितीय (ई० सन् ९वीं शती) ने पार्श्वाभ्युदयमें इस चरितको संक्षेपमें निबद्ध किया है। समग्र जीवनकी कथावस्तु वहाँ नहीं आ पायी है। अपभ्रंशमें पद्मकीर्तिने वि० सं० ९९२ (ई० सन् ९३५)में १८ सन्धियोंमें पासणाहचरिउकी रचना अवश्य की है। कवि वादिराजने उक्त अपभ्रंश 'पासणाहचरिउ'का अध्ययन किया हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। वि० सं० ११८९ (ई० सन् ११३२) में श्रीधरने १२ सन्धियोंमें अपभ्रंश भाषामें एक अन्य 'पासणाहचरिउ'की रचना की है। संस्कृत भाषामें (ई० सन् १२१९) माणिक्यचन्द्र द्वारा और सन् १२५५ ई०में भावदेवसूरि द्वारा पार्श्वनाथचरित नामक काव्य लिखे गये हैं। प्राकृत भाषामें पार्श्वनाथचरितका गुम्फन सर्वप्रथम अभयदेवके प्रशिष्य देवभद्रसूरि द्वारा वि० सं० ११६८ (ई० सन् ११११) में किया गया है। अतः काव्य रूपमें अपभ्रंशके पासणाहचरिउके पश्चात् संस्कृतमें वादिराजका ही चरितकाव्य उपलब्ध होता है। कथावस्तुका मूल स्रोत 'तिलोयपण्णत्ती', 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' (वि० सं० ९२५, ई० सन् ८६८) एवं उत्तरपुराण (शक सं० ८२०, ई० सन् ८९८) हैं। उत्तरपुराणमें बताया गया है कि पार्श्वनाथ युवक होने पर क्रीड़ा करने वनमें गये। वहाँ उन्हें महीपाल नामक तापस पंचाग्नि तप करते मिला। यह पार्श्वनाथका मातामह था। चउप्पन्नमहापुरिसचरियमें यही कथानक इस

---

१. उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, ७३ पर्व, पृ०-४२९-४४२।

प्रकार आया है कि एक दिन पार्श्वनाथ अपने भवनके ऊपरी भाग पर बैठे हुए थे। उन्होंने देखा कि नगरके लोग नगरसे बाहर चले जा रहे हैं। पूछने पर पता चला कि कमठ नामक साधु नगरीके बाहर आया है। वह महान तपस्वी है। लोग उसकी वन्दनाके लिए जा रहे हैं। पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें उत्तरपुराणके अनुसार ही कथानक लिखा है, पर इस काव्यमें बताया गया है कि सभामें एक पुरुषने आकर सूचना दी कि नगरके बाहर एक मुनि आया है जो पंचाग्नि तप कर रहा है। अनुचरके वचन सुनकर पार्श्वनाथने अपने अवधिज्ञानसे जाना कि कमठका जीव नर्कसे निकलकर तप कर रहा है। वे वहाँ पहुँचे और उन्होंने हिंसक तप करनेसे उसे रोका और अधजले नाग-नागिनको णमोकार मन्त्र सुनाया।

उपर्युक्त कथानकको कविने उत्तरपुराणसे ज्यों-का-त्यों नहीं लिया है। अपनी कल्पनाका भी उपयोग किया है। इसी प्रकार पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वालेका नाम उत्तरपुराण और पुष्पदन्तके महापुराणमें सम्वर आया है, जबकि इस महाकाव्यमें भूतानन्द नाम बताया है। भगवान् पार्श्वनाथको आहार देने वाले राजाका नाम उत्तरपुराणमें धन्य बताया है, जबकि इस काव्यमें धर्मोदय नाम आता है। इस प्रकार कथावस्तुका चयन परम्परा-प्राप्त ग्रन्थोंसे किया गया है।

कथावस्तुका गठन सुन्दर हुआ है। शैथिल्य नहीं है। शृंगारिक वर्णन कथावस्तुको सरस बनानेमें सहयोगी है। पूर्वभवोंकी योजनाने घटनाओंको विशृ-ङ्खलित नहीं होने दिया है। कविका मन मरुभूतिके पश्चात् वज्रनाभ चक्रवर्ती-के जन्मकी घटनाओंके वर्णनमें अधिक रमा है। सभी घटनाएँ शृंखलाबद्ध हैं। कई जन्मोंके आख्यानोंको एक सूत्रमें आबद्ध करनेका सफल प्रयास किया गया है। यद्यपि अनेक जन्मोंके आख्यान-वर्णनसे पाठकका मन ऊब जाता है और उसे अगले जन्मसे सम्बन्ध जोड़नेके लिए भवावलिको स्मरण रखना पड़ता है, तो भी कथामें प्रवाहकी कमी नहीं है। समस्त कथानक एक ही केन्द्रके चारों ओर चक्कर लगाता है। एक मनोवैज्ञानिक त्रुटि यह दिखलाई पड़ती है कि कमठ कई भवों तक एकान्तर वैर करता रहता है, जबकि मरुभूतिका जीव सदैव उसकी भलाई करता है। कभी भी वैर-विरोध नहीं करता। अन्तिम पार्श्वनाथके भवमें भी वह कष्ट देता है। पार्श्वनाथको केवलज्ञान होनेपर ही उसका विरोध शान्त होता है। अतः इस प्रकारका एकाकी विरोध अन्यत्र बहुत कम आता है। 'समराइच्चकहा' में समरादित्यका वैर-विरोध भी अग्नि शर्माके साथ नौ भवों तक चला है। हाँ, अग्निशर्माको गुणसेनके भवमें समरादित्य अवश्य कष्ट देता है और उसको चिढ़ाता है। अतः रुष्ट होकर अग्निशर्मा निदान

करता है और नौ भवों तक वैर-विरोध चलता रहता है। पार्श्वनाथचरितमें भी इस प्रकारका वैर-विरोध पाया जाता है। मरुभूति कमठसे अपार स्नेह करता है, पर कमठ उसके निश्छल प्रेमको आशंकाकी दृष्टिसे देखता है। अन्विति-गुण कथावस्तुमें निहित है।

महाकाव्यत्व

शास्त्रीय लक्षणोंके अनुसार पार्श्वनाथचरित महाकाव्य है। इसमें १२ सर्ग हैं और मंगलस्तवनपूर्वक काव्यका आरम्भ हुआ है। नगर, वन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, ऊषा, सन्ध्या, रजनी, चन्द्रोदय, प्रभात आदि प्राकृतिक दृश्योंके वर्णन, जन्म, विवाह, स्कन्धावार, सैनिक अभियान, युद्ध, सामाजिक उत्सव, शृंगार, करुण आदि रस, हाव-भाव विलास एवं सम्पत्ति-विपत्तिमें व्यक्तियोंके सुखःदुखों-के उतार-चढ़ावका कलात्मक वर्णन पाया जाता है। तीर्थंकरके चरित्रके अति-रिक्त राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, किरात-भील, चाण्डाल आदिके चरित्र-चित्रणके साथ पशु-पक्षियोंके चरित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं। व्यक्ति किस प्रकार अपने चरित्रका विकास या पतन अनेक जन्मोंमें करता रहता है, इसका सुन्दर निरूपण किया गया है।

पार्श्वनाथचरितमें सुन्दर रस-भावपूर्ण उक्तियोंके साथ विभिन्न संवेगोंका चित्रण आया है। समस्त श्रेष्ठ कवियोंने अपने काव्यको कलात्मक कल्पना और भावप्रवण बनानेके लिए नवरसोंका समाहार किया है। प्रस्तुत काव्यका अंगी रस शान्त है और अंग रूपमें शृंगार, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और रौद्र रसोंका नियोजन पाया जाता है। शृंगार ४।६४, ८।१९, ८।२०, ८।३४, ८।३९, ८।४०, २।१२, २।१३, २।१६ एवं २।१७ में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावके साथ आया है। करुणरस २।६२ और २।८२ में समाहित है। भयानकरस ३।६६ और ३।६७ में पाया जाता है। रौद्ररस ७।५४, ७।५५, ७।५८ और ७।५९ में वर्तमान है। वीररस शताधिक पद्योंमें आया है। ७।६५, ७।६६, ७।७०, ७।१२० एवं ७।१२१ में वीररसका परिपाक बहुत ही सुन्दर हुआ है। शान्तरस-का नियोजन इस काव्यमें अनेक स्थानोंपर हुआ है।

चरित्रचित्रणकी दृष्टिसे भी यह महाकाव्य सफल है। नायक पार्श्वनाथका चरित्र अनेक भावोंके बीच उन्नतिशील होकर एक आदर्श उपस्थित करता है। प्रतिनायक कमठ ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा एवं अशुभ रागात्मक प्रवृत्तियोंके कारण अनेक जन्मोंमें नाना कष्ट भोगता है। नायक सदा प्रतिनायकके प्रति सहानु-भूति रखता है। मरुभूतिके भवमें भ्रातृ-वात्सल्यका वैसा उदाहरण मिलना कठिन है। प्रकृतिचित्रण और अलंकारयोजनाकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल

है। इस काव्यमें उपमालंकारकी योजना ४।९४, ५।९७, ५।९९, ८।५२, ९।२७, ९।३४, ९।५९, ९।९३, १०।६, १०।११, ११।११, ११।५१, ११।७१, १२।२०, १।३४, ४।४, ४।१८, ४।१११ एवं ७।५९ में पायी जाती है। उत्प्रेक्षा २।१०७, रूपक २।४१, अर्थान्तरन्यास ११।५, अतिशयोक्ति ८।९८, उदाहरण ९।६, दृष्टान्त १।१३, विभावना १।२५, तुल्ययोगिता १।५४, असंगति २।८, सन्देश ६।१०५, भ्रान्तिमान ३।७३, समासोक्ति २।११४, काव्यलिङ्ग ३।२४, विशेषोक्ति १०।५, श्लेष ३।२६, अनुप्रास ४।५२ और यमककी ३।२७, ३।३६ एवं ३।५९ में योजना पायी जाती है।

भाव एवं रसका निरूपण करने वाली प्रसादगुणसम्पन्न, सरल भाषामें भावानुसार शब्दावलीका प्रयोग कर वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें सरस शैली-का प्रयास किया है। काव्यके सम्बन्धमें कविकी स्वयं मान्यता है—

अल्पसारापि मालेव स्फुरन्नायकसद्गुणा।
कण्ठभूषणतां याति कवीनां काव्यपद्धतिः॥ १।१५॥

अल्पसमास और श्रेष्ठ-गुण-पूर्ण नायक ही काव्यके उत्तम होनेका कारण होता है। वर्ण-योजना, शब्द-गठन, अलङ्कार-प्रयोग, भाव-सम्पत्ति एवं उक्ति-वैचित्र्य प्रभृति शैलीके समस्त तत्त्व इनके काव्यमें पाये जाते हैं। कविने शैली-को सरस और आकर्षक बनानेके लिए सूक्ति-वाक्योंका भी प्रयोग किया है। ऋतुवर्णन-प्रसंगमें लम्बे समासोंका भी प्रयोग आया है। अतः पंचम, षष्ठ और अष्टम सर्गोंको वैदर्भी और गौड़ीके मध्यकी पाञ्चालीमें निबद्ध माना जा सकता है। सामान्यतः इस काव्यको वैदर्भी शैलीका काव्य मानना उपयुक्त है।

कविने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंका भी स्मरण किया है। १।१६ में गृद्धपिच्छ, १।१७—१९ में समन्तभद्र, १।२० में अकलङ्क, १।२१ में वादिसिंह, १।२२ में सन्मति, १।१३ में जिनसेन, १।२४ में अनन्तकीर्ति, १।२५ में पाल्यकीर्ति, १।२६ में धनञ्जय, १।२७ में अनन्तवीर्य, १।२८ में विद्यानन्द, १।२९ में विशेषवादि और १।३० में वीरनन्दीका स्मरण आया।

यशोधरचरित

यशोधरचरित हिंसाका दोष और अहिंसाका प्रभाव दिखलानेके लिये बहुत लोकप्रिय रहा है। कवि वादिराजने इसी लोकप्रिय कथानकको लेकर प्रस्तुत काव्यकी रचना की है। इस काव्यमें चार सर्ग हैं। प्रथम सर्गमें ६२ पद्य, द्वितीय में ७५, तृतीयमें ८३ और चतुर्थमें ७४ पद्य हैं। यशोधरचरित्रकी कथावस्तु यशस्तिलकचम्पूकी कथावस्तु ही है। अतएव कथावस्तुको पुनरावृत्त करना निरर्थक है।

काव्यगुणोंकी दृष्टिसे यह यशोधरचरित समृद्ध काव्य है। रस, अलंकार एवं उक्ति-वैचित्र्यका समावेश है। कथावस्तुमें मर्मस्पर्शी स्थलोंकी योजना भी वर्त्तमान है। कवि सन्ध्याका चित्रण करता हुआ कहता है—"भवनमें सुगन्धित धूप जलायी जा रही है, इसकी गन्धसे समस्त नगर सुगन्धित हो उठा है। भवनोंके वातायनोंसे कबूतरोंके पंखका रंग लिये हुए धुएँके पिण्ड-के-पिण्ड निकलने लगे। उस समय प्रज्वलित रत्न-प्रदीपोंकी लाल-लाल कान्तिसे धुएँके पिण्ड कुछ रक्त और कुछ पीत हो उठे। मनको प्रसन्न करने वाली सुगन्धिसे मस्त होकर लोग प्रफुल्लित चमेलीके पुष्पोंको भी तुच्छ दृष्टिसे देखने लगे।" यथा—

वहन् बहिश्चारुगवाक्षरन्ध्रै-
रामोदितान्तर्भवनस्तदानीम्।
कपोतपक्षच्छविरुज्जजृम्भे—
निहारिकालागरुपिण्डधूमः॥
आताम्रकम्रद्युतिरत्नदीपै—
स्तस्मिन् जनाः पाटलवर्णभाजाम्।
व्याकोशमल्लीकुसुमानि दाम्ना-
मवागमंस्तन्नवसौरभेण[1]॥

भवनोंके वातायनोंसे निकलने वाले धूम्रमें कवि गृहदेवताकी सुगन्धित श्वासका आरोप करता हुआ कहता है—

आवर्तमानः परिमन्दवृत्त्या
वातायनद्वारि चिरं विरेजे।
कर्पूरधूलीसुरभिर्नभस्वान्
श्वासायितस्तद्गृहदेवता[2] हि॥

भवनोंके वातायनोंपर पहुँचनेपर उनमेंसे निकलते हुए धूम्रके छोटे-छोटे कणोंसे उसकी और ही शोभा हो गयी। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों गृह-देवताकी सुगन्धित श्वास हो।

व्यंजनावृत्तिका भी कविने उपयोग किया है। कुब्जकके साथ दुराचार करने के अपराधमें महाराज यशोधर अमृतमतीको मार डालना चाहता था, पर स्त्री-वधको अपयशका कारण मानकर उसने उसे मारा नहीं। प्रातःकाल होनेपर

१. यशोधरचरित, धारवाड़ संस्करण, २।२३-२४।

२. वही, २।२५।

यशोधरने अमृतमतीको हँसीमें एक पुष्पसे मारा, जिससे वह मूर्च्छित हो गयी। शीतलोपचारके पश्चात् दयालु राजा कहने लगा—

अनेन रन्ध्रेषु रसच्युता ते
कृष्णाननेनाद्य निपीडितायाः।
दैवेन केनापि परं विदग्धे
निवारितः संनिहितोऽपि मृत्युः[1] ॥

इस रसीले, पर कृष्णमुख कमलने आज तुम्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया। यह बहुत कुशल हुई, जो किसी पूर्वकर्मने तुम्हें आज मृत्युके मुखसे बचा लिया—पास आये हुए मरणको टाल दिया।

व्यंजनावृत्ति द्वारा रानी अमृतमतीके दुराचारकी बात कह दी गयी है और यह भी व्यक्त कर दिया है कि आज रात्रिमें तुम्हारी मृत्यु इस खड्गसे हो गयी होती, पर किसी शुभोदयने मृत्युसे तुम्हारी रक्षा कर ली है।

चतुर्थसर्गमें वसन्त, पुष्पावचय एवं वनविहारका सरस चित्रण किया है। कविने यहाँ वसन्तश्रीमें मानव-भावनाओंका आरोप कर विभिन्न प्रकारकी संवेदनाओंकी अभिव्यक्ति की है। वनविहारके समय महारानियोंकी लतासे तुलना की गयी है और उनमें लताके समस्त गुणोंका दर्शन कराया है। यथा—

निकामतन्वयः प्रसवैः सुगन्धयः
तदा दधानास्तरलप्रवालताम्।
इतस्ततो जग्मुरिलापतेः स्त्रियो
लतास्तु न स्थावरतां वितत्यजुः[2] ॥

वसन्तविहारके समय राजमहिषियाँ लताके समान श्रीको धारण कर रही थीं। अन्तर इतना ही था कि लताएँ अपने स्थान पर ही स्थित रहती हैं, पर महिषियाँ चंचल हो इधर-उधर लीला-विनोद कर रही थी। लताएँ कोमल और पतली होती हैं, वे महिलाएँ भी पतली और क्षीण कटिवाली थीं। लताएँ पुष्पोंसे सुगन्धित रहती हैं, वे भी अनेक प्रकारके पुष्पोंके आभूषण पहने हुई थीं, उन पुष्पोंकी गन्धसे सुगन्धित हो रही थी। लताएँ चंचल पत्तोंसे युक्त होती हैं, वे सुन्दरियाँ भी अपनी चंचलतासे युक्त थीं।

इस काव्यमें सबसे अधिक महत्त्व संगीतका बताया है। संगीतमें कितनी शक्ति होती है, यह रानी अमृतमतीकी घटनासे सिद्ध है। रानी अमृतमती अष्टभंग

---

१. यशोधरचरित, धारवाड़ संस्करण, २।७१।

२. वही, ४।३।

नामक कुबड़े महावत्तके मधुर संगीतकी ध्वनिसे आकृष्ट होती है। अष्टभंग कुरूप, अघेड़ एवं वीभत्स आकृतिका है, पर उसके कण्ठमें अमृत है। यही कारण है कि अमृतमती उसपर रीझ जाती है और अपने यथार्थ नामके विपरीत विष-मतीका आचरण करती है।

हिंसा और अहिंसाका महत्त्व अनेक जन्मोंकी कथा निबद्ध कर व्यक्त किया गया है।

एकीभावस्तोत्र

इस स्तोत्रमें २६ पद्य हैं। २५ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्दमें हैं और एक स्वागता-में। इस स्तोत्रमें भक्ति-भावनाका महत्त्व प्रदर्शित किया है। आचार्यने स्तोत्रके आरम्भमें ही कहा है—

> एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्म-बन्धो
> घोर दुःखं भव-भव-गतो दुर्निवारः करोति।
> तस्याप्यस्य त्वयि जिन-रवे भक्तिरुन्मुक्तये चेत्
> जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

हे भगवान् ! आपकी भक्ति जब भव-भव में एकत्रित दुःखदायी कर्मबन्ध-को तोड़ सकती है, तब अन्य शारीरिक संतापका कारण उससे दूर हो जाये, तो इसमें क्या आश्चर्य है।

भगवत्-भक्तिके मनमें रहनेसे समस्त संताप दूर हो जाते हैं। भक्तिद्वारा मानवको आत्म-बोध प्राप्त होता है, जिससे वह चैतन्याभिराम, गुणग्राम, आत्मभिरामको प्राप्त कर लेता है। कवि वादिराजने भगवान्को ज्योतिरूप कहा है। आचार्यकी दृष्टिमें आराध्यका स्वरूप सौन्दर्यमय मधुरभावसे भरा हुआ है। आशाकी नवीन रश्मियाँ उनके मानस-क्षितिजपर उदित होती हैं, जीवनमें एक नवीन उल्लास व्याप्त हो जाता है। भक्तिविभोर होकर तन्मयता-की स्थिति आनेपर समस्त मंगलोंका द्वार खुल जाता है। आचार्य इसी तन्म-यताकी स्थितिका चित्रण करते हुए कहते हैं—

> आनन्दाश्रु-स्नपित-वदनं गद्गदं चाभिजल्पन्
> यश्चायेत त्वयि दृढ-मनाः स्तोत्र-मन्त्रैर्भवन्तम्।
> तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देह-वल्मीक-मध्यात्
> निष्कास्यन्ते विविध-विषम-व्याधयः काद्रवेयाः ॥३॥

अर्थात्, हे भगवन् ! जो आपमें स्थिरचित्त होता हुआ हर्षाश्रुओंसे विगलित गद्गद् वाणीसे स्तोत्र-मंत्रों द्वारा आपका स्मरण करता है, उसके अनेक प्रकारके

असाध्य रोग उसी प्रकार देहमेंसे भाग निकलते हैं जिस प्रकार सपेरेकी बीन सुनते ही वामीसे साँप निकल पड़ते हैं।

भक्त भगवान्‌की बराबरी करता हुआ कहता है कि जो आप हैं सो मैं हूँ। शक्तिकी अपेक्षा मुझमें और आपमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि भगवन्! आप शुद्ध हैं, रत्नत्रयगुण विशिष्ट हैं, जब कि मेरी आत्मा अभी अशुद्ध है। रत्नत्रयगुणका केवल प्रवेश ही हुआ है, पूर्णता तो अभी दूर है। अतः जिस प्रकार दीपककी लौको प्रज्वलित करनेके लिए अन्य दीपककी लौका सहारा आवश्यक होता है, उसी प्रकार भगवन्! आत्मशुद्धिके हेतु मुझे आपका अवलम्बन लेना है। यथा—

> प्रादुर्भूत-स्थिर-पद-सुख त्वामनुध्यायतो मे
> त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
> मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां
> दोषात्मानोऽप्यभिमत-फलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति॥१७॥

अर्थात्, हे भगवन्! आपका ध्यान करनेसे मेरे मनमें यह भावना उत्पन्न होती है कि जो आप हैं सो मैं हूँ। यद्यपि यह बुद्धि मिथ्या है, क्योंकि आप अविनाशी सुखको प्राप्त हैं और मैं भव-भ्रमणके दुःख उठा रहा हूँ, तो भी मुझे आत्माके स्वभावका बोधकर अविनाशी सुख प्राप्त करना है, इतने मात्रसे ही सन्तोष होता है। यह सत्य है कि आपके प्रसादसे सदोष आत्माएँ भी इच्छित फलको प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार आचार्यने भक्ति-भावनाका वैशिष्ट्य दिखलाया है। स्तोत्र सरस और प्रौढ़ है।

न्यायविनिश्चयविवरण

अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय नामक तर्कग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थमें ४८० कारिकाएँ हैं और तीन प्रस्ताव हैं। प्रथम प्रस्तावमें १६८॥, द्वितीय प्रस्तावमें २१६॥ तथा तृतीय प्रस्तावमें ९५ कारिकाएँ हैं। वादिराजने इस ग्रन्थपर अपना विवरण लिखा है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें पक्षोंको समृद्ध और प्रामाणिक बनानेके लिए अगणित ग्रन्थोंके प्रमाण उद्धृत किये हैं। इन्होंने अपनी इस टीकाको 'न्यायविनिश्चयविवरण' नाम स्वयं दिया है।

> प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् परानप्युदारबुद्धिगुणान्।
> न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते[१]॥

वादिराज द्वारा लिखित भाष्यका प्रमाण बीस हजार श्लोक है। वादिराजने

---

१. न्यायविनिश्चयविवरण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रस्तावनामें उद्धृत, पृ० ३५।

मूलवार्तिकपर अपना भाष्य लिखा है। इनके भाष्यमें अन्तरश्लोक और संग्रह-श्लोक भी सम्मिलित हैं। इन्होंने वृत्ति या चूर्णिगत समस्त पद्योंका व्याख्यान लिखा है। न्यायविनिश्चयविवरणकी रचना अत्यन्त प्रसन्न और मौलिक शैली-में हुई है। प्रत्येक विषयको स्वयं आत्मसात् करके ही व्यवस्थित ढंगसे युक्तियों-का जाल बिछाया है, जिससे प्रतिवादीको निकलनेका अवसर नहीं मिलता। सांख्यके पूर्वपक्षमें (पृ० २३१) योगभाष्यका उल्लेख 'विन्ध्यवासिनो भाष्यं' शब्दसे किया है। सांख्यकारिकाके एक प्राचीन निबन्धसे भोगकी परिभाषा उद्धृत की है।

बौद्धमत समीक्षामें धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकरके वार्तिका-लंकारकी इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखनेमें नहीं आयी। वार्तिकालंकारका तो आधा-सा भाग इसमें आलोचित है। धर्मोत्तर, शान्तिभद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्धदार्शनिकोंकी समीक्षा की है।

मीमांसादर्शनकी समालोचनामें शवर, कुम्बेक, प्रभाकर, मण्डन, कुमारिल आदिका गम्भीर पर्यालोचन किया गया है। इसी तरह न्याय-वैशेषिक मतमें व्योमशिव, आत्रेय, भासर्वज्ञ, विश्वरूप आदि प्राचीन आचार्योंके मत उनके ग्रन्थोंसे उद्धृत करके आलोचित हुए हैं। उपनिषदोंका वेदमस्तक कहकर उल्लेख किया है। इस तरह जितना परपक्ष-समीक्षणका भाग है, वह उन-उन मतोंके प्राचीनतम ग्रन्थोंसे लेकर ही पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित किया है।

स्वपक्ष-संस्थापनामें समन्तभद्रादि आचार्योंके प्रमाणवाक्योंसे पक्षका सम-र्थन परिपुष्ट रूपमें किया गया है। कारिकाओंके व्याख्यानमें वादिराजका व्याकरणज्ञान भी प्रस्फुटित हुआ है। कई कारिकाओंके उन्होंने पाँच-पाँच अर्थ तक दिये हैं। दो अर्थ तो साधारणतया अनेक कारिकाओंके दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त विवरणमें दो ढाई हजार पद्य इनके द्वारा रचे गये हैं। इनकी तर्कणा-शक्ति अत्यन्त मौलिक है। इन्होंने न्यायविनिश्चयके प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रव-चन इन तीनों परिच्छेदोंपर विवरणकी रचना की है। ज्ञान-ज्ञेयतत्व, प्रमाण-प्रमेयतत्त्व आदिका विवेचन इस ग्रन्थमें पाया जाता है और अकलंकदेवने जिन मूल विषयोंकी उत्थापना की है, उनका विस्तृत भाष्य इस विवरणमें आया है। तर्क और दर्शनके तत्त्वोंको स्पष्ट रूपमें समझानेका प्रयास किया है।

प्रमाणनिर्णय

इस लघुकाय ग्रन्थमें प्रमाणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगम-निर्णय ये चार प्रकरण हैं। प्रमाणनिर्णयके अन्तर्गत प्रमाणका स्वरूपनिर्धारण करते हुए सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण बताया है। इस प्रकरणमें नैयायिक, मीमां-

सक, बौद्ध प्रभृति दार्शनिकोंकी प्रमाणविषयक मान्यताओंकी समीक्षा की गयी है। बताया है—

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेः। इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम। तच्च तस्य सम्यग्ज्ञानत्वे सत्येव भवति नाऽचेतनत्वे नाऽप्यम्यग्ज्ञानत्वे। ननु च तत्क्रियायामस्त्येवाचेतनस्यापीन्द्रियलिङ्गादेः करणत्वं, चक्षुषा प्रमीयते धूमादिना प्रमीयत इति। तत्रापि प्रमितिक्रियाकरणत्वस्य प्रसिद्धेरिति चेत्[1]।

इस प्रकरणमें व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण सिद्ध किया है। इन्द्रिय, आलोक, सन्निकर्ष आदिको प्रमाणताकी समीक्षा की गयी है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें अर्थ और आलोककी कारणताका निरसन किया है।

प्रत्यक्षनिर्णय प्रकरणमें स्पष्ट प्रतिभासित होनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। स्पष्टावभास इन्द्रियज्ञानमें संभव नहीं है, अतः इन्द्रियज्ञान परोक्ष है। स्पष्ट प्रतिभास प्रत्यक्षज्ञानमें पाया जाता है और वह अतीन्द्रिय होता है। इस सन्दर्भमें सन्निकर्षके प्रत्यक्षत्वका निरसन किया है। चक्षुके प्राप्यकारित्वका पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'चक्षुः सन्निकृष्टमर्थं प्रकाशयति बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगादिवत्''[2] अर्थात् चक्षु सन्निकृष्ट अर्थको ही प्रकाशित करती है, बाह्येन्द्रिय होनेसे, स्पर्शन इन्द्रियके समान। इस अनुमान द्वारा चक्षुका प्राप्यकारित्व सिद्ध करके उसका निरसन किया है।

इस ग्रन्थमें परोक्षके दो भेद किये हैं—१. अनुमान और २. आगम। अनुमानके गौण और मुख्य भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कको गौण अनुमान माना गया है। इस प्रकारकी भेदकल्पना नवीन प्रतीत होती है, अन्य किसी प्रमाणग्रन्थमें ऐसा दिखलायी नहीं पड़ता है। वादिराजने तर्कप्रमाणकी सिद्धि करते हुए लिखा है कि व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं तथा साध्य और साधनके अविनाभावको व्याप्ति। अविनाभाव एक नियम है और यह नियम दो प्रकारसे व्यवस्थित है—१. तथोपपत्ति और २. अन्यथानुपपत्ति। साध्यके होने पर ही साधनका होना तथोपपत्ति और साध्यके न होने पर साधनका न होना ही अन्यथानुपपत्ति—अविनाभाव है। व्याप्तिका ज्ञान अन्य किसी प्रमाणसे सम्भव नहीं है, अतः तर्कप्रमाण मानना आवश्यक है। तर्कका अनुमानमें अन्तर्भाव सम्भव नहीं है—"तदवच्छेदेनावगतात्तु ततो नानुमानमन्यत्रा-

१. प्रमाणनिर्णय, माणिकचन्द दि० जै० ग्रन्थमाला, वि-सं० १९७४, पृ० १-२
२. प्रमाणनिर्णय, पृ० १८।

न्यदा तदभावेऽपि तद्भावशंकनस्यानिवृत्तेः। तस्मात्प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्यतयैवायं विकल्पः प्रमाणयितव्यः।[1]"

चार्वाकके प्रति अनुमानकी प्रमाणता भी सिद्ध की गयी है। अनुमानके अभावमें न तो किसी भी बुद्धिका परिज्ञान होगा और न स्वेष्टसिद्धि तथा परेष्टमें दोषोद्भावन ही सम्भव होगा। भूतचतुष्टयकी सिद्धि भी अनुमानके बिना नहीं हो सकती है। अतएव चार्वाकको भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ेगा।

अभावका अन्तर्भाव प्रत्यक्षप्रमाणमें किया है। अनुमानके त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्योंका निरसन करते हुए अविनाभावको ही हेतु सिद्ध किया है।

आगमप्रमाणकी चर्चा करते हुए बताया है कि शब्दप्रमाणका अन्तर्भाव अनुमानमें सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनोंका विषय भिन्न है। शब्द केवल वक्ताकी इच्छामें ही प्रमाण है, बाह्य अर्थमें प्रमाण नहीं, यह भी कहना असंगत है। यतः शब्दका विषय केवल विवक्षा ही नहीं है। इसी सन्दर्भमें शब्दको पौद्‌गलिक भी सिद्ध किया है।

यह ग्रन्थ गद्यमें अकलंकदेवके ग्रन्थोंका सार लेकर लिखा गया है। ग्रन्थकर्त्ताने लिखा है—

मुख्यसंव्यवहाराभ्यां प्रत्यक्षं यन्निरूपितम्।[2]
देवैस्तस्यात्र संक्षेपान्निर्णयो वर्णितो मया॥

पद्मनन्दि प्रथम

पद्मनन्दि प्रथमसे हमारा अभिप्राय जंबूदीव-पण्णत्तिके कर्त्तासे है। यों तो आचार्य कुन्द-कुन्दका भी एक नाम पद्मनन्दि मिलता है, पर इस नामसे उनकी ख्याति नहीं है। अतएव पद्मनन्दि प्रथमको हम जंबूदीवपण्णत्तिका कर्त्ता मानते हैं।

अभिलेखीय साहित्यसे कई पद्मनन्दियोंके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। एक पद्मनन्दि चन्द्रप्रभके शिष्यके रूपमें उल्लिखित हैं। इनका निर्देश डॉ० हीरालालजीने जैन-शिलालेख संग्रह प्रथम भागकी प्रस्तावनामें किया है। दूसरे पद्मनन्दि वि० सं० ११६२ में सिद्धान्तदेव व सिद्धान्तचक्रवर्ती मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, काणूरगण एवं तिंतिणिकगच्छमें हुए[3] हैं। तीसरे पद्मनन्दि गोल्लाचार्यके प्रशिष्य और त्रैकाल्ययोगीके शिष्य हुए हैं। इनका नाम कौमारदेवव्रती था और दूसरा नाम अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था। ये मूलसंघ देशीयगणके

१. प्रमाणनिर्णय, पृ० ३६।
२. वही, पृ० ३३।
३. एपिग्राफी कर्नाटिका, भाग ७, अभिलेख सं० २६२।

आचार्य थे। इनका उल्लेख वि०सं० १२२० के एक अभिलेखमें पाया जाता है। इनके सधर्मा प्रभाचन्द्र थे तथा उनके शिष्य कुलभूषणके शिष्य माघनन्दिका सम्बन्ध कोल्हापुरसे था[१]।

चौथे पद्मनन्दि वे हैं, जो नयकीर्तिके शिष्य और प्रभाचन्द्रके सहधर्मी थे, जिनका उल्लेख वि० सं० १२३८, १२४२ और १२६३ के अभिलेखोंमें आता है। इनकी उपाधि 'मन्त्रवादिवर' पायी जाती है। बहुत सम्भव है कि ये तृतीय और चतुर्थ पद्मनन्दि एक ही हों। तृतीय पद्मनन्दिको भी मन्त्रवादि कहा गया[२] है।

पंचम पद्मनन्दि वीरनन्दिके प्रशिष्य तथा रामनन्दिके शिष्य थे जिनका उल्लेख १२वीं शतीके एक अभिलेखमें मिलता[३] है।

छठे पद्मनन्दि वे हैं, जिन्होंने अपने गुरु शुभचन्द्रदेवकी स्मृतिमें लेख लिखवाया था। शुभचन्द्रदेवका वि०सं० १३७०में स्वर्गवास हुआ था। इनके दो शिष्य थे। इन्हींमें एक पद्मनन्दि थे[४]।

सातवें पद्मनन्दिका उल्लेख वि०सं० १३६० के एक अभिलेखमें आया है। इसमें बाहुवलिमलधारिदेवके शिष्य पद्मनन्दि भट्टारकका निर्देश है, जिन्होंने वि०सं० १३६०में एक जैनमन्दिरका निर्माण कराया था।

आठवें पद्मनन्दि वे हैं, जो मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय देशीगण पुस्तकगच्छवर्ती त्रैविद्यदेवके शिष्य पद्मनन्दि थे। इनका स्वर्गवास वि०सं० १३७३में हुआ था। इनका निर्देश श्रवणवेलगोलके अभिलेखसंख्या २६९ में आया है।

नौवें पद्मनन्दि वे हैं, जिनकी वि०सं० १४७१ के देवगढ़के अभिलेखमें प्रभाचन्द्रके शिष्यके रूपमें बड़ी प्रशंसा की गयी है।

जम्बूदीवपण्णत्तिके कर्त्ता पद्मनन्दि इन सबसे भिन्न हैं। ये अपनेको वीरनन्दिका प्रशिष्य और बलनन्दिका शिष्य बतलाते हैं। इन्होंने विजयगुरुके पास ग्रन्थोंका अध्ययन किया था। ग्रन्थ लिखनेका निमित्त बतलाते हुए निर्दिष्ट किया है कि राग-द्वेषसे रहित श्रुतसागरके पारगामी माघनन्दि आचार्य हुए। उनके शिष्य सिद्धान्त-महासमुद्रमें कलुषताको धो डालनेवाले गुणवान सकलचन्द्रगुरु हुए। उनके शिष्य निर्मल रत्नत्रयके धारक श्री नन्दिगुरु हुए और उन्हींके

---

१. एपिग्राफी कर्नाटिका, भाग २, अभिलेख सं० ६४।

२. वही, भाग २, अभिलेख सं० ६६।

३. Jainism in South India, Page 280 तथा एपिग्राफी कर्नाटिका, भाग ८, अभि० सं० १४० और २३३।

४. एपिग्राफी कर्नाटिका-अभिलेख ६५ तथा भूमिका, पृ० ८६।

निमित्त यह 'जम्बूदीवपण्णत्ति लिखी गयी। गुरुपरम्पराके सन्दर्भमें पद्मनन्दिने अपने सम्बन्धमें बताया है कि त्रिदण्डरहित, शल्यत्रयपरिशुद्ध, गारवत्रयसे रहित, सिद्धान्तके पारगामी और तप-नियम-योगसे संयुक्त पद्मनन्दि नामक मुनि हुए।

ग्रन्थ-रचनाके स्थान और वहाँके शासकका नाम निर्देश करते हुए यह बतलाया है कि वारांनगरका स्वामी नरोत्तमशक्तिभूपाल था, जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध व्रतकर्मको करनेवाला निरन्तर दानशील, जिनशासनवत्सल, वीर, नरपतिसंपूजित और कलाओंमें कुशल था। यह नगर धन-धान्यसे परिपूर्ण, सम्यग्दृष्टियों और मुनिजनोंसे मण्डित, जिनभवनोंसे विभूषित, रमणीय पारयात्र देशके अन्तर्गत था। इन्होंने अपनेको 'वरपउमणंदि' कहा है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये पद्मनन्दि पूर्वोक्त सभी पद्मनन्दियोंसे भिन्न हैं।

'जंबूदीवपण्णत्ति'के अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और मानी जा सकती हैं। एक है प्राकृतपद्यात्मक 'धम्मरसायण' और दूसरी है 'प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति'। श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने[1] पञ्चसंग्रहवृत्तिका रचयिता प्रस्तुत पद्मनन्दिको ही माना है। प्राकृतपंचसंग्रहवृत्तिकार पद्मनन्दिने अपना निर्देश करते हुए लिखा है—

जह जिणवरेहिं कहियं गणहरदेवेहिं गथियं सम्मं।
आयरियकमेण पुणो जह गंगणइपवाहुव्व॥
तह पउमणंदिमुणिणा रइयं भवियाण बोहणट्ठाए।
ओघादेसेण य पयडीणं बंधसामित्तं॥[2]

पं० हीरालालजीकी मान्यता उचित प्रतीत होती है, क्योंकि 'जंबूदीवपण्णत्ति' और 'प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति'की उत्थापनाएँ तुल्य हैं। निस्सन्देह पद्मनन्दि प्राकृतभाषा और सिद्धान्तशास्त्रके परगामी हैं। अतः यह वृत्ति पद्मनन्दि प्रथम द्वारा विरचित हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। अन्य जितने पद्मनन्दि मिलते हैं, वे प्राकृतके विशेषज्ञ प्रतीत नहीं होते। अतएव प्रस्तुत पद्मनन्दिकी तीन रचनाएँ मानी जा सकती हैं—१. जंबूदीवपण्णत्ति, २. धम्मरसायण ३. प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति।

समय-निर्धारण

'जंबूदीवपण्णत्ति'के रचयिता पद्मनन्दिका समय क्या है? इसका निर्णय अन्तरंग प्रमाणोंके आधारपर किया जाना सम्भव नहीं है। हाँ, अभिलेख, इतर आचार्यों द्वारा किये निर्देश एवं अन्य ग्रन्थोंसे विषयके आधारपर समयका निर्धारण किया जा सकता है। 'जंबूदीवपण्णत्ति'की आमेर शास्त्रभण्डारकी प्रति ज्येष्ठ

१–२. पञ्चसंग्रह, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावनासे उद्धृत, पृ० ३९।

शुक्ला पञ्चमी वि०सं० १५१८ की है, अतः रचयिताका समय इससे पूर्व होना निश्चित है।

नन्दिसंघकी पट्टावलीमें वारांके भट्टारकोंकी गद्दीका उल्लेख आया है, जिसमें वि० सं० ११४४ से वि सं० १२०६ तकके बारह भट्टारकोंके नाम दिये गये हैं। इस भट्टारकपरम्परासे सम्बद्ध पद्मनन्दिको गुरुपरम्परा है। राजपूतानेके इतिहासमें गुहिलोतवंशी राजा नरवाहनके पुत्र शालिवाहनके उत्तराधिकारी शक्तिकुमारका उल्लेख मिलता है, इस ग्रन्थमें उल्लिखित यही राजा है। आटपुर (आहाड़) के अभिलेखमें गुहदत्त (गुहिल) से लेकर शक्तिकुमार तककी पूरी वंशावली दी है। यह अभिलेख वि० सं० १०३४ वैशाख शुक्ल, प्रतिपदाका लिखा हुआ है। अतः 'जंबूदीवपण्णत्ति'का यही रचनाकाल सम्भव है।

श्री पंडित नाथूरामजी प्रेमीने इस ग्रन्थके रचनास्थल वारांनगरको राजस्थानके कोटा राज्यके अन्तर्गत माना है।[1] और वारांकी भट्टारक गद्दीके आधारपर पद्मनन्दिका समय वि० सं० ११०० अर्थात् ई० सन् १०४३ के लगभग सिद्ध किया है।

ज्ञानप्रबोध भाषाग्रन्थमें कुन्दकुन्दाचार्यकी एक कथा आयी है। उसमें कुन्दकुन्दको इसी वारापुर या बारांके धनी कुन्दश्रेष्ठी व कुन्दलताका पुत्र बतलाया है। कुन्दकुन्दका एक नाम पद्मनन्दि भी है। अवगत होता है कि ज्ञानप्रबोधके कर्त्ताने भ्रमवश 'जंबूदीवपण्णत्तिके' रचयिता पद्मनन्दिको कुन्दकुन्द समझकर वारांको उनका जन्मस्थान बताया है। शान्ति या शक्तिराजाको नरपतिसंपूज्य लिखा है। और साथ ही उसे 'बारानगरस्य प्रभुः' कहा है। इस शान्ति या शक्तिको ही शक्तिकुमार मान लेना उचित प्रतीत है और इस आधारपर पद्मनन्दिका समय ई० सन् ९७७ के आस-पास माना जा सकता है।

एक अन्य प्रमाण यह भी है कि सुधर्म स्वामीका नाम लोहार्य दिया है। यह लोहार्य अचारांगधारी लोहार्यसे भिन्न हैं। श्रवणबेलगोला वसतिमें भी गौतम गणधरके साक्षात् शिष्य लोहार्यको बताया है। यह अभिलेख शक संवत् ५२२ (ई० सन् ६००) है, अतः सुधर्मके स्थानपर लोहार्यके नाम आनेसे भी 'जंबूदीवपण्णत्ति' ई० सन् दशवीं शतीकी रचना है।

रचनाओंका परिचय

जंबूदीवपण्णत्तिमें २४२९ गाथाएँ हैं और तेरह उद्देश्य हैं। प्रत्येक उद्देश्यकी पुष्पिकामें उस उद्देश्यके विषयका निर्देश पाया जाता है। उद्देश्योंके नाम निम्न प्रकार हैं—

---

१. जैनसाहित्य और इतिहास, बम्बई, प्रथम संस्करण, पृ० २५४।

१. उपोद्घातप्रस्ताव।
२. भरतैरावतवर्णन।
३. पर्वत-नदी-भोगभूमिवर्णन।
४. महाविदेहाधिकार।
५. मंदरगिरि-जिनभवनवर्णन।
६. देवकुरु-उत्तरकुरु-विन्यासप्रस्ताव।
७. कच्छाविजयवर्णन।
८. पूर्वविदेहवर्णन।
९. अपरविदेहवर्णन।
१०. लवणसमुद्रवर्णन।
११. बहिरुपसंहारद्वीप-सागर-नरकगति-देवगति-सिद्धक्षेत्रवर्णन।
१२. ज्योतिर्लोकवर्णन।
१३. प्रमाणपरिच्छेद।

प्रथम उद्देश्यमें ७४ गाथाएँ हैं। प्रथम छह गाथाओंमें पञ्चपरमेष्ठीको नमस्कार किया है, तदनन्तर ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा की है। पश्चात् तीर्थंकर महावीरकी आचार्यपरम्पराका निर्देश करते हुए बताया है कि विपुलाचलपर स्थित वर्धमान जिनेन्द्रने प्रमाण-नययुक्त अर्थ गौतम गणधरके लिए कहा। गौतम गणधरने सुधर्मस्वामी (लोहाचार्य) को कहा और उन्होंने जम्बूस्वामी को। ये तीनों अनुबद्धकेवली थे। पश्चात् १. नन्दी, २. नन्दिमित्र, ३. अपराजित, ४. गोवर्द्धन और ५. भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। तदनन्तर १. विशाखाचार्य, २. प्रोष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४. जय, ५. नाग, ६. सिद्धार्थ, ७. धृतिषेण, ८. विजय, ९. बुद्धिल्ल, १०. गङ्गदेव और ११. धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य दशपूर्वोंके ज्ञाता हुए। तत्पश्चात् १ नक्षत्र, २. यशपाल, ३. पाण्डु, ४. ध्रुवषेण और ५. कंसाचार्य ये पाँच ११ अंगोंके धारी हुए। तदुपरान्त १. सुभद्र, २. यशोभद्र, ३. यशोबाहु और ४. लोहाचार्य ये आचाराङ्गके धारक हुए।

इन आचार्योंके निर्देशके पश्चात् पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यप्रमाण समस्त द्वीप-सागरोंके मध्यमें स्थित जम्बूद्वीपके विस्तार, परिधि और क्षेत्रफलका कथन किया है। उसकी वेदिकाका वर्णन करते हुए बताया है कि उसके विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक चार गोपुरद्वारोंपर क्रमशः उन्हीं नामोंके धारक प्रभावशाली चार देव स्थित हैं। यहाँ इनमेंसे प्रत्येकके बारह हजार योजन प्रमाण लम्बे-चौड़े नगर बतलाये हैं। जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र, एक

मन्दर पर्वत, छह कुलपर्वत, दोसौ काञ्चनपर्वत, चार यमकपर्वत, चार नाभिगिरि, चौतीस वृषभगिरि, चौतीस विजयार्द्ध, सोलह वक्षार पर्वत और आठ दिग्गज पर्वत स्थित हैं। इन सबके पृथक्-पृथक् वेदियाँ और वनसमूह भी है। चौदह लाख छप्पन हजार नब्बे नदियाँ जम्बूद्वीपमें हैं। नदी, तट, पर्वत, उद्यान, वन, दिव्य भवन, शाल्मलिवृक्ष और जम्बूवृक्ष आदिके उपर स्थित जिन-प्रतिमाओंको नमस्कार करके जिनेन्द्रसे बोध-याचना की गयी है।

द्वितीय उद्देश्यमें २१० गाथाएँ हैं। क्षेत्रोंका वर्णन करते हुए भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र तथा क्रमशः इनका विभाग करनेवाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये षट् कुलाचल स्थित हैं। जम्बू द्वीपके गोलाकार होनेसे इसमें स्थित उन क्षेत्र पर्वतोंमें क्षेत्रसे दूना पर्वत और उससे दूना विस्तृत आगेका क्षेत्र है। यह क्रम उसके मध्यमें स्थित विदेह क्षेत्र तक है। इस क्षेत्रसे आगेके पर्वतका विस्तार आधा है और उससे आधा विस्तार आगेके क्षेत्रका है। यह क्रम अन्तिम ऐरा-वत क्षेत्र तक है। इस प्रकार जम्बूद्वीपके खण्ड भरत १ + हिमवान् २ + हैमवत ४ + महाहिमवान् ८ + हरिवर्ष १६ + निषध ३२ + विदेह ६४ + नील ३२ + रम्यक १६ + रुक्मि ८ + हैरण्यवत ४ + शिखरी २ + ऐरावत १ = १९० हो गये हैं। जम्बूद्वीपका विस्तार एक लाख योजन है। गोल क्षेत्रके विभागभूत होनेसे इन क्षेत्र और पर्वतोंका आकार धनुष जैसा हो गया है। यहाँ धनुपृष्ठ, बाहु, जीवा, चूलिका और बाणका प्रमाण निकालनेके लिए करणसूत्र दिये गये है।

विजयार्धका वर्णन करते हुए वहाँ उसको दक्षिण श्रेणीमें पचास और उत्तर श्रेणिमें साठ विद्याधर नगरोंका निर्देश करके ४०वीं गाथामें उनकी सम्मिलित संख्या २०० बतलायी है, यह संख्या विचारणीय है। यों तो ५० + ६० = ११० विद्याधर नगर बतलाये गये हैं। यदि इनमें ऐरावत क्षेत्रस्थ विजयार्ध पर्वतके भी नगरोंकी संख्या सम्मिलित करली जाय, तो २२० नगर होने चाहिए। विजयार्ध पर्वतके वर्णनप्रसंगमें उसके ऊपर स्थित नौ कूटोंका नामनिर्देश कर उनपर स्थित जिनभवन, देवभवन और उद्यान वनोंका वर्णन किया है। पर्वतके दोनों ओर तिमिस्र और खण्डप्रपात नामकी दो गुफाएँ हैं। इन्हीं गुफाओंके भीतर आकर गंगा और सिन्धु दक्षिणभारतमें प्रविष्ट होती हैं। तदनन्तर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके भेदोंका उल्लेख करते हुए बताया है कि समस्त विदेह क्षेत्रों, म्लेच्छखण्डों और समस्त विद्याधरनगरोंमें सदा चतुर्थ काल विद्यमान रहता है। देवकुरु और उत्तरकुरुमें प्रथम; हैमवत और हैरण्यवतमें तृतीय एवं हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्रमें द्वितीय काल सदा रहता है। इन कालोंमें उत्सेध, आयु, योजन

आदिके नियम भी प्रतिपादित किये गये हैं।

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित नगेन्द्र पर्वत तक असंख्यात द्वीपोंमें युगलरूपमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यञ्च जीव रहते हैं। यहाँ पर सदा तीसरा काल विद्यमान रहता है। नगेन्द्र पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमणद्वीप एवं स्वयम्भूरमणसमुद्रमें दु:षमकाल, देवोंमें सुषम-सुषम, नारकियोंमें अतिदु:षम तथा तिर्यंचों और मनुष्योंमें छहों काल रहनेका उल्लेख किया है।

तृतीय उद्देश्यमें २४६ गाथाएँ हैं। इस उद्देशमें हिमवान्-शिखरी, महाहिमवान्-रुक्मि, और निषध-नील कुलाचलोंके विस्तार, जीवा, धनुपृष्ठ, पार्श्वभुजा, चूलिकाका प्रमाण बतलाकर उनके ऊपर स्थित कूटोंके नामोंका निर्देश किया है। इन कूटोंके ऊपर जो भवन स्थित हैं, उनका भी वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् कुलाचलोंके ऊपर स्थित पद्म और महापद्म आदि सरोवर और उनमें स्थित कमलभवनों पर निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि एवं लक्ष्मी इन छह देवियोंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है। पद्मह्रदमें स्थित समस्त कमल-भवन १४०११६ हैं। जम्बू और शाल्मलिवृक्षोंके ऊपर स्थित भवन भी इतने ही हैं। इन वृक्षोंके अधिपति देवोंकी चार महिषियोंके भवन १४०१२० बतलाये गये हैं। यहाँके जिनभवनोंकी संख्या भी गिनायी गयी है। पद्मह्रदके पूर्वाभिमुख तोरणद्वारसे गंगा महानदी निकलती है। यह नदी हिमवान् पर्वतके ऊपर पूर्वकी ओर ५०० योजन जाकर पुनः दक्षिणकी ओर मुड़ जाती है। इस प्रकार पर्वतके अन्त तक जाकर वहाँ जो वृषभाकार नाली स्थित है, उसमें प्रविष्ट होती हुई वह पर्वतके नीचे स्थित कुण्डमें गिरती है। यह गोलकुण्ड ६२½ योजन विस्तृत और १० योजन गहरा है। इसके बीचोंबीच एक आठ-योजन विस्तृत द्वीप और उसके भी मध्यमें पर्वत है। पर्वतके ऊपर गंगादेवीका गंगाकूट नामक प्रासाद है। गंगानदीकी धारा उन्नत भवनके शिखर पर स्थित जिनप्रतिमाके ऊपर पड़ती है। यहाँसे निकलकर वह गंगानदी दक्षिणकी ओर जाकर विजयार्धकी गुफामें जाती हुई पूर्व समुद्रमें गिरती है। इस प्रसंगमें कुण्ड, कुण्डद्वीप, कुण्डस्थ पर्वत, तदुपरिस्थ भवन और तोरण आदिका विस्तार प्रतिपादित किया गया है। अन्तमें हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक और हैरण्यवत इन चार क्षेत्रोंके मध्य में स्थित नाभिगिरि पर्वतका वर्णन करते हुए इन क्षेत्रोंमें प्रवर्तमान कालोंका पुनः निर्देश करके भोगभूमियोंकी व्यवस्था प्रतिपादित को गयी हैं।

चतुर्थ उद्देश्यमें २९२ गाथाएँ हैं। इसमें सुमेरुके वर्णनके साथ लोककी आकृति, उसका विस्तार, ऊँचाई आदिका कथन किया है। लोकके मध्यभागमें स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है और उसके मध्यमें विदेह क्षेत्र

के अन्तर्गत मन्दर पर्वत है। उसका विस्तार पातालतलमें १००९० १०/११ योजन, पृथिवीतलके ऊपर भद्रशालवनमें १००० योजन और ऊपर शिखर पर —पाण्डुकवनमें एक सहस्र योजन है। यह मूल भागमें एक सहस्र योजन वज्रमय, मध्यमें ६१००० योजन मणिमय और ऊपर ३८००० योजन सुवर्णमय है। मेरुका भद्रशाल नामका प्रथम वन पूर्व-पश्चिममें २२००० योजन विस्तृत है। इसके मध्यमें १०० योजन विस्तृत, ५० योजन आयत और ७५ योजन उन्नत चार जिनभवन स्थित हैं। इनके द्वारोंकी ऊँचाई ८ योजन, विस्तार ४ योजन और विस्तारके समान प्रवेश भी ४ योजन है। इनकी पीठिकाएँ १५ योजन दीर्घ और ८ योजन ऊँची हैं। उनमें स्थित जिनप्रतिमाओंकी ऊँचाई ५०० धनुष है। नन्दीश्वरद्वीपमें स्थित बावन जिनभवनोंकी रचनाका यही क्रम है। नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वनोंमें स्थित जिनभवनोंके विस्तार आदिका वर्णन किया है।

मेरुके ऊपर पृथिवीतलसे ५०० योजन ऊपर जाकर नन्दनवन, ६२५०० योजन ऊपर सौमनस वन और ३६००० योजन ऊपर पाण्डुकवन स्थित है। पाण्डुक वनके मध्यमें ४० योजन ऊँची वैडूर्यमणिमय चूलिका है। इसका विस्तार मूलमें १२ योजन, मध्यमें आठ योजन और शिखरपर चार योजन है। चूलिकाके ऊपर एक बालमात्रके अन्तरसे सौधर्मकल्पका प्रथम ऋजुविमान स्थित है। पाण्डुकवनके भीतर पाण्डुकशिला, पाण्डुककम्बला, रक्तकंबला और रक्तशिला, ये चार शिलाएँ पाँचसौ योजन आयत, दोसौ पचास योजन विस्तृत और चार योजन ऊँची स्थित हैं। प्रत्येक शिलाके ऊपर ५०० धनुष आयत, २५० धनुष विस्तृत और ५०० धनुष उन्नत ३-३ पूर्वाभिमुख सिंहासन स्थित हैं। इनमेंसे मध्यका जिनेन्द्रका, दक्षिणपार्श्वभागमें स्थित सौधर्म इन्द्रका और वामपार्श्वभागमें स्थित सिंहासन ईशानेन्द्रका है। ईशान दिशामें स्थित पाण्डुकशिलाके ऊपर भरतक्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरोंका, आग्नेयकोणमें स्थित पाण्डुककम्बलाशिलाके ऊपर अपरविदेहोत्पन्न तीर्थंकरोंका, नैऋत्यकोणमें स्थित रक्तकम्बला शिलाके ऊपर ऐरावतक्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरोंका और वायव्यकोणमें स्थित रक्तशिलाके ऊपर पूर्वविदेहोत्पन्न तीर्थंकरोंका जन्माभिषेक चतुर्निकायके देवों द्वारा किया जाता है। इस उद्देशमें सौधर्म इन्द्रकी सप्तविध सेना और ऐरावत हाथीका भी विस्तृत वर्णन आया है।

पञ्चम उद्देश्यमें १२५ गाथाएँ हैं। यहाँ मन्दरपर्वतस्थ जिनेन्द्र-भवनोंका वर्णन करते हुए बतलाया है कि त्रिभुवनतिलकनामक जिनेन्द्र-भवनकी गंधकुटी ७५ योजन ऊँची, ५० योजन आयत और इतनी ही विस्तृत है। उसके

द्वार १६ योजन उन्नत, ८ योजन विस्तृत और विस्तारके बराबर प्रवेशसे सहित हैं। मन्दरपर्वतके भद्रशालनामक प्रथम वनमें चारों दिशाओंमें चार जिन-भवन हैं, जिनका आयाम १०० योजन, विस्तार ५० योजन, ऊँचाई ७५ योजन और अवगाह आधा योजन है। इन जिनभवनोंमें पूर्व, उत्तर और दक्षिणकी ओर तीन द्वार हैं। इन जिनभवनोंमें पूर्व-पश्चिममें ८,००० मणिमालाएँ और अन्तरालोंमें २४,००० सुवर्णमालाएँ लटकती हैं। द्वारोंमें कर्पूर आदि सुगंधित द्रव्योंसे संयुक्त २४,००० धूप घट हैं। सुगन्धित मालाओंके अभिमुख ३२,००० रत्नकलश हैं, बाएँ भागमें ४००० मणिमलाएँ, १२,००० स्वर्णमालाएँ, १२,००० धूपघट और १६,००० कंचनकलश हैं।

जिनभवनोंके पीठ सोलह योजनसे कुछ अधिक आयत, आठ योजनसे कुछ अधिक विस्तृत और दो योजन ऊँचे हैं। यहाँकी सोपानपंक्तियाँ सोलह योजन लम्बी, आठ योजन चौड़ी, छः योजन ऊँची और दो गव्यूति अवगाहवाली हैं। सोपानोंकी संख्या १०८ है। पीठोंकी वेदिकाएँ स्फटिकमणिमय हैं, गर्भगृहभित्तियाँ वैडूर्यमणिमय स्तम्भसे युक्त हैं। इन भवनोंमें अनादिनिधन जिनेन्द्र-प्रतिमाएँ पाँचसौ धनुष उन्नत विराजमान हैं। एक-एक जिनभवनमें १०८-१०८ जिन-प्रतिमाएँ रहती हैं और प्रत्येक प्रतिमाके साथ एकसौ आठ प्रातिहार्य होते हैं। यहाँ उक्त जिनभवनोंके भीतर सिंहादि चिह्नोंसे सुशोभित दश प्रकारकी ध्व-जाएँ, मुखमण्डप, प्रेक्षागृह, सभागृह, स्तूप, चैत्यवृक्ष और वनवापियाँ आदिका भी चित्रण आया है। इन जिनभवनोंमें चार प्रकारके देव अपनी-अपनी विभूतियाँ-के साथ आकर अष्टाह्निक दिनोंमें पूजा करते हैं। इन्द्रोंके विमानोंका नाम बत-लाते हुए लिखा है कि १. गज, २. वृषभ, ३. सिंह, ४. तुरग, ५. हंस, ६. वानर, ७. सारस, ८. मयूर, ९. चक्रवाक, १०. पुष्पक विमान, ११. कोयल-विमान, १२. गरुड़विमान, १३. कमलविमान, १४. नलिनविमान और १५. कुमुदविमान हैं। इनके हाथमें १. वज्र, २. त्रिशूल, ३. असि, ४. परशु, ५. मणिदण्ड, ६. पाश, ७. कोदण्ड, ८. कमलकुसुम, ९. पूर्वफलोंका गुच्छा, १०. गदा, ११. तोमर, १२. हल-मूसल, १३. सितकुसुममाला, १४. चम्पकमाला और १५ मुक्तादाम रहते हैं।

छठे उद्देश्यमें १७८ गाथाएँ हैं। उसमें देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रोंका वर्णन किया गया है। उत्तरकुरुक्षेत्र मेरुपर्वतके उत्तर और नीलपर्वतके दक्षिण-में है। इसके पूर्वमें माल्यवान पर्वत और पश्चिममें गन्धमादन है। उत्तरकुरुके मध्यमें मेरुके उत्तर-पूर्व कोणमें सुदर्शननामक जम्बू-वृक्ष स्थित है। इसकी पूर्वादिक चारों दिशाओंमें चार विस्तृत शाखाएँ हैं। इसकी उत्तरी शाखापर जिनेन्द्र-भवन और शेष तीन शाखाओंपर यक्ष-भवन हैं।

मन्दरपर्वतके दक्षिण पार्श्वभागमें देवकुरु क्षेत्र है। इसके पूवमें सौमनस तथा पश्चिममें विद्युत्प्रभनामक गजदन्त पर्वत स्थित हैं। यह भी निषधपर्वत के उत्तरमें एक सहस्र योजन जाकर सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर चित्र और विचित्र नामके दो यमक पर्वत हैं। इनके आगे ५०० सौ योजन जाकर सीता नदीके मध्यमें पाँच सरोवर हैं, जिनमें स्थित कमलभवनों पर निषधकुमारी, देवकुरुकुमारी, सुरकुमारी, सुलसा और विद्युत्प्रभाकुमारी देवियाँ निवास करती हैं। प्रत्येक सरोवरके पूर्व-पश्चिम दोनों पार्श्वभागोंमें १०-१० कञ्चन शैल हैं। यहाँ देवकुरु क्षेत्रमें मन्दरपर्वतकी उत्तर दिशामें सीतोदा नदीके पश्चिम तटपर स्वातिनामक शाल्मली वृक्ष स्थित है। इन देवकुरु और उत्तर-कुरु क्षेत्रोंमें युगलरूपसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य तीन पल्योपम प्रमाण आयुसे संयुक्त और तीन कोस ऊँचे होते हैं। तीन दिनके पश्चात् बेरके बराबर आहार ग्रहण करते हैं। ये मरकर नियमतः देवोंमें ही उत्पन्न होते हैं।

सप्तम उद्देश्यमें १५३ गाथाएँ हैं। इनमें विदेह क्षेत्रका वर्णन किया गया है। यह क्षेत्र निषध और नील कुलपर्वतोंके बीच स्थित है। इसका विस्तार तेंतीस हजार छः सौ चौरासी पूर्णांक ४/१९ योजन प्रमाण है। बीचमें सुमेरु पर्वत और उससे संलग्न चार दिग्गज पर्वत हैं। इस कारण यह पूर्वविदेह और अपर-विदेहरूप दो भागोंमें विभक्त हो गया है। बीचमें सीता, सीतोदा महानदियोंके प्रवाहित होनेके कारण प्रत्येकके और दो-दो भाग हो गये हैं। उक्त चार भागों-मेंसे प्रत्येक भागके मध्यमें चार वक्षारपर्वत और उनके बीचमें तीन विभंगा नदियाँ हैं। इस कारण उनमेंसे प्रत्येकके भी आठ-आठ भाग हो गये हैं। इस तरह ये बत्तीस भाग ही बत्तीस विदेहके रूपमें स्थित हैं!

बीचोंबीच विजयार्धपर्वत स्थित है। यहाँ रक्ता और रक्तोदा नामकी दो नदियाँ नीलपर्वतस्थ कुण्डोंसे निकलकर विजयार्धकी गुफाओंके भीतरसे जाती हुई सीता महानदीमें प्रविष्ट होती हैं। इस कारण उक्त कच्छा विदेह छः खण्डोंमें विभक्त हो गया है। इनमें सीता नदीकी ओर बीचका आर्यखण्ड तथा शेष पाँच म्लेच्छखण्ड हैं। आर्यखण्डके बीचमें क्षेमा नामकी नगरी स्थित है। इस नगरीका आयाम बारह योजन और विस्तार नौ योजन प्रमाण है। प्राकारवेष्टित उक्त नगरीके एक सहस्र गोपुर द्वार और पंचशतक खिड़की द्वार हैं। रथ्याओंकी संख्या बारह हजार निर्दिष्ट की गयी है। यहाँ चक्रवर्तीका निवास है, जो बत्तीस हजार देशोंके अधिपतियोंका स्वामी होता है। इसके अधीन ९९ हजार द्रोणमुख, ४८ हजार पट्टण, २६ हजार नगर, पाँच-पाँच सौ ग्रामोंसे संयुक्त चार हजार मडम्ब, चौंतीस हजार करवट, सोलह हजार खेट, चौदह हजार संवाह, ५६ रत्नद्वीप और ९६ करोड़ ग्राम होते हैं। यहाँ क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र ये तीन ही वर्ण रहते हैं। ६३ शलाकापुरुषोंकी परम्परा यहाँ पायी जाती है। कच्छा विदेहके समान ही महाकच्छा आदि विदेहोंकी भी स्थिति है।

कच्छा विदेहके रक्ता-रक्तोदा नदियोंसे अन्तरित मागध, वरतनु और प्रभास नामके तीन द्वीप हैं। दिग्विजयमें प्रवृत्त हुआ चक्रवर्ती प्रथम इन द्वीपोंके अधिपति देवोंको अपने अधीन करता है। इसी प्रकारसे दक्षिणकी ओरसे देव, विद्याधरोंको वशमें करके वह विजयार्ध पर्वतकी गुफामेंसे जाकर उत्तरके म्लेच्छ खण्डोंको भी अपने अधीन करता है। युद्धके अनन्तर चक्रवर्ती यहाँसे अश्व, गज, रत्न एवं कन्याओंको प्राप्त करता है। इस समय उसे यह अभिमान होता है कि मुझ जैसा प्रतापी चक्रवर्ती इस पृथ्वी पर अन्य कोई नहीं हुआ। अतएव इसी अभिमानसे प्रेरित होकर निज कीर्तिस्तम्भको स्थापित करनेके लिए ऋषभगिरिके निकट जाता है। यहाँ समस्त पर्वतोंको ही नानाचक्रवर्तीके नामोंसे व्याप्त देखकर, वह तत्क्षण निर्मद हो जाता है। अन्तमें वह दण्डरत्नसे एक नामको घिसकर उस स्थान पर अपना नाम लिख देता है और छहों खण्डोंको जीतकर क्षेमा नगरीमें वापस लौटता है।

आठवें उद्देशमें १९८ गाथाएँ हैं। इसमें पूर्वविदेहका वर्णन आया है और बताया है कि कच्छा देशके पूर्वमें क्रमशः चित्रकूटपर्वत, सुकच्छा देश, ग्रहवती नदी, महाकच्छादेश, पद्मकूटपर्वत, कच्छकावतीदेश, द्रहवतीनदी, आवर्तीदेश, नलिनकूटपर्वत, मंगलावतीदेश, पंकवतीनदी, पुष्कलादेश, शैलपर्वत और महापुष्कलादेश हैं। इसके आगे देवारण्य नामका वन है। उक्त सुकच्छा आदि देशोंकी राजधानियोंके, क्षेमपुरी, अरिष्टनगरी, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, ओषधि और पुण्डरीकिणी नाम आये हैं। महापुष्कलावती देशके आगे पूर्वमें देवारण्य नामका वन है। इसके आगे दक्षिणमें सीता नदीके तट पर दूसरा देवारण्य वन है। इससे आगे पश्चिम दिशामें वत्सादेश, त्रिकूटपर्वत, सुवत्सा देश, तप्तजला नदी, महावत्सादेश, वैश्रवणकूटपर्वत, वत्सकावतीदेश, मत्तजलानदी, रम्यादेश, अंजनगिरि पर्वत, सुरम्यादेश, उन्मत्तजलानदी, रमणीयादेश, आत्माञ्जनपर्वत और मङ्गलावतीदेश आये हैं। इन देशोंकी सुशीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंकावती, पद्मावती, शुभा और रत्नसंचया नामकी राजधानियाँ हैं। समस्त देश, नदी और पर्वतोंकी लम्बाई १६५५२,२/१९ योजन है।

नवम उद्देशमें १५७ गाथाएँ हैं। यहाँ अपरविदेहका वर्णन करते हुए बतलाया है कि रत्नसंचयपुरके पश्चिममें एक वेदिका और उस वेदिकासे ५०० योजन जाकर सोमनसपर्वत है। यह पर्वत भद्रशालवनके मध्यसे गया है। निषधपर्वतके समीपमें इसकी ऊँचाई ४०० योजन और अवगाह १०० योजन

है। विस्तार इसका ५०० योजन है। वेदिकाके पश्चिममें पद्मा नामका देश है। यह गंगा-सिन्धु नदियों और विजयार्ध पर्वतोंके कारण छह खण्डोंमें विभक्त हो गया। इसकी राजधानी अश्वपुरी है। पद्मा क्षेत्रके आगे पश्चिममें क्रमशः श्रद्धावतीपर्वत, सुपद्मादेश, क्षीरोदानदी, महपद्मादेश, विकटावतीपर्वत, पद्मकावतीदेश, सीतोदानदी, संखादेश, आशीविषपर्वत, नलिनादेश, स्रोतवाहिनीनदी, कुमुदादेश, सुखावहपर्वत और सरिता नामक देश हैं। इन देशोंकी सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका और विगतशोका राजधानियाँ है। पश्चिममें देवारण्य नामक वन है। इसके उत्तरमें शीतोदा नदीके उत्तर तटपर भी दूसरा देवारण्य है। इसके पूर्वमें वप्रादेश, चन्द्रपर्वत, सुवप्रादेश, गम्भीरमालिनीनदी, महावप्रादेश, सूर्यपर्वत, वप्रकावतीदेश, फेनमालिनीनदी, वल्गुदेश, महानागपर्वत, सुवल्गुदेश, उर्मिमालिनीनदी, गन्धिलादेश, देवपर्वत और गन्धमालिनीदेश स्थित हैं। इन देशोंकी विजयपुरी, वैजयन्ती, जयन्ता, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयुध्या और अवध्या राजधानियाँ हैं। इसके पूर्वमें एक वेदी और उसके आगे ५०० योजन जाकर गन्धमादनपर्वत है। इसके पूवमें ५३००० हजार योजन जाकर माल्यवान पर्वत है। इसके आगे पूर्वमें ५०० योजन जाकर नीलपर्वतके पासमें एक और वेदिका है। नदियोंके किनारे पर स्थित २० वक्षार पर्वत हैं, जिनके उपर जिनभवन बने है।

दशम उद्देशमें १०२ गाथाएँ हैं और लवण समुद्रका वर्णन आया है। यह समुद्र जम्बूद्वीपको सब ओरसे घेरकर वलयाकार स्थित है। इसका विस्तार पृथ्वीतलपर दो लाख योजन और मध्यमें दश सहस्र योजन है। गहराई एक हजार योजन है। इसके भीतर तटसे ९५ हजार योजन जाकर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरमें क्रमशः पाताल, वलयमुख, कदम्बक और यूपकेशरी महापाताल स्थित हैं। इनका विस्तार मूलमें और ऊपर दश सहस्र योजन है। इनके मध्य विस्तार और ऊँचाई एक लाख प्रमाण योजन है। शुक्लपक्ष और कृष्ण पक्षमें समुद्रकी जलवृद्धि और ह्रासका भी वर्णन आया है। दिशा और विदिशागत समस्त पातालोंकी संख्या १००८ है। लवणसमुद्रमें वेदिकासे बयालीस हजार योजन जाकर बेलन्धर देवोंके कौस्तुभ, कौस्तुभभास, उदक, उदकभास, शंख, महाशंख, उदक और उदवास आठ पर्वत हैं। समुद्रकी बेलाको धारण करनेवाले नागकुमार देवोंकी संख्या एक लाख बयालीस हजार है। इनमें बहत्तर हजार देव बाह्यबेलाको, बयालीस हजार देव आभ्यन्तर बेलाको और २८ हजार देव जलशिखाको धारण करते हैं। इन देवोंके नगरोंकी संख्या भी एक लाख बयालीस हजार है। यहाँ अन्तरद्वीप २४ हैं। इन द्वीपोंमें एक जंघावाले,

पूछवाले, सींगवाले एवं गूँगे इत्यादि विकृत आकृतिके धारक कुमानुष रहते हैं। इनमें एक जंघावाले कुमानुष गुफाओंमें रहकर मिट्टीका भोजन करते हैं तथा शेष कुमानुष पुष्प-फलभोजी होते हैं। इनके यहाँ उत्पन्न होनेके कारणोंको बतलाते हुए कहा गया है कि जो प्राणी मन्दकषायी होते हैं, काय-क्लेषसे धर्म-फलको चाहने वाले हैं, अज्ञानवश पञ्चाग्नितप करते हैं, सम्यग्दर्शनसे रहित होकर तपश्चरण करते हैं, अभिमानमें चूर होकर साधुओंका अपमान करते हैं, आलोचना नहीं करते, मुनिसंघको छोड़कर एकाकी विहार करते हैं, कलह करते हैं, वे मरकर कुमानुषोंमें उत्पन्न होते हैं।

एकादश उद्द`शमें ३६५ गाथाएँ हैं। इस उद्द`शमें द्वीपसागर, अधोलोक तथा उर्ध्वलोकका वर्णन आया है। द्वीपसागरोंमें धातकीखण्डद्वीपका वर्णन करते हुए उसका चार लाख योजन प्रमाण विस्तार बतलाया है। इसके दक्षिण और उत्तर भागोंमें दो इष्वाकार पर्वत है, जो लवणसे कालोद समुद्र तक आयत हैं। धातकीखण्डद्वीपके दो विभाग हैं। प्रत्येक विभागमें जम्बूद्वीपके समान, भरतादि सात क्षेत्र और हिमवान् आदि छह कुलपर्वत स्थित हैं। मध्यमें एक-एक मेरुपर्वत है। इनमें हिमवनपर्वतका विस्तार २१०५,५/१९ योजन है, महा-हिमवनका ८४२१,१/१९ योजन और निषधपर्वतका ३३६८४,४/१९ योजन है। आगे नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतोंका विस्तार क्रमशः निषध, महाहिमवान और हिमवानके समान है।

घातकीखण्डद्वीपको चारों ओरसे वेष्टित कर कालोदधि स्थित है। इसका विस्तार आठ लाख योजन है। लवणसमुद्रके समान अन्तरद्वीप यहाँ भी हैं, जिनमें कुमानुष रहते हैं। इससे आगे १६ हजार योजन विस्तृत पुष्करवरद्वीप है। इसके मध्यमें वलयाकारसे मानुषोत्तरपर्वत स्थित है, जिससे कि इस द्वीपके दो भाग हो गये हैं। मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर पुष्करार्धद्वीपमें स्थित भरतादि क्षेत्रों और हिमवान् आदि पर्वतोंकी रचना धातकीखण्डद्वीपके समान है। यह पर्वतरुद्ध क्षेत्रका प्रमाण ३५५६८४,४/१९ योजन है। पुष्करार्धकी आदिम परिधि ५१७०६०५ योजन, मध्य परिधि ११७००४२७ योजन और बाह्य परिधि १४२३०२४९ योजन है।

जम्बूद्वीपसे लेकर पुष्करार्धपर्यन्त क्षेत्र ढाईद्वीप या मनुष्यक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध है। मानुषोत्तरपर्वतसे आगे मनुष्य नहीं पाये जाते। पुष्कवरद्वीपसे आगे पुष्करवरसमुद्र, वारुणिवरद्वीप, वारुणिवरसमुद्र, क्षीरवरद्वीप, क्षीरवरसमुद्र, घृतवरद्वीप और घृतवरसमुद्र आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र स्थित हैं। अन्तिम द्वीप और समुद्रका नाम स्वम्भूरमण है। पुष्करवर और स्वम्भूवर द्वीपोंके मध्यमें

जो असंख्यात द्वीप, समुद्र स्थित हैं, उनमें केवल संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त तिर्यञ्च जीव ही उत्पन्न होते हैं। इनकी आयु एक पल्य और शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुषप्रमाण होती है। युगलस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले ये सब मन्दकषायी और फलभोजी होते हैं तथा मरकर नियमतः देवलोक जाते हैं। लवणोद, कालोद और स्वम्भूरमण इन तीन समुद्रोंमें ही मगर, मत्स्यादि जलचर जीव पाये जाते हैं। शेष समुद्रोंमें जलचर जीव नहीं होते। आगे सात नरकों और उनके निवासियोंकी आयु शरीरोत्सेध, अवधिज्ञानका विषय आदि बातोंका वर्णन आया है। समस्त नारकियोंके बिलोंकी संख्या एवं ४९ प्रस्तारोंका उल्लेख पाया जाता है। उर्ध्वलोकका वर्णन करते हुए बतलाया है कि पृथ्वीतलसे ९९ हजार योजन ऊपर जाकर मेरुपर्वतकी चूलिकाके ऊपर बालाग्रमात्रके अन्तरसे ऋजु विमान स्थित है। इसका विस्तार मनुष्यलोकके समान ४५ लाख योजनमात्र है। स्वर्गोंमें इन्द्रक, प्रकीर्णक और श्रेणीबद्ध विमान स्थित हैं, जिनका विस्तारादि भी निकाला गया है। इस प्रकार सौधर्म इन्द्रकी विभूति एवं सौधर्मस्वर्गके आकार-प्रकारादिका विवेचना किया है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानोंकी संख्याका आनयन भी किया गया है।

द्वादश उद्देशमें ११३ गाथाएँ हैं। यहाँ ज्योतिषपटलका वर्णन किया गया है। भूमिसे आठसौ अस्सी योजनकी ऊँचाईपर चन्द्रमाका विमान है। चन्द्रविमानका विस्तार और आयाम तीन गव्यूति और तेरहसौ धनुषसे कुछ अधिक है। इन विमानोंको प्रतिदिन सोलह हजार आभियोग्य जातिके देव खीचते हैं। उक्त देव पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमशः सिंह, गज, वृषभ और अश्वके आकारमें चार-चार हजार रहते हैं। इसी प्रकार सोलह हजार आभियोग्यदेव सूर्यविमानके, आठ हजार ग्रहगणोंके, चार हजार नक्षत्रोंके और दो हजार ताराओंके वाहक हैं। जम्बूद्वीपमें २, लवणसमुद्रमें ४, धातकीखण्डमें १२, कालोदधिमें ४२, और पुष्करार्धद्वीपमें ७२ चन्द्र हैं। मानुषोत्तरपर्वतके आगे पुष्करद्वीपमें १२६४ चन्द्र हैं। इतने ही सूर्य हैं। शेष द्वीपों और समुद्रोंमें चन्द्रबिम्ब और सूर्यबिम्बोंकी संख्या निकालनेके लिए कर्णसूत्र दिये गये हैं। इस प्रकार ज्योतिषपटल-अधिकारमें सूर्य, चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रोंकी संख्याका आनयन किया है।

त्रयोदश उद्देशमें १७६ गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम यहाँ कालके व्यवहार और परमार्थ रूपसे उल्लेख करते समय, आवलि आदिके प्रमाणका आनयन किया है। आगे चलकर परमाणुका स्वरूप बतलाते हुए उत्तरोत्तर अष्टगुणित अवसन्नासन्नादिके क्रमसे उत्पन्न होनेवाले अंगुलके उत्सेधांगुल, प्रमाणाङ्गुल और आत्माङ्गुल ये तीन भेद बतलाये हैं। इनमेंसे प्रत्येक सूच्यङ्गुल, प्रतराङ्गुल और घनाङ्गुलके भेदसे तीन-तीन प्रकारका है। ५०० उत्सेधाङ्गुलोंका एक प्रमाणाङ्गुल होता

है। परमाणु और अवसन्नासन्नादिके क्रमसे जो अङ्गुल निष्पन्न होता है, वह सूच्यङ्गुल कहलाता है। इसके प्रतरको प्रतराङ्गुल और घनको घनाङ्गुल कहते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें जिस-जिस कालमें जो मनुष्य होते हैं, उनके अङ्गुलको आत्माङ्गुल कहा जाता है। उत्सेधाङ्गुलसे नर-नारकादि जीवोंके शरीर की ऊँचाईका प्रमाण बतलाया जाता है। प्रमाणाङ्गुलसे द्वीप, समुद्र, नदी, कुण्ड, क्षेत्र, पर्वत, जिनभवनादिके विस्तारका प्रमाण ज्ञात किया जाता है और आत्माङ्गुलसे कलश, झारी, दण्ड, धनुष, बाण, हल, मूसल, रथ, सिंहासन, छत्र, चमर और गृह आदिका प्रमाण ज्ञात किया जाता है।

इसके पश्चात् व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य, अद्धापल्य, कोड़ा-कोड़ी, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदिका मान बतलाया गया है। अनन्तर सर्वज्ञसिद्धिके लिए प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और अविरुद्ध आगम प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रमाणके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनमें प्रत्यक्ष भी सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान और विकलप्रत्यक्ष अवधि और मनः-पर्ययज्ञान हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद अवधिज्ञानके, तथा ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय ये दो भेद मनःपर्ययज्ञानके हैं। परोक्ष-भेदोंके अन्तर्गत आभिनिबोधिक ज्ञानके ३३६ भेदोंका निर्देश करते हुए अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। पश्चात् क्षुधा, तृषादिसे रहित देवका वर्णन करते हुए अरहन्त परमेष्ठीके ३४ अतिशयों, देवपरिगृहीत आठ मङ्गलद्रव्यों, आठ प्रातिहार्यों और नव केवल-लब्धियोंका नामोल्लेख करके १८ हजार शीलों और ८४ हजार गुणोंका भी निर्देश किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें मनुष्यक्षेत्र, मध्यलोक, पाताललोक और उर्ध्वलोकका विस्तारसे वर्णन आया है। जैन भूगोलकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

धम्मरसायण[1]

इस ग्रन्थमें १९३ गाथाएँ हैं। धर्मरसायननामके मुक्तक-काव्य प्राकृत-भाषा-के कवियोंने एकाध और भी लिखे हैं। इस नामका आशय यही रहा है कि जिन मुक्तकोंमें संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होनेके आचार और नैतिक नियमोंको चर्चित किया जाता है, इस प्रकारकी रचनाएँ धर्मरसायनके अन्तर्गत आती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थका भी मूल वर्ण्य-विषय यही है। यद्यपि इस ग्रन्थमें काव्यतत्त्वकी अपेक्षा धर्मतत्त्व ही मुखरित हो रहा है, तो भी जीवनके शाश्वतिक नियमोंकी दृष्टिसे इसका पर्याप्त मूल्य है। नैतिक और धार्मिक जीवनके सभी

१. सिद्धान्तसारादिके अन्तर्गत, मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे १९०९ ई०में प्रकाशित।

मूल्य इस लघुकाय ग्रन्थमें प्रतिपादित हैं। आचार्य धर्मको त्रिलोकका बन्धु बतलाते हुए कहते हैं कि इसकी सत्तासे ही व्यक्ति पूजनीय, त्रिभुवनप्रसिद्ध एवं मान्य होता है—

आरम्भमें ही आचार्यने जन्म-मरण और दुःखको नाश करनेवाले इहलोक, परलोकके हितार्थ धर्मरसायनके कहनेकी प्रतिज्ञा की है। धर्म त्रिलोकबन्धु है, धर्म शरण है। धर्मसे ही मनुष्य त्रिलोकमें पूज्य होता है। धर्मसे कुलकी वृद्धि होती है, धर्मसे दिव्यरूप और आरोग्यता प्राप्त होती है। धर्मसे सुख होता है और धर्मसे ही संसारमें कीर्ति प्राप्त होती है। आचार्यने बताया है—

धम्मो तिलोयबंधू धम्मो सरणं हवे तिहुयणस्स।
धम्मेण पूयणीओ होइ णरो सव्वलोयस्स॥
धम्मेण कुलं विउलं धम्मेण य दिव्वरूवमारोग्गं।
धम्मेण जए कित्ती धम्मेण होइ सोहग्गं॥
वरभवणजाणवाहणसयणासणयाणभोयणाणं च।
वरजुवइवत्थुभूसण संपत्ती होइ धम्मेण॥[1]

अर्थात् धर्मके प्रभावसे धन-वैभव, भवन-वाहन, शय्या, आसन, भोजन, सुन्दर पत्नी, वस्त्राभूषण आदि समस्त लौकिक सुख-साधनोंकी प्राप्ति होती है। इस धर्मरसायनको सामान्यतया उपादेय वर्णित करनेपर भी रस-भेदसे उसकी भिन्नता उपमाद्वारा सिद्ध होती है। यथा—

खीराइं जहा लोए सरिसाइं हवंति वण्णणामेण।
रसभेएण य ताइं वि णाणागुणदोसजुत्ताइं॥
काइं वि खीराइं जए हवंति दुक्खावहाणि जीवाणं।
काइं वि तुट्ठि पुट्ठि करंति वरवण्णमारोग्गं[2]॥

जिस प्रकार वर्णमात्रसे सभी दूध समान होते हैं, पर स्वाद और गुणकी दृष्टिसे भिन्नता होती है, उसी प्रकार सभी धर्म समान होते हैं, पर उनके फल भिन्न-भिन्न होते हैं। आक—मदार या अन्य प्रकारके दूधके सेवनसे व्याधि उत्पन्न हो जाती है, पर गोदुग्धके सेवनसे आरोग्य और पुष्टि-लाभ होता है। इसी प्रकार अहिंसाधर्मके आचरणसे शांतिलाभ होता है, पर हिंसाके व्यवहारसे अशान्ति और कष्ट प्राप्त होता है।

आचार्यने चारों गतियोंके प्राणियोंको प्राप्त होनेवाले दुःखोंका मार्मिक विवेचन किया है। मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी और देव इनको अपनी-अपनी

१. धम्मरसायणं, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पद्य ३,४,५
२. वही, पद्य–९, १०

योनियोंमें पर्याप्त कष्ट होता है। जो इन कष्टोंसे मुक्ति प्राप्त करना चाहता है, वह धर्मरसायनका सेवन करे। आचार्यने इसमें वीतराग और सरागी देवोंकी भी परीक्षा की है, तथा बतलाया है कि जिसे अपने हृदयको राग-द्वेषसे मुक्त करना है, उसे वीतरागताका आचरण करना चाहिए। विषय-वासना-ग्रस्त सांसारिक प्रपञ्चोंसे युक्त, स्त्रीके अधीन, रागी, द्वेषी परमात्मा नहीं हो सकता है। आचार्यने इस परमात्म-तत्त्वका विवेचन करते हुए लिखा है—

कामग्गितत्तचित्तो इच्छ्यमाणो तिलोवणारूवं।
जो रिच्छी भत्तारो जादो सो किं होइ परमप्पो॥
जइ एरिसो वि मूढो परमप्पा वुच्चए एवं।
तो खरघोडाईया सव्वे वि य होंति परमप्पा[1]॥

सच्चा देव क्षुधा, तृषा, तृष्णा, व्याधि, वेदना, चिन्ता, भय, शोक, पीड़ा, राग, मोह, जन्म-जरा-मरण, निद्रा, स्वेद आदि दोषोंसे रहित होता है। सिंहासन, छत्र, दिव्यध्वनि, पुष्पवृष्टि, चमर, भामण्डल, दुन्दुभि आदि बाह्य चिह्नोंसे युक्त, सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी देव होता है। ९४वीं गाथासे १३८वीं गाथा तक सर्वज्ञदेवकी परीक्षा की गयी है और विभिन्न तर्कोंसे अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। धर्मके दो भेद हैं—सागार और अनगार। इन दोनों धर्मोंका मूल सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्वकी प्राप्ति जिसे हो जाती है, उसके कर्म-कलङ्क नष्ट होने लगते हैं। सम्यक्त्वरूपी रत्नके लाभसे नरक और तिर्यञ्च गतिमें जन्म नहीं होता। श्रावकाचारके १२ भेद बतलाए हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इस प्रकार १२ व्रतोंका कथन आया है। देवता, पितृ, मन्त्र, औषधि, यन्त्र आदिके निमित्तसे जीवोंकी हिंसा न करना अहिंसाणुव्रत है। असत्य वचनोंके साथ दूसरेको कष्ट देनेवाले वचन भी असत्यको ही अन्तर्गत है, अतः ऐसे वचनोंके व्यवहारका त्याग करना सत्याणुव्रत है। संसारकी समस्त स्त्रियोंकी माता, बहिन और पुत्रियोंके समान समझकर स्वदार-सेवनमें सन्तोष करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। धन-धान्य, द्विपद, चतुष्पद, खेत आदि वस्तुओंका नियत परिमाण कर शेषका परित्याग करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस प्रकार गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका भी वर्णन किया है।

आचार्यने दान देनेपर विशेष जोर दिया है। दानके प्रभावसे सभी प्रकारके दुःख-दारिद्र्य नष्ट हो जाते हैं और अणिमा, महिमा आदि अष्ट ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

---

१. धम्मरसायणं, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पद्य—१०४, १०५।

देवगतिमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति यथेष्ट भोगोंको भोगनेके अनन्तर मनुष्यगतिमें जन्म लेता है और वहाँ दिगम्बर दीक्षा धारणकर तपश्चर्या द्वारा कर्मोंको नष्ट करता है। मुनिको ग्रीष्म और शीत ऋतुमें किस प्रकार विचरण करना चाहिए, इसका भी वर्णन आया है। आचार्यने लिखा है—

डहिऊण य कम्मवणं उग्गेण तवाणलेण णिस्सेसं।
आपुण्णभवं अणंतं सिद्धिसुहं पावए जीओ[१]॥

इस ग्रन्थकी १९१वीं गाथा गोम्मटसार जीवकाण्डकी ६८वीं गाथा है। बहुत सम्भव है कि यह गाथा गोम्मटसार जीवकाण्डसे अथवा ऐसे किसी अन्य स्रोतसे ली गयी है, जो दो दोनोंका एक ही आधार रहा हो।

प्राकृत पञ्चसंग्रहवृत्ति

प्राकृतवृत्ति सहित पञ्चसंग्रहमें १. जीवसमास २. प्रकृतिसमुत्कीर्तन ३. बन्धस्तव, ४. शतक और ५ सप्ततिका ये पाँच प्रकरण संग्रहीत हैं। प्रकरणोंके क्रममें अन्तर है। पहला प्रकरण प्रकृतिसमुत्कीर्तन, द्वितीय कर्मस्तवन, तृतीय जीवसमास, चतुर्थ शतक और पंचम सप्ततिका है। बंध्य, बन्धेश, बन्धक, वन्धकारण और बन्धभेद इन पाँचोंके अनुसार संकलन कर व्याख्या की गयी है। व्याख्याकी शैली चूर्णियोंकी शैली है। वृत्तिकारने अपनी रचनामें 'कसायपाहुड'की चूर्णि और धवलाटीकाकी शैलीका पूरा अनुकरण किया है। इनकी वृत्तिको देखनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वृत्तिकार सिद्धान्तशास्त्रके अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अनेक नयी परिभाषाएँ अंकित की हैं। यद्यपि सभी गाथाओंपर वृत्ति नहीं लिखी है, पर जिन गाथाओं-पर वृत्ति लिखी गयी है, उन गाथाओंमें अनेक नयी बातें बतलायी गयी हैं। इसका पहला प्रकरण प्रकृतिसमुत्कीर्तन है। इसमें प्रकृतियोंके नामोंका समुत्कीर्त्तन करनेके अनन्तर चौदह मार्गणाओंमें कर्मप्रकृतियोंके बंधका कथन आया है। आचार्यने सभी विषयमें प्रमाण, नय और निक्षेपद्वारा वस्तुके परीक्षणकी चर्चा की है। प्रथम प्रकरण श्रुतवृक्ष नामका है, जिसमें श्रुतज्ञान-के समस्त भेद-प्रभेदोंका वर्णन आया है। लिखा है—

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तञ्चायुक्तवद् भाति तस्यायुक्तं सयुक्तिवत्[२]॥

---

१. धम्मरसायणं, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, गाथा १८१।

२. प्राकृतवृत्तिसहित पञ्चसंग्रह, भारतीय ज्ञानपीठ काशीके पंचसंग्रहमें प्रकाशित, पद्य ५, पृ० ५४१।

ज्ञानको प्रमाण माना है और नयको वस्तुके एक अंशका बोधक बताया है—

ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः[1]॥

ग्यारह अंग और चौदह पूर्वकी विषयवस्तुका विस्तारसे वर्णन आया है। प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनमें १६ गाथाएँ हैं और प्राकृतमें वृत्ति लिखी गयी है।

कर्मस्तवसंग्रहमें ८८ + ९ गाथाएँ हैं। इस प्रकरणमें गुणस्थानक्रमानुसार व्युच्छित्तिका कथन आया है। सान्तर-निरन्तर, सादि-अनादि आदि प्रकृतियोंके कथनके पश्चात् बन्धव्युच्छुत्ति सम्बन्धी ९ गाथाओंकी वृति भी लिखी है। प्रारम्भकी ८८ गाथाओंपर कोई वृत्ति नहीं है।

तृतीय प्रकरण जीवसमास नामका है। इसमें १७६ गाथाएँ हैं। आरम्भकी ५ गाथाओंपर वृत्ति है और शेष गाथाओंपर वृत्ति नहीं लिखी गयी है। पुद्गल द्रव्यके छः भेद—काल-द्रव्य, बीस प्ररूपणा, गुणस्थानका लक्षण, १४ गुणस्थानोंके नाम, गुणस्थानोंके स्वरूप, जीवोंकी गतियाँ, काय, ज्ञान, प्राण, वेद आदि सभी जीवसमासोंके लक्षण भी बतलाये गये हैं। लेश्याका स्वरूप, भेद एवं प्रत्येक लेश्यावालेकी प्रवृत्ति और परिणतिका भी वर्णन आया है। ज्ञानमार्गणामें ज्ञानके भेदोंका विवेचन किया है।

शतकसंग्रह नामक चतुर्थ प्रकरण है। इस प्रकरणमें १३९ + १९ गाथाएँ हैं और सभी गाथाओंपर वृत्ति भी लिखी गयी है। इसमें एकेन्द्रिय आदि जीवोंके भेद या जीवसमास वर्णित हैं। गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्याका प्रतिपादन करनेके अनन्तर प्रत्येक गतिमें बन्ध होनेवाली प्रकृतियोंका विवेचन किया गया है।

पञ्चम सप्ततिका नामक प्रकरण है। इसमें ९९ गाथाएँ हैं। इस प्रकरणमें विभिन्न बन्धभेदोंका वर्णन किया है। योग, उपयोग, लेश्या आदिकी अपेक्षा कर्मबन्धके भेदों या भंगोंका वर्णन किया है। इस प्रकार यह 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ कर्मशास्त्रकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है।

पद्मनन्दि द्वितीय

पद्मनन्दि द्वितीय पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिकाके रचयिता हैं। इन्होंने अपने गुरु वीरनन्दिको नमस्कार किया है। अतः 'जंबूदीवपण्णत्ति'के कर्त्तासे ये भिन्न हैं, क्योंकि जंबूदीवपण्णत्तिके कर्ताके गुरुका नाम बलनन्दि और प्रगुरुका नाम वीर-

१. पंचसंग्रहवृत्ति, पद्य ६, पृ० ५४२।

नन्दि है। अतएव इन दोनोंका ऐक्य संभव नहीं है। पर यह निश्चित है कि ये पद्मनन्दि वि० सं० की १० वीं शतीके पश्चात् हुए हैं, क्योंकि अमृतचन्द्राचार्यका प्रभाव 'निश्चयपञ्चाशत्' प्रकरणकी अनेक गाथाओंपर दिखलाई पड़ता है। अतः इनकी पूर्वावधि ई० सन् दशम शतीका पूर्वार्ध होना चाहिये। जयसेनाचार्यने अपनी पंचास्तिकायटीकामें एकत्वसप्ततिप्रकरणका निम्नलिखित पद्य पृ० २३५ पर उद्धृत किया है—

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चरित्तमिति योगः शिवाश्रयः[1]॥

पद्मप्रभमलधारिदेवने भी यही पद्य नियमसारकी टीका पृ० ४७ पर उद्धृत किया है। अतः यह स्पष्ट है कि पञ्चविंशतिकाके कर्त्ता पद्मनन्दि जयसेनाचार्य और नियमसारटीकाके कर्त्ता पद्मप्रभमलधारिदेवके पूर्ववर्ती हैं। जयसेनाचार्यका समय डॉ० ए० एन० उपाध्येके मतानुसार ई० सन्‌की १२वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध है। अतः यह पद्मनन्दिके समयकी उत्तर सीमा मानी जा सकती है।

पद्मप्रभमलधारीने भी नियमसारटीकाके आरम्भमें अपने गुरु वीरनन्दिको नमस्कार किया है। श्री प्रेमीजीने इस परसे अनुमान लगाया है कि पद्मप्रभ और पद्मनन्दि एक ही गुरुके शिष्य रहे होंगे तथा एक अभिलेखके आधार पर पद्मप्रभ और उनके गुरु वीरनन्दिको वि०सं० १२४२में विद्यमान बतलाया[2] है। पर पद्मप्रभसे पूर्व जयसेनाचार्यने पद्मनन्दिकी एकत्वसप्ततीसे पद्य उद्धृत किया है और पद्मप्रभने जयसेनकी टीकाओंका अवलोकन किया था। यह उनकी टीकाओंके अध्ययनसे स्पष्ट है। अतः पद्मनन्दि और पद्मप्रभके मध्यमें जयसेनाचार्य हुए हैं, यह निश्चित है।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाकी प्रस्तावनामें बताया गया है कि पद्मनन्दिपर गुणभद्राचार्यके आत्मानुशासनका प्रभाव है। तुलनाके लिए एक पद्य दिया जाता है, जिसमें आचार्य गुणभद्रने मनुष्यपर्यायका स्वरूप दिखलाते हुए उसे ही तपका साधन कहा है—

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम्[3]॥

अर्थात् दुर्लभ, अशुद्ध, अपसुख, अविदित मृति-समय और अल्प परमायु ये पाँच विशेषण मनुष्यपर्यायके लिए दिये गये हैं। इसी अभिप्रायको सूचित

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, शोलापुर संस्करण, ४।१४।
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०७।
३. आत्मानुशासन, शोलापुर संस्करण, पद्य १११।

करनेवाला 'पञ्चविंशतिका'का निम्नलिखित पद्य है—

दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचिस्तोकायुरल्पज्ञता-
ज्ञातप्रान्तदिनं जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे।
अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं
सौख्यार्थीति विचिन्त्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो निर्मलम्[1] ॥

अर्थात् दुष्प्राप, अशुचि, बहुदुःखराशि, अल्पज्ञताज्ञात, प्रान्तदिन और स्तोकायु मनुष्यपर्यायमें है। अतएव शाश्वतसुख-मुक्तिकी प्राप्तिके लिए तप करना आवश्यक है और यह तप मनुष्यपर्यायमें ही सम्भव है।

इस पद्यके अतिरिक्त पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिके ९।१८, १।४९, १।७६, १।११८, ३।४४ और ३।५१ क्रमशः आत्मानुशासनके पद्य २३९,२४०, १२५, १५, १३०, ३४ और ७९ पद्योंसे प्रभावित हैं। अतएव 'पञ्चविंशति'के रचयिता वि० की १०वीं शतीके पूर्व नहीं हो सकते।

पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिपर सोमदेवसूरिके 'यशस्तिलक'का भी प्रभाव पाया जाता है। पद्मनन्दिका श्लोक निम्न प्रकार है—

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छति।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्रमातः कृतचित्तचेष्टिता[2] ॥

ठीक इससे मिलता-जुलता यह 'यशस्तिलक'का भी श्लोक है—

एकं पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम्।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैष दीपः[3] ॥

उक्त दोनों पद्योंमें सरस्वतीकी स्तुति की गयी है। स्तुति करनेकी एक ही प्रणाली है। इसी प्रकार चतुर्विध दानके फल सूचक पद्य भी समानरूपमें उपलब्ध होते हैं। पद्मनन्दि-पञ्चवंशतिमें गृहस्थके षडावश्यकोंका निर्देश "देवपूजा-गुरुपास्ती" (६।७) आदि रूपमें किया गया है। यह श्लोक यशस्तिलक (उत्तरार्द्ध पृ० ४१४)में प्राप्त होता है। यशस्तिलकमें पूजाके स्थानपर सेवापाठ प्राप्त होता है। पद्मनन्दि-पञ्चविंशति (२।१०)में मुनिके लिए शाकपिण्डमात्रके दाताको अनन्तपुण्यभाग वतलाया है। यही भाव यशस्तिलक (उत्तरार्द्ध पृ० ४०८)में व्यक्त किया है। इसी प्रकार आत्मसिद्धिके लिए 'भूतानन्वयनात्' पद्यका आशय भी दोनों ग्रन्थोंमें तुल्य हैं। इससे यह निश्चय होता है कि पद्म-

१. पद्मनन्दि पञ्चविंशति, शोलापुर संस्करण, पद्य १२।२१।
२. पद्मनन्दि पञ्चविंशति, शोलापुर संस्करण, श्लोक १५।१३।
३. यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध, पृ० ४०१।

नन्दिने अपनी इस कृतिमें यशस्तिलकके उपासकाध्ययनका पर्याप्त उपयोग किया है। यशस्तिलकका समाप्तिकाल शक संवत् ८८१ (ई० ९५९) है। अतऐव आचार्य पद्मनन्दि द्वितीयका समय ई० सन् ९५९ के बाद होना चाहिये। यह निश्चय है कि पद्मनन्दिपर अमृतचन्द्रसूरि और अमितगति इन दोनोंका पूर्ण प्रभाव है। पद्मनन्दिने 'निश्चयपञ्चाशत' प्रकरणमें व्यवहार और शुद्ध नयोंकी उपयोगिताको दिखलाते हुए शुद्धनयके आश्रयसे आत्मतत्त्वके वर्णन करनेकी इच्छा प्रकट की है—

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितं किंचित्[1] ॥

पद्मनन्दिने व्यवहारको अबोधजनोंको प्रतिबोधित करनेका साधनमात्र बतलाया है। इसका आधार अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायका निम्नलिखित पद्य है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्त्र देशना नास्ति[2] ॥

अमृतचन्द्रके शब्द और अर्थका प्रभाव उपर्युक्त पद्यपर है। अमृतचन्द्रसूरिका समय वि० सं० ११वीं शती है। अतएव पद्मनन्दिका समय इसके पश्चात् ही होना चाहिये।

पद्मनन्दिकी पञ्चविंशतिपर अमितगतिके श्रावकाचारका भी प्रभाव है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

विनयश्च यथाथोग्यं कर्त्तव्यः परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते॥[3]

श्रावकोंको जिनागमके आश्रित होकर अर्हदादि पञ्चपरमेष्ठियों, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा इन सम्यग्दर्शनादिको धारण करने वाले जीवोंकी भी यथायोग्य विनय करनी चाहिए। उस विनयके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप आदिकी सिद्धि होती है, अतएव इसे मोक्षका द्वार कहा गया है।

---

१. पद्मनन्दि-पञ्चविंशति, शोलापुर संस्करण, श्लोक ११।८।

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य ६।

३. पद्मनन्दि-पञ्चविंशति ६।२९-३०।

यही भाव अमितगति-श्रावकाचारमें निम्न पद्योंमें व्यक्त किया गया है—

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रयविराजिते ।
विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः ॥
सम्यग्दर्शन-चारित्र-तपोज्ञानानि देहिना ।
अपाप्यन्ते विनीतेन यशांसीव विपश्चिता ॥[१]

पद्मनन्दिने अमितगति-श्रावकाचारके चतुर्थ परिच्छेदके कई पद्योंका अनुसरण किया है। अमितगतिके 'द्वात्रिंशतिका'के निम्नलिखित पद्यका प्रभाव भी पद्मनन्दिपर प्रतीत होता है।

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः
प्रमादतः संचारता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता-
स्तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥[२]

पद्मनन्दिने लिखा है—हे जिन ! प्रमाद या अभिमानसे जो मैंने मन, वचन एवं शरीर द्वारा प्राणियोंका पीडन स्वयं किया है, दूसरोंसे कराया है अथवा प्राणिपीडन करते हुए जीवको देखकर हर्ष प्रकट किया है, उसके आश्रयसे होनेवाला मेरा पाप मिथ्या हो। यथा—

मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया ।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम[३] ॥

अतएव अमितगतिसे उत्तरवर्ती होनेके कारण पद्मनन्दि द्वितीयका समय ई० सन्‌की ११ वीं शती है, यतः अमितगतिने वि० सं० १०७३ में अपना पञ्चसंग्रह रचा है।

रचनाका परिचय

'पद्मनन्दिपञ्चविंशति' अत्यन्त लोकप्रिय रचना रही है। इसपर किसी अज्ञात विद्वान्‌की संस्कृत-टीका है। 'एकत्वसप्तति' प्रकरणपर कन्नड़-टीका भी प्राप्त होती है। कन्नड़-टीकाकारका नाम भी पद्मनन्दि है। इनके नामके साथ पण्डितदेव, व्रती एवं मुनि उपाधियाँ पायी जाती हैं। ये शुभचन्द्र राद्धान्तदेवके अग्रशिष्य थे और इनके विद्यागुरु कनकनन्दी पण्डित थे। इन्होंने अमृतचन्द्रकी वचनचन्द्रिकासे आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त किया था और निम्बराज-

१. अमितगति-श्रवकाचार १३।४४, ४८ ।
२. भावनाद्वात्रिंशतिका, पद्य ५ ।
३. पद्मनन्दि-पञ्चविंशति २१।११ ।

के सम्बोधनार्थ एकत्व-सप्ततिवृत्तिकी रचना की थी। निम्बराज शिलाहार-वंशीय गण्डरादित्यनरेशके सामन्त थे। इन्होंने कोल्हापुरमें अपने अधिपतिके नामसे 'रूपनरायणवर्सदि' नामक जैनमन्दिरका निर्माण कराया था तथा कार्त्तिक कृष्णा ५ शक संवत् १०५८ (वि० सं० ११९३) में कोल्हापुर और मिरजके आसपासके ग्रामोंकी आयका भी दान दिया था। अतः मूलग्रन्थकार और टीकाकारके नाममें साम्य होनेसे तथा दीक्षा और शिक्षा गुरुओंके नाम भी एक होनेसे उनमें अभिन्नत्वकी कल्पना की जा सकती है।

इस रचना में २६ विषय हैं—

१. धर्मोपदेशामृत, २. दानोपदेशन, ३. अनित्यपञ्चाशत, ४. एकत्वसप्तति, ५. यतिभावनाष्टक, ६. उपासकसंस्कार, ७. देशव्रतोद्योतन, ८ सिद्धस्तुति, ९. आलोचना, १०. सद्बोधचन्द्रोदय, ११. निश्चयपञ्चाशत, १२. ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति, १३. ऋषभस्तोत्र, १४. जिनदर्शनस्तवन, १५. श्रुतदेवतास्तुति, १६. स्वयंभूस्तुति, १७. सुप्रभाताष्टक, १८. शान्तिनाथस्तोत्र, १९. जिनपूजाष्टक, २०. करुणाष्टक, २१. क्रियाकाण्डचूलिका, २२. एकत्वभावनादशक, २३. परमार्थविंशति, २४. शरीराष्टक, २५. स्नानाष्टक, २६. ब्रह्मचर्याष्टक।

१. **धर्मोपदेशामृत**—इस अधिकारमें १९८ पद्य हैं। धर्मोपदेशका अधिकारी सर्वज्ञ और वीतरागी ही हो सकता है। इस जगत्‌में असत्य भाषणके दो ही कारण हैं—१. अज्ञानता और २. कषाय। 'परलोकयात्राके लिए धर्म ही पाथेय है, पाथेयसे यह यात्रा सकुशल सम्पन्न होती है।' धर्मका स्वरूप व्यवहार और निश्चयनय दोनों ही दृष्टियोंसे बतलाया गया है। व्यवहारकी दृष्टिसे जीवदया, अशरणको शरण देना और सहानुभूति रखना धर्म है। गृहस्थ और मुनिधर्मकी अपेक्षा धर्मके दो भेद, रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्‌चारित्रकी अपेक्षा तीन भेद और उत्तम क्षमा, मार्दव आदिकी अपेक्षा दस भेद धर्मके बतलाये हैं। यह सब धर्म व्यवहारोपयोगी है और इसे शुभोपयोगके नामसे अभिहित किया गया है। यह जीवको नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियोंसे छुड़ाकर मनुष्य और देवगतिका सुख प्रदान करता है। निश्चयधर्म जीवको चतुर्गतिके दुःखोंसे छुड़ा-कर उसे अजर-अमर बना देता है और जीव शाश्वत-निर्बाध सुखका अनुभव करता है। निश्चय धर्मको शुद्धोपयोगके नामसे पुकारते हैं।

बताया है कि प्राणी सांसारिक सुखको—अभीष्ट, विषयोपभोगजनित, क्षणिक और सबाध इन्द्रियतृप्तिको ही अन्तिम सुख मानकर व्यवहार धर्मको उसीका साधन समझते हैं और यथार्थ धर्मसे विमुख रहते हैं। अतः निश्चय—अध्यात्म धर्मका सेवन करना आवश्यक है, इसीसे मोक्षकी प्राप्ति सम्भव है।

गृहस्थ और मुनिधर्ममें अधिक श्रेष्ठ मुनिधर्म है, क्योंकि मोक्षमार्ग—रत्नत्रय-के धारक साधु ही होते हैं। साधुकी स्थिति गृहस्थों द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये भोजनके आश्रित होती है, अतएव गृहस्थधर्मकी भी आवश्यकता है। जो धर्म-वत्सल गृहस्थ अपने षट् आवश्यकोंका पालन करता हुआ मुनिधर्मको स्थिर रखते हुए मुनियोंको निरन्तर आहारादि दिया करता है उसीका गृहस्थ-जीवन प्रशंसनीय है।

श्रावकधर्मकी दर्शन, व्रत आदि एकदश प्रतिमाओंका भी वर्णन किया गया है। श्रावकको द्यूतक्रीडा, मांसादिभक्षणरूप सप्तव्यसनका त्याग करना आव-श्यक है। आचार्यने द्यूतादि व्यसनोंका सेवन कर कष्ट उठाने वाले युधिष्ठिर आदिका उदाहरण भी दिया है। हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रहरूप पापोंका त्याग गृहस्थ एकदेश करता है और मुनि सर्वदेश, अतः मुनिका आच-रण सकलचरित्र और गृहस्थका आचरण देशचरित्र कहलाता है। सकलचारित्र-को धारण करनेवाले मुनिको रत्नत्रय, मूलगुण, उत्तरगुण, पाँच आचार और दस धर्मोंको धारण करना चाहिए। मुनिके अट्ठाइस मूलगुणोंमें पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, समता आदि षडावश्यक, केशलुञ्च, वस्त्रपरित्याग, स्नानपरित्याग, भूमिशयन, दन्तघर्षणका त्याग, स्थितिभोजन और एकभक्तकी गणना की गयी है। इन २८ मूलगुणोंमें पद्मनन्दिने अचेल-कत्व, लोंच, स्थितिभोजन और समताका ही मुख्यतासे वर्णन किया है। दिग-म्बरत्वकी सिद्धि अनेक प्रमाणों द्वारा की गयी है।

साधुजीवनके वर्णनके पश्चात् आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठियोंका स्वरूप प्रतिपादित किया है। व्यवहाररत्नत्रयका स्वरूप अंकित करनेके साथ निश्चय-रत्नत्रयका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—आत्मानामक निर्मल ज्योतिके निर्णयका नाम सम्यग्दर्शन, तद्विषयक बोधका नाम सम्यग्ज्ञान और उसीमें स्थित होनेका नाम सम्यक्चारित्र है।

यह निश्चयरत्नत्रय ही कर्मबन्धको नष्ट करने वाला है। उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दस धर्मोंका सवन संवरका कारण है।

संसारके समस्त प्राणी दुःखसे भयभीत होकर सुख चाहते हैं और निरन्तर उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। पर सभीको सुखका लाभ हो नहीं पाता। इसका कारण उनका सुख-दुःखविषयक विवेक है। उन्हें सातावेदनीयके उदयसे क्षणिक सुखका आभास होता है, उसे वे यथार्थ सुख मान लेते हैं, जो वस्तुतः स्थायी यथार्थ सुख नहीं है, यतः जिस इष्ट सामग्रीके संयोगमें सुखकी कल्पना करते हैं, वह संयोग ही स्थायी नहीं है। अतः जब अभीष्ट सामग्रीका

वियोग हो जाता है, तो सन्ताप उत्पन्न होता है। वास्तविक सुख आकुलताके अभावमें है, जो मोक्षमें ही उपलब्ध होता है।

इसके पश्चात् विभिन्न दार्शनिकों द्वारा मान्य आत्मस्वरूपकी मीमांसा की गयी है। बताया है—

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृत्वभावं गतो
नैको न क्षणिको न विश्ववित्ततो नित्यो नैकान्ततः।
आत्मा कायमितश्चिदेकनिलयः कर्त्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरता-विनाश-जननैः प्रत्येकमेकक्षणे ॥[1]

यह आत्मा एकान्तरूपसे न तो शून्य है, न जड़ है, न पृथ्वी आदि भूतोंसे उत्पन्न हुआ है, न कर्त्ता है, न एक है, न क्षणिक है, न विश्वव्यापक है और न नित्य है। किन्तु चैतन्यगुणका आश्रयभूत वह आत्मा प्राप्त हुए शरीरके प्रमाण होता हुआ स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता भी है। यह आत्मा प्रत्येक समयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है।

तात्पर्य यह है शून्यैकान्तवादी माध्यमिक, मुक्ति अवस्थामें बुद्ध्यादि नव-विशेषगुणोच्छेदवादी वैशेषिक, भूतचैतन्यवादी चार्वाक, पुरुषाद्वैतवादी वेदान्ती, सर्वथाक्षणिकवादी सौत्रान्तिक एवं सर्वथानित्यवादी सांख्यके सिद्धांतका निरसन करनेके लिए उक्त पद्य कहा गया है। जो व्यक्ति आत्मा, कर्म और संसारकी अवस्थाका अनुभव कर धर्माचरण करता है, वह धर्माचरण द्वारा शाश्वतिक सुखको प्राप्त कर लेता है।

२. **दानोपदेशन अधिकार**—में ५४ पद्य हैं। दानकी आवश्यकता और महत्त्व प्रकट हुए बतलाया है कि श्रावक गृहमें रहता हुआ अपने और अपने आश्रित कुटुम्बके भरण-पोषणके हेतु धनार्जन करता है, इसमें हिंसादिका प्रयोग होनेसे पापका संचय होता है। इस पापको नष्ट करनेका साधन दान ही है। यह दान श्रावकके षट् आवश्यकोंमें प्रधान है। जिस प्रकार जल वस्त्रमें लगे हुए रक्तादि-को दूर कर देता है, उसी प्रकार सत्पात्रदान श्रावकके कृषि और वाणिज्य आदि-से उत्पन्न पापमलको धोकर उसे निष्पाप कर देता है। दानके प्रभावसे दाता-को भविष्यमें कई गुनी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। गृहस्थके लिए पात्रदान ही कल्याणका साधन है, जो दान नहीं देता, वह धनसे सम्पन्न होनेपर भी रंकके समान है। इस प्रकरणमें आचार्यने उत्तम, मध्यम, जघन्य, कुपात्र और अपात्रके अनुसार दानका फल बतलाया गया है।

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशति १।१३४।

३. **अनित्यपञ्चाशत्**—में ५५ पद्य हैं। शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, वैभव आदिकी स्वाभाविक अस्थिरता दिखलाकर उनके संयोग और वियोगमें हर्ष और विषाद-के परित्यागके लिए प्रेरणा की गयी है। आयुकर्मका अन्त होनेपर प्राणान्त होना अनिवार्य है, कोई किसीकी आयुको एक क्षण भी नहीं बढ़ा सकता है, अतः वस्तु स्थितिका विचार कर हर्ष-विषादसे पृथक् रहनेकी चेष्टा करनी चाहिए। कुटुम्बी प्राणी उसी प्रकार साथमें रहते हैं, जिस प्रकार रात्रि होनेपर पक्षी इधर-उधर-से आकर एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं, प्रभात होने पर पुनः अनेक दिशाओं-में चले जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी अनेक योनियोंसे आकर विभिन्न कुलोंमें जन्म ग्रहण करते हैं और पुनः आयुके समाप्त होनेपर अन्य कुलोंमें चले जाते हैं।

४. **एकत्वसप्तति**—इसमें ८० पद्य हैं। चिदानन्दस्वरूप परमात्माको नमस्कार करनेके अनन्तर चित्स्वरूप यद्यपि प्रत्येक प्राणिके भीतर अवस्थित है, पर अज्ञा-नताके कारण अधिकतर प्राणी उसे पहचानते नहीं हैं, अतएव उसे बाह्य पदार्थों-में ढूँढते हैं। जिस प्रकार अग्नि काष्ठमें अव्यक्तरूपसे व्याप्त है, उसी प्रकार चैतन्य-आत्मा भी अपने भीतर व्याप्त है। राग-द्वेषके अनुसार जो किसी भी पदार्थसे सम्बन्ध होता है, वह बन्धका कारण है तथा समस्त बाह्य पदार्थोंमें भिन्न एकमात्र आत्मस्वरूपमें जो अवस्थान होता है, वह मुक्तिका कारण है। बन्ध-मोक्ष, राग-द्वेष, कर्म-आत्मा और शुभ-अशुभ इत्यादि प्रकारसे जो द्वैत बुद्धि होती है, उससे संसारमें परिभ्रमण होता है और इसके विपरीत अद्वैत—एकत्वबुद्धिसे जीव मुक्तिके सन्मुख होता है। शुद्ध निश्चय नयके अनुसार एक अखण्डचैतन्य आत्माकी ही प्रतीति होती है, इसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा क्रिया-कारक आदिका कुछ भी भेद प्रतिभासित नहीं होता। 'जो शुद्ध चैतन्य है, वही निश्चयसे मैं हूँ' की प्रतीति होती है।

परमात्मतत्त्वकी उपासनाका एकमात्र उपाय साम्य है। स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सभी साम्यके नामान्तर हैं। शुद्ध चैतन्यके अतिरिक्त आकृति, अक्षर, वर्ण एवं अन्य किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं करना ही साम्य है। कर्म और रागादिकको हेय समझकर छोड़ देना और उपयोग-स्वरूप परंज्योतिको उपादेय समझकर ग्रहण करना साम्यस्थिति है।

५. **यतिभावनाष्टक**—इस प्रकरणमें ९ पद्य हैं। इन पद्योंमें उन मुनियोंकी स्तुति की गयी है, जो पाँचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके विषयभोगोंसे विरक्त होते हुए नानाप्रकारके तपश्चरण करते हैं तथा सभी प्रकारके उपसर्गों-को सहन करते हैं।

६. **उपासकसंस्कार**--इस अधिकारमें १२ पद्य हैं। सर्वप्रथम व्रत और दान-के प्रथम प्रवर्तक आदिजिनेन्द्र और राजा श्रेयान्सके द्वारा कर्मकी स्थिति दिखलाकर उसका स्वरूप बतलाया है। धर्मके मुनिधर्म और श्रावकधर्म भेद बतलाकर श्रावकाचारका निरूपण करते हुए गृहस्थके देवपूजा, निर्ग्रन्थ गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट् आवश्यकोंका कथन किया है। सात व्यसनके त्यागपर जोर देते हुए सामायिक व्रतका स्वरूप प्रतिप्रादित किया है।

७. **देशव्रतोद्योतन**—में २७ पद्य हैं। यहाँ सम्यक्दृष्टिको प्रशंस्य बतलाते हुए सम्यग्दर्शनके साथ मनुष्य भवके प्राप्त हो जानेपर तपको ग्रहण करनेकी प्रेरणा की है। यदि मोह या अशक्तिके कारण दिगम्बरी दीक्षा लेकर तपाचरण कर सम्भव न हो, तो सम्यग्दर्शनके साथ षट्आवश्यक, अष्टमूलगुण और द्वादशगुणों-को धारण करना चाहिए। रात्रिभोजनत्याग और छने हुए जलका व्यवहार गृहस्थको करना चाहिए। श्रावक आरम्भजन्य पापक्रियाएँ करता है, अतएव उसे आहार, औषध अभय आदि दानकार्यों द्वारा अपनी आत्माको पवित्र करना चाहिए।

श्रावकके षडावश्यकोंमें देवदर्शन और देवपूजन प्रथम कर्त्तव्य है। देवदर्शनादि-के बिना, गृहस्थाश्रमको पत्थरकी नाव समझना चाहिए। इसके लिए चैत्यालय निर्माण अतिशय पुण्यवर्धक है। अतः चैत्यालयके आधारसे ही मुनि और श्रावक दोनोंका धर्म अवस्थित रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों-में सर्वश्रेष्ठ मोक्ष ही है। यदि धर्म पुरुषार्थ मोक्षके साधनरूपमें अनुष्ठित होता है तो वह उपादेय है। इसके विपरीप भोगादिककी अभिलाषासे किया गया धर्मपुरुषार्थ पापरूप है। अतः अणुव्रत या महाव्रत दोनोंके पालन करने-का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।

८. **सिद्धस्तुति**—२९ पद्योंमें कर्मक्षय करने वाले सिद्धोंकी स्तुति की गयी है। ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंके नाश करनेसे कौन-कौन गुण उत्पन्न होते हैं, इसका भी कथन आया है।

९. **आलोचना**—इस अधिकारमें ३३ पद्य हैं। जिनेन्द्रके गुणोंका वर्णन करते हुए यह बतलाया है कि मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनु-मोदन, इनको परस्पर गुणित करनेपर जो नौ स्थान प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा प्राणीके पाप उत्पन्न होता है। इसके लिए प्रभुके समक्ष आत्मनिन्दा करना आलोचना है। अज्ञानता और प्रमादवश होकर जो पाप उत्पन्न हुआ है, उसे निष्कपट भावसे जिनेन्द्र और गुरुके समक्ष प्रकट करना आलोचना है। आलो-चना करनेसे आत्मशुद्धि होती है और लगे हुए पापोंसे छुटकारा प्राप्त होता

है अर्थात् अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है। पापका कारण विकल्प है और संकल्प-विकल्प असंख्यात होते हैं, अतः पापास्रव भी नाना प्रकारसे होता है। अतएव इन समस्त पापोंको दूर करनेका उपाय है मन और इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थोंकी ओरसे हटा कर उनका परमात्मस्वरूपके साथ एकीकरण करना। इसके लिए मनके ऊपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। कारण मनकी अवस्था ऐसी है कि वह समस्त परिग्रहको छोड़कर वनका आश्रय ले लेनेपर भी बाह्य पदार्थोंकी ओर दौड़ता है। अतएव मनको जीतनेके लिए उसे परमात्मस्वरूप चिन्तनमें लगाना श्रेयस्कर है। कलिकालके प्रभावके कारण जो दुष्कर तपश्चरण नहीं कर सकता है, वह सर्वज्ञ वीतरागी प्रभुकी केवल भक्ति करनेसे ही आत्म-कल्याणका मार्ग प्राप्त कर लेता है।

१०. **सद्बोधचन्द्रोदयअधिकार**—में ५० पद्य हैं। इस अधिकारमें भी चित्स्वरूप परमात्माकी महिमा दिखलाकर यह निर्दिष्ट किया है कि जिसका मन चित्स्वरूप आत्मामें लीन हो जाता है, वह योगी समस्त जीवराशिको आत्मसदृश देखता है। मोहनिद्राके छोड़नेपर ही प्राणी सद्बोधको प्राप्त करता है।

११. **निश्चयपञ्चाशतअधिकार**—में ६२ पद्य हैं। इसमें आत्मतत्त्वका निरूपण किया गया है। समयसारकी अनेक गाथाओंका भाव अक्षुण्णरूपमें प्राप्त होता है। समयसारकी निम्नलिखित गाथाओंका प्रभाव इस प्रकरणके पद्योंपर है। यथा

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

—समयसार, जीवाजीवाधिकार, गाथा ४।

× × × ×

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम्।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः॥—प० वि० ११।६।

× × ×

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥

—समयसार, जीवाजीवाधिकार, गाथा ११।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्॥

—पद्मनन्दिपञ्चविंशति ११।९।

नय दो प्रकारका है—१. शुद्धनय और २. व्यवहारनय। व्यवहारनय द्वारा अज्ञानी व्यक्तियोंको प्रबोधित किया जाता है। यह नय यथावस्थित वस्तुको

विषय न करनेके कारण अभूतार्थ कहलाता है। शुद्ध नय यथावस्थित वस्तुको विषय करनेके कारण भूतार्थ कहा गया है और यही कर्मक्षयका हेतु है। वस्तु-का यथार्थस्वरूप अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन जो वचनों द्वारा किया जाता है, वह व्यवहारके आश्रयसे ही। मुख्य और उपचारके आश्रयसे किया जाने वाला सब विवरण व्यवहारके ऊपर ही आश्रित है। इस दृष्टिसे व्यवहार उपा-देय माना गया है। आगे शुद्धनयके आधारपर रत्नत्रयका स्वरूप बतलाया गया है। समस्त परिग्रहका त्यागी मुनि भी यदि सम्यग्ज्ञानसे रहित है, तो वह स्थावरके तुल्य है। सम्यग्ज्ञान द्वारा ही समस्त वस्तुओंकी यथार्थ प्रतीति होती है, जो जीवात्मा अपनेको निरन्तर कर्मसे बद्ध देखता है, वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता है, वह मुक्त हो जाता है। हे समतारूप अमृतके पानसे वृद्धिगत आनन्दको प्राप्त आत्मन्! तू बाह्यतत्त्वमें मत जा, अन्तस्तत्त्वमें जा।

जब तक चैतन्यस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती है, तभी तक बुद्धि आगमके अभ्यासमें प्रवृत्त होती है, पर जैसे ही उक्त चैतन्यस्वरूपका अनुभव प्राप्त होता है, वैसे ही वह बुद्धि आगमकी ओरसे विमुख होकर उस चैतन्यस्वरूप-में ही रम जाती है। अतएव जीवको शाश्वतिक सुखकी प्राप्ति होती है। जिस आत्मज्योतिमें तीनों काल और तीनों लोकोंके सब ही पदार्थ प्रतिभासित होते हैं तथा जिसके प्रकट होनेपर समस्त वचनप्रवृत्ति सहसा नष्ट हो जाती है, जो चैतन्यरूप तेज नय, निक्षेप और प्रमाण आदि विकल्पोंसे रहित, उत्कृष्ट, शान्त एवं शुद्ध अनुभवका विषय है, वही मैं हूँ। इस प्रकार आत्मानुभूतिका विवेचन विस्तारपूर्वक किया है।

१२. ब्रह्मचर्य रक्षावर्त्ति—इस अधिकारमें २२ पद्य हैं। आरम्भमें ब्रह्मचर्यका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि ब्रह्मका अर्थ विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा है। उस आत्मामें चर्य अर्थात् रमण करना ब्रह्मचर्य है। यह निश्चयब्रह्मचर्यकी परिभाषा है। इस प्रकारका ब्रह्मचर्य इस प्रकारके मुनियोंको प्राप्त होता है जो शरीरसे निर्ममत्व रखते हैं तथा सभी प्रकारसे जितेन्द्रिय होते हैं। ब्रह्मचर्यके विषयमें यदि कदाचित् स्वप्नमें भी कोई दोष उत्पन्न होता है तो वे रात्रिविभागके अनुसार आगमोक्त विधिसे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। संयमी मन ही इस प्रकारके ब्रह्मचर्यका आचरण कर सकता है। इस अधिकारमें ब्रह्मचर्य पालनकी विधि, ब्रह्मचर्यका महत्त्व एवं ब्रह्मचर्यमें विघ्न करनेवाले कारणोंका विवेचन किया है।

१३. **ऋषभ-स्तोत्र**— इस स्तोत्रमें तीर्थङ्कर ऋषभदेवके इतिवृत्तका निर्देश भी किया है। जब ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर माता मरुदेवीके गर्भमें आनेवाले थे, उसके छः महीने पूर्वसे ही नाभिरायके घरपर रत्न-वृष्टि आरम्भ हो गयी थी। देवोंने आकर मरुदेवीके चरणोंमें नमस्कार किया। जब भगवान ऋषभदेवका जन्म हुआ, तो देवोंने पाण्डु-शिलापर ले जाकर उनका अभिषेक किया। भोगभूमिका अन्त होकर कर्मभूमिकी रचना आरम्भ होने लगी थी। कल्पवृक्ष धीरे-धीरे नष्ट होते जा रहे थे। अतः प्रजाजन भूखसे पीड़ित हो ऋषभ-देवके पास गये और उन्होंने कृषि आदि कार्योंके करनेकी शिक्षा दी। ८४ लाख वर्ष पूर्वकी आयुमेंसे ८३ लाख पूर्व बीत जानेपर वे एक दिन सभाभवनमें सुन्दर सिंहासनके ऊपर स्थित होकर इन्द्रके द्वारा आयोजित नीलाञ्जना अप्सराके नृत्यको देख रहे थे। इसी बीच नीलाञ्जनाकी आयु क्षीण हो जानेसे वह क्षणभर-में अदृश्य हो गयी। इन्द्रके आदेशसे उसके स्थानपर दूसरी देवांगना नृत्य करने लगी, पर ऋषभदेवकी दिव्यदृष्टिसे यह बात ओझल न रह सकी और उन्होंने उस नीलाञ्जनाकी क्षणनश्वरताको देखकर राजलक्ष्मीकी क्षणनश्वरताको अवगत किया। अतएव उन्होंने समस्त राज्यपरिग्रहका त्याग कर दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार तपश्चरण करते हुए एक हजार वर्ष बीत गये और अनुपम समाधि द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। समव-शरणमें अष्ट प्रातिहार्योंसे सुशोभित तीर्थङ्कर ऋषभदेवने विश्वहितकारी मोक्षमार्गका उपदेश दिया। यह स्तोत्र प्राकृत-भाषामें रचित है।

१४. **जिन-दर्शन-स्तवन**—इस स्तवनमें ३४ गाथाएँ हैं और यह भी प्राकृत भाषामें लिखा गया है। आरम्भमें बताया है कि हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होनेपर मेरे नेत्र सफल हो गये तथा मन और शरीर शीघ्र ही अमृतसे सींचे गयेके समान शान्त हो गये। हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होनेपर दर्शनमें बाधा पहुँचाने वाले समस्त मोहरूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गये, जिससे मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। रागादिविकारोंसे रहित आपके दर्शनसे मेरे समस्त पाप नष्ट हो गये। जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिका अन्धकार समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आपके दर्शनसे पुण्योदय हो गया है और पापान्धकार नष्ट हो चुका है। आचार्यने जिनदर्शनसे प्राप्त होनेवाले सन्तोष, सुख, वैभव आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। दर्शनके प्रभावसे मोक्षमार्गकी उपलब्धि होती है।

१५. **श्रुतदेवता-स्तुति**—अधिकारमें ३१ पद्य हैं। इन पद्योंमें सरस्वतीकी स्तुति की गयी है। बताया है, हे सरस्वती! जो तेरे दोनों चरण-कमल हृदयमें

धारण करता है। उसकी समस्त अज्ञानता और कर्मसंस्कार नष्ट हो जाते हैं। सरस्वतीका तेज न दिनकी अपेक्षा करता है न रात की, न अभ्यन्तरकी अपेक्षा करता है न बाह्य की, न सन्ताप उत्पन्न करता है और न जड़ता ही। समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला यह तेज अपूर्व है। संसारमें ज्ञानमय दीपक ही सबसे उत्तम है। यह नेत्रवालोंको तो वस्तुदर्शन कराता ही है, पर नेत्रहीनोंको भी वस्तुप्रतीति कराता है। सरस्वतीके प्रसादसे ही शास्त्रोंका अध्ययन होता है और वस्तुतत्त्वकी प्रतीति। आचार्यने लिखा है—

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिन्तामणिकल्पपादपाः।
फलन्ति हि त्वं पुनरत्र वा परे भवे कथं तैरूपमीयसे बुधैः[1]॥

× × ×

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम्।
त्वमेव चानन्दसमुद्रवर्धने मृगाङ्कमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम्[2]॥

१६. **स्वयम्भूस्तुति**—इस प्रकरणमें २४ पद्य हैं और इनमें क्रमशः २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है।

१७. **सुप्रभाताष्टक**—इसमें आठ पद्य हैं। प्रभातकालके होनेपर रात्रिका अन्धकार नष्ट हो जाता है और सूर्यका प्रकाश चारों ओर व्याप्त हो जाता है। उस समय जनसमुदायकी निद्रा भंग हो जाती है और नेत्र खुल जाते हैं। ठीक इसी प्रकारसे मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेसे मोहनिर्मित जड़ता नष्ट हो जाती है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके निर्मूल नष्ट हो जानेसे अनन्तज्ञान, दर्शनका प्रकाश व्याप्त हो जाता है।

१८. **शान्तिनाथस्तोत्र**—इसमें ९ पद्योंमें तीर्थङ्कर शान्तिनाथकी स्तुति की गयी है। प्रसंगवश अष्टप्रातिहार्योंका भी उल्लेख आया है।

१९. **जिनपूजाष्टक**—इस प्रकरणमें दश श्लोक हैं और जलचन्दनादि आठ द्रव्योंके द्वारा जिन-भगवानकी पूजा किये जानेका वर्णन आया है।

२०. **करुणाष्टक**—इस प्रकरणमें ८ पद्य हैं और दीनता दिखलाकर जिनेन्द्रदेवसे दयाकी याचना करते हुए संसारसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की गयी है।

२०. **क्रियाकाण्डचूलिका**—इस प्रकरणमें १८ श्लोक हैं। आरम्भमें बताया है कि जबतक मोक्षके कारणभूत सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र प्राप्त

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशति, पद्य १५।१९।

२. वही, १५।२४।

नहीं होते तब तक भगवानकी भक्ति प्राप्त होती रहे। इस भक्तिके प्रसादसे ही रत्न-त्रयकी प्राप्ति सम्भव है। रत्नत्रय, मूलगुण और उत्तरगुणोंके सम्बन्धमें जो अपराध हुआ है तथा मन, वचन, काय, वृत्त, कारित और अनुमोदनासे जो प्राणिपीडन हुआ है। तज्जन्य आस्रव आपके चरण-कमलके स्मरणसे मिथ्या हो।

चिन्तादुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाथागिरः।
कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृते—
रेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत्[1]॥

२२. **एकत्वभावनादशक**—इस प्रकरणमें ११ पद्य हैं। यह परमज्योति-स्वरूपसे प्रसिद्ध और एकत्वरूप अद्वितीय पदको प्राप्त आत्मतत्त्वका विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि जो इस आत्मतत्त्वको जानता है वह दूसरोंके द्वारा पूजा जाता है, उसका आराध्य फिर अन्य कोई नहीं होता। उस एकत्वका ज्ञान दुर्लभ अवश्य है, पर मुक्तिको वही प्रदान करता है। मुक्तिसुख ही संसारमें सर्वश्रेष्ठ है।

२३. **परमार्थविंशति**—इस प्रकरणमें २० श्लोक हैं। इसमें भी शुद्ध चैतन्य निर्विकल्पक आत्मातत्त्वको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। निश्चयतः यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुखस्वरूप है। न यह परवस्तुओंका भोक्ता है और न कर्ता ही। यह तो स्वयं अपने परिणामोंका कर्त्ता और भोक्ता है। जब अन्तरंगमें रत्नत्रयका प्रकाश व्याप्त हो जाता है। तो संसारके सारे परपदार्थ निःसार प्रतीत होने लगते हैं। आत्मा कर्मफलरूप सुख-दुःखसे पृथक् है।

२४. **शरीराष्टक**—इस प्रकरणमें ८ पद्य हैं। शरीरकी स्वाभाविक अपवित्रता और अस्थिरताको दिखलाते हुए उसे नाड़ीव्रणके समान भयानक और कड़वी तुम्बीके समान उपयोगके अयोग्य बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि एक ओर मनुष्य जहाँ अनेक पोषक तत्त्वों द्वारा उसका संरक्षण करके उसे स्थिर रखनेका प्रयास करते हैं वहीं दूसरी ओर वृद्धत्व उन्हें क्रमशः जर्जरित करनेमें उद्यत रहता है और अन्तमें वही सफल होता है। इस प्रकार शरीरकी अशुचिता और अनित्यताका वर्णन आया है।

२५. **स्नानाष्टक**—इसमें ८ पद्य हैं। स्वभावतः अपवित्र, मलमूत्र आदिसे परिपूर्ण यह शरीर स्नान करनेसे कभी पवित्र नहीं हो सकता। इसका यथार्थ स्थान तो विवेक है जो जीवके चिरसंचित मिथ्यात्व आदि रूप अन्तरंग मलको

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशति, २१।१२।

धो देता है। इसके विपरीत उस जलके स्नानसे तो प्राणिहिंसाजनित केवल पापमलका ही संचय होता है। जो शरीर प्रतिदिन स्नान करनेसे भी अपवित्र रहता है तथा अनेक सुगन्धित लेपनोंसे लेपित होनेपर भी दुर्गन्धित बना रहता है, उस शरीरकी शुद्धि जलद्वारा नहीं की जा सकती और न कोई ऐसा तीर्थ ही है जिसमें स्नान करनेसे वह पवित्र हो सके।

२६. **ब्रह्मचर्याष्टक**—इस प्रकरणमें ९ पद्य हैं और ब्रह्मचर्यका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। विषयसेवनकी ओर प्रवृत्ति पशुओंकी रहती है, अतः यह पशु कर्म है। जब अपनी स्त्रीके साथ भी विषयसेवन करना निंद्य है तब परस्त्री या वेश्याके सम्बन्धमें कहना ही क्या ? वस्तुतः यह विषयोपभोग तीक्ष्ण कुठार है, जिसके सेवनसे संयमरूप वृक्ष निर्मूल हो जाता है। आचार्यने बताया है—

रतिनिषेधविधौ यततां भवेच्चपलतां प्रविहाय मनः सदा।
विषय सौख्यमिदं विषसंनिभं कुशलमस्ति न मुक्तवतस्तव[1] ॥

जयसेन प्रथम

धर्मरत्नाकरनामक ग्रन्थके रचयिता आचार्य जयसेन लाडबागड संघके विद्वान थे। उन्होंने धर्मरत्नाकरकी अन्तिम प्रशस्तिमें अपनी गुरु-परम्परा अंकित की है। इस परम्परामें बताया है कि धर्मसेनके शिष्य शान्तिषेण, शान्तिषेणके गोपसेन, गोपसेनके भावसेन और भावसेनके शिष्य जयसेन थे। इन्होंने अपने वंशको योगीन्द्रवंश कहा है। प्रशस्तिमें लिखा है—

श्रीमान्सोभून्मुनिजननुतो धर्मसेनो गणींद्र—
स्तस्मिन् रत्नत्रितयसदनीभूतयोगीन्द्रवंशे ॥३॥

× × ×

तेभ्यः श्री (तस्माच्छ्री) शांतिषेणः समजनि सुगुरुः पापधूली-समीरः ॥४॥

× × ×

वृद्धा च संततमनेकजनोपभोग्या श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत्स तस्मात् ॥५॥

× × ×

न ज्ञातः कलिना जगत्सुबलिना श्रीभावसेनस्ततः ॥६॥
ततो जातः शिष्यः सकल जनतानंदजनकः
प्रसिद्धसाधूनां जगति जयसेनाख्य इह सः।

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशति, २६।८।

इदं चक्रे शास्त्रं जिनसमय-सारार्थ-निचितं
हितार्थं जंतूनां स्वमतिविभवाद्गर्व-विकलः ॥७॥

समय-निर्धारण

धर्मरत्नाकरमें जयसेन प्रथमने उसका रचनाकाल अंकित किया है। सरस्वतीभवन व्यावरकी प्रतिमें रचनाकालका निर्देश करनेवाला निम्नलिखित पद्य उपलब्ध होता है—

वाणेन्द्रियव्योमसोम-मिते संवत्सरे शुभे।१०५५।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सबलीकरहाटके॥

अर्थात् वि० सं० १०५५ में सबलीकरहाटक नामक स्थानमें धर्मरत्नाकरकी समाप्ति हुई है। अतः जयसेन प्रथमके समयके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारका विवाद नहीं है।

जयसेनने धर्मरत्नाकरमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा सोमदेवसूरिके उपासकाध्ययनसे अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। यशस्तिलकचम्पूकी अन्तिम प्रशस्तिके आधारपर सोमदेवका समय वि० सं० १०१६ है और अमृतचन्द्र आचार्यका विक्रमकी दशम शताब्दीका तृतीय चरण है। धर्मरत्नाकरमें तत्त्वानुशासनका भी एक पद्य उद्धृत है। अतएव जयसेनका समय रामसेनके समकालीन अथवा दो-चार वर्ष पश्चात् ही होना चाहिये। धर्मरत्नाकरके उल्लेखोंके आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र और तत्त्वानुशासनका समय विक्रमकी ११वीं शतीका प्रथम चरण सम्भव है। अतएव धर्मरत्नाकरमें जो उसका रचनाकाल वि० सं० १०५५ दिया गया है उसकी पुष्टि अन्य प्रमाणोंसे भी होती है।

रचना

आचार्य जयसेन प्रथमकी एक ही रचना प्राप्त है, धर्मरत्नाकर। इस ग्रन्थ का विषय नामानुसार आचार और तत्त्वज्ञानसे सम्बद्ध है। ग्रन्थ अवसरोंमें विभक्त है और समस्त विषयोंका समावेश बीस अवसरोंमें किया गया है। ग्रन्थके अन्तिम अवसरमें लिखा है—

यस्या नैवोपमानं किमपि हि सकलद्योतकेषु प्रतर्क्य—
मंत्येनैकेन नित्यं श्लथयति सकलं वस्तुतत्त्वं विवक्ष्यं।
अन्येनान्त्येन नीतिं जिनपतिमहितां संविकर्षत्यजस्रं,
गोपी मंथानवद्या जगति विजयतां सा सखी मुक्तिलक्ष्म्याः ॥६६॥

इतिश्रीसूरिश्रीजयसेनविरचिते धर्मरत्नाकरे उक्ताऽनुक्तशेषविशेषसूचको विंशतितमोऽवसरः।

धर्मरत्नाकरमें रत्नत्रय, श्रावकके द्वादशव्रत, सप्ततत्त्व आदिका विस्तृत वर्णन आया है।

जयसेन द्वितीय

आचार्य जयसेन द्वितीय भी अमृतचन्द्रसूरिके समान कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके टीकाकार हैं। इन्होंने समयसारकी टीकामें अमृतचन्द्रके नामका उल्लेख किया है और उनकी टीकाके कतिपय पद्य भी यथास्थान उद्‌धृत किये हैं। अतः यह निश्चित है कि जयसेनके समक्ष अमृतचन्द्र सूरिकी टीका विद्यमान थी, पर शैली और अर्थकी दृष्टिसे उनकी यह टीका अमृतचन्द्रसूरिकी अपेक्षा भिन्न है।

प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमें आठ पद्योंमें एक प्रशस्ति दी गयी है। इस प्रशस्तिमें गुरुपरम्पराका परिचय निम्न प्रकार आया है—

ततः श्रीसोमसेनोऽभूद्‌गणी गुणगणाश्रयः।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते॥
शीघ्रं बभूव मालुसाधुः सदा धर्मरतो वदान्यः।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः॥
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः[1]॥

अर्थात् मूलसंघके निर्ग्रन्थ तपस्वी वीरसेनाचार्य हुए। उनके शिष्य अनेक गुणोंके धारी आचार्य सोमसेन हुए और उनके शिष्य आचार्य जयसेन हुए। सदा धर्ममें रत प्रसिद्ध मालु नामके साधु हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है। उनसे यह चारुभट नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है जो सर्वज्ञकी पूजा तथा सदा आचार्योंके चरणोंकी आराधनापूर्वक सेवा करता है। उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्यने अपने पिताकी भक्तिके विलोप होनेसे भयभीत हो इस प्राभृत-नामक ग्रन्थकी टीका की है।

श्रीमान् त्रिभुवनचन्द्र गुरुको नमस्कार करता हूँ जो आत्माके भावरूपी जलको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके तुल्य हैं और कामदेव नामक प्रबल महापर्वतके सैकड़ों टुकड़े करने वाले हैं।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि जयसेनाचार्यके गुरुका नाम सोमसेन और दादा-गुरुका नाम वीरसेन था। इन्होंने त्रिभुवनचन्द्र गुरुको भी नमस्कार किया है, पर प्रशस्तिसे यह ज्ञात नहीं होता कि ये त्रिभुवनचन्द्र कौन हैं? इतना स्पष्ट है कि जयसेनाचार्य सेनगणान्वयी हैं। इन्होंने अन्य किसी टीकामें अपना परिचय नहीं दिया है।

---

१. प्रवचनसार, जयसेनटीकाकी प्रशस्ति, पद्य ३, ४, ५।

जयसेनाचार्यने अपनी टीकाओंमें अनेक श्लोक और गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत की हैं। इन श्लोकों और गाथाओंकी परीक्षा करनेसे जयसेनाचार्यके समयपर प्रकाश पड़ता है। उद्धृत समस्त पद्योंकी छान-बीन करना तो शक्य नहीं, पर उन्होंने द्रव्यसंग्रह, तत्त्वानुशासन, चारित्रसार, त्रिलोकसार और लोकविभाग प्रभृति ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। चारित्रसारके रचयिता चामुण्डराय हैं और इन्हींके समकालीन आचार्य नेमचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने त्रिलोकसारकी रचना की है। चामुण्डरायने अपना चामुण्डपुराण शक संवत् ९०० (ई० सन् ९७८) में समाप्त किया है। अतः निश्चित है कि जयसेन ई० सन् ९७८ के पश्चात् ही हुए हैं। उनके समयकी यह सीमा पूर्वार्द्ध सीमाके रूपमें मानी जा सकती है।

जयसेनने पञ्चास्तिकायकी टीका (पृ० ८) में वीरनन्दिके 'आचारसार' (४।९५-९६) के दो पद्य उद्धृत किये हैं। कर्नाटककविचरितेके अनुसार इन वीरनन्दिने अपने आचारसारपर एक कन्नड़-टीका शक संवत् १०७६ (ई० सन् ११५४) में लिखी है। अतः जयसेन ई० सन् ११५४ के पश्चात् ही हुए होंगे।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने लिखा है कि नयकीर्तिके शिष्य बालचन्द्रने कुन्दकुन्दके तीनों प्राभृतोंपर कन्नड़में टीका लिखी है और उनकी टीकाका मूलाधार जयसेनकी टीकाएँ हैं। इनकी टीकाका रचनाकाल ई० सन् की १३वीं शताब्दीका प्रथम चरण[1] है। अतः जयसेनका समय इससे पूर्व ई० सन्की ११वीं शताब्दीका उत्तरार्ध या १२वीं शताब्दीका पूर्वार्ध माना जा सकता है।

रचना-परिचय

जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थोंपर अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा की गयी टीकासे भिन्न शैलीमें अपनी टीका लिखी है। अमृतचन्द्रने समयसारमें जहाँ ४१५ गाथाओंपर टीकाएँ लिखी हैं, वहाँ जयसेनाचार्यने ४४५ गाथाओंपर। इनकी टीकाओंकी यह प्रमुख विशेषता है कि प्रत्येक गाथाके पदोंका शब्दार्थ पहले स्पष्ट करते हैं, तदनन्तर "अयमत्राभिप्रायः" आदि लिखकर उसका स्पष्टीकरण करते हैं। इनकी टीकाओंका नाम तात्पर्यवृत्ति है। शब्दशः समस्त मूलग्रन्थ टीकामें समाविष्ट है। इसके अतिरिक्त अनेक उद्धरण भी टीकामें दिये हैं। इससे इनकी अध्ययनशीलता व्यक्त होती है। समयसारकी टीकामें सिद्धभक्ति, मूलाचार, परमात्मप्रकाश, गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंके उद्धरण उपलब्ध हैं। प्रवचनसारकी टीका आरम्भ करते हुए बताया है कि मध्यमरुचिधारी

---

१. प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० १०४।

शिष्यको समझानेके लिए मुख्य तथा गौणरूपसे अन्तरंगतत्त्व और बाह्यतत्त्व इनके वर्णन करनेके लिए १०१ गाथाओंमें ज्ञानाधिकार कहेंगे। तदनन्तर ११३ गाथाओंमें दर्शनाधिकार और ९७ गाथाओंमें चारित्राधिकारका वर्णन किया जायगा। इस तरह समुदायसे ३११ सूत्रों द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप तीन महाधिकार हैं। अथवा टीकाके अभिप्रायसे सम्यक्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्राधिकार चूलिकासहित तीन अधिकार हैं। उत्थानिकामें बताया है—"अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षण-सुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पञ्चपरमेष्ठिप्रासादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः श्रीवर्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पञ्चपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति[1]"—

निकटभव्य शिवकुमारको सम्बोधित करनेके लिए कुन्दकुन्दाचार्यने यह ग्रन्थ रचा है। वे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वसंवेदनसे उत्पन्न होनेवाले परमानन्दमय एक लक्षणके धारी सुखरूपी अमृतके विपरीत, चार गतिमय संसारके दुःखोंसे भयभीत थे, जिनमें परम भेदज्ञानके द्वारा अनेकान्तके प्रकाशकका माहात्म्य उत्पन्न हो गया था, जिन्होंने समस्त दुर्नयोंके एकान्तका हठ दूर कर दिया था, तथा जिन्होंने समस्त शत्रु-मित्र आदिका पक्षपात छोड़कर और अत्यन्त मध्यस्थ होकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्त सार और आत्महितकारी एवं अविनाशी तथा पञ्चपरमेष्ठीके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले मोक्षलक्ष्मीरूपी पुरुषार्थको अंगीकार किया था। वे श्रीवर्धमानस्वामी तीर्थंकर परमदेवको आदि लेकर भगवान् पञ्चपरमेष्ठियोंको द्रव्य और भाव नमस्कार करते हैं।

इस उत्थानिकासे यह स्पष्ट है कि किसी शिवकुमारको सम्बोधित करनेके लिए कुन्दकुन्दाचार्यने यह ग्रन्थ लिखा है। टीकाकार जयसेनने प्रवचनसारके तीनों अधिकारोंकी व्याख्या की है। इसी प्रकार समयसार और पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्ति भी लिखी है। इनकी टीकाशैलीकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

१. समस्त पदोंका व्याख्यान।
२. आशयका स्पष्टीकरण।
३. व्याख्यामें निश्चयनयके साथ व्यवहारनयका भी अवलम्बन।

---

१. प्रवचनसार, उत्थानिका टीका, शान्ति वीर दिगम्बर जैन प्रकाशन, पृ० ५।

४. व्याख्यानकी पुष्टिके हेतु उद्धरणोंका प्रस्तुतीकरण।

५. पारिभाषिक शब्दोंका स्पष्टीकरण।

यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, जिनसे व्यवहार और निश्चय समन्वित इनकी व्याख्या-शैलीका परिज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा—
"यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्त-कृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदान-पूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति। मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः। निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति। किंच जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्टयादिचतुर्दश-गुणस्थानरूपेण कथिताः। अथ प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि[१]।"

अर्थात्, जिस प्रकार स्फटिकमणिका पत्थर निर्मल होनेपर भी जपापुष्पादि रक्त, कृष्ण, श्वेत उपाधिके वशसे लाल, काला, श्वेत, रंगरूप परिणमन करता है, उसी तरह यह जीव स्वभावसे शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव होनेपर भी व्यवहार-नयकी अपेक्षा गृहस्थके रागसहित सम्यक्त्वपूर्वक दान-पूजा आदि शुभ कार्योंको करता है तथा मुनिधर्मके मूलगुण और उत्तरगुणोंका अच्छी तरह पालन करता हुआ परिणामोंको शुभ करता है। मिथ्यादर्शन भाव अविरतिभाव, प्रमादभाव, कषायभाव और मन-वचन-काययोगोंके हलन-चलनरूप-भाव ऐसे पाँच कारणरूप अशुभोपयोगमें वर्तन करता हुआ अशुभ जानने योग्य है। तथा निश्चय रत्नत्रयमय शुद्ध उपयोगसे परिणमन करता हुआ शुद्ध जानने योग्य है। आशय यह है कि सिद्धान्तमें जीवके असंख्यात लोकमात्र परिणाम मध्यम वर्णनकी अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि चौदह गुणस्थानरूपसे कहे गये हैं। इस प्रवचनसार-प्राभृत-शास्त्रमें उन्हीं गुणस्थानोंको संक्षेपसे शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोगरूप कहा गया है। इस प्रकार जयसेनाचार्यने व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयोंका आलम्बन कर कुन्दकुन्दके तीनों प्राभृत-ग्रन्थोंकी व्याख्या की है।

पद्मप्रभ मलधारिदेव

आचार्य कुन्दकुन्दके नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाके रचयिता पद्मप्रभ मलधारिदेव हैं। इन्होंने अपनेको सुकविजन पयोगमित्र, पञ्चेन्द्रि-

---

१. प्रवचनसार, ९वीं गाथाकी टीका।

प्रसरवर्जित और गात्रमात्रपरिग्रह बताया है। मलधारि यह विशेषण दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायके मुनियोंके साथ जुड़ा हुआ मिलता है। पद्मप्रभने अपनी गुरुपरम्परा या गण-गच्छका उल्लेख नहीं किया है। पर इन्होंने अपनी टीकामें जिन ग्रंथकर्त्ताओं और ग्रन्थोंका उल्लेख किया है उनकी सहायतासे इनके समयपर विचार किया जा सकता है। इन्होंने अपनी टीकामें समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगीन्द्रदेव, विद्यानन्द, गुणभद्र, अमृतचन्द्र, सोमदेव पण्डित, वादिराज, महासेन नामके आचार्योंका तथा समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, उपासकाध्ययन, अमृताशीति, मार्गप्रकाश, प्रवचनसारव्याख्या, समयसारव्याख्या, पद्मनन्दिपञ्चविंशति, तत्त्वानुशासन, श्रुतबिन्दु नामके ग्रन्थोंका उल्लेख किया है।

मुद्रित नियमसारकी तात्पर्यवृत्तिके पृष्ठ ५३-७३ और ९९में "तथाचोक्तम् गुणभद्रस्वामिभिः" कहकर गुणभद्राचार्यके ग्रन्थोंके उद्धरण दिये हैं। गुणभद्रस्वामीने अपना उत्तरपुराण शक संवत् ८२० (ई० ८९८) में समाप्त किया था। पृष्ठ ८३ पर सोमदेवके यशस्तिलकका एक पद्य उद्धृत मिलता है और यशस्तिलककी समाप्ति शक संवत् ८८१ (ई० सन्० ९५९) में हुई है। टीकाके पृ० ६० पर, तथा चोक्तं 'वादिराजदेवैः' लिखकर वादिराजका पद्य दिया है। वादिराजने पार्श्वनाथचरितकी समाप्ति शक सम्वत् ९४७ (ई० सन् १०२५) में की है। अतएव पद्मप्रभ मलधारिदेवका समय ई० सन् १०२५के पश्चात् होना चाहिए।

पृष्ठ ६१ में टीकाकारने चन्द्रकीर्ति मुनिके मनकी वन्दना की है और पृ० १४२ में श्रुतबिन्दु नामक ग्रन्थका एक पद्य उद्धृत किया है। श्रवणवेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें इन्हीं चन्द्रकीर्तिमुनिका स्मरण किया गया है और उन्हें श्रुतविन्दुग्रन्थका कर्त्ता भी बताया गया है—

> विश्वं यश्श्रुत-बिन्दुनावरुरुधेभावं कुशाग्रीयया
> बुध्येवाति-महीयसा प्रवचसा बद्धं गणाधीश्वरः।
> शिष्यान्प्रत्यनुकम्पया कृशमतीनैदं युगीनान्सुगी–
> स्तं वाचार्च्चत चन्द्रकीर्त्ति-गणिनं चन्द्राभ-कीर्त्ति बुधाः[1] ॥

यह अभिलेख फाल्गुन कृष्णा तृतीया शक संवत् १०५० (ई० सन् ११२८) का लिखा हुआ है। इस दिन मल्लिषेण मुनिने आराधनापूर्वक शरीरत्याग किया था। इसमें गौतमगणधरसे लेकर उस समय तकके अनेक आचार्यों और ग्रंथकर्त्ताओंकी प्रशस्तियाँ दी गयी हैं। यद्यपि इस अभिलेखमें आचार्योंका पूर्वापर सम्बन्ध और गुरु-परम्पराका स्पष्टतः निर्देश नहीं मिलता है, तो भी अनेक

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, पद्य ३२।

नयी सूचनाओंके कारण यह प्रशस्ति अधिक उपादेय है। इसमें श्रुतबिन्दुके कर्त्ता चन्द्रकीर्त्तिके बाद कर्मप्रकृति भट्टारक, श्रीपालदेव, उनके शिष्य मतिसागर, प्रशिष्य वादिराजसूरि, हेमसेन, दयापाल, श्रीविजय, कमलभद्र, दयापाल, शान्तिदेव, गुणसेन, अजितसेन और उनके शिष्य मल्लिषेणका उल्लेख आया है। चन्द्रकीर्ति मल्लिषेणकी मृत्युके २५ वर्ष पहले हुए हों, तो इनका समय वि० संवत् ११०८के आस-पास आता है। अतएव पद्मप्रभ मलधारिदेवका समय भी ई० सन् ११०३के पूर्व होना चाहिये।

नियमसारकी तात्पर्यवृत्तिके प्रारम्भमें और पाँचवें अध्यायके अन्तमें वीरनन्दिमुनिकी वन्दना की गयी है। मद्रास प्रान्तके 'पटशिवपुरम्' ग्राममें एक स्तम्भपर पश्चिमी चालुक्यराजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेवके समयका शक सम्वत् ११०७ का एक अभिलेख है। जबकि उसके माण्डलिक त्रिभुवनमल्ल, भोगदेवचोल्ल हेजरा नगरपर राज्य कर रहे थे। उसीमें यह लिखा है कि जब यह जैनमन्दिर बनवाया गया था, तब श्री पद्मप्रभमलधारिदेव और उनके गुरु श्रीवीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यमान थे। अतएव इन प्रमाणोंके आधारपर पद्मप्रभ मलधारिदेवका समय ई० सन् की १२वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

श्री पण्डित नाथूराम प्रेमीका अनुमान है कि पञ्चविंशतिके कर्त्ता पद्मनन्दि पद्मप्रभ मलधारिदेवसे अभिन्न हैं, क्योंकि दोनोंके गुरु एक हैं। दूसरी बात यह है कि एकत्वसप्तति प्रकरणके अनेक पद्य नियमसार-टीकामें उद्धृत मिलते हैं, पर यह अनुमानमात्र ही है। मलधारि पद्मप्रभदेव पद्मनन्दिपञ्चविंशतिके कर्त्ता पद्मनन्दिसे भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

रचनाएँ

नियमसारटीकाके साथ पार्श्वनाथस्तोत्रकी रचना भी इनके द्वारा की गयी है।

नियमसारकी टीकामें नियमसारके विषयका ही स्पष्टीकरण किया गया है। सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान होनेके कारण टीकामें आये हुए विषयोंका विशद स्पष्टीकरण किया है।

पार्श्वनाथस्तोत्र

इस स्तोत्रका दूसरा नाम लक्ष्मीस्तोत्र भी इसमें ९ पद्य हैं। अन्तिम पद्यमें कविने अपनेको तर्क, नाटक, व्याकरण और काव्यके कौशलमें विख्यात कहा है तथा अन्तमें लेखकने अपना नाम भी दिया है। स्तोत्रमें पार्श्वनाथके गुणोंकी चर्चा करते हुए उनके मरुभूति और कमठ भवोंकी ओर भी संकेत किया गया है। स्तोत्रमें पार्श्वनाथकी शरीराकृति, गुण उनकी अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीका वर्णन किया गया है। इस स्तोत्रमें अनुप्रास और पदोंकी चारुता

अद्भुत सौन्दर्यका सृजन करती है। यहाँ उदाहरणार्थ एकाध पद्य उद्धृत किया जाता है—

लक्ष्मीर्महस्तुल्यसती सती सती प्रवृद्धकालो विरतो रतो रतो।
जरारुजाजन्महता हता हता पार्श्वं फणे रामगिरौ गिरौ गिरौ॥

× × × ×

विवादिताशेषविधिर्विधिर्विधिर्बभूव सर्प्याविहरी हरी हरी।
त्रिज्ञानसज्ञानहरो हरोहरो पार्श्वं फणे रामगिरौ गिरौ गिरौ॥

× × × ×

श्रीपद्मप्रभदेवनिर्मितमिदं स्तोत्रं जगन्मंगलं॥[1]

आचार्य शुभचन्द्र

आचार्य शुभचन्द्रका ज्ञानार्णव या योगप्रदीपनामक ग्रन्थ प्राप्त हैं। ये शुभचन्द्र किस संघ या गण गच्छ थे और इनकी क्या गुरुपरम्परा थी, इसके सन्बन्धमें कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती है। शुभचन्द्र नामके कई आचार्य हुए हैं। एक शुभचन्द्रकी चर्चा श्रवणबेलगोलाके ४३वें संख्यक अभिलेखकमें आयी है, जो गण्डविमुक्त मलधारिदेवके शिष्य थे और जिनका स्वर्गवास शक सं० ११८० में हुआ था। द्वितीय शुभचन्द्र देवकीर्तिके शिष्य थे, जिनका स्वर्गवास वि० सं० १२२० में हुआ था और जिनका निर्देश श्रवणबेलगोलाके ३९वें अभिलेखमें आया है।

विश्वभूषण भट्टारकने 'भक्तामरचरित्र' नामक संस्कृतग्रन्थकी उत्थानिका में शुभचन्द्र और भर्तृहरिकी एक लम्बी कथा दी है, जिसके अनुसार शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि उज्जयिनीके राजा सिन्धुलके पुत्र थे और सिन्धुलके पैदा होनेके पहले उनके पिता सिंहने मुञ्जको एक मूँजके खेतमें पड़े हुए पाकर उसे पाल लिया था। सिंहको वहुत दिनों तक सन्तान न हुई, जिससे वह चिन्तित रहने लगा। एक दिन मन्त्रीने राजाकी चिन्ताको अवगत कर उसे धर्माराधन करनेका परामर्श दिया। राजा सावधान होकर धर्मकृत्योंको सम्पन्न करने लगा।

एक दिन वह रानी और मन्त्रियोंके साथ वन-क्रीड़ाके लिए गया और वहाँ मूँजके खेतमें पड़े हुए एक बालकको पाया। उस बालकको देखते ही राजाके हृदयमें प्रेमका संचार हुआ और उसने उठा लिया तथा लाकर रानीको दे दिया रानी उस पुत्रको गोदमें बैठाकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। मन्त्रीने राजासे निवेदन किया कि नगरमें चलकर रानीको गूढ़गर्भवती घोषित किया जाये और पुत्रो-

1. पार्श्वनाथस्तोत्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पद्य १,५,९।

त्सव मनाया जाये। मन्त्रीकी सम्मतिके अनुसार राजाने पुत्रोत्सव सम्पन्न किया।

सिंहने उस पुत्रका नाम मुञ्ज रखा। मुञ्जने वयस्क होकर थोड़े ही दिनों-में सकल शास्त्र और कलाओंका अध्ययन कर लिया। तदनन्तर महाराजने रत्नावती नामक कन्याके साथ उसका विवाह कर दिया। कुछ दिनोंके अनन्तर महाराज सिंहकी रानीने गर्भ धारण किया और दशम महीनेमें एक पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम सिंहल (सिन्धुराज) रखा गया। इस पुत्रका भी जन्मोत्सव सम्पन्न किया गया तथा वयस्क होनेपर मृगावती नामक राजकन्यासे विवाह कर दिया गया। मृगावती कुछ दिनोंमें गर्भवती हुई। शुभ मुहूर्तमें उसने दो पुत्रोंको जन्म दिया, जिनमें ज्येष्ठका नाम शुभचन्द्र और कनिष्ठका नाम भर्तृहरि रखा गया। बचपनसे ही इन बालकोंका चित्त तत्त्वज्ञानकी ओर विशेष रूपसे आकृष्ट था। अतएव वय प्राप्त होनेपर तत्त्वज्ञानमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। एक दिन मेघोंके पटलको परिवर्तित होते हुए देखकर सिंहको वैराग्य हो गया और उसने मुञ्ज एवं सिंहलको राजनीतिसम्बन्धी शिक्षा देकर जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा मुञ्ज अपने भाईके साथ सुखपूर्वक राज्य करने लगा। एक दिन मुञ्ज वनक्रीड़ासे लौट रहा था कि उसने मार्गमें एक तेलीको कन्धे पर कुदाल रक्खे हुए खड़े देखा, उसे गर्वोन्मत्त देखकर मुञ्जने पूछा—इस तरह क्यों खड़े हो? उसने कहा मैंने एक अपूर्व विद्या सिद्ध की है, जिसके प्रभाव-से मुझमें इतनी शक्ति है कि मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता। यदि आपको विश्वास न हो, तो अपने किसी सामन्तको मेरे इस लौहदण्डको उखाड़नेका आदेश दीजिए। इतना कहकर उसने लौहदण्ड भूमिमें गाड़ दिया। संकेत पाते ही सभी सामन्त उस लौहदण्डको उखाड़नेमें प्रवृत्त हुए, पर किसीसे भी न उखड़ सका। सामन्तोंकी इस असमर्थताको देखकर शुभचन्द्र और भर्तृहरिने मुञ्जसे निवेदन किया, कि यदि आदेश हो, तो हम दोनों इस लौहदण्डको उखाड़ सकते हैं। मुञ्जने उन दोनों बालकोंको समझाया, पर जब अधिक आग्रह देखा तो उसने लौहदण्ड उखाड़नेका आदेश दे दिया। उन दोनोंने चोटीके बालोंका फन्दा लगाकर देखते-देखते एक ही झटकेमें लौहदण्डको निकाल फेंका। चारों ओरसे धन्य-धन्यकी ध्वनि गूँज उठी। तैली निर्मद होकर अपने घर चला गया।

बालकोंके इस अपूर्व बलको देखकर मुञ्ज आश्चर्यचकित हो गया और वह सोचने लगा कि ये बालक अपूर्व शक्तिशाली हैं और जब ये बड़े हो जायेंगे, तो किसी भी क्षण मुझे राज्य-सिंहासनसे च्युत कर देंगे; अतएव इनको किसी उपायसे मृत्युके मुखमें पहुँचा देना ही राजनीतिज्ञता है। उसने मन्त्रीको बुला-कर अपने विचार प्रकट किये और कहा कि शीघ्र ही इन दोनोंका वध हो जाना

चाहिए। मन्त्रीने राजाको पूर्णतया समझानेका प्रयास किया, पर मुंजको मन्त्री-की बातें अच्छी नहीं लगीं। फलतः मन्त्री राजाज्ञा स्वीकार कर चला गया।

मन्त्रीने एकान्तमें बैठकर उहापोह किया और अन्तमें वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि कुमारोंको इस समाचारसे अवगत करा देना चाहिए, अन्यथा बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा। उसने शुभचन्द्र और भर्तृहरिको एकान्तमें बुलाया और राजाके निन्द्य विचार कह सुनाये। साथ ही यह भी कहा कि आप लोग उज्जयिनी छोड़कर चले जाइये, अन्यथा प्राणरक्षा नहीं हो सकेगी।

राजकुमार अपने पिता सिंहलके पास गये और राजा मुञ्जकी गुप्त मन्त्रणा प्रकट कर दी। सिंहलको मुञ्जकी नीचतापर बड़ा क्रोध आया और उसने पुत्रों-से कहा मुञ्ज द्वारा षड्यन्त्र पूरा करनेके पहले ही तुम उसे यमराजके यहाँ पहुँचा दो। कुमारोंने बहुत विचार किया और वे संसारसे विरक्त हो वनकी ओर चल पड़े।

महामति शुभचन्द्रने किसी वनमें जाकर मुनिराजके समक्ष दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और तेरह प्रकारके चारित्रका पालन करते हुए घोर तपश्चरण करने लगे। पर भर्तृहरि एक कौल तपस्वीके निकट जाकर उसकी सेवामें संलग्न हो गया। उसने जटाएँ बढ़ा लीं, तनमें भस्म लगा ली, कमंडलु, चिमटा लेकर, कन्दमूल भक्षणद्वारा उदरपोषण करने लगा। बारह वर्ष तक भर्तृहरिने अनेक विद्याओंकी साधना की। उसने योगी द्वारा शतविद्या और रसतुम्बी प्राप्त की। इस रसके संसर्गसे ताँबा सुवर्ण हो जाता था। भर्तृहरिने स्वतन्त्र स्थानमें रस-तुम्बीके प्रभावसे अपना महत्त्व प्रकट किया।

एक दिन भर्तृहरिको चिन्ता हुई कि उसका भाई शुभचन्द्र किस स्थितिमें है। अतः उसने अपने एक शिष्यको उसका समाचार जाननेके लिए भेजा। शिष्य जंगलोंमें घूमता हुआ उस स्थान पर आया, जहाँ शुभचन्द्र तपस्या कर रहे थे। देखा कि उनके शरीरपर अंगुल भर वस्त्र नहीं है और न कमण्डलुके अतिरिक्त अन्य कुछ भी परिग्रह ही है। शिष्य दो दिन निवास कर वहाँसे लौट आया और भर्तृहरिको समस्त समाचार आकर सुना दिया। भर्तृहरिने अपनी तुंबीका आधा रस दूसरी तुंबीमें निकालकर शिष्यको दिया और कहा कि इसे ले जा-कर शुभचन्द्रको दे आओ, जिससे उसकी दरिद्रता दूर हो जाय और वह सुख-पूर्वक अपना जीवन यापन करे। जब शिष्य रसतुंबी लेकर मुनिराज शुभचन्द्रके समक्ष पहुँचा, तो उन्होंने उसे पत्थरकी शिलापर डलवा दिया।

शिष्यने वापस लौटकर भर्तृहरिको रसतुंबीकी घटना सुनायी, तो वे स्वयं भाईकी ममतावश शेष रसतुंबीको लेकर शुभचन्द्रके निकट आये। शुभचन्द्रने

शेष रसको भी पाषाणशिलापर डलवा दिया जिससे भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ। शुभचन्द्रने भर्तृहरिको समझाते हुए कहा—भाई, यदि सोना बनाना ही अभीष्ट था, तो क्यों घर छोड़ा, घरमें क्या सोना-चाँदी, मणि-माणिक्यकी कमी थी। इन वस्तुओंकी प्राप्ति तो गृहस्थीमें सुलभ थी। अतः सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए इतना प्रयास करना व्यर्थ है।

शुभचन्द्रके उपदेशसे भर्तृहरि भी दीक्षित हो गया। भर्तृहरिको मुनिमार्गमें दृढ़ करने और सच्चे योगका ज्ञान करानेके लिए शुभचन्द्रने योगप्रदीप अथवा ज्ञानार्णवकी रचना की।

उक्त कथामें कितना तथ्यांश है, यह विचारणीय है। कथाके उत्तरार्धमें कालिदास, वररुचि, धनञ्जय और मानतुंगसूरिकी समकालीनता बतलायी गयी है। अतः इसमें ऐतिहासिक तथ्योंका अभाव दिखलायी पड़ता है।

'ज्ञानार्णव'के प्रारम्भमें समन्तभद्र, देवनन्दि, भट्टाकलंक और जिनसेनका स्मरण किया है। इसमें सबसे अन्तिम जिनसेनस्वामी हैं, जिन्होंने जयधवला टीकाका शेषभाग वि० सं० ८९४ में समाप्त किया था। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञानार्णवकी रचना ही सन् ८३७ के पश्चात् हुई है।

अब विचार यह करना है कि वस्तुतः ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्य-का समय क्या है ? ज्ञानार्णवके गुण-दोषविचारप्रकरणमें निम्नलिखित तीन पद्य 'उक्तञ्च ग्रन्थान्तरे' कहकर उद्धृत किये गये हैं—

> ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।
> तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः॥
> ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
> ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम्।
> हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
> धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः[1]॥

ये तीनों श्लोक यशस्तिलकचम्पूके छठे आश्वासमें ज्यों-के-त्यों रूपमें उप-लब्ध होते हैं। इनमें प्रथम दो पद्योंके रचयिता तो यशस्तिलकके कर्त्ता सोमदेव हैं और तृतीय पद्य 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत किया गया है। यह तीसरा पद्य कुछ पाठभेदके साथ अकलंकदेवके राजवार्तिकमें भी पाया जाता है। यशस्तिलककी रचना वि० स० १०१६ (ई० सन् ९५९) में हुई है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानार्णव ई० सन् ९५९ के पश्चात् लिखा गया है। ज्ञानर्णवमें पुरुषार्थसिद्धयु-

१. ज्ञानार्णव, रायचन्द्र शास्त्रमाला, तृतीय संस्करण, सन् १९६१, सर्ग ४, पद्य २७ के आगे।

पायका भी पद्य मिलता है। अतः शुभचन्द्रका समय अमृतचन्द्राचार्यके पश्चात् है।

'ज्ञानार्णव'की एक प्राचीन प्रति पाटणके 'रवेतरवसे' नामक श्वेताम्बर जैन भण्डारमें विद्यमान है, जिसका लेखनकाल वैशाख शुक्ला दशमी वि०सं० १२९४ है। श्री नाथूरामजी प्रेमीने इस पाण्डुलिपिकी प्रशस्तिको उद्धृत किया है। प्रशस्तिकी महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

"इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पंडिताचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते मोक्ष-प्रकरणम्। अस्यां श्रीमनृपुर्यां श्रीमदर्हद्देवचरणकमलचंचरीकः सुजनजनहृदय-परमानन्दकन्दलीकन्दः श्रीमाथुरान्वयसमुद्रचन्द्रायमानो भव्यात्मा परमश्रावकः श्रीनेमिचन्द्रो नामा भूतः। तस्याखिल-विज्ञानकलाकौशल-शालिनी सती पतिव्रतादि-गुणगणालंकारभूषितशरीरा निजमनोवृत्तिरिवाव्यभिचारिणी स्वर्णानाम धर्मपत्नी संजाता। अथ तयोः समासादितधर्मार्थकामफलयोः स्वकुलकुमुदवनचन्द्रलेखा निजवंश-वैजयन्ती सर्वलक्षणालंकृतशरीरा जाहिणि-नाम-पुत्रिका समुत्पन्ना।"

× × ×

रागादिरिपुमल्लाय शुभचन्द्राय योगिने।
लिखाप्य पुस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम्॥

"सं० १२८४ वर्षे वैशाखसुदी १० शुक्रे गोमंडले दिगम्बरराजकुल-सहस्र-कीर्त्तिः तस्यार्थे पं० केशरिसुतवीसलेन लिखितमिति[1]"।

अर्थात् नृपुरीमें अरहन्त भगवान्के चरण-कमलोंका भ्रमर, सज्जनोंके हृदय-को आनन्द देनेवाला, माथुरसंघरूप समुद्रको उल्लसित करनेवाला भव्यात्मा श्रीनेमचन्द्रनामक परमश्रावक हुआ, जिसकी पत्नीका नाम स्वर्णा था, जो अखिल विज्ञान-कलाओंमें कुशल, सती, पातिव्रत्यादि गुणोंसे भूषित और परम शीलवती थी। धर्म, अर्थ और कामको सेवन करनेवाले इन दोनोंके जाहिणी नामक पुत्री हुई, जो अपने कुलरूप कुमुदवनकी चन्द्ररेखा, निजवंशकी वैजयन्ती और सर्वलक्षणोंसे सुशोभित थी।

इसके पश्चात् इस दम्पतिके राम और लक्ष्मणके समान गोकर्ण और श्रीचन्द्र नाम दो सुन्दर गुणी और भव्य पुत्र उत्पन्न हुए। अनन्तर नेमिचन्द्रकी वह पुत्री जाहिणी संसारकी विचित्रता और नरजन्मकी निष्फलताको जानकर आत्मशुद्धिके लिए प्रेरित हुई। उसने मुनियोंके चरणोंके निकट आर्यिकाके व्रत ग्रहण कर लिए और मनकी शुद्धिसे अखण्डित रत्नत्रयको स्वीकार किया। उस विरक्ताने युवावस्थामें ऐसा कठिन तपश्चरण किया, जिससे सभी उसकी प्रशंसा

१. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० ४४३-४४४ पर उद्धृत।

करने लगे। इस जाहिणी आर्यिकाने कर्मोंके क्षयके लिए यह ज्ञानार्णव नामक पुस्तक ध्यान-अध्ययनशाली, तप और शास्त्रके निधान, तत्त्वोंके ज्ञाता और रागादिरिपुओंको पराजित करनेवाले मल्ल जैसे शुभचन्द्र योगीको लिखाकर दी।

वैशाख सुदी दशमी शुक्रवार वि०सं० १२८४ को गोमण्डल (काठियावाड़) में दिगम्बर राजकुल (भट्टारक) सहस्रकीर्तिके लिए पं० केसरीके पुत्र बीसल-ने लिखी।

प्रशस्तिके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थमें लिपिकर्त्ताओंकी दो प्रशस्तियाँ हैं। प्रथम प्रशस्तिमें तो लिपिकर्त्ताका नाम और लिपि करनेका समय नहीं दिया है। केवल लिपि करानेवाली जाहिणीका परिचय और जिन्हें प्रति भेंट की गयी है उनका नाम दिया है। श्रीप्रेमीजीका अनुमान है कि आर्यिका जाहिणीने जिस लेखकसे उक्त प्रति लिखायी होगी उसका नाम और समय भी अन्तमें अवश्य दिया गया होगा। परन्तु दूसरे लेखकने उक्त पहली प्रतिका वह अंश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया होगा और अपना नाम एवं समय अन्तमें जोड़ दिया होगा। इस दूसरी प्रतिके लेखक पण्डित केसरीके पुत्र बीसल हैं और उन्होंने गोमण्डलमें सहस्रकीर्तिके लिए इसे लिखा था, जबकि पहली प्रति नृपुरीमें शुभचन्द्र योगीके लिए लिखाकर दी गयी थी।

दूसरी प्रतिका लेखनकाल वि० १२८४ है, तव पहली प्रतिका इससे पहले लेखनकाल रहा होगा। श्री प्रेमीजीने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि प्रतिका लेखनस्थान नृपुरी ग्वालियरका नरवर सम्भव है। नृपुरसे नरपुर, नरपुरसे नरउर और नरउरसे नरवरका होना सम्भव है। अतः पाटनकी इस प्रतिके आधार पर ज्ञानार्णवकी रचना वि०सं० १२८४के पूर्व अवश्य हुई है। अतएव सोमदेवके पश्चात् और हेमचन्द्रके पूर्व शुभचन्द्रका समय होना चाहिये। हेम-चन्द्रके योगशास्त्रपर ज्ञानार्णवका पर्याप्त प्रभाव दिखलायी पड़ता है। कई पद्य तो प्रायः ज्यों-के-त्यों मिलते-जुलते हैं, दो चार शब्दोंमें ही भिन्नता है। अतएव हमारा अनुमान है कि शुभचन्द्रका समय वि०सं० की ११वीं शती होना चाहिये। इससे भोज और मुंजकी समकालीनता भी घटित हो जाती है।

रचना-परिचय

शुभचन्द्रकी एकमात्र रचना "ज्ञानार्णव" उपलब्ध है। महाकाव्यके समान लेखकने इसके विषयका भी सर्गोंमें विभाजन किया है। समस्त ग्रन्थ ४२ सर्गोंमें विभक्त है। ग्रन्थरचयिताने अन्तमें इस ग्रन्थका महत्त्व अंकित किया है—

इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किञ्चित्
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्।

विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं
चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रः ॥
ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः[१] ॥

प्रथम सर्गमें ४९ पद्य हैं और महाकाव्यके समान सज्जन-प्रशंसा की गयी है। आरम्भके सात पद्य नमस्कारात्मक हैं। ८वें पद्यमें सत्पुरुषोंकी वाणीकी प्रशंसा की है—

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्त्तते[२] ॥

अर्थात् सत्पुरुषोंकी उत्तम वाणी जीवोंके प्रकृष्टज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकारसे तत्त्वके उपदेश देनेमें समर्थ होती है। इसी वाणीसे भेद-विज्ञान, ध्यान, तप आदिकी सिद्धि होती है। कविने समन्तभद्र, भट्टाकलंक आदिका स्मरण भी किया है। उसने कुशास्त्रके पढ़नेका निषेध किया है और बतलाया है कि मिथ्यात्वका सम्वर्द्धन करनेवाला शास्त्र स्वाध्याय करने योग्य नहीं है। जिस शास्त्रके अध्ययन करनेसे राग-द्वेष, मोह, क्षीण हो, वही शास्त्र उपादेय है। यह आत्मा महामोहसे कलंकी और मलीन है। अतः जिससे यह शुद्ध हो, वही अपना हित है, वही अपना घर है, वही परम ज्योतिका प्रकाश है। इस जगत्को भयानक कालरूपी सर्पसे शंकित देखकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरणके समूहको छोड़ निजस्वरूपके ध्यानमें लवलीन हो जानेवाले धन्य हैं। जिन्होंने इन्द्रियोंकी अधीनताका त्याग कर दिया है, वे ही वास्तविक सुखको प्राप्त होते हैं। संसार-भ्रमणसे विभ्रान्त और मोहरूपी निद्रासे ग्रस्त व्यक्ति अपने वास्तविक ज्ञानको भूल जाता है। जो सत्पुरुष ज्ञानावरण, दर्शना-वरण कर्म, मिथ्याज्ञान तथा कषायके विषसे मूर्च्छित नहीं हैं, वे ही शान्तभावको प्राप्त होते हैं। अनादिकालसे लगी हुई यह कर्म-कालिमा बड़े पुरुषार्थसे दूर की जाती है। अतः यह कर्मकालुष्य जिस उपाय द्वारा दूर किया जा सके, उस उपाय-का अवलम्बन लेना चाहिये। मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है तथा साधन-सामग्री और भी दुर्लभ है, अतएव विचारशील व्यक्तिको रत्नत्रय और रागद्वेषाभावको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये।

द्वितीय सर्गमें १२ भावनाओंका वर्णन आया है। इसमें ७ + ४७ + १९ + १७ + ११ + १२ + १३ + ९ + १२ + ९ + २३ + ७ + १३ + ३ = २०३ पद्य हैं।

---

१. ज्ञानार्णव, रायचन्द्र शास्त्रमाला, द्वितीय संस्करण, ४२।८७-८८।

२. वही, १।८।

अनित्य भावनामें ४७ पद्य हैं, इसमें इन्द्रियजन्य सुख और सांसारिकविभूतिको क्षणविध्वंसी बतलाया है। यह शरीर रोगोंका घर है, यौवन बुढ़ापेसे युक्त है, जीवन विनाशशील है। संसारमें जो भी वैभव प्राप्त हुआ है, वह पुण्यके उदयसे है। पुण्य क्षीण होनेपर सारी सम्पत्ति और सुख विलीन हो जाते हैं। जीव अज्ञानतवश ही संसारके सुखोंको वास्तविक समझता है, जो इस क्षणिक जीवन-को प्राप्त कर अहंकार करता है या इसके निमित्त विविध प्रकारकी सामग्रीका संचय करता है, वह अन्ध व्यक्तिके समान संसारसे उत्तीर्ण होनेका मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता है। जिस प्रकार संध्या समय नाना देशोंसे आकर पक्षी एक ही वृक्ष पर एकत्र होते हैं और प्रातःकाल होते ही वे यथास्थान चले जाते हैं, उसी प्रकार आयुके सद्भावमें पुण्ययोगसे सभी कुटुम्बी एक साथ रहते हैं और आयु-के समाप्त होते ही विभिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। प्रातःकालके समय जिस घरमें आनन्दोत्साहके साथ सुन्दर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्नके समय उस ही घरमें दुःखके साथ रोदन सुनायी पड़ता है। प्रभातकालके समय जहाँ राज्याभिषेककी शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजाकी चितासे धुआँ निकलता हुआ भी दिखलाई पड़ता है। यह संसारकी विचित्रता है। इस प्रकार संसारकी अनित्यताका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

गगननगरकल्पं सङ्गमं वल्लभानाम्
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा।
सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम्[1] ॥

अर्थात्, प्रिय वल्लभाओंका सङ्गम आकाशमें देवोंके द्वारा रचित नगरके समान क्षणविध्वंसी है। यौवन और धन जलदपटलके समान विनाशशील हैं। स्वजन, परिवारके लोग, पुत्र, शरीरादिक विद्युतके समान चञ्चल हैं। इस प्रकार इस जगतकी अवस्था अनित्य है, जो इसमें नित्यबुद्धि करता है, वह भ्रममें है।

इस सर्गकी द्वितीय भावना अशरणभावना है। इसमें १९ पद्य हैं। मरते समय इस जीवका कोई भी शरण नहीं है। जिस प्रकार सिंहके पञ्जेमें फँसे हुए हिरणको कोई भी नहीं बचा सकता है, उसी प्रकार मृत्युसे कोई रक्षा करने वाला नहीं है। अनादिकालसे बड़े-बड़े शक्तिशाली शलाकापुरुष भी काल-कवलित हुए हैं, तब साधारण व्यक्तियोंकी बात ही क्या ? मृत्युके लिए न कोई बाल है, न कोई वृद्ध है और न कोई युवा है। वह सभीको समान रूपसे नष्ट करती है। अतः जो इस असार संसारमें रहकर चिरन्तन जीवनकी आकांक्षा

---

१. ज्ञानार्णव, सर्ग २, अनित्यभावना, पद्य ४७।

करता है, वह व्यक्ति भ्रममें है। रुद्र, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, जलदेवता, गृह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, धरणोन्द्र, चक्रवर्ती, पवनदेव, सूर्यादि, ज्योतिषी देव, बलिष्ट देहधारी सब मिलकर भी मृत्युसे एक क्षण भी रक्षा नहीं कर सकते। पाताललोक, ब्रह्मलोक, इन्द्रभवन, समुद्रतट, वन-पर्वत आदि किसी भी स्थानमें मृत्युसे रक्षा नहीं हो सकती है।

संसार-भावनामें १७ पद्य हैं। इसमें चारों गतियोंके प्राणियोंके दुःखोंका वर्णन किया गया है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें सुख-शान्ति नहीं है। यह जीव संसारमें अनादिकालसे त्रस, स्थावर योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ समस्त जीवोंके साथ पिता, पुत्र, भ्राता, माता, पुत्री आदि सम्बन्ध अनेक वार प्राप्त करते हैं। ऐसा कोई भी संसारका प्राणी नहीं है, जिसके साथ हमारा कभी-न-कभीका सम्बन्ध न हुआ हो। इस संसारमें प्राणीकी माता मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मरकर स्त्री हो जाती है, फिर वही स्त्रो मरकर पुत्री हो जाती है। इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है। फिर वही मरकर पुत्रका पुत्र हो जाता है। इस प्रकार इस संसार-में रागभावके कारण विभिन्न सम्बन्धोंका सृजन होता है। संसारका कारण अज्ञानभाव है। अज्ञानभावसे परद्रव्योंमें मोह तथा राग-द्वेषकी प्रवृत्ति होती है। राग-द्वेषकी प्रवृत्तिसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धका फल चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना है। यहाँ कार्य और कारण दोनोंको ही संसार बताया है।

एकत्व-भावनामें ११ पद्य हैं। निश्चयसे तो आत्मा अनन्तज्ञानादिस्वरूप एक ही है, पर संसारमें जो अनेक अवस्थाएँ होती हैं, वे कर्मके निमित्तसे हैं। उनमें भी आप अकेला ही है, दूसरा कोई साथी नहीं।

अन्यत्व-भावनामें १२ पद्य हैं। यह आत्मा अनादिकालसे परपदार्थोंको अपना मानकर उनमें रमता है। इसी कारणसे संसारमें भ्रमण किया करता है। अतएव परभावोंसे भिन्न अपने चैतन्यभावोंमें लीन होकर मुक्तिके प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। इस लोकमें समस्त द्रव्य अपनी-अपनी सत्ताको लिये भिन्न-भिन्न हैं। कोई भी किसीमें मिलता नहीं है और परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावसे कुछ कार्य होता है। उसके भ्रमसे यह प्राणी परमें अहंकार, ममकार करता है। अतएव अपने स्वरूपको अन्य पदार्थोंसे भिन्न समझकर निजरूपका अनुभव करनेमें प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है।

अशुचि-भावनामें १३ पद्य हैं। आत्मा निर्मल है, अमूर्तिक है। अतएव उसमें किसी प्रकारका मल नहीं लगता है। पर कर्मोंके निमित्तसे जो इसके शरीरका सम्बन्ध है उसे यह अज्ञानसे अपना मानकर अपनेको मलरूप समझता है। यह

शरीर सभी प्रकारसे अपवित्रताका घर है कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर पदार्थोंको भी यह शरीर संसर्गमात्रसे अशुद्ध कर देता है। अतएव इस शरीरको अशुद्धिका भण्डार समझकर निजात्माकी प्रतीति करना चाहिये।

आस्रव-भावनामें ९ पद्य हैं। बताया है कि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे तो आस्रवसे रहित केवलज्ञानरूप है, तो भी अनादिकर्मके सम्बन्धसे मिथ्यात्वादिपरिणामरूप परिणमता है। अतएव नवीन कर्मोंका आस्रवकर्त्ता है। जब उन मिथ्यात्वादिपरिणामोंसे निवृत्ति प्राप्त कर अपने स्वरूपका ध्यान करे, तब कर्मास्रवोंसे रहित हो मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है।

संवर-भावनामें १२ पद्य हैं। समस्त कल्पनाओंके जालको छोड़कर अपने स्वरूपमें मनको निश्चल करना ही संवर-भावना है। यह आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल रही है, इस कारण आस्रवरूप भावोंसे कर्मको बाँधती है और जब यह अपने स्वरूपको जानकर उसमें लीन होती है, तब यह संवररूप होकर आगामी कर्मबन्धको रोकती है और पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होनेपर मुक्त हो जाती है। संवरके बाह्यकारण समिति, गुप्ति, धर्मानुप्रेक्षा, परिषह-जयोंका अभ्यास करना है।

निर्जरा-भावनामें ९ पद्य हैं। इसमें आत्मा और कर्मका सम्बन्ध अनादि-कालसे है। काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा जब अपने स्वरूपको सम्हाल तपश्चरण करके ध्यानमें लीन हो जाती है तब संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है और जब यह आगामी नये कर्म न बाँधे और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करे तब मोक्षकी प्राप्ति होती है।

धर्म-भावनामें २३ पद्य हैं। इसमें आचार्यने धर्मके स्वरूपका और उसके महत्त्वका प्रतिपादन किया है। धर्म चार प्रकारका है—१. वस्तुस्वभावस्वरूप, २. उत्तमक्षमादिदशरूप, ३. रत्नत्रयरूप और ४. दयामयरूप। निश्चय-व्यवहारनयसे साधन किया हुआ यह धर्म एकरूप तथा अनेकरूप सधता है। व्यवहारनयकी प्रधानतासे धर्मका स्वरूप, महिमा और फल आदिका भी निरूपण किया है।

लोक-भावनामें ७ पद्य हैं। यह लोक जीवादिक द्रव्योंकी रचना है। जो अपने-अपने स्वभावको लिये हुए भिन्न-भिन्न रूपमें रहते हैं, उनमें एक आत्म-द्रव्य भी है। उसका यथार्थस्वरूप रत्नत्रय है। अतएव जो आत्मतत्त्वकी साधना करना चाहता है उसे समस्त द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको समझकर लोकके चिन्तन द्वारा आत्मजागरण करना चाहिये।

बोधिदुर्लभ-भावनामें १३ पद्य हैं। इस भावनामें बोधि—रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ बतायी है। अपने निज स्वरूपको जान लेनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति सुलभ होती है। वस्तुतः बोधिको प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। बताया है—

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम्।
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम्॥[1]

उपसंहारमें इन भावनाओंके अभ्यासका महत्त्व बतलाया गया है।

तृतीय सर्गमें ध्यानका स्वरूप वर्णित है। इस सर्गमें ३६ पद्य हैं। इस संसारमें मनुष्यपर्यायका प्राप्त होना काकतालीयन्यायके समान दुर्लभ है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थोंका अविरोध भावसे सेवन कर मोक्ष-पुरुषार्थकी ओर प्रवृत होता है, वही आत्माकी सिद्धि करता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र ही मुक्तिके कारण हैं तथा ध्यान रत्नत्रयकी सिद्धिका सबल हेतु है। कर्मोंका क्षय ध्यानके बिना सम्भव नहीं है। चित्तकी चञ्चलता ध्यानके द्वारा ही दूर की जा सकती है और उपयोगको स्थिर किया जा सकता है। मोह-का त्याग ही आत्माके स्वस्थ होनेका कारण है। अज्ञानरूपी महानिद्रा, ध्यान-रूपी अमृतके प्राप्त होनेसे ही दूर होती है। कामभोगोंकी आसक्तिको दूर करनेका साधन भी ध्यान ही है। अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा आत्माके तीन प्रकारके परिणाम होते हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। ध्यानके द्वारा ही इन तीनों प्रकारके परिणामोंमेंसे शुभ और शुद्ध परिणामोंकी प्राप्ति की जाती है।

चतुर्थ सर्गमें भी ध्यानके स्वरूपका वर्णन आया है। इसमें ६२ पद्य हैं। ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। ध्यान करने वाला ध्याता, ध्यान, ध्यानके दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित समस्त अंग, ध्येय तथा ध्येयके गुण-दोष, ध्यानके नाम, ध्यानका समय और ध्यानके फलका वर्णन किया गया है। ध्याताके स्वरूपका विवेचन करते हुए बताया है, जो जितेन्द्रिय है, अप्रमादी है, कष्टसहिष्णु है, संसारसे विरक्त है, क्षोभरहित है, शान्त है, ऐसा व्यक्ति ही ध्याता हो सकता है। जो मिथ्यदृष्टि हैं, संसारके विषयोंमें आसक्त हैं, वे ध्याता नहीं हो सकते। ध्याताको कान्दर्पी आदि पाँच भावनाओंका भी त्याग करना चाहिये—१. कान्दर्पी (कामचेष्टा) २. कैल्विषी (क्लेशकारिणी) ३. आभियोगिकी (युद्धभावना) ४. आसुरी (सर्वभक्षिणी) और ५. सम्मो-हिनी (कुटुम्बमोहिनी) पापरूप इन पाँचों भावनाओंका त्याग करना योग्य

१. ज्ञानार्णव, द्वितीय सर्ग, बोधिदुर्लभ भावना, पद्य १३।

है। ध्याताको हास्य, कौतूहल, कुटिलता, व्यर्थ बकवाद आदि क्रियाओंका भी त्याग करना चाहिये। ध्यानका आशय मनको एकाग्र करना है, चित्तकी चंचलता-को रोकना है। जो व्यक्ति ध्यान करनेकी क्षमता नहीं रखते, वे अपनी कर्म कालिमाको दूर करनेमें असमर्थ रहते हैं।

पञ्चम सर्गमें २९ पद्य हैं। इसमें ध्यान करने वाले योगीश्वरोंकी प्रशंसा की गयी है।

षष्ट सर्गमें ५९ पद्य हैं और इसमें सम्यग्दर्शनका वर्णन आता है। सम्य-ग्दर्शन पापरूपी वृक्षको काटनेके लिए कुठार है और पवित्र तीर्थोंमें यही प्रधान है। इसमें सप्ततत्त्व, षट्द्रव्य, नवपदार्थ, पञ्चास्तिकाय आदिका वर्णन आया है।

सप्तम सर्गमें २३ पद्य हैं और सम्यग्ज्ञानका वर्णन है। अष्टम सर्गमें ५९ पद्य और अहिंसा महाव्रतका वर्णन आया है। इसमें सामायिक, छेदोपस्थापना परि-हारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातिचारित्रका निर्देश आया है। पञ्च-महाव्रत, पञ्चसमिति और तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकारके चारित्रका कथन किया है। संयमका आधार अहिंसा महाव्रत है। इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥[1]

अर्थात्—अहिंसा ही तो जगतकी माता है, क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रति-पालिका है। अहिंसा ही आनन्दकी सन्तति है। अहिंसा ही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है। जगतमें जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसामें ही है।

नवम सर्गमें ४२ पद्य हैं और सत्यमहाव्रतका स्वरूप वर्णित है। दशम-सर्गमें २० पद्य हैं और अस्तेयमहाव्रतका स्वरूप निरूपित है। एकादश सर्गमें ४८ पद्य हैं और ब्रह्मचर्यमहाव्रतका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसमें शरीर-संस्कार, पुष्टरससेवन, गीत, नृत्य, वादित्रश्रवण, स्त्रीसंसर्ग, स्त्रीसंकल्प, स्त्रीअंग-निरीक्षण आदि दश प्रकारके मैथुनोंके त्यागका भी वर्णन आया है।

द्वादश सर्गमें ५९ पद्य हैं और ब्रह्मचर्यमहाव्रतके वर्णनसन्दर्भमें स्त्री-स्वरूपका विश्लेषण किया है। त्रयोदश सर्गमें २५ पद्य हैं और कामसेवनके दोष दिखलाये गये हैं। चतुर्दश सर्गमें ४५ पद्य हैं और स्त्रीसंसर्गका निषेध किया है। पञ्चदश सर्गमें ४८ पद्य हैं और वृद्ध-सेवाकी प्रशंसा की गयी है।

१. ज्ञानार्णव, सर्ग ८, पद्य ३२।

वृद्ध-सेवा करनेसे कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है और राग-द्वेषके उपशम-से चित्त प्रसन्न होता है। इस सर्गमें सत्संगतिका महत्त्व भी बतलाया गया है।

षोडस सर्गमें ४२ पद्य हैं और परिग्रहत्यागमहाव्रतका वर्णन आया है। इस सर्गमें २४ प्रकारके परिग्रहोंकी आसक्तिका दोष दिखलाया गया है। सप्तदश सर्गमें २१ पद्यों द्वारा आशाकी निन्दा की गयी है।

१८वें सर्गमें ३९ पद्य हैं और इनमें पञ्चसमितियोंका वर्णन आया है। एकोन्नविंश सर्गमें ७७ पद्यों द्वारा कषायकी निन्दा की गयी है—क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों कषायें रत्नत्रयगुणको विकृत करती हैं और प्राणी-को शान्त नहीं रहने देतीं। बीसवें सर्गमें ३८ पद्यों द्वारा इन्द्रियोंको वश करने-की प्रशंसा की गयी है। यतः इन्द्रियोंको जीते बिना कषायोंपर विजय नहीं की जा सकती है। अतएव क्रोधादि कषायोंको जीतनेके लिए इन्द्रियविजय आवश्यक है। २१वें सर्गमें २७ पद्य हैं और बहुत-सा गद्यांश भी आया है। इसमें त्रितत्त्व-का वर्णन है। यह योगका प्रकरण है। इसमें पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व और अग्नि-तत्त्व तथा वायुतत्त्वका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। २२वें सर्गमें ३५ पद्य हैं और कुछ गद्यांश भी है। इसमें मनके व्यापारको रोकनेके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगांगोंका भी कथन आया है।

२३वें सर्गमें ३८ पद्य हैं। इसमें राग-द्वेषको रोकनेका विधान वर्णित है। २४वें सर्गमें ३३ पद्य हैं और साम्यभावका निरूपण आया है। राग-द्वेष मोहके अभावसे समताभाव उत्पन्न होता है, जिससे तृण, कञ्चन, शत्रु, मित्र, निन्दा, प्रशंसा, वन-नगर, सुख-सुख, जीवन-मरण इत्यादि पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि और ममत्व नहीं होता है। २५वें सर्गमें ४३ पद्य हैं और आर्त्तध्यानका विस्तारपूर्वक निरूपण आया है। २६वें सर्गमें ४४ पद्य हैं और रौद्रध्यानका निरूपण किया गया है। रौद्रध्यानके हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संरक्षणानन्द ये चार भेद बतलाये हैं। २७वें सर्गमें ३४ पद्योंमें ध्यानके विरुद्ध स्थानका चित्रण किया गया है। ध्यानको वृद्धिगत करनेवाली मैत्री, करुणा, प्रमोद और मध्यस्थ्य इन चारों भावनाओंका निरूपण किया गया है तथा ध्यानमें बाधा करनेवाले स्थानों-का भी निरूपण किया है। २८वें सर्गमें ४० पद्य हैं और इनमें आसनका विधान किया है। आसनके लिए काष्ठ, शिला, भूमि एवं बालुकामय प्रदेश उपयुक्त बताये गये हैं। ध्यानके योग्य आसनोंमें पर्यंकआसन, अर्द्धपर्यंकआसन, व्रजा-सन, वीरासन, सुखासन, कमलासन एवं कायोत्सर्ग-आसनकी गणना की है।

२९वें सर्गमें १०२ पद्य हैं और प्राणायामका वर्णन है। प्राणायामसे जगतके

शुभाशुभ और भूत-भविष्यत्का भी ज्ञान किया जाता है। मनको वशीभूत करनेसे विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और आत्मशक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है, जिससे समस्त वस्तुओंका परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ३०वें सर्गमें १४ पद्य हैं। प्रत्याहार और धारणाका इसमें वर्णन आया है।

३१वें सर्गमें ४२ पद्य हैं। इसमें सवीर्यध्यानका वर्णन है। इसमें परमात्माके स्वरूपका भी चित्रण है और साथ ही साकार और निराकार भेदोंका भी निरूपण किया है। ३२वें सर्गमें १०४ पद्य हैं। शरीर और आत्माके भेदविज्ञानके बिना आत्माका स्वरूप प्राप्त नहीं होता। आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए लिखा है—

> निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
> निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः[1] ॥

आत्मा कर्मकलङ्कके लेपसे रहित है, शुद्ध है, रागादिविकारसे रहित है, निष्पन्न है, सिद्धस्वरूप है, अविनाशी सुखरूप है, निर्विकल्पक है और सभी प्रकारसे शुद्ध है। इस सर्गमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका वर्णन आया है। जो देह, इन्द्रिय, धन, सम्पति आदि बाह्यवस्तुओंमें आत्म-बुद्धि करता है वह बहिरात्मा है। जो अन्तरङ्गविशुद्ध ज्ञान-दर्शनमयी चेतनामें आत्मबुद्धि करता है और चेतनाके विकार रागादिकभावोंको कर्मजनित हेय जानता है, वह अन्तरात्मा है और वही सम्यग्दृष्टि है तथा जो समस्त कर्मोंसे रहित केवलज्ञानादिगुणसहित है, वह परमात्मा है। उस परमात्माका ध्यान अन्तरात्मा होकर करना चाहिए। जो निश्चयनयसे अपने आत्माको ही अनन्तज्ञानादि गुणोंकी शक्तिसहित जानकर नयके द्वारा युगपत् शक्ति-व्यक्तिरूप परोक्षका अपने अनुभवमें साक्षात्कार करता है और शुद्धात्मरूप अपनेको अनुभूतिमें लाता है, वह समस्त कर्मोंका नाश कर स्वयं परमात्मा बन जाता है। ध्यानसे सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानश्रेणीका आरोहण करता है और उसीसे शुक्लध्यानको प्राप्त कर कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

३३ वें सर्गमें २२ पद्य हैं और आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप है। ३४वें सर्गमें १७ पद्य हैं और अपायविचय धर्मध्यानका स्वरूप वर्णित है। ३५वें सर्गमें ३१ पद्यों द्वारा विपाकविचय धर्मध्यानका स्वरूप बतलाया गया है। ३६वें सर्गमें १८६ पद्य हैं और संस्थानविचय धर्मध्यानका वर्णन किया गया है संस्थानविचय धर्म-ध्यानके अन्तर्गत लोकसंस्थानका वर्णन आया है। ३७ वें

---

१. ज्ञानार्णव, ३२।८।

सर्गमें ३३ पद्यों द्वारा पिण्डस्थध्यानका वर्णन किया गया है। इसमें पृथ्वी, अग्नि, पवन, जलादिककी कल्पना किस प्रकार करनी चाहिए, इसका भी वर्णन आया है। ३८ वें सर्गमें पदस्थध्यानका वर्णन ११६ पद्योंमें किया गया है। इसमें मन्त्र-पदोंके अभ्यासका भी कथन आया है। मन्त्रपदोंका ध्यान मोक्षका महान उपाय है। इस ध्यान द्वारा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं।

३९वें सर्गमें ४६ पद्यों द्वारा रूपस्थध्यानका वर्णन आया है। रूपस्थध्यानमें अर्हन्त भगवानका ध्यान करना चाहिए। इस सन्दर्भमें अर्हन्तके अतिशय और जन्म-जरा-मरण आदि १८ दोषोंका अभाव भी आचार्यने आगमप्रमाण द्वारा सर्वज्ञ-में सिद्ध किया है। ४०वें सर्गमें ३१ पद्यों द्वारा रूपातीतध्यानका वर्णन आया है। जब ध्यानी सिद्धपरमेष्ठीके ध्यानका अभ्यास करके शक्तिकी अपेक्षासे अपने आपको भी उन्हींके समान जानकर अपनेको उनके समान व्यक्त करनेके लिए लीन हो जाता है, उस समय कर्मका नाश होकर सिद्धपदकी प्राप्ति होती है। ४१वें सर्गमें २७ पद्य हैं। इसमें धर्मध्यानके फलका वर्णन किया गया है। ४२वें सर्गमें ८८ पद्य हैं। इसमें शुक्लध्यानका वर्णन किया है। बताया है—

अथ धर्ममतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः।
ध्यातुमारभते वीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ॥
निष्क्रियं करणातीतं ध्यान-धारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥
आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥[1]

धर्मध्यानके अनन्तर अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हुआ धीर-वीर मुनि निर्मल शुक्लध्यानको प्रारम्भ करता है। यह क्रियारहित है, इन्द्रियातीत है ओर ध्यानकी धारणासे रहित है। इसमें चित्त अपने स्वरूपकी ओर संलग्न रहता है, यह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन वालेके, जो ११ अंग और १४ पूर्वोंका ज्ञाता होता है, शुद्ध चरित्रवाला होता है, उसीको प्राप्त होता है। शुक्लध्यानके पृथकत्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरत-क्रियानिवृत्ति ये चार भेद हैं। इनमेंसे प्रथम दो ध्यान छद्मस्थ योगीके अर्थात् १२वें गुणस्थानपर्यन्त अल्पज्ञानियोंके भी होते हैं। अन्तके दो शुक्ल-ध्यान सर्वथा रागादि दोषोंसे रहित केवलज्ञानियोंके होते हैं। इस प्रकार इस सर्गमें शुक्लध्यानका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और अन्तमें ज्ञानार्णवका महत्त्व बतलाते हुए ग्रन्थ समाप्त किया है—

१. ज्ञानार्णव, ४२।३–५।

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः[1] ॥

अनन्तकीर्त्तिः

अनन्तकीर्त्ति नामके अनेक आचार्योंका निर्देश प्राप्त होता है। एक अनन्तकीर्त्ति नन्दिसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कार गणकी पट्टावलीके ३३वें गुरु हैं, जो उज्जयिनीपट्टके अन्तर्गत देशभूषणके पश्चात् और धर्मनन्दिके पूर्व उल्लिखित हैं। पट्टावलीके अनुसार इनका समय ई० सन् ७०८–२८ है[2]।

दूसरे अनन्तकीर्त्ति 'प्रामाण्यभंग' नामक ग्रन्थके रचयिताके रूपमें उल्लिखित हैं। इनका निर्देश रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें किया है।

तीसरे अनन्तकीर्त्ति वादिराज द्वारा सिद्धिप्रकरणके कर्त्ताके रूपमें स्मृत हैं।

चतुर्थ अनन्तकीर्तिका उल्लेख बल्गाम्बेसे प्राप्त एक नागरी लिपिके कन्नड़ मूर्तिलेखमें निर्दिष्ट हैं। इस लेखका समय अनुमानतः १०७५ ई० है। मालवके शान्तिनाथदेवसे सम्बन्धित बलात्कारगणके मुनि चन्द्रसिद्धान्तदेवके शिष्यके रूपमें इनका कथन आया है[3]।

पञ्चम अनन्तकीर्ति माथुरसंघी हैं, जिन्होंने ई० सन् ११४७ (वि० सं० १२०४) में मूर्ति-प्रतिष्ठा की थी।

षष्ट अनन्तकीर्ति दण्डनायक भरतकी पत्नी जक्कव्वेके गुरुके रूपमें उल्लिखित हैं। इन्होंने होय्सल नरेश वीर बल्लालदेव (ई० सन् ११७३-१२३० ई०) के शासनकालके २३ वें वर्षमें समाधिमरण धारण किया था।[4]

सप्तम अनन्तकीर्ति देशीगण पुस्तकगच्छके मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके प्रशिष्य (ई० सन् १११५), आचारसार (११५४ ई०)के कर्त्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य, रामचन्द्र मलधारिके गुरु और शुभचन्द्रके प्रगुरु हैं। इनका समय ई० सन् ११७५-१२२५ ई० के लगभग है[5]।

अष्टम अनन्तकीर्ति काणूरगण तिन्त्तिणिगच्छके भट्टारक हैं। ये ई० सन् १२०७ में वान्धव नगरकी शान्तिनाथ वसतिके अध्यक्ष थे। यह अनेक शिला-

१. ज्ञानार्णव, ४२।८८।
२. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ७८–८०
३. एपिग्राफी कर्णाटिका, ७, शिकारपुर, अभिलेख १३४।
४. वही, अभिलेख संख्या-१९६।
५. जैन सन्देश, शोधाङ्क ३, पृ० १२५।

लेखोंमें उल्लिखित बन्दणिके तीर्थाध्यक्ष भानुकीर्ति (ई० सन् ११३९-८२ ई०) के प्रशिष्य थे और सम्भवतया देवकीर्तिके शिष्य और धर्मकीर्तिके गुरु थे।

काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगणके प्रतिष्ठाचार्यके रूपमें एक अन्य अनन्तकीर्तिका उल्लेख मिलता है। इनका ई० सन् १३७१ के चन्द्रवाडके कई मूर्तिलेखोंमें उल्लेख आया है। इसी गण-गच्छके भट्टारक कमलकीर्तिके शिष्य भी अनन्तकीर्ति हुए हैं।

एक अनन्तकीर्ति नन्दिसंघ सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणके सागवाड़ा पट्टके मण्डलाचार्य रत्नकीर्तिके शिष्य हैं, जिन्होंने १५४५ ई०के लगभग एक विशाल चतुर्विध संघ सहित दक्षिण देशको विहार किया था और वहाँ जाकर रत्नकीर्तिपट्ट स्थापित किया था।[1] इसी गण-गच्छके मालवापट्टके अभिनव रत्नकीर्तिके शिष्य कुमुदचन्द्रके गुरुभाई और ब्रह्मरायमल्ल तथा भट्टारक प्रतापकीर्तिके गुरु अनन्तकीर्ति हुए हैं। इनका समय ई० सन्की १६वीं शताब्दी है।

इन अनन्तकीर्तियोंके अतिरिक्त बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धिके कर्त्ता अनन्तकीर्ति हैं, जिनके शन्तिसूरिके 'जैन तर्कवार्तिक'में उल्लेख एवं उद्धरण पाये जाते हैं तथा अभयदेवसूरि तर्कपञ्चाननकी 'तत्त्वबोधविधायिनी' अपरनाम 'वादमहार्णवसन्मतिटीका'में जिनका अनुसरण पाया जाता है। प्रभाचन्द्रने भी अपने न्यायकुमुदचन्द्रमें उनका अनुसरण किया है। प्रमेयकमलमार्तण्डके सर्वज्ञसिद्धिप्रकरणमें भी अनन्तकीर्तिकी बृहत् सर्वज्ञसिद्धिका शब्दानुसरण पाया जाता है। बृहत्सर्वज्ञसिद्धिके अन्तिम पृष्ठ तो यत्किञ्चित् परिवर्तनके साथ न्यायकुमुदचन्द्रके केवलि-भुक्तिवादप्रकरणसे अपूर्व सादृश्य रखते हैं।

अनन्तकीर्तिके ग्रन्थोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि वे अपने युगके प्रख्यात तार्किक विद्वान् थे, इन्होंने स्वप्नज्ञानको मानसप्रत्यक्ष माना है। आचार्य शान्तिसूरिने जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ७७)में "स्वप्नविज्ञानं यत्स्पष्टमुत्पद्यते इति अनन्तकीर्त्यादयः" अनन्तकीर्तिका मत उदघृत किया है। यह मत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिमें "तथा स्वप्नज्ञाने चानक्षजेऽपि वैशद्यमुपलभ्यते" रूपमें निबद्ध है। शान्तिसूरिका समय ई० सन् ९९३—११४७ ई०[2] के बीच है। न्यायाचार्य श्री पं० महेन्द्रकुमारजीने सन्मतितर्कके टीकाकार अभयदेवसूरि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धिके साथ तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला है कि अनन्तकीर्तिका

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १३, किरण २, पृ० ११२-११५।

२. जैनतर्कवार्तिक, प्रस्तावना, पृ० १४१।

समय ई० सन् ९९०[1] के पूर्व है।

आचार्य वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें अनन्तकीर्तिका स्मरण निम्न प्रकार किया है—

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्त्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते ॥[2]

न्यायविनिश्चयविवरणके सर्वज्ञसिद्धिप्रकरणमें आचार्य वादिराजने लिखा है—

"तच्चेदम्- यो यात्रानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनोपक्रमः स तत्साक्षात्कारी, यथा सुरभिचन्दनगन्धादौ अस्मदादिः, तथाविधवचनोपक्रमश्च कश्चित् ग्रहनक्षत्रादिगतिविकल्पे मन्त्रतन्त्रादिशक्तिविशेषे च तदागमप्रणेता पुरुष इति[3]।"

वादिराजकी इन पंक्तियोंपर लघुसर्वज्ञसिद्धिकी निम्नलिखित पंक्तियों-का प्रभाव स्पष्ट है। साथ ही जिस हेतुका प्रयोग अनन्तकीर्तिने किया है उसी मूलहेतुका प्रयोग वादिराजने भी।

"यस्य यज्जातीयाः पदार्थाः प्रत्यक्षाः तस्यासत्यावरणे तेऽपि प्रत्यक्षाः। यथा घटसमानजातीयभूतलप्रत्यक्षत्वे घटः। प्रत्यक्षाश्च विमत्यधिकरणभावापन्नस्य कस्यचिद्देशादिविप्रकृष्टत्वेन धर्माकाशकालहिमवन्मंदरमकराकरादिसजातीयाः नष्टमुष्टिचिंतालाभालाभजीवितमरणसुखदुःखग्रहनक्षत्रमंत्रौषधिशक्त्यादयो भावास्तदागमप्रणेतुरिति। न तावदयमसिद्धो हेतुः। तथाहि—यो यद्विषयानुपदेशालिंगानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी यथा अस्मदादिर्यथोक्त जलशैत्यादिविषयवचनरचनानुक्रमकारी तद्द्रष्टानष्टमुष्ट्यादिविषयानुपदेशालिंगानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनरचनानुक्रमकर्ता च कश्चिद्विमत्यधिकरणभावापन्नः पुरुष इति[4]।"

अतएव स्पष्ट है कि वादिराज लघुसर्वज्ञसिद्धिके कर्त्ता अनन्तकीर्तिसे परिचित थे।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अनन्तकीर्तिके सम्बन्धमें विचार करते हुए लिखा है—"वादिराजने आचार्य जिनसेनके बाद अनन्तकीर्तिका स्मरण किया है

---

१. जैन सन्देश, शोधांक १, पृष्ठ ३६।

२. पार्श्वनाथचरित्र, १।२४।

३. न्यायविनिश्चयविवरण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, द्वितीय भाग, पृ० २९७।

४. लघुसर्वज्ञसिद्धि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पृ० १०७ (ग्रन्थका प्रथम पृष्ठ)।

और ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने पूर्व कवियोंका स्मरण प्रायः समयक्रमसे किया है। इससे अनन्तकीर्तिका समय जिनसेनके बाद और वादिराजसूरिसे पहले अर्थात् वि० सं० ८४० और १०८२ के बीच मानना चाहिए[1]।"

श्री पं० महेन्द्रकुमारजीने विद्यानन्दके 'तत्वार्थश्लोकवार्तिक और 'लघु-सर्वज्ञसिद्धि' ग्रन्थोंकी तुलना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि विद्यानन्द और अनन्तकीर्तिके हेतु समान हैं। अतएव विद्यानन्दके समकालीन अथवा उनके तत्काल ही अनन्तकीर्ति हुए हैं। 'स्वतः प्रामाण्यभंग' ग्रन्थ भी इन्हीं अनन्तकीर्तिका होना चाहिए।' इस विवेचनके आधारपर न्यायाचार्यजीने ई० सन् ८४० के बाद और ई० सन् ९५० के पूर्व उनका समय सिद्ध किया है। इस मान्यताकी आलोचना श्री डा० ज्योतिप्रसादजीने की है। उन्होंने अनुमान लगाया है कि 'प्रामाण्यभंग'के कर्त्ता अनन्तकीर्ति अनन्तवीर्यके पूर्ववर्ती हैं तथा सर्वज्ञसिद्धि और जीवसिद्धिटीकाके कर्त्ता अनन्तकीर्ति उनके उत्तरवर्ती हैं। दोनों ग्रन्थोंके रचयिता दो भिन्न-भिन्न अनन्तकीर्ति भी हो सकते हैं। इन दोनों ग्रन्थोंकी रचना ८४०—९९० ई०के मध्य हो सकती है। डा० ज्योतिप्रसादजी-की सम्भावना है कि सर्वज्ञसिद्धिके कर्त्ता अनन्तकीर्ति विद्यानन्दके भी पूर्ववर्ती हो सकते हैं और इस स्थितिमें उन्हें 'प्रामाण्यभंग'के कर्त्तासे अभिन्न माना जा सकता है। बहुत सम्भव है कि नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनन्तकीर्ति 'प्रामाण्य-भंग' आदि ग्रन्थोंके रचयिता हों। श्री महेन्द्रकुमारजी द्वारा की गयी इस सम्भा-वनाको डा० ज्योतिप्रसादजी भी स्वीकार करते हैं कि सर्वज्ञसिद्धिके कर्त्ता अनन्तकीर्त ही 'प्रामाण्यभंग'के कर्ता हों। इस सम्भावनाके आधारपर अनन्त-कीर्तिका समय ई० सन्की ८वीं शती माना जा सकता है और यदि पिछले ग्रन्थों-के रचयिता इनसे भिन्न हैं तो यह अनन्तकीर्ति ई० सन्की ९वीं शतीके उत्तरार्ध-में हुए होंगे। हमें श्री पं० महेन्द्रकुमारजीके तर्क अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। अतएव 'सर्वज्ञसिद्धि'के रचयिता ही 'प्रामाण्यभंग'के रचयिता हैं और इनका समय ई० सन्की नवम शताब्दीका उत्तरार्ध है।

रचनाएँ

अनन्तकीर्तिके चार ग्रन्थोंका निर्देश मिलता है। इन चारमें दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं और इन दोनोंका प्रकाशन माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे हो चुका है। शेष दो ग्रन्थोंके तो निर्देश ही मिलते हैं।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० ४५२।

२. जैन सन्देश, शोधांक ३, पृष्ठ १२६।

सर्वज्ञसिद्धि

अनन्तकीर्तिने बृहत् और लघु ये दो सर्वज्ञसिद्धिनामक ग्रन्थ लिखे हैं। लघृ-सर्वज्ञसिद्धिके अन्तमें एक पद्य दिया है, जो निम्न प्रकार है—

समस्तभुवनव्यापियशसाऽनंतकीर्तिना ।
कृतेयमुज्वला सिद्धिर्धर्मज्ञस्य निरर्गला[1] ।।

ये दोनों ही ग्रन्थ गद्यमें लिखे गये हैं, पर उद्धरणके रूपमें कारिकाएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। आरम्भमें बताया है कि जो वस्तु जिस रूपमें है, सर्वज्ञ उसको उसी रूपमें जानता है, किन्तु इससे अवर्त्तमान वस्तुका ग्राहक होनेसे सर्वज्ञका ज्ञान अप्रत्यक्ष नहीं ठहरता, क्योंकि वह स्पष्टरूपसे अपने विषयको ग्रहण करता है। निकट देश और वर्तमानरूपसे अर्थको जानना प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है। अन्यथा गोदमें स्थित बालकके शरीरमें क्रिया वगैरह देखकर जो उसके जीवके सद्भावका ज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्ष कहा जायगा, पर जीवका ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता नहीं। अतः स्पष्टरूपसे अर्थका प्रतिभासित होना ही प्रत्यक्ष है। अतएव सर्वज्ञको अतीत आदि पदार्थोंका स्पष्ट बोध होनेमें कोई बाधा नहीं है। जैसे इन्द्रियप्रत्यक्षके द्वारा दूरवर्ती पदार्थका ग्रहण होनेपर भी उसके स्पष्टग्राही होनेमें कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार दूरकालवर्ती पदार्थको ग्रहण करनेपर भी अतीन्द्रित्य प्रत्यक्षके स्पष्टग्राही होनेमें कोई विरोध नहीं है। सर्वज्ञ अतीत पदार्थको अतीतरूपसे और वर्तमान पदार्थको वर्तमानरूपसे जानता है। मीमांसकने पूर्व पक्षके रूपमें सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेके लिए अनेक तर्क दिये हैं। उसने तर्क उपस्थित किया है कि प्रत्यक्ष द्वारा कोई सर्वज्ञ दिखलाई नहीं पड़ता और न प्रत्यक्षसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका साक्षात्कार ही सम्भव है। यदि इन पदार्थोंका सर्वज्ञको ज्ञान होता है, तो इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा या अतीन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता। अतः वे किसीके इन्द्रिय-ज्ञानके विषय नहीं हो सकते। यदि अतीन्द्रियप्रत्यक्षके द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थोंका ज्ञान सिद्ध करते हैं तो अतीन्द्रियप्रत्यक्ष तो अप्रसिद्ध है।

आचार्यने मीमांसकका उत्तर देते हुए प्रत्यक्षसामान्यसे सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान माना है। सूक्ष्म आदि पदार्थोंके सामान्यरूपसे किसीके प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष सिद्ध होता है, क्योंकि वह सूक्ष्मादि पदार्थोंको ग्रहण करता है। जो प्रत्यक्ष इन्द्रियादिसे निरपेक्ष नहीं होता वह सूक्ष्मादि पदार्थोंको विषय नहीं करता। जैसे हम लोगोंका प्रत्यक्ष। किन्तु

१. लघुसर्वज्ञसिद्धि, अन्तिम पद्य।

सर्वज्ञका प्रत्यक्ष सूक्ष्मादि पदार्थोंको विषय करता है। अतः वह इन्द्रिय और मन-की सहायतासे नहीं।

अनुमान द्वारा भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है। स्वभावविप्रकृष्ट परमाणु आदि, कालविप्रकृष्ट रावणादि, देशविप्रकृष्ट हिमवानादि किसीके प्रत्यक्ष हैं, अनुमानका विषय होनेसे। यदि यह कहा जाय कि स्वभावविप्रकृष्ट, देशविप्रकृष्ट और कालविप्रकृष्ट पदार्थ अनुमानसे नहीं जाने जा सकते, तो अनुमान प्रमाणका ही मूलोच्छेद हो जायेगा। अनुमानकी उपयोगिता इसी अर्थमें है कि वह उन पदार्थोंको ग्रहण करता है जो पदार्थ हमारे प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं। अतएव अनुमानसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है। तर्क भी सर्वज्ञको सिद्ध करनेमें सहायक है। व्याप्तिज्ञानसे तर्ककी उत्पत्ति होती है। अतएव सूक्ष्मादि पदार्थ व्यतिरेकव्याप्ति द्वारा तर्कसे सिद्ध होते हैं। आचार्यने लिखा है—

> यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते
> एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ॥
> नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन्प्रतिपद्यते ॥
> यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनं ॥
> भवेदिदानीं लोकस्य तथा कालांतरेऽप्यभूत ॥
> यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् ॥
> दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोतृवृत्तितः[1] ॥

स्पष्ट है कि आचार्यने सर्वज्ञकी सिद्धि षट्प्रमाण द्वारा की है और आवरणके दूर होने पर निष्कलंक आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है। 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, अनुमेय होनेसे' इस अनुमानमें किसी दूसरे अनुमानसे बाधा भी नहीं आती है। इस प्रकार अनन्तकीर्तिने सप्रमाण सर्वज्ञसिद्धि प्रस्तुत की है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका विषय भी लघुसर्वज्ञसिद्धिका ही है। आरम्भमें सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको किसीके प्रत्यक्ष सिद्ध किया है, अनुमेय होनेसे। बताया है—

"सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः अनुपदेशालिंगानन्वयव्यतिरेकपूर्वकाविसंवादिनष्टमुष्टिचिंतालाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागाद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेः। तथाहि—नष्टं देशांतरितं कालांतरितं द्रव्यांतरितं वा स्यात्। मुष्टिस्थं वस्तु द्रव्यांतरितम्। चिंता सूक्ष्मस्वभावा। लाभालाभौ कालांतरितौ। तथा सुख-दुःखे। ग्रहोपरागादिः कालांतरितः। मंत्रौषधिशक्तयः सूक्ष्मस्वभावाः। तदेषां

1. लघुसर्वज्ञसिद्धि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पृ० ११६-११७।

सूक्ष्मांतरितदूरस्वभावानामर्थानां यथोक्तस्योपदेशस्य करणं तत्साक्षात्करणमंत-रेणानुपपन्नं[1] ।"

इस प्रकार आचार्यने सर्वज्ञकी सिद्धि कर अर्हन्तको सर्वज्ञ बतलाया है।

मल्लिषेण

उभयभाषाकविचक्रवर्ती आचार्य मल्लिषेण अपने युगके प्रख्यात आचार्य हैं। इन्हें कविशेखरका विरुद प्राप्त था। यथा—

भाषाद्वयकवितायां कवयो दर्पं वहन्ति तावदिह।
नालोकयन्ति यावत्कविशेखरमल्लिषेणमुनिम् ॥

ये अपनेको सकलागमवेदी, लक्षणवेदी और तर्कवेदी भी लिखते हैं। आचार्य मल्लिषेणकी कवि और मन्त्रवादीके रूपमें विशेष ख्याति है। ये उन अजितसेन-की परम्परामें हुए हैं, जो गङ्गनरेश राचमल्ल और उनके मन्त्री तथा सेनापति चामुण्डरायके गुरु थे और जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भुवनगुरु कहा है। मल्लिषेणके गुरु जिनसेन हैं और जिनसेनके कनकसेन तथा कनकसेनके अजितसेन[2] गुरु हैं। मल्लिषेणने 'नागकुमारचरित'की अन्तिम प्रशस्तिमें जिन-सेनके अनुज या सतीर्थ नरेन्द्रसेनका भी स्मरण किया है। नरेन्द्रसेननामके कई आचार्य हुए हैं। अतः निश्चितरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह नरेन्द्रसेन कौन हैं?

तस्यानुजश्चास चरित्रवृत्तिः प्रख्यातकीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्त्तिः।
नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्रः[3] ॥

प्रशस्तिके पाँचवें पद्यमें मल्लिषेणने नरेन्द्रसेनको अपना गुरु भी लिखा है—

तच्छिष्यो विबुधाग्रणीर्गुणनिधिः श्रीमल्लषेणाह्वयः।
संजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालंकृतिः[4] ॥

आचार्य मल्लिषेणने भारतीकल्प, कामचाण्डालीकल्प, ज्वालिनीकल्प और पद्मावतीकल्प ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें अपनेको कनकसेनका शिष्य और जिनसेन-का प्रशिष्य बतलाया है। असम्भव नहीं कि जिनसेन और उनके अनुज नरेन्द्रसेन दोनों ही मल्लिषेणके गुरु रहे हों—दोनोंसे भिन्न-भिन्न विषयोंका अध्ययन

---

१. बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पृ० १३०।
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३१४।
३. नागकुमारचरित, प्रशस्ति, पद्य ४।
४. वही, पद्य ५।

किया[1] हो। भैरवपद्मावतीकल्पमें लिखा है—

सकलनयमुकुटघटितचरणयुगः श्रीमदजितसेनगणिः।
जयतु दुरितापहारी, भव्यौघभवार्णवोत्तारी॥
जिनसमयागमवेदी गुरुतरसंसारकाननोच्छेदी।
कर्मेन्धनदहनपटुस्तच्छिष्यः कनकसेनगणिः॥
चारित्रभूषिताङ्गो निस्सङ्गो मथितदुर्जनाऽनङ्गः।
तच्छिष्यो जिनसेनो बभूव भव्याब्जधर्मांशुः॥
तदीयशिष्यो मुनिमल्लिषेणः सरस्वतीलब्धवरप्रसादः।
तेनोदितो भैरवदेवतायाः कल्पः समासेन चतुःशतेन[2]॥

वादिराजके समान मल्लिषेण भी मठाधिपति प्रतीत होते हैं। यतः इनके द्वारा रचित मन्त्र-तन्त्रविषयक ग्रन्थोंमें स्तम्भन, मारण, मोहन, वशीकरण, अनंगाकर्षण आदि प्रयोग उन्हें मठाधिपति भट्टारक सिद्ध करते हैं। उनके साहित्यसे ऐसा भी अनुमान होता है कि गृहस्थ शिष्योंके कल्याणके हेतु वे मन्त्र-तन्त्र और रोगोपचारमें प्रवृत्त रहे होंगे। परमविरक्त वनवासी मुनि इस प्रकारके प्रयोगोंका विधान नहीं कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये संस्कृतभाषा, साहित्य और मन्त्रवादके प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं।

स्थितिकाल

आचार्य मल्लिषेणने अपने महापुराणकी प्रशस्तिमें निम्नलिखित पद्य अंकित किया है—

वर्षैकत्रिंशताहीने सहस्रे शकभूभुजः।
सर्वजिद्वत्सरे ज्येष्ठे सशुक्ले पञ्चमीदिने[3]॥

अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी शक सं० ९६९ (ई० सन् १०४७)को महापुराण समाप्त किया गया है।

महापुराणकी रचना धारवाड़ जिलेके मूलगुन्द नामक स्थानमें की गयी है। यह स्थान उक्त जिलेकी गदग तहसीलसे १२ मील दक्षिण पश्चिमकी ओर है। इस स्थानपर आज भी चार जैन मन्दिर हैं, जिनमें शक सं० ८२४, ८२५, ९७५, ११९७, १२७५ और १५९७के अभिलेख हैं। एक अभिलेखमें आचार्य द्वारा सेनवंशके कनकसेन मुनिको एक खेतके दान देनेका भी उल्लेख है। आदरणीय

१. प्रशस्ति-संग्रह, प्रथम भाग, वीरसेवा मन्दिर, प्रस्तावना, पृ० ६१।
२. भैरवपद्मावतीकल्प, सूरत संस्करण, प्रशस्ति, पद्य ५३-५६।
३. महापुराण, पद्य २।

श्री पण्डित नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि मल्लिषेणका मठ भी इसी स्थानमें रहा होगा।

आचार्य वादिराजने 'न्यायविनिश्चयविवरण'की अन्तिम प्रशस्तिमें नरेन्द्र-सेनका उल्लेख किया है और वादिराजका समय शक सं० ९४५ (ई० सन् १०२५) है। ये नरेन्द्रसेन ही मल्लिषेण द्वारा गुरुरूपमें उल्लिखित हैं। अतः मल्लिषेणको वादिराजके समकालीन माना जा सकता है। मल्लिषेणके महा-पुराणको रचना वादिराजके २२ वर्षके अनन्तर ही हुई है। अतएव मल्लिषेणका समय ई० सन्‌की ११वीं शताब्दी है।

रचनाएँ

उभयभाषाकविचक्रवर्ती मल्लिषेणकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. नागकुमारकाव्य,

२. महापुराण,

३. भैरवपद्मावतीकल्प,

४. सरस्वतीमन्त्रकल्प,

५. ज्वालिनीकल्प,

६. कामचाण्डालीकल्प।

नागकुमारकाव्य

इस खण्डकाव्यमें ५ सर्ग और ५०७ पद्य हैं। इस काव्यमें नागकुमारका जीवन वर्णित है। काव्यके आरम्भमें बताया है कि जयदेव आदि कवियोंने गद्य-पद्यमय रचनाएँ लिखी हैं, पर वह मन्दबुद्धिके लिए विषम है। मैं मल्लिषेण विद्वज्जनोंके मनको हरण करनेवाली उसी कथाको संस्कृत-पद्योंमें निवद्ध करता हूँ। यथा—

> कविभिर्जयदेवाद्यैः गद्यैर्पद्यैर्विनिर्मितम् ।
> यत्तदेवास्ति चेदत्र विषमं मन्दमेधसाम् ॥
> प्रसिद्धैसंस्कृतैर्वाक्यैर्विद्वज्जनमनोहरम् ।
> तन्मया पद्यबन्धेन मल्लिषेणेन रच्यते[1] ॥

यह काव्य बहुत सरल, सरस और प्रवाहमय है। मानवीय सहृदयताका भाण्डार खुला हुआ है। जीवनकी अन्तःचेतना तथा सौन्दर्य-भावना सत्यकी ओर अग्रसर करती है। घटना-वर्णन और दृश्य-योजनाके अतिरिक्त कविने नागकुमारका संघर्षपूर्ण जीवन चित्रित कर सांसारिकतासे निर्वाणकी ओर गतिशील होनेकी प्रेरणा दी है। काव्यमें मानवीय भावनाओंका चित्रण भी

---

१. महापुराण, पद्य २।

यथार्थ रूपमें घटित हुआ है। नागकुमारके जीवनकी मर्मस्पर्शी घटनाओंका चमत्कारपूर्ण शैलीमें चित्रण किया गया है। इस काव्यमें श्रुतपञ्चमीव्रतके महात्म्यको बतलानेके लिए रोमांटिक कथा लिखी गयी है। मगधमें कनकपुरका राजा जयन्धर था। उसकी रानी विशालनेत्रासे श्रीधर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। एक व्यापारी सौराष्ट्रसे गिरिनगरकी राजकुमारीका चित्र लेकर आया। राजा उसपर मुग्ध हो गया। मन्त्रीको भेजकर उसने लड़कीको बुलवाकर विवाह कर लिया। नयी रानीका नाम पृथ्वीदेवी था। एक दिन राजा अन्तःपुरसहित जल-क्रीड़ाके लिए गया और मार्गमें अपनी सौतके वैभवको देखकर पृथ्वीमती चिन्तित हुई और चुपचाप जिनमन्दिरमें चली गयी। स्तुतिके पश्चात् वह मुनिका उपदेश सुनने लगी। मुनिने उसके यशस्वी पुत्र होनेकी भविष्यवाणी की। राजा वहाँ पहुँचा और रानीको लेकर घर चला आया। समय पाकर राजाको पुत्रलाभ हुआ। राजाने धूम-धामपूर्वक पुत्रोत्सव मनाया। बालक अत्यन्त प्रभावशाली था और बचपनसे ही उसके द्वारा आश्चर्यकारी कार्य होने लगे थे। एक बार वह वापीमें गिर गया, उसकी माँ भी उसमें गिर पड़ी, नीचे एक नागने उसे बचा लिया और इसीलिये उसका नाम नागकुमार पड़ा। यहींपर उसकी शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। कुमार अब पूर्ण युवक हो चुका था। उसने गन्धर्व कुमारियोंको वीणावादनमें परास्त किया, जिससे वे कुमारियाँ उसपर मोहित हो गयीं और उसे उनसे विवाह करना पड़ा। एक दिन कुमार जलक्रीड़ाके लिए गया। माँ उसे कपड़े देने गयी थी, परन्तु उसकी सौतने उसे कलंक लगा दिया। राजा चुप रहा। राजाने कुमारके भ्रमण करनेपर रोक लगा दी। इसपर नयी रानी बहुत अप्रसन्न हुई। उसने नागकुमारको घूमनेके लिए प्रेरित किया। वह हाथी पर सवार होकर नगरमें निकला। उसे देखकर कितनी ही कुमारियाँ मुग्ध हो गयीं। अविभावकोंने राजासे शिकायत की। राजा बहुत नाराज हुआ। उसने कुमारकी माँके गहने और कपड़े छीनकर अधिकारसे वंचित कर दिया। कुमारको यह बुरा लगा। वह द्यूतघर गया और वहाँसे जुएमें उसने बहुत-सा धन जीता। राजकुमारकी कला देखकर सभी आश्चर्यचकित थे। कुमारने दुष्ट गज और अश्वको भी वश किया, जिससे कुमारका यश व्याप्त हो गया।

राजाने कुछ समयके लिए नागकुमारसे बाहर घूम आनेके लिए कहा। मथुरामें व्याल और महाव्याल दो राजकुमार थे। वे अपने मन्त्रीको राज्य देकर पाटलिपुत्रके राजा श्रीवर्माकी लड़कियोंके स्वयंवरमें गये। दोनोंके विवाह हो गये। उन्होंने मिलकर अपने ससुरके शत्रुको मार भगाया। छोटा भाई वहीं-

पर रहा, पर बड़ा भाई नागकुमारसे भेंट करने कनकपुर आया। नागकुमारको देखते ही उसकी आँखें ठीक हो गयीं, तब वह कुमारका रक्षक हो गया। जब श्रीधरके आदमी नागकुमारको मारने आये, तो उसने उसे बचा लिया। वे दोनों मथुरा चले गये। कुमारने मथुरामें एक वेश्याका आतिथ्य स्वीकार किया। उसके कहने पर शीलवतीको राजाकी कैदसे मुक्त किया। महाव्यालने भी इस मन्त्री राजासे अपना राज्य वापस ले लिया। वहाँसे कुमार कश्मीर गया। व्याल उसके साथ था। उसने कश्मीरनरेश नन्दकी पुत्री नन्दवतीको वीणामें पराजित किया। नन्दवती इसपर मोहित हो गयी। दोनोंका विवाह हो गया। कुछ दिन रहकर उन्होंने हिमालयके भीतरी भागोंका भ्रमण किया। वहाँ जिन-मंदिर और गुहामन्दिरोंके दर्शन किये। भीलराजकी पत्नीका गुहराज भामा-सुरसे उद्धार किया।

आगे बढ़नेपर कंचनगुहामें उसे सुदर्शना देवी मिलीं। उसने बहुत-सी विद्याएँ कुमारको दीं। पहले ये विद्याएँ जिनशत्रुने सिद्ध की थीं, पर वह बाद-में विरक्त हो गया। देवी योग्य अधिकारीको ये विद्याएँ देकर प्रसन्न हुईं। नागकुमार कई महत्त्वपूर्ण कार्य कर वहाँसे वापस लौटा।

अपने समस्त साथियोंके साथ चलता हुआ वह विषवनमें आया। यहाँ उसने भूलसे विषैले आम खा लिये, पर इन आमोंका कुप्रभाव उसपर न पड़ा। इस-पर दुर्मुख भीलने ५०० योद्धाओंके साथ उसकी अधीनता स्वीकार की। इसके पश्चात् कुमारने राजा अरिवर्माकी सहायता की। विजयके उपलक्ष्यमें उसने नागकुमारके साथ अपनी कन्या जयावतीका विवाह कर दिया। इतनेमें कुमार-को एक लेखपत्र प्राप्त हुआ, जिसमें एक विद्याधरसे सात कन्याओंके उद्धारकी अभ्यर्थना की गयी थी। उसने विमानसे जाकर उन कन्याओंका उद्धार किया। पश्चात् कुमारसे उनका विवाह हो गया।

एक बार महाव्याल मदुरा पहुँचा। वहाँ वह बाजारमें भ्रमण कर रहा था कि राजकुमारी मलयसुन्दरी उसे देखकर मोहित हो गयी, पर वह झूठमूठ चिल्लाकर कहने लगी—"इसने मुझे रोक लिया है।" अनुचर सहायताके लिए आये, पर महाव्यालने उन्हें हरा दिया। मलयसुन्दरीका विवाह महाव्यालके साथ सम्पन्न हो गया। नागकुमारने उज्जयिनीकी कुमारी मेनकासे विवाह किया। वहाँसे महाव्यालके साथ दक्षिण भारतकी यात्रा करने गया। उसने तिलकसुन्दरीको मृदंगवादनमें पराजित किया। तोयद्वीप पहुँचकर उसने वृक्ष-पर लटकती हुई कितनी ही कन्याओंका उद्धार किया। वहाँसे वह पाण्ड्यदेश पहुँचा। अन्तमें उसने त्रिभुवनतिलकद्वीपके मण्डलिक राजाकी सुकन्या लक्ष्मी-

मतीसे विवाह किया। यह पृथ्वीश्वर नामक मुनिके दर्शन करने गया। विविध दार्शनिक और धार्मिक विचार सुननेके पश्चात् उसने नई पत्नीके प्रति विशेष आसक्तिका कारण पूछा। मुनिने कहा—तुम दोनोंने पिछले भवमें श्रुतपञ्चमी-का व्रतानुष्ठान किया था, उसीका यह पुण्यफल है। तदनन्तर मुनिराजने श्रुतपंचमीके विधानका स्वरूप और महत्त्व समझाया। कुमार पिताके घर आ गया। कुमारको अभिषिक्त कर राजा जयन्धर तप करने चला गया। नाग-कुमारने चिरकाल तक योग्यतापूर्वक राज्य किया और पश्चात् जिनदीक्षा धारण कर मोक्ष लाभ किया।

नागकुमारका यह जीवन-चरित काव्यकी दृष्टिसे विशेष उपादेय है। कुमार शरीरसे जितना सुन्दर है; बल, पौरुष और कलामें भी उतना ही अद्वितीय है। इसमें पञ्चमीव्रतके अनुष्ठानका फल वर्णित है।

२. महापुराण

इस पुराणमें ६३ शलाकापुरुषोंके चरित वर्णित हैं। समस्त पुराण २,००० श्लोकोंमें लिखा गया है। कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन भट्टारकके मठमें इसकी एक प्रति कन्नड़ लिपिमें है। कविने रचनाके समाप्तिस्थानकी सूचना देते हुए अपने ग्रन्थकी विशेषताका संक्षेपमें उल्लेख कर दिया है। यथा—

तीर्थे श्रीमुलगुन्दनाम्नि नगरे श्रीजैनधर्मालये।
स्थित्वा श्रीकविचक्रवर्तियतिपः श्रीमल्लिषेणाह्वयः॥
संक्षेपात्प्रथमानुयोगकथनव्याख्यान्वितं श्रृण्वताम्,
भव्यानां दुरितापहं रचितवान्निःशेषविद्याम्बुधिः ॥१॥

अर्थात् संक्षेपसे प्रथमानुयोगका कथन भव्य जीवोंके पापोंको नष्ट करने वाला है। इस पुराणमें महापुरुषके जीवन-वृत्तोंको संक्षेपमें निबद्ध किया गया है। जो भव्य जीव इस पुराणका स्वाध्याय करेंगे उनका दुरिततम विच्छिन्न हो जायगा।

३. भैरवपद्मावतीकल्प

इस ग्रन्थमें ४०० अनुष्टुप् श्लोक हैं और १० अधिकार हैं। १. मंत्र-लक्षण, २. सकलीकरण, ३. देव्यर्चन, ४. द्वादशरञ्जिकामन्त्रोद्धार, ५. क्रोधादि-स्तम्भन, ६. अंगना-आकर्षण, ७. वशीकरण-यन्त्र, ८. निमित्त, ९. वशीकरण और १०. गारूड़ तन्त्र। यह मन्त्रशास्त्रका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसपर बन्धुषेण-कृत संस्कृत-विवरण भी उपलब्ध है तथा इसी विवरणसहित इसका प्रकाशन भी हुआ है। समस्त ग्रन्थ आर्या और गीति छन्दमें लिखा गया है। मन्त्रीका तात्पर्य साधकसे है। साधक वही हो सकता है जो वीर, पापरहित, गुणोंसे

गम्भीर, मौनी और महाभिमानी हो। गुरुजनोंसे उपदेश पाया हुआ तन्द्रारहित, निद्राको जीतनेवाला और कम भोजन करनेवाला ही मन्त्रसाधक हो सकता है। साधकके अन्य लक्षणोंको बतलाते हुए लिखा है—

निर्जितविषयकषायो धर्मामृतजनितहर्षगतकायः।
गुरुवरगुणसम्पूर्णः स भवेदाराधको देव्याः॥
शुचिः प्रसन्नो गुरुदेवभक्तो दृढव्रतः सत्य-दयासमेतः।
दक्षः पटुर्बीजपदावधारी मंत्री भवेदीदृश एव लोके[1]॥

जिसने विषय और कषायोंको जीत लिया हो, जिसके शरीरमें धर्मरूप अमृतसे उत्पन्न हर्ष भरा हो तथा जो सुन्दर-सुन्दर गुणोंसे परिपूर्ण हो वह देवीका आराधक होता है। जो पवित्र, प्रसन्न, गुरु और देवका भक्त, दृढ़ व्रतवाला दयालु, सत्यभाषी, बुद्धिमान, चतुर और बीजाक्षरोंका निश्चय करनेवाला हो, ऐसा व्यक्ति ही लोकमें मन्त्री हो सकता है।

सकलीकरणकी क्रियामें अंगशुद्धिकी मान्त्रिक विधि दी गयी है और मन्त्रोंमें शत्रुता एवं मित्रताका निश्चय किया गया है। तृतीय परिच्छेदमें मन्त्रोंके साधनकी सामान्यविधि वर्णित है। दिशा, काल, मुद्रा, आसन एवं पल्लवोंके भेदोंका वर्णन भी आया है। वशीकरण, आकर्षण, उच्चाटन आदि मन्त्रोंको किस आसन और दिशामें सिद्ध करना चाहिए, इसका भी वर्णन आया है।

आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जनको पंचोपचार कहा गया है। पद्मावतीके एकाक्षर, षडक्षर, त्र्यक्षर आदि मन्त्र भी दिये गये हैं।

चतुर्थ परिच्छेदमें विभिन्न मन्त्र, यन्त्र और बीजाक्षरोंका कथन किया गया है। पञ्चम परिच्छेदमें स्तम्भन मन्त्रोंका कथन आया है और जल, तुला, सर्प तथा पक्षी स्तम्भनके मन्त्रों और यन्त्रोंका निर्देश किया गया है। षष्ठ परिच्छेदमें इष्टांगनाकर्षणयन्त्रविधि दी गयी है और चार यन्त्रोंका निर्देश आया है। इस प्रकरणमें कई मन्त्र भी हैं। सप्तम परिच्छेदमें ज्वर आदि रोगोंके उपशमन हेतु अनेक यन्त्र दिये गये हैं। इन यन्त्रोंको धारण करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। अष्टम परिच्छेद निमित्ताधिकार है। इसमें अनेक प्रकारके मन्त्र और यन्त्र आये हैं। नवम परिच्छेद तन्त्राधिकार है। इसमें लवंग, केशर, चंदन, नागकेशर, श्वेतसर्षप, इलायची, मनसिल, कूट, तगर, श्वेत कमल, गोरोचन, लाल चन्दन, तुलसी, पद्माख और कुटज आदि द्रव्योंको पुष्य नक्षत्रमें लाकर कुमारी कन्यासे पिसवाकर धतूरेके रसमें गोली बनाकर चन्द्रोदय होनेपर तिलक करनेसे संसार मोहित होता है। इस प्रकार

---

१. भैरवपद्मावतीकल्प, पद्य ९–१०।

नाना प्रकारकी औषधियोंको विभिन्न नक्षत्रोंमें विभिन्न योगों द्वारा तैयार करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन आया है। दशम अधिकार गारुड अधिकार है। गारुड-विद्याके आठ अंग हैं—१. संग्रह, २. अंगन्यास, ३. रक्षा, ४. स्तोभ, ५. स्तम्भन, ६. विषनाशन, ७. सचोद्य और ८. खटिकाफणिदशन। इन आठों अंगोंका विस्तारसे वर्णन आया है। इस ग्रन्थकी मन्त्र-तन्त्रविधिमें कुछ ऐसे अखाद्य पदार्थोंके प्रयोग भी बतलाये हैं, जिनका मेल जैनधर्मके आचार-शास्त्रके साथ नहीं बैठता है, पर लौकिक विषय होनेके कारण इसे उचित माना जा सकता है।

४. सरस्वतीमन्त्रकल्प

इसका दूसरा नाम भारतीकल्प भी है। आरम्भमें कविने लिखा है—

जगदीशं जिनं देवमभिवन्द्याभिशंकरम्।
वक्ष्ये सरस्वतीकल्पं समासेनाल्पमेधसाम् ॥१॥
अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी।
त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता ॥२॥
लब्धवाणीप्रसादेन मल्लिषेणेन सूरिणा।
रच्यते भारतीकल्पः स्वल्पजाप्यफलप्रदः ॥३॥

स्पष्ट है कि कविने अभयज्ञानमुद्रावाली अक्षमालाधारिणी और पुस्तक-ग्राहिणी, जटारूपी बालचन्द्रमासे मण्डित एवं त्रिनेत्रा सरस्वतीकी कल्पना की है। इस सरस्वतीके प्रसादसे व्यक्ति अपने मनोरथोंको पूर्ण करता है। यह सरस्वती अल्प जाप करनेसे ही सन्तुष्ट हो जाती हैं। इसमें ७५ पद्य हैं और साथमें कुछ गद्य भी है। यह भी पद्मावतीकल्पके साथ प्रकाशित है।

५. ज्वालिनीकल्प

यह मन्त्रग्रन्थ है। इसकी प्रति सेठ माणिकचन्द्रजी, बम्बईके संग्रहमें है। इसमें १४ पत्र हैं और पाण्डुलिपि वि० सं० १५६२ की लिखी हुई है। यह ज्वालमालिनीकल्पसे भिन्न है।

६. कामचाण्डालीकल्प

यह भी मन्त्रसम्बन्वी ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें लिखा है—

छन्दोलंकारशास्त्रं किमपि न च परं प्राकृतं संस्कृतं वा।
काव्यं तच्च प्रबन्धं सुकविजनमनोरंजनं यः करोति ॥
कुर्वन्नुर्वीशिलादौ न लिखितं किल तद्याति यावत्समाप्ति।
स श्रीमान्मल्लिषेणो जयतु कविपतिर्वाग्वधूमण्डितास्यः ॥

स्पष्ट है कि कवि कलाका उद्देश्य मनोरञ्जनमात्र मानता है। वह छन्दो-लंकार अथवा भाषासम्बन्धो किसी भी अनुबन्धको महत्त्व नहीं देता। वस्तुतः काव्यके लिए छन्द, अलंकारादि अत्यावश्यक हैं भी नहीं। रसकी सत्ता ही काव्यका प्राण है। चमत्कारके रहनेसे मनोरञ्जन और रसानुभूतिके होनेसे परमानन्दकी प्राप्ति काव्यमें होती है।

मन्त्रका सम्बन्ध लोककल्याणके साथ है, आत्मकल्याणके साथ नहीं। तान्त्रिक विधियों द्वारा भी लोकानुरञ्जन किया जाता है। अतएव मल्लिषेणने लोककल्याण और लोकरञ्जनके हेतु कामचाण्डालीकल्पकी रचना की है। इस कृतिकी पाण्डुलिपि बम्बईके सरस्वतीभवनमें है।

प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकायटीका, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या आदि कई ग्रन्थ मल्लिषेणके नामसे उल्लिखित मिलते हैं। पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि ये ही मल्लिषेण इन ग्रन्थोंके भी रचयिता हैं। वज्रपंजर-विधान और ब्रह्मविद्यामन्त्रंग्रन्थ होनेके कारण इन मल्लिषेणके सम्भव हैं। वज्रपंजरविधानकी पाण्डुलिपि श्री जैन सिद्धान्त-भवन आरामें है।

इन्द्रनन्दि प्रथम

इन्द्रनन्दि नामके कई आचार्योंके उल्लेख मिलते हैं। किन्तु यहाँ मन्त्रशास्त्र-विज्ञ ज्वालमालिनीकल्पके रचयिता इन्द्रनन्दि अभिप्रेत हैं। एकसन्धिभट्टा-रक द्वारा विरचित जिनसंहितामें उनके पूर्ववर्ती आठ प्रतिष्ठाचार्योंका उल्लेख आया है। आर्यपने शक सं० १२४१ (वि०सं० १३७६)में 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें ९ प्रतिष्ठाचार्योंके उल्लेख आये हैं, जिनमें एक इन्द्रनन्दिका भी है। किन्तु इन्द्रनन्दिके नामकी जो संहिता मिलती है, उसके रचयिता प्रस्तुत इन्द्रनन्दिसे भिन्न इन्द्रनन्दि हैं। पद्य निम्न प्रकार है—

वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो-
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्ज्जितः।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसन्धिस्ततः।
तेभ्यः स्वाहृतसारमध्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः[1] ॥

रायबहादुर डा० हीरालाल जीकी 'A Catlogue of Sanskrit and Prakrit Manscripts in the Central Provinces and Berar' नामक ग्रन्थसूची नागपुरसे ई० सन् १९२६ में प्रकाशित हुई थी। इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामें इन्द्र-नन्दिके सम्बन्धमें लिखा गया है—

---

१. प्रशस्तिसंग्रह, आरा, पृ० ६०।

By this author we have the work Jvalamalini—Kalpa. It deals with the cult of propitiating the goddess of fire, Jvalamalini. The work opens with an account of the circumstances of the origin of the cult. Elacharya, a sage and leader of Dravidagana, lived at Hemagrama in Daksindesa. He had a female pupil named Kamala-Sri. Once she became possessed of a Brahma-Rakshasa under whose influence she indulged in all sorts of acts and talks decent or indecent. ......Elacharya saught the aid of Vahnidevata that dwelt on the top of the Nilagiri hills. He inculcated the art which Indranandi long after him professes to expose in writing.[1]

ज्वालमालिनीकल्पकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि इन्द्रनन्दि योगीन्द्र मन्त्रशास्त्रके विशिष्ट विद्वान थे तथा वासवनन्दिके प्रशिष्य और बप्पनन्दिके शिष्य थे। इन्होंने हेलाचार्य द्वारा उदित हुए अर्थको लेकर इस ज्वालमालिनी-कल्पकी रचना की है। इस ग्रन्थकी आद्यप्रशस्तिके ७२ वें पद्यमें ग्रन्थरचनाका प्रायः पूरा इतिवृत्त दिया गया है। देवीके आदेशसे ज्वालिनीमत नामक एक ग्रन्थ मलय नामक दक्षिण देशके हेम नामक ग्राममें द्रविड़ाधीश्वर हेमाचार्यने रचा था। उनके शिष्य गङ्गमुनि, नीलग्रीव और बीजाव नामके हुए और 'सांतिरसब्बा' नामक आर्यिका तथा 'विरुवट्ट' नामक क्षुल्लक भी हुआ। इस परिपाटी एवं अविच्छिन्न सम्प्रदायसे चले आये हुए मन्त्रवादका यह ग्रन्थ कन्दर्पने जाना और उसने भी अपने पुत्र गुणनन्दि नामक मुनिके प्रति व्याख्यान किया। इन दोनों-के पास रहकर इन्द्रनन्दिने उस मन्त्रशास्त्रका ग्रन्थतः और अर्थतः विशेष रूपा-से अध्ययन किया। इन्द्रनन्दिने उस क्लिष्ट प्राचीन शास्त्रको हृदयमें धारणकर ललित आर्या और गीतादि छन्दोंमें हेलाचार्यके उक्त अर्थको ग्रन्थ परिवर्तनके साथ सम्पूर्ण जगतको आश्चर्यचकित करने वाले इस ग्रन्थकी रचना की। राय-बहादुर डॉ० हीरालालजीने इन्द्रनन्दिकी गुरुपरम्पराका उल्लेख निम्न प्रकार किया है।

१. ज्वालामालिनीकल्प, सूरत संस्करण, प्रास्ताविक, पृ० ७ पर उधृत।

इस गुरुपरम्परासे और अन्यत्र प्राप्त ग्रन्थप्रशस्तिसे विरोध आता है। बम्बई और कारंजाकी प्रतियोंमें निम्नलिखित पद्य प्राप्त होते हैं—

स श्रीवासवनंदिसन्मुनिपतिः शिष्यस्तदीयो भवेत् ॥
शिष्यस्तस्य महात्मा चतुरनियोगेषु चतुरमतिविभवः।
श्रीबप्पनंदिगुरुरिति बुधमधुपनिषेवितपदाब्जः ॥
लोके यस्य प्रसादादजनि मुनिजनस्तत्पुराणार्थवेदी
यस्याशास्तंभमूर्धान्यतिविमलयशः श्रीवितानो निबद्धः।
कालास्तायेन पौराणिककविवृषभा द्योतितास्तत्पुराण-
व्याख्यानाद्बप्पनंदिप्रथितगुणगणस्तस्य किं वर्ण्यतेऽत्र
शिष्यस्तस्येन्द्रनंदिर्विमलगुणगणोद्दामधामाभिरामः
प्रज्ञा-तीक्ष्णास्त्रधारा-विदलितबहलाऽज्ञानवल्लीवितानः[1]।

श्री जैन सिद्धान्तभवन आराकी पाण्डुलिपिमें दशम परिच्छेदके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है, वह इससे भिन्न है। आरा वाली प्रतिमें अंकित गुरु-परम्परा रायबहादुर डा० हीरालालजी द्वारा उल्लिखित गुरुपरम्पराके समान है। यथा—

स श्रीवासवनन्दिसन्मुनिपतिः शिष्यस्तदीयो भवेत् ॥
शिष्यस्तस्य महात्मा चतुरनियोगेषु चतुरमिति विभवः।
श्री वर्षनन्दिगुरुरिति बुधमधुपनिसेवितपदाब्जः ॥
लोके यस्य प्रसादादजनि मुनिजनः सत्पुराणार्थवेदी।
यस्याशास्तम्भमूर्धन्यतिविमलयशः श्रीवितानो निबद्धः
× × ×पौराणिककविवृषभाद्योतितास्तत्पुराण—
व्याख्यानाद्—हर्षनन्दि प्रथितगुणस्तस्य किं वर्ण्यतेऽत्र

१. जैन प्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली पृ० १३८-१३९ पर उद्धृत।

शिष्यस्तस्येन्द्रनन्दिविमलगुणगणोद्दामधामाभिरामः
प्रज्ञतीक्ष्णास्त्रधाराविमलितबहलाज्ञानवल्ली वितानः[1] ।

स्थिति-काल

इन्द्रनन्दिने अपने इस ग्रन्थकी रचनाका समय उद्धृत किया है। यह पद्य आरा जैन सिद्धान्त भवनकी प्रति और श्री पं० परमानन्द जी द्वारा प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रहमें समान है। पद्य निम्नप्रकार है—

अष्टशतस्यैकषष्टि (८६१) प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु ।
श्रीमान्यखेटकटके पर्वण्यक्ष [य] तृतीयायाम् ॥
शतदलसहितचतुःशतपरिमाणग्रंथरचनाया युक्तं ।
श्रीकृष्णराजराज्ये समाप्तमेतन्मतं देव्याः[2] ॥

अर्थात्, इस ग्रन्थकी समाप्ति मान्यखेटमें (वर्तमान मलखेड़में) शक सं० ८६१ ई० (सन् ९३९) में अक्षयतृतीयाके दिन हुई। अतएव स्पष्ट है कि आचार्य इन्द्रनन्दि योगीन्द्रका समय ई० सन् की दशम शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। आचार्य नेमिचन्द्रने गुरुके रूपमें जिन इन्द्रनन्दिका उल्लेख किया है, समयकी दृष्टिसे वे यही इन्द्रनन्दि सम्भावित हो सकते हैं, पर विषयवस्तु और आगमज्ञानकी दृष्टिसे ये दोनों इन्द्रनन्दि भिन्न प्रतीत होते हैं।

रचना-परिचय

ज्वालमालिनीकल्प मन्त्रशास्त्रका उत्कृष्ट ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ दश परिच्छेदोंमें विभक्त है। इन परिच्छेदोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. मन्त्रीलक्षण—अर्थात् मन्त्रसाधकके लक्षण।
२. दिव्यादिव्यग्रह—दिव्यस्त्रीग्रह, दिव्यपुरुषग्रह, अदिव्यस्त्रीग्रह, अदिव्यपुरुषग्रह।
३. सकलीकरणक्रिया—अंशुद्धि, बीजाक्षरज्ञान।
४. मण्डलपरिज्ञान—सामान्यमण्डल, सर्वतोभद्रमण्डल आदि मण्डलोंका विवेचन।
५. भूताकम्पन तैल
६. रक्षास्तम्भन—वश्य प्रकरण।
७. वशीकरण प्रकरण।

---

१. ज्वालमालिनीकल्प, आरा जैन सिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित अन्तिम प्रशस्ति।
२. जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, पृ० १३९ पर उधृत।

८. पूजनविधि प्रकरण।

९. नीराजनविधि।

१०. शिष्यपरीक्षा एवं शिष्यप्रदेयस्तोत्र आदि विवरण।

प्रथम परिच्छेदमें ३५ पद्य हैं। मंगलाचरणके पश्चात् ज्वालामालिनी देवीके स्वरूपका वर्णन किया गया है। पश्चात् ग्रन्थरचनाका कारण बतलाते हुए कमलश्रीकी कथा अंकित है। कमलश्रीको ग्रहबाधा थी, जिसे ज्वालामालिनी-देवी द्वारा मन्त्र प्राप्त कर दूर किया गया। इसी परिच्छेदमें गुरुपरम्पराका भी उल्लेख आया है। इस परम्परामें बताया है कि कन्दर्प नामक मुनिने इस मन्त्र-शास्त्रका उपदेश गुणनन्दिको दिया और इन्द्रनन्दिने इन दोनोंसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया। २८वें पद्यमें ग्रन्थकी विषयानुक्रमणिका अंकित है। ३०वें पद्यसे ३५ वें पद्यपर्यन्त मन्त्रसाधकका लक्षण दिया गया है। मन्त्रसाधना करने वालेको गुरुभक्त, सत्यवादी, चतुर, ब्रह्मचारी और भक्तिपरायण होना चाहिये।

द्वितीय परिच्छेदमें ग्रहोंसे अभिभूत होने वाले व्यक्तियोंके लक्षणोंका वर्णन है। ग्रहोंके दिव्य और अदिव्य दो भेद कर कौन ग्रह किसको पीड़ा पहुँचाता है, इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है। ग्रहोंको कीलित करनेके लिये बीजाक्षर और ध्वनियाँ भी निबद्ध की गयी हैं। इस परिच्छेदमं २२ पद्य हैं।

तृतीय परिच्छेदमें सकलीकरण क्रियाका शरीरके अंग और उपांगोंको किन-किन बीजाक्षरों द्वारा शुद्ध और रक्षित किया जा सकता है इसका भी वर्णन आया है। मन्त्रोंमें जया, बिजया, अजिता, अपराजिता, जम्भा, मोहा, गौरी और गान्धारी इन देवियोंके लिए कौन-कौन बीजाक्षर जोड़कर मन्त्र तैयार किये जाते हैं, इसका विवेचन आया है। इस परिच्छेदके अन्तमें ४ रक्षामन्त्र हैं, जिनके द्वारा शरीर, स्थान, आसन आदिकी रक्षा की जाती। इस परिच्छेदमें कुल ८३ पद्य हैं। ज्वालमालिनीका ध्यान करनेकी विधि ग्रहनिग्रहनिधान, भूताख्य गायत्रीमन्त्र और उसकी शक्ति, कामार्थक मन्त्र और उसकी तर्जनी मुद्रा, भंजन-मन्त्र, भंजनमुद्रा, आध्यायनमन्त्र, आध्यायनमुद्राके वर्णनके पश्चात् बीजाक्षरोंका ज्ञान और महत्व वर्णित है। बीजोंकी शक्तियाँ तथा द्वादश विधि-बीजाक्षर एवं साधनाविधि भी बतलायी गयी है।

चतुर्थ परिच्छेदमें ४४ पद्य हैं। इस परिच्छेदके प्रारम्भमें मण्डल बनानेकी विधि निबद्ध है। मन्त्रसिद्धिके लिए आठ हाथ चौरस भूमिमें मण्डल बनाया जाता है। मण्डल पाँच रंगोंके चूर्णोंसे चार द्वारों वाला एवं अनेक प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त होता है। पुरुष प्रवेश करनेके योग्य द्वार पर पीपलके

तोरण लगाकर सभी दिशाओंमें मूशलके समीप जलसे भरे हुए घटोंको स्थापित करे। इसके पूर्व आदि आठ कोणोंमें इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, यम, कुबेर और ईशान देवोंको समस्त लक्षणोंसे युक्त करे। इन्द्रको पीत, अग्निको अग्नितुल्य, यमको अत्यन्त कृष्ण, नैऋतको हरित, वरुणको चन्द्रमाके समान, वायुको असित—धूमिल वर्ण, कुबेरको समस्त रंग युक्त और ईशान देवको श्वेत वर्ण युक्त अंकित करे। इनके वाहन क्रमशः गज, मेष, महिष, शव, मकर, मृग, तुरंग और वृषभ हैं। इनके हाथोंमें वज्र, अग्नि, दण्ड, शक्ति, तलवार, पाश, महातुरंग, दात्रि और शूल हैं। इन लोकपालोंके बीचमें देवीकी आकृति बनाये। अनन्तर मन्त्रोंकी स्थापना कर पूजन करे। इस प्रकरणमें विभिन्न प्रकारके मन्त्र भी दिये गये हैं तथा पञ्चोपचारका विधान है। इसके पश्चात् सर्वतोभद्र मण्डल बनानेकी विधि वर्णित है। इस मण्डलमें मेघ, महामेघ, ज्वाल, लोल, काल, स्थित, अनील, रौद्र, अतिरौद्र, सजल, अजल, हिमका, हिमाचल, लुलित, महाकाल और नान्दिके अंकित करनेका निर्देश आया है।

समयमण्डल एवं विभिन्न मन्त्रोंका उल्लेख करनेके पश्चात् सत्यमण्डल रचनाकी विधि दी गयी है। इन मण्डलों द्वारा मन्त्राराधनाकी विधि एवं महत्त्व अंकित किया गया है।

पञ्चम परिच्छेदमें २० पद्य हैं। इसमें भूता-कम्पन-तैलका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। इस तैलको बनानेमें पूतिक, शुक-तुण्डिका, काक-तुण्डिका, अश्वगन्धा, भूकुषमांडि, इन्द्र, वारुणी, पूति, दमन, अग्रगन्धा, श्रीपर्णी, असगंध, कुटज, कुकरंजा, गोशृंगि, शृंगिनाग, सर्पविष, मुष्टिक, अंजीर, भीलीसत्, चक्रांगी, खरकर्णी, गोररू, तवलेका, विष, कनक, वराही, अंकोल, अस्थि, प्रभ, लज्जरिका, पाटलिका, काम, मदनतरु, भिलावा, काकजंघा, वन्ध्या, देवदारु, बृहती, सहदेवी, गिरिकर्णिका, नदिमल्लिका, अर्कशैल हस्तिकर्णी, नीम, महानीम, सिरस, लोकेश्वरी, दान्य, पारिवृक्ष, महावृक्ष, कटुकहार, उपयोगिमूल, श्वेत और लाल जयादेदि, ब्राह्मी, कोकिलाक्ष, मृंग, देवपालि, कटुकँबी, सिंहकेसकर, घोषालिका, अर्कभक्तिं, पतिलता, मुक्तिलता, अतिमुक्तकलता, भगमुष्कि, नागकेशर, शार्दूलनखी, पुत्रजीवी, शीग्रहु, एरण्ड, तुलसी, सन्ध्या, अपामार्ग एवं गजमद आदि औषधियोंका प्रयोग किया जाता है। उपर्युक्त औषधियोंको कूट-पीस कर विभिन्न प्रकारकी वस्तुओं द्वारा भावना देनेकी विधि भी वर्णित है।

षष्ट परिच्छेदमें ४७ पद्य हैं। सर्वप्रथम सर्वरक्षामन्त्रकी विधिका वर्णन करते हुए द्वादश कमलपत्रोंमें बीजाक्षरोंको सुगन्धित द्रव्य द्वारा लिखनेका वर्णन आया है। यह मन्त्र रोग, पीडा, अपमृत्यु, भय, ग्रह और पिशाचपीड़ा आदिसे

रक्षा करता है। मोहनवश्य, स्त्री-आकर्षण, सेनस्तम्भन, जिह्वास्तम्भन, क्रोध-स्तम्भन आदिका भी वर्णन आया है। आवेष्टनमन्त्रके पश्चात् विभिन्न प्रकार-के यन्त्र बनानेकी प्रक्रियाका वर्णन आया है। यन्त्र-मन्त्रकी दृष्टिसे यह परिच्छेद महत्त्वपूर्ण है।

सप्तम परिच्छेदमें ५१ पद्य हैं। शरपुंखी, सहदेवी, तुलसी, कस्तूरी, कर्पूर गौरोचन, गजमद, मनःशिला, दमनक, जातिपुष्प, शमीपुष्प और हरिकांताको समभाग लेकर तिलक करनेसे सभी लोग वशमें होते हैं। इसी प्रकार इलायची, लौंग, चन्दन, तगर, कमल, कूट, कुंकुम, उशीर, गौरोचन, नागकेशर, मनशिल, राजिका, हिक्का, तुलसी और पद्माखको समभाग लेकर पुष्य नक्षत्रमें कन्यासे पिसवाये। इसका अंजन करनेसे सभीको पराजित किया जा सकता है। वशी-करण और सुखदायक अंजनोंकी और भी कई विधियाँ वर्णित हैं। वशीकरण अंजन एवं वश्यप्रयोग भी आये हैं। वश्यनमक, वश्यतैल, कामवारण, दशरारिक चूर्ण, योनिशोधक लेप एवं सन्तानदायक औषधिका वर्णन आया है।

अष्टम परिच्छेदमें २५ पद्य हैं। इस प्रकरणमें देवीकी पूजाविधिका कथन आया है। सर्वप्रथम स्नानविधि, अंजनविधि, तिलकविधि, एवं देवीकी आर-धनाकी विभिन्न विधियाँ अंकित हैं। ज्वालामालिनी देवीकी पूजाविधि और पूजाफल भी वर्णित है। वसुधारामन्त्र, नवग्रहमन्त्र एवं विभिन्न अनुष्ठेय मन्त्रों-का कथन भी किया गया है।

नवम परिच्छेदमें २५ पद्य हैं और नीराजनविधि वर्णित है नीराजन द्रव्य-के साथ मातृकाध्वनि एवं समन्त्र विभिन्न द्रव्योंसे देवीकी आरती और पूजाकी विधि आयी है।

दशम परिच्छेदमें २० पद्योंमें शिष्यको विद्या देनेकी विधिके निरूपणके पश्चात् चन्द्रनाथपूजा, ज्वालामालिनीपूजा, हवन और जाप्यविधि, ज्वाल-मालिनीस्तोत्र, मूलमन्त्र, मन्त्रोद्धार, वशीकरणमन्त्र, ज्वालामालिनी देवीके साधनकी तृतीय विधि, ध्यानमन्त्र, पञ्चोपचार मन्त्र, कौमारी देवी, वैष्णवीदेवी वाराहीदेवी, ऐन्द्रीदेवी, चामुण्डादेवी, एवं महालक्ष्मीदेवीकी पूजनविधि वर्णित है। गद्यमय ज्वालमालिनीस्तोत्र और चन्द्रप्रभस्तवनके अनन्तर ग्रन्थ समाप्त हुआ है। चन्द्रप्रभस्तोत्रमें शौरसेनी, मागधी, अपभ्रंश, पैशाची, चूलिका पैशाची और संस्कृतका एक साथ प्रयोग किया गया है। शौरसेनी—

विगद दुह देहु मोहारि केदूदयं,
दलिद गुरु दुरिद मध विहिद कुमुदक्खयं।

नायतं नमदिजो सवर नद वच्छलं
लहृदि णिच्चदि गदि सोदहं णिम्मलं ॥

मागधी—

अशुल शुल विलशन लनाय शेविव पदे,
नमिल जय जंतु तुदिन्नशिव दुल पदे।
चलन पुल निलद शिशालि शलशी लुदे,
देहि मह शा मिव शालि शाशद पदे ॥

स्तोत्र बीजाक्षरगर्भित है और मन्त्रशास्त्रकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है।

हमारा अनुमान है कि यह स्तोत्र इन्द्रनन्दि विरचित नहीं है, किसीने पीछेसे इसे जोड़ दिया है। मूल ग्रन्थ दशम परिच्छेदके अनन्तर समाप्त हो जाता है। अतः बादमें जितने पूजा-पाठ आये हैं, वे सभी अन्य किसीके द्वारा रचित हैं।

इस मन्त्रग्रन्थमें भारतकी ८-९वीं शतीकी मान्त्रिक परम्पराका संकलन किया गया है। आचार्यने जहाँ-तहाँ पंचपरमेष्ठी और उनके बीजाक्षरोंका निर्देश कर सामान्य मन्त्रपरम्पराको जैनत्वका रूप दिया है। जैनदर्शन और जैन तत्त्वज्ञानके साथ इसका कोई भी मेल नहीं है पर लोकविधिके अन्तर्गत इसकी उपयोगिता है। मध्यकालमें फलाकांक्षी व्यक्ति श्रद्धानसे विचलित हो रहे थे, अतः उस युगमें जैन-मन्त्रोंका विधान कर जनसाधारणको इस लोकैषणामें स्थित किया है।

जिनचन्द्राचार्य

सिद्धान्तसार ग्रन्थके रचयिता जिनचन्द्राचार्य हैं। इस ग्रन्थकी उपान्त्य गाथामें बताया है—

पवयणपमाणलक्खणछंदालंकाररहियहियएण।
जिणइंदेण पउत्तं इणमागमभत्तिजुत्तेण[1] ॥

इस गाथामें 'जिणइंदेण' पदसे संस्कृत रूपान्तर जिनचन्द्र ही सिद्ध होता है, जिनेन्द्र नहीं। अतएव भाष्यकारने 'जिनचन्द्रनाम्ना सिद्धान्तग्रन्थ वेदिना' जो अर्थ किया है वह बिल्कुल यथार्थ है। श्री नाथूराम प्रेमीने सिद्धान्तसारादिसंग्रहको प्रस्तावनामें सम्भावना की है कि जिनचन्द्र भास्करनन्दिके गुरु हैं, जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलके ५५वें शिलालेखमें आया है। तत्त्वार्थकी सुखबोधिका, टीकामें निम्नलिखित प्रशस्ति प्राप्त होती है, जिसमें भास्करनन्दिके गुरु जिनचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रोंके पारंगत विद्वान बतलाये गये हैं—

---

१. सिद्धान्तसारादिसंग्रह, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पद्य ७८, पृ० ५२।

तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धान्तपारंगतः ।
शिष्यः श्रीजिनचन्द्रनामकलितश्चारित्रचूडामणिः ॥
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्त्ववित् ।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटम् ॥

सुखबोधिकाटीकाका निश्चित्त समय ज्ञात नहीं है। पर पं० शान्तिराज शास्त्रीने इसका रचना-काल वि० सं० १३५३ के लगभग माना है। ग्रन्थके अन्तरंग परीक्षण करनेसे ये जिनचन्द्र सिद्धान्तसारके कर्त्ता प्रतीत नहीं होते हैं।

जिनचन्द्र नामके एक अन्य सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् और हुए हैं। ये धर्मसंग्रह-श्रावकाचारके कर्त्ता मेधावीके गुरु और पाण्डवपुराणके कर्त्ता शुभचन्द्रके शिष्य थे। तिलोयपण्णत्तिकी दान-प्रशस्तिमें इनका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

अथ श्रीमूलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽनघेऽजनि ।
बलात्कारगणस्तत्र गच्छः सारस्वतस्त्वभूत् ॥
तत्रार्जनि प्रभाचन्द्रः सूरिचन्द्राजितांगजः ।
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यसमन्वितः ॥
श्रीमान्बभूव मार्तण्डस्तत्पट्टोदयभूधरे ।
पद्मनन्दी बुधानन्दी तमच्छेदी मुनिप्रभुः ॥
तत्पट्टाम्बुधिसच्चन्द्रः शुभचन्द्रः सतां वरः ।
पंचाक्षवनदावाग्निः कषायक्ष्माधराशनिः ॥
तदीयपट्टाम्बरभानुमालीक्षमादिनानागुणरत्नशाली ।
भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामा सैद्धान्तिकानां भुवि योस्ति सीमा ॥

इस दानप्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरुपरम्पराका परिचय देते हुए सरस्वती-गच्छके प्रभाचन्द्र—पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्रका उल्लेख किया है। जो सैद्धान्तिकोंकी पंक्तिमें परिगणित थे। उक्त प्रशस्ति वि०सं० १५१९ में लिखी गयी है। उस समय जिनचन्द्र वर्तमान थे। सिद्धान्तसारकी प्रभाचन्द्र द्वारा निर्मित एक कन्नड़ टीका भी जैन सिद्धान्त भवन आरामें है। यह टीका कब लिखी गयी, इसका कोई निर्देश नहीं है। 'कर्नाटककविचरिते' में प्रभाचन्द्रका समय १३ वीं शताब्दी अनुमानित किया है। अतः उक्त दोनों ही जिनचन्द्र सिद्धान्तसारके रचयिता नहीं हैं।

सिद्धान्तसारग्रन्थका अध्ययन करनेसे यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थपर गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दोनोंका प्रभाव है। आचार्य नेमिचन्द्रके गोम्मटसारका अध्ययन कर ही इस ग्रन्थकी रचना जिनचन्द्रने की है। सिद्धा-

न्तसारकी प्रारम्भिक गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डसे पूर्णतया प्रभावित हैं। जीवकाण्डमें सिद्धगतिका वर्णन करते हुए बताया है कि सिद्धजीवोंकी सिद्धगति केवलज्ञान क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, अनाहार और उपयोगकी अक्रम प्रवृत्ति होती हैं।

सिद्धपरमेष्ठी—१४ गुणस्थान, १४ जीव-समास, ४ जीव संज्ञा, ६ पर्याप्ति, १० प्राण—इनसे रहित होते हैं तथा इनके सिद्धगति, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और अनाहारको छोड़कर शेष नव मार्गणा नहीं पायी जाती। ये सिद्ध सदा शुद्ध ही रहते हैं, क्योंकि मुक्ति प्राप्तिके बाद पुनः कर्मका बन्ध नहीं होता। यथा—

सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खइयं।
सम्मत्तमणाहारं उवजोगाणक्कमपउत्ती॥
गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा।
सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति[1]॥

× × × ×

जीवगुणठाणसण्णापज्जतीपाणमग्गणणवूणे।
सिद्धंतसारमिणमो भणामि सिद्धे णमंसित्ता॥
सिद्धाणं सिद्धगई दंसण णाणं च केवलं खइयं।
सम्मत्तमणाहारे सेसा संसारिए जीवे॥[2]

इन गाथाओंकी तुलनासे स्पष्ट है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती-के पश्चात् ही सिद्धान्तसारके रचयिता जिनचन्द्र हुए होंगे। आचार्य नेमिचन्द्रका समय ई० सन् की दशम शताब्दी है। सिद्धान्तसारपर प्रभाचन्द्रने विक्रमकी १३ वीं शताब्दीमें कन्नड़ टीका लिखी है। अतएव जिनचन्द्रका समय नेमिचन्द्र और प्रभाचन्द्रके मध्यमें होना चाहिए। अर्थात् ई० सन् की ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध या १२ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध निश्चित है।

रचना-परिचय

जिनचन्द्रका सिद्धान्तसार प्राकृतभाषामें निबद्ध उपलब्ध है। इस ग्रन्थपर ज्ञानभूषणका संस्कृतभाष्य भी है। इसका प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे सिद्धान्तसारादिसंग्रहके रूपमें हो चुका है। इसमें ७९ गाथाएँ हैं। आचार्यने १४ मार्गणाओंमें जीवसमासों, गुणस्थानों, योगों और उपयोगोंका वर्णन किया है। १४ जीवसमासोंमें योगों और उपयोगोंका एवं १४ गुणस्थानोंमें योगों

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला, पद्य-७३०-३१, पृ० २७२।
२. सिद्धान्तसारादिसंग्रह, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पद्य १-२, पृ० १-२।

और उपयोगोंका वर्णन किया गया है। १४ मार्गणाओं, १४ जीवसमासों और १४ गुणस्थानोंमें बन्धके ५७ प्रत्ययोंका कथन किया किया गया है। ग्रन्थकारने इस ग्रन्थमें १४ मार्गणाओंमें जीवसमासोंका वर्णन ११ गाथाओंमें, पश्चात् मार्गणाओं में गुणस्थानोंका १२से २० अर्थात् ९ गाथाओंमें वर्णन किया है। २१वीं गाथासे ३१वीं गाथा तक १४ मार्गणाओंमें १५ योगोंका कथन किया है। ३२वीं गाथासे ४२वीं गाथापर्यन्त १४ गुणस्थानोंमें द्वादश उपयोगोंका वर्णन किया गया है। ४३वीं और ४४वीं गाथामें १४ जीवसमासोंमें १५ योगोंका और ४५वीं गाथा-में उपयोगोंका वर्णन आया है। ४६वीं गाथामें चतुर्दश गुणस्थानोंमें यथासम्भव योगोंका और ४७वीं गाथामें चतुर्दश गुणस्थानोंमें द्वादश उपयोगोंका वर्णन आया है। ४८वीं गाथासे चतुर्दश मार्गणाओंमें ५७ प्रत्ययोंका कथन ७०वीं गाथा तक किया गया है। ७१वीं गाथासे ७७वीं गाथापर्यन्त चतुर्दश गुण-स्थानोंमें प्रत्ययोंका निरूपण आया है। ७८वीं गाथामें ग्रन्थकारका नामांकन और ७९वीं गाथामें सिद्धान्तसारका महत्त्व बतलाया गया है। इस प्रकार इस लघुकाय ग्रन्थमें पर्याप्त सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चा आयी है।

श्रीधराचार्य

श्रीधराचार्य नामके अनेक जैन विद्वान हुए हैं। श्री प्रेमीजी द्वारा लिखित 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' नामक पुस्तकसे एक श्रीधराचार्यकी सूचना मिलती है, जो श्रुतावतार-गद्य और भविष्यदत्तचरित नामक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। सुकुमालचरिउके रचयिताके रूपमें श्रीधाराचार्य अपभ्रंशके रचनाकार हैं। इस ग्रन्थकी रचनाका कारण बतलाते हुए लिखा है कि बलद-के जैनमन्दिरमें, जहाँके शासक गोविन्दचन्द्र थे, पद्मचन्द्र नामक एक मुनि उपदेश दे रहे थे। उपदेशमें उन्होंने सुकुमालस्वामीका उल्लेख किया। श्रोताओंमें पीछे साहूका पुत्र कुमार नामक एक व्यक्ति था, जिसने सुकुमालस्वामीकी कथा-के विषयमें अधिक जाननेकी इच्छा व्यक्त की, किन्तु मुनिराजने कुमारको श्रीधराचार्यसे अभ्यर्थना करनेको कहा, जो कि उसकी जिज्ञासा शान्त कर सकते थे। अतः कुमारने श्रीधराचार्यको सुकुमालचरित रचनेके लिए प्रेरित किया। कुमार साहूको पुरबाड़ कुलका बताया है। आचार्यने अपनी कृति भी इन्हींको समर्पित की है। ग्रन्थ समाप्तिकी तिथि भी निम्न प्रकार है—

बारहसइयं गयइं कयहरिसइं। अट्ठोत्तरइं महीयले वरिसइं।
कसणपक्खे अग्गहणे जायए। तिज्जदिवसे ससिवारि समापए॥

अर्थात् १२०८ वर्ष व्यतीत होनेपर मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया चन्द्रवारको यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

एक अन्य श्रीधरने अनंगपालके मन्त्री नट्टलसाहूकी प्रेरणापर सं० ११८९में 'पासणाहचरिउ' की रचना की है। ये कवि हैं और इन्होंने चन्द्रप्रभचरित और वर्धमानचरितकी भी रचना की है। कवि हरियाणा देशके निवासी थे और अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे। आपके पिताका नाम गोल्ह और माताका नाम बिल्हा देवी था।

सेनसंघमें श्रीधर नामके एक अन्य प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। ये काव्यशास्त्रके मर्मज्ञ, नानाशास्त्रोंके पारगामी और विश्वलोचनकोषके कर्त्ता हैं। इनके गुरुका नाम मुनिसेन बताया जाता है।

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० ४२ और ४३में दो आचार्य आये हैं। एक आचार्य दामनन्दीके शिष्य और दूसरे मलधारिदेवके शिष्य हैं। इस नामके एक आचार्य वैद्यामृतके कर्त्ता भी माने गये हैं। शास्त्रसारसमुच्चयके रचयिता माघनन्दीने अपनी गुरुपरम्परामें श्रीधरदेवका नाम बताया है।

गणितसारके रचयिताका नाम श्रीधराचार्य है। इनके नामके साथ आचार्य शब्द भी जुड़ा हुआ है, अतएव गणित और ज्यौतिषमान्य आचार्य श्रीधर उपर्युक्त सभी श्रीधराचार्योंसे भिन्न हैं।

नन्दिसंघ बलात्कारगणके आचार्योंमें श्रीधराचार्यका नाम यथावत् मिलता है। दशभक्त्यादि महाशास्त्रमें कविवर वर्धमानने नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावली निम्न प्रकार दी है[१]—

वर्द्धमान भट्टारक, पद्मनन्दि, श्रीधराचार्य[२], देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्त्ति, रविचन्द्रदेव, श्रुतकीर्त्तिदेव, वीरनन्दि, जिनचन्द्रदेव, भट्टारक वर्धमान, श्रीधर पण्डित, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचन्द्र, माघनन्दि, वर्द्धमान, माणिक्यनन्दि, गुणकीर्त्ति, गुणचन्द्र, अभयनन्दि, सकलचन्द्र, त्रिभुवनचन्द्र, चन्द्रकीर्त्ति, श्रुतकीर्त्ति, वर्द्धमान, त्रैविधवासुपूज्य, कुमुदचन्द्र और भुवनचन्द्र।

उपर्युक्त गुर्वावलीमें श्रीधराचार्य और श्रीधर पण्डित ये दो व्यक्ति आये हैं। इनमें श्रीधराचार्य गणितसार, जातकतिलक, कन्नड़ लीलावती, ज्योतिर्ज्ञान-

---

१. प्रशस्तिसंग्रह, आरा, पृ० १३३।

२. तस्य भौरवण्यपद्मनन्दित्रैविधेशो गुणालयः।
अभवच्छ्रीधराचार्यस्तत्सधर्मा महाप्रभः ॥—दशभक्त्यादिमहाशास्त्र, जैनसिद्धान्त भवन, आरा, पृ० १०१।

विधि आदि ज्योतिष विषयक ग्रन्थोंके रचयिता और श्रीधर पण्डित जयकुमार-चरितके रचयिता हैं।

स्थितिकाल

'कर्णाटककविचरिते'के उद्धरणसे ज्ञात होता है कि श्रीधराचार्यके 'जातक-तिलक' का रचनाकाल ईस्वी सन् १०४९ है। महावीराचार्यके गणितसारमें—

धनं धनर्णयोर्वर्गो मूले स्वर्णे तयोः क्रमात्।
ऋणं स्वरूपतोऽवर्गो यतस्तस्मान्न तत्पदम्॥[१]

धनात्मक एवं ऋणात्मक राशियोंका वर्ग धनात्मक होता है और उस वर्ग-राशिके वर्गमूल क्रमशः धनात्मक और ऋणात्मक होते हैं। यतः वस्तुओंके स्वभाव (प्रकृति)में ऋणात्मक राशि, वर्गराशि नहीं होती, इसलिये उसका कोई वर्गमूल नहीं होता।

उपर्युक्त गणितसारसंग्रहका सूत्र श्रीधराचार्यका सूत्र है। अतः स्पष्ट है कि श्रीधराचार्य महावीराचार्यके पूर्ववर्त्ती हैं। महावीराचार्यने अपने गणितसार-संग्रहमें अमोघवर्षका निम्न प्रकार स्मरण किया है—

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा[२]॥
× × ×
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम्[३]॥

इन पद्योंसे स्पष्ट है कि अमोघवर्षके शासनकालमें गणितसारसंग्रहकी रचना हुई है। राष्ट्रकूटवंशी इस राजाका समय ईस्वी सन् ८१५-८६५ है। अतएव गणितसारसंग्रहकी रचना नवीं शताब्दीमें हुई है। इस प्रकार श्रीधराचार्यका समय ईस्वी सन् ८५०के पहले आता है।

श्रीधराचार्यका उल्लेख भास्कराचार्य[४], केशव[५], दिवाकर, दैवज्ञ आदिने आदरपूर्वक किया है।

---

१. गणितसारसंग्रह, सोलापुर संस्करण, १।५२।

२. वही, १।३।

३. वही, १।८।

४. यत् पुनः श्रीधराचार्यः ब्रह्मगुप्त्यादिभिर्व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं परिधिः स्थूलोऽप्यङ्गीकृतः स सुखार्थम्। न हि ते जानन्तीति—सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय, भुवनकोश, श्लो० ५२की टीका।

५. श्रेष्ठं रिष्टहृतो दशाक्तम् ह्रोजः श्रीधरादयोदितम्।
कष्टेष्टघनबलान्तरात् क्व च कृतं तद्युक्तिशून्यं त्वसत्॥—केशवीय पद्धति श्लो० ३२।

श्रीधराचार्य द्वारा विरचित ज्योतिर्ज्ञानविधिमें एक प्रकरण प्रतिष्ठामुहूर्त्तका[1] है, इस प्रकरणके समस्त पद्य वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठमें[2] ज्यों-के-त्यों उद्धृत हैं। ज्योतिर्ज्ञानविधि ज्योतिषका स्वतन्त्र ग्रंथ है, अतः प्रतिष्ठापाठके मुहूर्त्त विषयक श्लोक इस ग्रन्थमेंसे लेकर प्रतिष्ठापाठमें उद्धृत किये गये होंगे। जैन-साहित्यमें वसुनन्दि नामके तीन आचार्य मिलते हैं—एकका समय वि०सं० ५३६, दूसरेका वि०सं० ७०४ और तीसरेका विक्रम संवत् १३९५ है। मेरा अनुमान है कि अन्तिम वसुनन्दि ही प्रतिष्ठापाठके रचयिता हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि विक्रम संवत् १३९५में श्रीधराचार्यके प्रतिष्ठामुहूर्त्तश्लोकोंका संकलन वसुनन्दिने किया है।

श्रीधराचार्यके समयनिर्धारणके लिए एक और सबल प्रमाण ज्योतिर्ज्ञान-विधिका है। इस ग्रन्थमें मासध्रुवा साधनकी प्रक्रिया करनेमें वर्त्तमान शकाब्दमें-से एक स्थानपर ७२० और प्रकारान्तरसे पुनः इस क्रियाके साधनमें ७२१ घटाये जानेका कथन है। ज्योतिषशास्त्रमें यह नियम है कि अहर्गण साधनके लिए प्रत्येक गणक अपने गत शकाब्दके वर्षोंको या वर्तमान शकाब्दके वर्षोंको क्रिया करते समयके शकाब्दके वर्षोंमेंसे घटाकर अन्य क्रियाका विधान बतलाता है। उदाहरणार्थ ग्रहलाघव आदि कर्णग्रन्थोंको लिया जा सकता है। इन ग्रंथोंके रचयिताओंने अपने समयके गत शकाब्दको घटानेका विधान बताया है। अतएव यह निश्चित है कि श्रीधराचार्यने भी अपने समयके गत शकाब्द और वर्तमान शकाब्दको घटानेका विधान किया है। जहाँ इन्होंने क्रिया करते समयके शकाब्द-मेंसे ७२०को घटानेका विधान बतलाया है, वहाँ गत शकाब्द माना जायेगा और जहाँ ७२१के घटानेका कथन है, वहाँ वह वर्तमान शक है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रमाण यह भी है कि प्रकारान्तरसे मासध्रुवा-नयनमें ७२१को करणाब्दकाल बतलाया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि शक संवत् ७२१में ज्योतिर्ज्ञानविधिकी रचना हुई है। लिखा है—

> करथिन्यूनं शकाब्दं करणाब्दं रयगुणं द्विसंस्थाप्य।
> रागहृतमदोलब्धं गतमांसाश्चोपरि प्रयोज्य पुनः॥
> संस्थाप्याधो राधागुणिते खगुणं तु वर्षदेखादि ।१।
> संत्याज्ये नीचाप्ते लब्धा वारास्तु शेषाः घटिकाः स्युः[3] ॥२॥

१. ज्योतिर्ज्ञानविधि—आरा पाण्डुलिपि, पृ० २६।

२. वसुनन्दिप्रतिष्ठापाठ, प्रथम परिच्छेद, पद्य १-६।

३. ज्योतिर्ज्ञानविधि, आरा जैनसिद्धान्त भवन की पाण्डुलिपि, पत्र ५।

अर्थात्—करथि—७२१ करणाब्द शकको वर्तमान शकमेंसे घटाकर १२से गुणा कर गुणनफलको दो स्थानोंमें रखना चाहिये। एक स्थानपर ३२से भाग देनेसे जो लब्ध आये उसे गतमास समझना और गतमासोंको अन्य स्थानवाली राशिमें जोड़ देना चाहिये। पुनः तीन स्थानोंमें इस राशिको रखकर एक स्थानमें ९२से, दूसरेमें २से और तीसरेमें २२से गुणा कर क्रमशः एक दूसरेका अन्तर करके रख लेना। जो संख्या हो उसमें ६२का भाग देनेपर लब्ध वार और शेष घटिकाएँ होती हैं।

यहाँ पर शक संवत् ७२१ ग्रन्थरचनाका समय बताया गया है। महावीराचार्यने इसीलिये अपने पूर्ववर्ती श्रीधराचार्यके करणसूत्रको उद्धृत किया है। समस्त जैनेतर विद्वानोंने श्रीधराचार्यके सिद्धान्तोंकी समीक्षा भी इसीलिये की है कि वे उनके सम्प्रदायके आचार्य नहीं थे।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि श्रीधरके 'जातकतिलक'का रचनाकाल ईस्वी सन् १०४९ निर्धारित किया है। इसका समन्वय किस प्रकार सम्भव होगा? यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'जातकतिलक'में रचनाकालका निर्देश नहीं किया है। विद्वानोंने वर्ण्यविषय और भाषाशैलीके आधारपर इस ग्रन्थके रचनाकालका अनुमान किया है। यथार्थतः इसका रचनाकाल ई० सन् १०४९से पहले होना चाहिये।

इन आचार्यकी प्राचीनताका एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इन्होंने गणितसारमें गणितसम्बन्धी जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है, उनमें कई सिद्धान्त प्राचीन परम्परानुमोदित हैं। उदाहरणार्थ वृत्तक्षेत्रसम्बन्धी गणितको लिया जा सकता है। वृत्तक्षेत्रकी परिधि निकालनेका नियम—"व्यासवर्गको दससे गुणा कर वर्गमूल परिधि होती है" यह जैन सम्प्रदायका है। वर्त्तमानमें उपलब्ध सूर्यसिद्धान्तसे पहलेके जैनग्रन्थोंमें यह करणसूत्र पाया जाता है। जैनेतर साहित्यमें सूर्यसिद्धान्त ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें इस सूत्रको स्थान दिया गया है। जैनेतर प्रायः सभी ज्योतिर्विदोंने इस सिद्धान्तकी समीक्षा की है तथा कुछ लोगोंने इसका खण्डन भी। श्रीधराचार्यने इस जैनमान्यताका अनुसरण किया है तथा प्राचीन जैनगणितके मूलतत्त्वोंका विस्तार भी किया है। अतएव श्रीधराचार्यका समय ईस्वी सन्‌की आठवीं शतीका अन्तिम भाग या नवम शतीका पूर्वार्ध है।

रचनाएँ और उनका परिचय

श्रीधराचार्यकी ज्योतिष और गणित विषयक चार रचनाएँ मानी जाती हैं।

१. गणितसार या त्रिशतिका।

२. ज्योतिर्ज्ञानविधि—करणविषयक ज्योतिष ग्रन्थ।

३ जातकतिलक—जातक सम्बन्धी फलित ग्रन्थ (कन्नड़ भाषा)।

४. बीजगणित—बीजगणितविषयक गणित ग्रन्थ।

गणितसार

गणितसार गणितविषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके अन्तमें निम्नलिखित पद्य प्राप्त होता है।

उत्तरतो हिमनिलयं दक्षिणतो मलयपर्वतं यावत्।
प्रागपरोदधिमध्ये नो गणकः श्रीधरादन्यः॥

इससे स्पष्ट है कि श्रीधराचार्यकी कीर्त्ति कौमुदी उस समय समस्त भारतमें व्याप्त थी। ज्यौतिषशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"भास्करेणाऽस्यानेके प्रकारास्तस्करवदपहृताः। अहो सुप्रसिद्धस्य भास्करादितोऽपि प्राचीनस्य विदुषोऽन्यकृतिदर्शनमन्तरा समये महान् संशयः। प्राचीना एकशास्त्रमात्रैकवेदिनो नाऽऽसन्, ते च बहुश्रुता बहुविषयवेत्तार आसन्नत्र न संशयः[1]।"

इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि श्रीधराचार्यके गणितसम्बन्धी अनेक नियमोंको भास्कर जैसे धुरन्धर गणकोंने ज्यों-का-त्यों अपना लिया है।

गणितसार या त्रिशतिकाकी नागरी अक्षरोंमें लिखी प्रति श्री पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, काशी द्वारा संस्कृतटीकासहित प्राप्त हुई थी। इस प्रतिके संक्षिप्त टिप्पणोंके आधारपर इतना ही कहा जा सकता है कि यह गणितका अद्भुत ग्रन्थ है।

इसमें अभिन्न गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्नसमच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमातृजाति, त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्ड, प्रतिभाण्ड, मिश्रव्यवहार, भाजकव्यवहार, एक पत्रोपकरण, सुवर्णगणित, प्रक्षेपकगणित, समक्रिय-विक्रयगणित, श्रेणिव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार एवं छायाव्यवहारके गणित उदाहरणसहित दिये गये हैं। इस ग्रन्थका जैन एवं जैनेतरोंमें अधिक प्रचार रहा है। गणिततिलककी संस्कृत-भूमिकामें कहा गया है—

"गीर्वाणगीर्गुम्फितो मनोरमविविधच्छन्दोनिबद्धः सपादशतपद्यप्रमितो गणिततिलकसंज्ञकोऽयं ग्रन्थः श्रीधराचार्यकृतत्रिशत्याधारेण निर्मित इत्यनुमीयते कतिपयानां पद्यानां साम्यावलोकनेन।"

१ गणकतरंगिणी, पृ० २४।

इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि श्रीपतिने इनके गणितसारके अनुकरणपर ही अपने गणितग्रन्थकी रचना की है। श्रीसिंहतिलकसूरिने अपनी तिलक नामक कृतिमें गणितसारका आधार लेकर गणितविषयक महत्ताओंका निर्देश किया है। इन्होंने अपनी वृत्तिमें श्रीधराचार्यके सिद्धान्तोंको दूध-पानीकी तरह मिला दिया है[1]। इस ग्रन्थकी जो पाण्डुलिपि प्राप्त है, उसमें ४५ ताड़पत्र हैं, प्रति पत्रमें छ: पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ८५ अक्षर हैं। पाण्डुलिपिका मंगलाचरण निम्न प्रकार है—

नत्वा जिनं स्वविरचितपाट्या गणितस्य सारमुद्धृत्य।
लोकव्यवहाराय प्रवक्ष्यति श्रीधराचार्यः॥

त्रिशतिकाकी जो मुद्रित प्रति पायी जाती है, उसमें 'जिन'के स्थानपर 'शिवं' पाठ मिलता है। मंगलाचरण बदलनेकी प्रथा केवल इसी ग्रन्थ तक सीमित नहीं है, किन्तु और भी कई लोकोपयोगी ज्योतिष और आयुर्वेदके ग्रंथोंमें मिलती है। ज्योतिष और आयुर्वेद दोनों विषय सर्वसाधारणके लिए उपयोगी रहे हैं, जिससे लिपिकर्त्ताओं या सम्पादकोंकी कृपासे मंगलाचरणोंमें परिवर्त्तन होता रहा है। मानसागरीमें भी यह परिवर्त्तन देखा जा सकता है।

ज्योतिर्ज्ञानविधि

ज्योतिषशास्त्रका यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें करण, संहिता और मुहूर्त्त इन तीनों विषयोंका समावेश किया है। यह ग्रन्थ दस प्रकरणोंमें विभक्त है—

१. संज्ञाधिकार—ज्योतिष विषयक संज्ञाएँ वर्णित हैं।
२. तिथ्याधिकार—तिथिसाधन, तिथिशुद्धि आदि।
३-४. संक्रान्ति-ऋत्वहोरात्रिप्रमाणाधिकार।
५. ग्रहनिलयाधिकार।
६. ग्रहयुद्धाधिकार।
७. ग्रहणाधिकार।
८. लग्नाधिकार।
९. गणिताधिकार।
१०. मुहूर्त्ताधिकार।

इसके प्रारम्भमें साठ संवत्सर, तिथि, नक्षत्र, वार, योग, राशि एवं करणोंके नाम तथा राशि, अंश, कला, विकला, घटी, पल आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें मास और नक्षत्र ध्रुवाका विस्तारसहित विवेचन किया है। इस प्रकरणके प्रारम्भमें शक संवत् निकालनेका सुन्दर करणसूत्र दिया है।

---

१. गणिततिलक वृत्ति पृ० ४, ९. ११, १७, ३९।

षष्टिः षोडशगुणितं व्ययगतसंवत्सरैश्च सम्मिश्रम् ।
नवशून्याब्धिसमेतं शकनृपकालं विजानीयात् ॥

अर्थात्—बीती हुई संवत्सर संख्याको १६से गुणाकर ६० जोड़ देनेपर जो संख्या आवे, उसमें ४०९ और युक्तकर देनेपर शक संवत् आ जाता है। तृतीय तिथ्याधिकारमें मध्यम रवि, चन्द्र और स्पष्ट रवि, चन्द्रके साधनके पश्चात् अन्तरांशों परसे तिथि साधनकी प्रक्रिया बतलायी गयी है। मासध्रुवा परसे भी तिथिका साधन किया है। चतुर्थ परिच्छेदमें संक्रातिके साधनकी क्रियाका सुन्दर वर्णन है। प्रारम्भका पद्य निम्न प्रकार है—

नोनवगुणकरणाब्दं वर्षोनं सुकलोद्धृतं वारम् ।
न च गुणतद्धृतशेषं घटिका श्रीधरयुक्तं तेन संक्रान्त्या ॥

यहाँ श्रीधर शब्दमें श्लेष है; ग्रन्थकर्त्ताने अपने नामका निर्देश कर दिया है तथा श्रीको धर शब्दसे पृथक् कर २९. जोड़नेवाली संख्याको भी बता दिया है।

इस प्रकरणमें दिन-रातका प्रमाण निकालनेकी विधि निम्न प्रकार बतलायी है—

मकरादि-कर्कटादि ज्ञात्वा राश्यंशभुक्तिरिह खगुणा ।
तत्र नरातप युक्तं नीचहृतं दिवसरात्रिप्रमाणम् ॥

अर्थात्—मकरसे लेकर मिथुन तक अभीष्ट सूर्यके राश्यादि ज्ञात करे। इस राश्यादिके अंश बनाकर अंशोंको दो से गुणा करे। गुणनफलमें १६२० जोड़े और योगफलमें ६० का भाग देनेसे घटयात्मक दिनप्रमाण आता है। कर्कसे लेकर धनु तक अभीष्ट सूर्यके राश्यंशोंके अंश बनाकर दोसे गुणा करनेपर जो आवे, उसमें १६२० जोड़कर योगफलमें ६०का भाग देनेसे घटयात्मक रात्रि-प्रमाण आता है।

इस प्रक्रिया द्वारा परम दिनमान ३३ घटी आयेगा। अब विचार यह करना है कि यह दिनमान किस स्थानमें सम्भव है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता जिस स्थानका निवासी होता है, प्रायः उसी स्थानके दिन-मानादिका निरूपण करता है। ज्योतिष गणितके आधारपर कहा जा सकता है कि उक्त दिनमान १९°।३८′ अक्षांशवाले स्थानका है। विचार करनेपर यह अक्षांश तमिलनाडु प्रान्तके कई जिलोंमें आता है। अतः यह सम्भव है कि श्रीधराचार्यके इस ग्रन्थका निर्माण तमिलनाडुके किसी जिलेमें हुआ हो अथवा तमिलनाडु श्रीधराचार्यकी जन्मभूमि रही हो। क्योंकि उत्तरभारतमें परम दिनमान ३६ घटी तक रहता है। अतः श्रीधराचार्यकी जन्मभूमि सम्भवतः तमिलनाडुमें रही होगी।

पञ्चम परिच्छेदमें शनि, राहु, मंगल, बुध गुरु और शुक्र—इन ग्रहोंका

स्पष्टीकरण किया गया है। ग्रहोंकी गतिसाधन क्रियाका बहुत ही सुन्दर वर्णन आया है। षष्ठ परिछेदमें ग्रहोंके युद्धका वर्णन किया गया है। प्रारम्भमें ग्रह-युद्धकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—

राश्यंशकलाः सर्वाः यदा भवेयुः समा द्वयोर्ग्रहयोः।
योगस्तयोस्तदा जायते च तद्युद्धमिति वाच्यम्॥

अर्थात् जब दो ग्रहोंके राशि-अंश कला समान हों, उस समय उन दोनोंका योग युद्ध-संज्ञक होता है। इस युद्धके प्रधानतः पुरतः दृष्ट युद्ध और परतः दृष्ट युद्ध—ये दो भेद बतलाये तथा इनका विस्तारसहित वर्णन भी किया है। इसके पश्चात् सप्तम परिच्छेद ग्रहणाधिकार नामका है। इसमें विक्षेप, लम्बन, नति आदिके सामान्य गणितके साथ ग्रहणकी दिशा, ग्रास, स्पर्श और मोक्षकी मध्यम घटिकाओंका आनयन किया है।

अष्टम प्रकरण लग्न साधनका है। इसमें शंकुच्छाया, पदच्छाया आदि नाना प्रकारोंपरसे लग्न-साधन किया है। ग्रहोंके संस्कार भी इस प्रकरणमें बताये गये हैं। यह प्रकरण पर्याप्त विस्तृत है। गणितके कुछ कर्णसूत्र भी इसमें आये हैं। इसके अनन्तर लग्न-सिद्धि प्रकरणमें प्रतिष्ठामुहूर्त, यमघंटक, कुलिक, प्रहरार्ध-पात, क्रकचउत्पात, मृत्यु, काण, सिद्ध, अमृत आदि योगोंके लक्षण दिये गये हैं। दशम प्रकरणमें नक्षत्रोंके वृक्ष, देवता एवं शुभाशुभत्वका प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है।

जातक तिलक कन्नड़ भाषामें लिखित जातक सम्बन्धी ग्रन्थ है।

दुर्गदेवाचार्य

दुर्गदेव नामके श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्यमें तीन आचार्योंका उल्लेख मिलता है। प्रथम दुर्गदेवका उल्लेख मेघविजयके वर्षप्रबोधमें आया है। इसमें इन्हें 'षष्ठि-संवत्सरी' नामक ग्रन्थका रचयिता बतलाया है। उद्धरण निम्न प्रकार है—

अथ जैनमते दुर्गदेवः स्वकृतषष्ठिसंवत्सरग्रन्थे पुनरेवमाह—

ॐ नमः परमात्मानं वन्दित्वा श्रीजिनेश्वरम्।
केवलज्ञानमास्थाय दुर्गदेवेन भाष्यते॥

पार्थ उवाच—भगवान् दुर्गदेव! देवानामधिप! प्रभो!!
भगवन् कथ्यतां सत्यं संवत्सरफलाफलम्॥

दुर्गदेव उवाच—शृणु पार्थ! यथावृत्तं भविष्यन्ति तथाद्भुतम्।
दुर्भिक्षं च सुभिक्षं च राजपीडा भयानि च॥

एतद् योऽत्र न जानाति तस्य जन्म निरर्थकम् ।
तेन सर्वं प्रवक्ष्यामि विस्तरेण शुभाशुभम् ॥

× × ×

भणियं दुग्गदेवेण जो जाणइ वियक्खणो ।
सो सव्वत्थ वि पुज्जो णिच्छयओ लद्धलच्छीय ॥

द्वितीय दुर्गदेव कातन्त्रवृत्तिके रचयिता हैं तथा इस नामके एक आचार्यका उद्धरण आरम्भसिद्धि नामक ग्रन्थकी टीकामें श्री हेमहंसगणिने निम्न प्रकार उपस्थित किया है—

दुर्गसिंहः—"मुण्डयितारः श्राविष्ठायिनो भवन्ति बधूमूढाम्" इति ।

उपर्युक्त दोनों दुर्गदेवोंपर विचार करनेसे यह ज्ञात होता है कि ये दोनों ज्योतिष विषयके ज्ञाता तो अवश्य हैं पर रिष्टसम्मुचयके कर्त्ता नहीं हैं। रिष्ट-समुच्चयकी रचनाशैली बिल्कुल भिन्न है। गुरुपरम्परा भी इस बातको व्यक्त करती है कि आचार्य दुर्गदेव दिगम्बर परम्पराके हैं। जैन साहित्य संशोधकमें प्रकाशित 'बृहट्टिप्पणिका' नामक प्राचीन जैन ग्रन्थ सूचीमें मरणकण्डिका और मन्त्रमहोदधिके कर्त्ता दुर्गदेवको दिगम्बर आम्नायका आचार्य माना है। रिष्ट-समुच्चयकी प्रशस्तिसे भी ज्ञात होता है कि इनके गुरुका नाम संयमदेव[1] था। संयमदेव भी संयमसेनके शिष्य थे तथा संयमसेनके गुरुका नाम माधवचन्द्र था।

'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' नामक पुस्तकमें माधवचन्द्र नाम-के दो व्यक्ति आये हैं। एक तो प्रसिद्ध त्रिलोकसार, क्षपणकसार, लब्धिसार आदि ग्रन्थोंके टीकाकार और दूसरे पद्मावती पुरवार जातिके विद्वान् हैं। मेरा अपना विचार है कि संयमसेन प्रसिद्ध माधवचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य होंगे। क्योंकि इस परम्पराके सभी आचार्य गणित, ज्योतिष आदि लोकोपयोगी विषयोंके ज्ञाता हुए हैं। दुर्गदेवने 'रिष्टसमुच्चय' ग्रन्थकी रचना लक्ष्मीनिवास राजाके राज्यमें कुम्भ-नगर नामक पहाड़ी नगरके शान्तिनाथ जिनालयमेंकी है[2]। विशेषज्ञोंका अनुमान

---

१. जयउ जए जियमाणो संजमदेवो मुणीसरो इत्थ ।
तहवि हु संजमसेणो माहवचन्दो गुरूतहय ॥
रइयं बहुसत्थत्थं उवजीवित्ता हु दुग्गएवेण ।
रिट्ठसमुच्चयसत्थं बयणेण संजमदेवस्स ॥
—रिष्टसमुच्चय, गोधाग्रन्थमाला, इन्दौर संस्करण, गाथा—२५४, २५५ ।

२. सिरिकुंमनयरण (य) ए सिरिलच्छिनिवासनिवइरज्जंमि ।
सिरिसतिनाह भवणे मुणि—भविअ—सम्मउमे (ले) रम्मे ॥
—रिष्टसमुच्चय, गाथा २६१ ।

है कि यह कुम्भनगर भरतपुरके निकट 'कुम्हेर', 'कुम्भेर' अथवा 'कुम्भेरी' नामका प्रसिद्ध स्थान ही है। महामहोपाध्याय स्व० डा० गौरीशंकर हीराचन्द जी भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि लक्ष्मीनिवास कोई साधारण सरदार रहा होगा तथा कुम्भनगर भरतपुरके निकटवाला कुम्भेरी, कुम्भेर या कुम्हेर ही है, क्योंकि इस ग्रन्थकी रचना शौरसेनी प्राकृतमें हुई है। अतः यह स्थान शौरसेन देशके निकट ही होना चाहिए। कुछ लोग कुम्हनगर कुम्भलगढ़को मानते हैं, पर उनका यह मानना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि यह गढ़ तो दुर्गदेवके जीवनके बहुत पीछे बना है।

कुम्भराणा द्वारा विनिर्मित मसिन्दा किलेका कुम्भ-विहार भी यह नहीं हो सकता है, क्योंकि इतिहास द्वारा इसकी पुष्टि नहीं होती है। अतएव रिष्टसमुच्चयका रचनास्थान शौरसेन देशके भीतर भरतपुरके निकट वर्तमानका कुम्हेर या कुम्भेर है। दुर्गदेवके समयमें यह नगर किसी पहाड़ीके निकट बसा हुआ होगा, जहाँके शान्तिनाथ जिनालयमें इसकी रचना की गयी है। यह नगर उस समय रमणीक और भव्य रहा होगा। किसी वंशावलीमें लक्ष्मीनिवासका नाम नहीं मिलता है। अतः हो सकता है कि वह एक छोटा सरदार जाट या जदन राजपूत रहा हो। यह स्मरणीय है कि भरतपुरमें जाटोंका शासन रहा है जो अपनेको मदनपालका वंशज कहते थे। इतिहासमें मदनपालको जदन राजपूत बतलाया गया है। यह टहनपालके, जो ११वीं शताब्दीमें बयानाके शासक थे, तृतीय पुत्र थे। अतः इससे भी कुम्भनगर भरतपुरके निकटवाला कुम्हेर ही सिद्ध होता है।

दुर्गदेवका पाण्डित्य

रिष्टसमुच्चयकी प्रशस्तिमें संयमदेव और दुर्गदेव—इन दोनोंकी विद्वत्ताका वर्णन आया है। दुर्गदेवके गुरु संयमदेव षडदर्शनके ज्ञाता, ज्योतिष, व्याकरण और राजनीतिमें पूर्ण निष्णात थे। वे वादिरूप मदोन्मत्त हाथियोंके झुण्डको पराजित करनेके लिए सिंहके समान थे। ये सिद्धान्तशास्त्रके पारगामी थे और मुनियोंमें सर्वश्रेष्ठ थे। इन यशस्वी यमदेवके शिष्य दुर्गदेव भी विशुद्ध चरित्रवान् और सकलशास्त्रोंके मर्मज्ञ पण्डित थे। लिखा है—

संजाओ इहतस्स चारुचरिओ नाणं बुद्धोयं (धोया) मई
सीसो देसजई सं (वि) बोहणयरो णीसेसबुद्धागमो।
नामेणं दुग्गएव विदिओ वागीसरायण्णओ
तेणंदं रइयं विसुद्धमइणा सत्थं महत्थ फुडं ॥[1]

---

१. रिष्टसमुच्चय, गाथा—२५८।

अर्थात् संयमदेवका शिष्य दुर्गदेव विशुद्ध चरित्रवाला, ज्ञानरूपी जलसे प्रक्षालित बुद्धिवाला, वाद-विवादमें देश भरके विद्वानोंको पराजित करनेवाला, सबको समझानेवाला एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंका विद्वान् हुआ, जिसने अपनी विशुद्ध बुद्धि द्वारा स्पष्ट और महान अर्थवाले इस रिष्टसमुच्चयशास्त्रकी रचना की।

श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीने[1] इस पद्यमें आये हुए 'देसजई' का संस्कृत रूपान्तर 'देशयति' मान लिया है और इस मान्यताके आधारपर दुर्गदेवको क्षुल्लक बतलाया है, पर यह भूल है। 'देसजई' का संस्कृत रूपान्तर 'देशजयी' है और इसका अर्थ शास्त्रार्थमें देश भरके विद्वानोंका जीतनेवाला है। यदि दुर्गदेव क्षुल्लक होते तो उन्हें चारुचरित नहीं कहा जा सकता। यह ग्रन्थ भी उन्होंने मुनियों और भव्य श्रावकोंको सम्बोधित करनेके लिए लिखा है। मुनिको मुनि ही सम्बोधित कर सकता है, श्रावक या क्षुल्लक नहीं। अत: स्पष्ट है कि इस ग्रन्थके रचयिता आचार्य दुर्गदेव ज्योतिष, शकुन, मन्त्र आदिके साथ आगम और तर्कशास्त्रके भी ज्ञाता थे।

स्थिति-काल

दुर्गदेवका स्थिति-काल उनकी रचनाओंसे ज्ञात किया जा सकता है। रिष्ट समुच्चयमें रचनाकालका निर्देश करते हुए लिखा है—

संवच्छरइगसहसे बोलीणे णवयसीइ संजुत्ते।
सावणसुक्केयारसि दिअइम्मि (य) मूलरिक्खंभि[2] ॥

अर्थात् संवत् १०८९ श्रावण शुक्ला एकादशीको मूल नक्षत्रमें इसकी रचना की है। यहाँ पर संवत् शब्द सामान्य आया है। इसे विक्रम संवत् लिया जाय या शक संवत् यह एक विचारणीय प्रश्न है। ज्योतिषके अनुसार गणना करने पर शक संवत् १०८९ में श्रावण शुक्ला एकादशीको मूल नक्षत्र पड़ता है तथा वि० सं० १०८९ में श्रावण शुक्ला एकादशीको प्रात:काल सूर्योदयमें ३ घटी अर्थात् एक घंटा १२ मिनट तक ज्येष्ठा नक्षत्र रहता है। पश्चात् मूल नक्षत्र आता है। निष्कर्ष यह है कि शक संवत् माननेपर श्रावण शुक्ला एकादशीको मूल नक्षत्र दिन भर रहता है और वि० सं० मानने पर सूर्योदयके एक घंटा बारह मिनट पश्चात् मूल नक्षत्र आता है। अतएव कौन-सा संवत् लेना उचित है। सम्भवत: कुछ समालोचक यह तर्क कर सकते हैं कि शक संवत् लेनेसे दिनभर मूल नक्षत्र रहता है। ग्रन्थकर्त्ताने किसी भी समय इस नक्षत्रमें ग्रन्थका निर्माण किया होगा। अतएव शक संवत् लेना ही उचित है।

---

१. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह—प्रथम भाग, पृष्ठ—९४।

२. रिष्टसमुच्चय, गाथा संख्या—२६०।

शक संवत् माननेमें तीन दोष आते हैं। पहला दोष तो यह है कि शक संवत् में अमान्त मास गणना ली जाती है और यहाँ पर पूर्णिमान्त मास गणना की गयी है। दूसरा दोष यह है कि उत्तर भारतमें वि० सं० का प्रचार था और दक्षिण भारतमें शक संवत् का। यदि इसे शक संवत् मानते हैं तो ग्रन्थकार दक्षिणके निवासी सिद्ध होते हैं, पर बात ऐसी नहीं है। तीसरी बात यह है कि जहाँ-जहाँ शक संवत्का उल्लेख मिलता है, वहाँ संवत्के पूर्व शक विशेषण आता है। सामान्य संवत् शब्द वि० सं० के लिए ही प्रयुक्त होता है। 'रिष्टसमुच्चय' की रचना वि० सं० १०८९ श्रावण शुक्ला एकादशी शुक्रवारको सूर्योदयके १ घंटा १२ मिनटके पश्चात् किसी भी समयमें पूर्ण हुई है। ई० सन् के अनुसार गणना करनेपर २१ जुलाई शुक्रवार ई० सन् १०३२ आता है। अतः दुर्गदेव ई० सन् की ११वीं शतीके विद्वान् हैं।

रचनाएँ

दुर्गदेवकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं।

१. रिष्टसमुच्चय।
२. अर्घकाण्ड।
३. मरणकण्डिका।
४. मन्त्रमहोदधि।

रिष्टसमुच्चय

इस ग्रन्थमें २६१ गाथाएँ हैं। आरम्भमें जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार करनेके पश्चात् मनुष्यजीवन और जैनधर्मकी उत्तमताका निरूपण कर विषयका कथन किया गया है। प्राक्कथनके रूपमें अनेक रोगों और उनके भेदोंका वर्णन है। यह १६ गाथाओं तक गया है। विषयमें प्रवेश करनेके पश्चात् ग्रन्थकारने रिष्टोंके पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ये तीन भेद बतलाये हैं। प्रथम श्रेणीमें शारीरिक अरिष्टोंका वर्णन करते हुए कहा है कि जिसकी आँखें स्थिर हो जायें, पुतलियाँ इधर-उधर न चलें, शरीर कान्तिहीन काष्ठवत् हो जाये और ललाट-में पसीना आवे वह केवल ७ दिन जीवित रहता है। यदि बन्द मुख एकाएक खुल जाये, आँखोंकी पलकें न गिरें, इकटक दृष्टि हो जाये तथा नख-दाँत सड़ जायें या गिर जायें तो वह व्यक्ति सात दिन तक जीवित रहता है। भोजनके समय जिस व्यक्तिको कड़वे, तीखे, कषायले, खट्टे, मीठे और खारे रसोंका स्वाद न आवे उसकी आयु १ माहकी होती है। बिना किसी कारणके जिसके नख, ओठ काले पड़ जायें, गर्दन झुक जाये, तथा उष्ण वस्तु शीत और शीत वस्तु उष्ण प्रतीत हो, सुगन्धित वस्तु दुर्गन्धित और दुर्गन्धित वस्तु सुगन्धित

मालूम हो उस व्यक्तिका शीघ्र मरण होता है। प्रकृति विपर्यास होना भी शीघ्रमृत्युका सूचक है। जिसका स्नान करनेके अनन्तर वक्षस्थल पहले सूख जाये तथा अवशेष शरीर गीला रहे, वह व्यक्ति केवल पन्द्रह दिन जीवित रहता है। इस प्रकार पिण्डस्थ अरिष्टोंका विवेचन १७ वीं गाथासे लेकर ४० वीं गाथा तक २४ गाथाओंमें विस्तारपूर्वक किया है।

द्वितीय श्रेणीमें पदस्थ अरिष्टों द्वारा मरणसूचक चिह्नोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि स्नान कर श्वेत वस्त्र धारण कर सुगन्धित द्रव्य तथा आभूषणसे अपनेको सजाकर जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। पश्चात्—"ओं ह्रीं णमो अरहंताणं कमले-कमले विमले-विमले उदरदेवि इटिमिटि पुलिन्दिनी स्वाहा" इस मन्त्रका २१ बार जाप कर बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धोंसे प्रकट होने वाले मृत्युसूचक लक्षणोंका दर्शन करना चाहिये।

उपर्युक्त विधिके अनुसार जो व्यक्ति संसारमें एक चन्द्रमाको नाना रूपोंमें तथा छिद्रोंसे परिपूर्ण देखता है उसका मरण एक वर्षके भीतर होता है। यदि हाथकी हथेलीको मोड़नेपर इस प्रकारसे सट सके जिससे चुल्लू बन जाये और एक बार ऐसा करनेमें देर लगे, तो सात दिनकी आयु समझनी चाहिये। जो व्यक्ति सूर्य, चन्द्र एवं ताराओंकी कान्तिको मलिनस्वरूपमें परिवर्तन करते हुए एवं नाना प्रकारसे छिद्रपूर्ण देखता है, उसका मरण छह मासके भीतर होता है। यदि सात दिनों तक सूर्य, चन्द्र एवं ताराओंके बिम्बोंको नाचता हुआ देखे, तो निःसन्देह उसका जीवन तीन मासका समझना चाहिये। इस तरह दीपक, चन्द्रबिम्ब, सूर्यबिम्ब, तारिका, सन्ध्याकालीन रक्तवर्ण धूमधूसित दिशाएँ, मेघाच्छन्न आकाश एवं उल्काएँ आदिके दर्शन द्वारा आयुका निश्चय किया जाता है। इस प्रकार ४१वीं गाथा तक २७ गाथाओंमें पदस्थ रिष्टोंका वर्णन आया है।

तृतीय श्रेणीमें निजच्छाया, परच्छाया और छायापुरुष द्वारा मृत्युसूचक लक्षणोंका बड़े सुन्दर ढंगसे निरूपण किया है। प्रारम्भमें छायादर्शनकी विधि बतलाते हुए लिखा है कि स्नान आदिसे पवित्र होकर— 'ओं ह्रीं रक्ते रक्ते रक्तप्रिये सिंहमस्तकसमारूढे कूष्माण्डी देवि मम शरीरे अवतर-अवतर छायां सत्यां कुरु कुरु ह्रीं स्वाहा" इस मन्त्रका जाप कर छायादर्शन करना चाहिये। यदि कोई रोगी व्यक्ति जहाँ खड़ा हो, वहाँ अपनी छाया न देख सके या अपनी छायाको कई रूपोंमें देखे अथवा छायाको बैल, हाथी, कौआ, गदहा, भैंसा और घोड़ा आदि नाना रूपोंमें देखे तो उसे अपना ७ दिनके भीतर मरण समझना चाहिये। यदि कोई अपनी छायाको काली, नीली, पीली और लाल देखता है, तो वह

क्रमशः तीन, चार, पाँच और छह दिन जीवित रहता है। इस प्रकार अपनी छायाके रंग, आकार, लम्बाई, छेदन-भेदन आदि विभिन्न तरीकोंसे आयुका निश्चय किया गया है।

परछायादर्शनकी विधिका निरूपण करते हुए बताया है कि एक अत्यन्त सुन्दर युवकको जो न लम्बा हो, न नाटा हो, स्नान कराकर सुन्दर वस्त्रोंसे युक्त कर—"ओं ह्रीं रक्ते रक्ते रक्तप्रिये सिंहमस्तकसमारूढे कूष्माण्डी देवि मम शरीरे अवतर-अवतर छायां सत्यां कुरु-कुरु ह्रीं स्वाहा" मन्त्रका १०८ बार जाप करना चाहिये, पश्चात् उत्तर दिशाकी ओर मुँह कर उस व्यक्तिको बैठा देना चाहिये, अनन्तर रोगी व्यक्तिको उस युवककी छायाका दर्शन करना चाहिये। यदि रोगी व्यक्ति किसी व्यक्तिकी छायाको टेढ़ी, अधोमुखी, पराङ्मुखी और और नीलवर्णका देखता है, तो दो दिन जीवित रहता है। यदि छायाको हँसते, रोते, दौड़ते, बिना कान, बाल, नाक, भुजा, जंघा, कमर, सिर और हाथ-पैरके देखता है, तो छह महीनेके भीतर मृत्यु होती है। रक्त, चर्वी, तेल, पीव और अग्नि आदि पदार्थोंको छाया द्वारा उगलते हुए देखता है, तो एक सप्ताहके भीतर मृत्यु होती है। इस प्रकार ९५ वीं गाथा तक परछाया द्वारा मरण समय-का निर्धारण किया गया है।

छायापुरुषका कथन करते हुए बतलाया गया है कि मन्त्रसे मन्त्रित व्यक्ति समतल भूमिपर खड़ा होकर पैरोंको समानान्तर कर, हाथोंको नीचे लटका कर अभिमान, छल-कपट और विषय-वासनासे रहित जो अपनी छायाका दर्शन करता है, वह छायापुरुष कहलाता है। इसका सम्बन्ध नाकके अग्रभागसे, दोनों स्तनोंके मध्यभागसे, गुप्तांगोंसे, पैरके कोनोंसे, ललाटसे और आकाशसे होता है। जो व्यक्ति उस छायापुरुषको बिना सिर, पैरके देखता है, तो जिस रोगी-के लिए छायापुरुषका दर्शन किया जा रहा है, वह छह मास जीवित रहता है। यदि कोई छायापुरुष घुटनोंके बिना दिखलायी पड़े, तो २८ महीने और कमर बिना दिखलायी पड़े तो १५ महीने शेष जीवन समझना चाहिये। यदि छाया-पुरुष बिना हृदयके दिखलाई पड़े तो ८ महीने, बिना गुप्तांगोंके दिखलाई पड़े, तो दो दिन और बिना कन्धोंके दिखलाई पड़े तो जीवन एक दिन शेष समझना चाहिये। इस प्रकार छायापुरुषके दर्शन द्वारा मरणसमयका निर्धा-रण १०७वीं गाथा तक किया गया है।

इसके पश्चात् १३०वीं गाथा तक स्वप्नदर्शन द्वारा मृत्युके लक्षणोंका कथन किया है। इस प्रकरणके प्रारम्भमें बताया है कि जिस रातको स्वप्न देखना हो, उसके पूर्वके दिन उपवाससहित मौनव्रत धारण करे और उस दिन समस्त

आरम्भका त्याग कर विकथा एवं कषायोंसे रहित होकर—'ओं ह्रीं पण्हसवणे स्वाहा' इस मन्त्रका एक हजार बार जाप कर भूमिपर शयन करे। यहाँ स्वप्नों-के दो भेद बतलाये हैं—कथित और सहज। मन्त्रजापपूर्वक किसी देवविशेष-की आराधनासे जो स्वप्न देखे जाते हैं वे देव कथित और चिन्तारहित स्वस्थ एवं स्थिर मनसे बिना मन्त्रोच्चारणके शरीरमें धातुओंके सम होनेपर जो स्वप्न देखे जाते हैं, वे सहज कहलाते हैं। प्रथम प्रहरमें स्वप्न देखनेसे उसका फल दश वर्षमें, दूसरे प्रहरमें स्वप्न देखनेसे उसका फल पाँच वर्षमें, तीसरे प्रहरमें स्वप्न देखनेसे उसका फल छह महीनेमें और चौथे प्रहरमें स्वप्न देखनेसे उसका फल दस दिनमें प्राप्त होता है।

जो स्वप्नमें जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाको हाथ, पैर, घुटने, मस्तक, जंघा, कंधा और पेटसे रहित देखता है वह क्रमशः ४ महीने, ३ वर्ष, १ वर्ष, पाँच दिन, २वर्ष, १ मास और ८मास जीवित रहता है। अथवा जिस व्यक्तिके शुभाशुभको ज्ञात करनेके लिए स्वप्नदर्शन किया जा रहा है, वह उपर्युक्त समयों तक जीवित रहता है। स्वप्नमें छत्रभंग देखनेसे राजाको मृत्यु, परिवारकी मृत्यु देखनेसे परिवारका मरण होता है। यदि स्वप्नमें अपना नाश होता हुआ देखे, तो दो महीनेकी आयु शेष समझनी चाहिये। दक्षिण दिशाकी ओर ऊँट, गदहा और भैंसेपर सवार होकर, घी या तैल शरीरमें लगाये हुए जाते देखे तो एक मासकी आयु शेष समझनी चाहिये। यदि काले रंगका व्यक्ति घरमेंसे अपनेको बलपूर्वक खींचकर ले जाते हुए स्वप्नमें दिखलायी दे तो एक मासकी आयु शेष समझनी चाहिये। रुधिर, चर्बी, पीव, चर्म और तैलमें स्नान करते हुए या डूबते हुए अपनेको स्वप्नमें देखे या स्वप्नमें लाल फूलोंको बांधकर ले जाते हुए देखे, तो वह व्यक्ति एक मास जीवित रहता है। इस प्रकार इस प्रकरणमें विस्तारपूर्वक स्वप्नदर्शनका कथन किया गया है। इसके अनन्तर प्रत्यक्षरिष्ट और लिंगरिष्टोंका कथन करतें हुए लिखा है कि जो व्यक्ति दिशाओंको हरे रंगकी देखता है, वह एक सप्ताहके भीतर, जो नीले वर्णकी देखता है वह पाँच दिन-के भीतर, जो श्वेत वर्णकी वस्तुको पीत और पीत वर्णकी वस्तुको श्वेत देखता है वह तीन दिन जीवित रहता है। जिसकी जीभसे जल न गिरे, जीभ रसका अनुभव न कर सके और जो अकारण अपना हाथ गुप्त स्थानोंपर रक्खे वह सात दिन जीवित रहता है। इस प्रकरणमें विभिन्न अनुमान और हेतुओं द्वारा मृत्युसमयका प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न द्वारा रिष्टोंके वर्णनके प्रकरणमें प्रश्नोंके आठ भेद बतलाये है—

१. अंगुलि प्रश्न, २. अलक्त प्रश्न, ३. गोरोचन प्रश्न, ४. अक्षर प्रश्न, ५.

शब्दप्रश्न, ६. प्रश्नाक्षरप्रश्न, ७. लग्नप्रश्न और ८. होराप्रश्न। अंगुलिप्रश्न-का कथन करते हुए बताया है कि श्री महावीरस्वामीकी प्रतिमाके सम्मुख उत्तम मालतीके पुष्पों से—"ओ ह्रीं अर्हणमो अरहंताणं ह्रीं अवतर-अवतर स्वाहा' इस मन्त्रका १०८ बार जाप कर मन्त्र सिद्ध करे। पुनः दाहिने हाथकी तर्जनी-को १०० बार मन्त्रसे मन्त्रित कर आँखोंके ऊपर रखकर रोगीको भूमि देखनेके लिए कहे। यदि वह सूर्यके विम्बको भूमिपर देखे तो छह मास जीवित रहता है। इस प्रकार अंगुलिप्रश्न द्वारा मृत्युसमयको ज्ञात करनेकी विधिके उपरान्त अलक्तप्रश्नकी विधि बतलायी है कि चौरस भूमिको एक वर्णकी गायके गोबर-से लीप कर उस स्थानपर "ओं ह्रीं अरहं णमो अरहंताणं ह्रीं अवतर अवतर स्वाहा इस मन्त्रको १०८ बार जपना चाहिये। फिर कांसेके बर्तनमें अलक्तको भरकर १०० बार मन्त्रसे मन्त्रित कर उक्त पृथ्वीपर उस बर्तनको रख देना चाहिए। पश्चात् रोगीके हाथोंको दूधसे धोकर दोनों हाथोंपर मन्त्र पढ़ते हुए दिन, मास और वर्षकी कल्पना करनी चाहिये। पुनः १०० बार उक्त मन्त्रको पढ़कर अलक्तसे रोगीके हाथोंको धोना चाहिये। इस क्रियाके अनन्तर हाथोंके सन्धिस्थानमें जितने बिन्दु काले रंगके दिखलायी पड़ें उतने दिन, मास और वर्षकी आयु समझनी चाहिये। लगभग यही विधि गोरोचनप्रश्नकी भी है।

प्रश्नाकारविधिका कथन करते हुए लिखा है कि जिस रोगीके सम्बन्धमें प्रश्न करना हो वह—ओं ह्रीं वद वद वाग्वादिनी सत्यं ह्रीं स्वाहा" इस मन्त्रका जाप कर प्रश्न करे। उत्तर देनेवाला प्रश्नवाक्यके सभी व्यञ्जनोंको दुगुना और मात्राओंको चौगुना कर जोड़ दे। इस योगफलमें स्वरोंकी संख्यासे भाग देनेपर सम शेष आये तो रोगीका जीवन और विषम शेष आनेपर रोगीकी मृत्यु समझना चाहिये। अक्षरप्रश्नके वर्णनमें ध्वज, धूम, खर, गज, वृष, सिंह, श्वान और वायस इन आठ आयोंके अक्षर क्रमानुसार आयुका निश्चय करना चाहिये। शब्द प्रश्नमें शब्दोच्चारण, दर्शन आदिके शकुनों द्वारा अरिष्टोंका कथन किया गया है। इस प्रकरणमें शब्दश्रवणके दो भेद बतलाये हैं—१. देवकथित शब्द आर २. प्राकृतिकशब्द। देवकथित शब्द मन्त्राराधना द्वारा सुने जाते हैं। प्राकृतिकमें पशु-पक्षी मनुष्य आदिके शब्दश्रवण द्वारा फलका कथन किया जाता है। शब्दप्रश्नका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है।

होराप्रश्न इसका एक महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें मन्त्राराधनाके पश्चात् तीन रेखाएँ खींचनेके अनन्तर आठ तिरछी और खड़ी रेखाएँ खींचकर आठ आयोंको रखनेको विधि है तथा इन आयोंके वेध द्वारा शुभाशुभ फलका निरू-पण किया है। शनिचक्र, नरचक्र इत्यादि चक्रों द्वारा भी मरणसमयका निर्धा-

रण किया गया है। विभिन्न नक्षत्रोंमें रोग उत्पन्न होनेसे कितने दिनों तक बीमारी रहती है और रोगीको कितने दिनों तक कष्ट उठाना पड़ता है आदि-का कथन है। लग्नप्रश्नमें प्रश्नकालीन लग्न निकाल कर द्वादश भावोंमें रहने वाले ग्रहोंके सम्बन्धसे फलका प्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थमें गोमूत्र, गोदुग्ध आदिका भी विधान आया है, पर यह लौकिक दृष्टिसे है। धर्मके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि दुर्गदेवने अद्भुतसागर, चरक, सुश्रुत, पुराण आदि ग्रन्थोंसे अनेक विषय ग्रहण कर ज्योंके त्यों निबद्ध कर दिये हैं। अतः इन लौकिक विषयोंका जैनधर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

मरणकण्डिका

इस ग्रंथमें १४६ गाथाएँ हैं, जो 'रिष्टसमुच्चय'की १६२ गाथाओंसे मिलती हैं। रिष्टसमुच्चयमें १६३से आगे और बढ़ाकर २६१ गाथाएँ कर दी गयी हैं। 'मरणकण्डिका'की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि 'मरणकण्डिका' का निर्माण किसी अन्य व्यक्तिने किया है, दुर्गदेवाचार्यने इस ग्रंथका विस्तार कर 'रिष्टसमुच्चय'की रचना की है। पर मेरा मन है कि यह रचना भी दुर्गदेवकी है, यतः कोई ग्रन्थकार भावको तो ग्रहण कर सकता है पर अन्यके पद्योंको यथावत् नहीं ग्रहण करता। अतएव दुर्गदेवने पहले मरणकण्डिका-की रचना की होगी, किन्तु बादको उसे संक्षिप्त जानकर उसीमें वृद्धिकर एक नवीन ग्रन्थ रच दिया होगा तथा पहले लिखे गये ग्रन्थको ज्योंकात्यों छोड़ दिया होगा।

अर्घकाण्ड

इसमें १४९ गाथाएँ और दस अध्याय हैं। इसकी रचना शौरसेनी प्राकृतमें है। यह तेजी-मन्दी ज्ञात करनेका अपूर्व ग्रन्थ है। ग्रह और नक्षत्रोंकी विभिन्न परिस्थितियोंके अनुसार खाद्यपदार्थ, सोना, चाँदी, लोहा, ताम्बा, हीरा, मोती, पशु एवं अन्य धन-धान्यादि पदार्थोंकी घटती-बढ़ती कीमतोंका प्रतिपादन किया है, सुकाल और दुष्कालका कथन भी संक्षेपमें किया है। ज्योतिष चन्द्रके गणनानुसार वृष्टि, अतिवृष्टि और वृष्टि अभावका कथन आया है। साठ संवत्सरोंके फलाफल तथा किस संवत्सरमें किस प्रकारकी वर्षा और धान्यकी उत्पत्ति होती है, इसका संक्षेपमें सुन्दर वर्णन आया है। ग्रन्थ छोटा होनेपर भी उपयोगी है। इसमें प्रत्येक वस्तुकी तेजी-मन्दी ग्रहोंकी चाल परसे निकाली गयी है। संहितासम्बन्धी कतिपय बातें भी इसमें संकलित हैं। ग्रहाचार प्रक-रणमें गुरु और शुक्रको गतिके अनुसार देश और समाजकी परिस्थितिका ज्ञान

कराया गया है। शनि और मंगलके निमित्तपरसे लोहा और ताँबेकी घटा-बढ़ीका कथन किया गया है।

मन्त्रमहोदधि

यह मन्त्रशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ है। इसकी भाषा प्राकृत है। 'रिष्टसमुच्चय' में आये हुए मन्त्रोंसे पता चलता है कि ये आचार्य मन्त्रशास्त्रके अच्छे ज्ञाता थे। मन्त्रोंमें वैदिकधर्म और जैनधर्म, इन दोनोंकी कतिपय बातें आयी हैं, जिससे अवगत होता है कि मन्त्रशास्त्रमें सम्प्रदाय विभिन्नता नहीं ली जाती थी। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वैदिकधर्मके प्रभावके कारण ही जैनधर्म-में इस विषयका समावेश किया गया होगा। क्योंकि आठवीं शतीमें जैनधर्मको नास्तिक कहकर विधर्मी श्रद्धालुओंकी श्रद्धाको दूर कर रहे थे। अतः जैनाचार्य और भट्टारकोंने वैदिकधर्मकी देखा-देखी मन्त्र-तन्त्रवादको जैनधर्ममें स्थान दिया।

ग्रंथकर्त्ताके जीवनकी छाप ग्रन्थमें रहती है, इस नियमके अनुसार यह स्पष्ट है कि आचार्य दुर्गदेव एक अच्छे मान्त्रिक थे। मन्त्रमहोदधि मन्त्रशास्त्रका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

मुनि पद्मकीर्ति

'पासणाहचरिउ'के कर्त्ता मुनि पद्मकीर्ति हैं। इस ग्रंथकी प्रत्येक सन्धिके अन्तिम कड़वकके घत्तेमें 'पउम' शब्दका उपयोग किया गया है। यह 'पउम' शब्द 'कमल' और 'लक्ष्मी' दोनों ही अर्थोंमें सन्दर्भके अनुसार घटित हो सकता है। पर चतुर्थ सन्धिके अन्तिम घत्तेमें 'पउमभणई' तथा पाँचवीं, चौदहवीं और अठारहवीं सन्धियोंके अन्तिम घत्तोंमें 'पउमकित्ति' पदका प्रयोग आया है। १४-वीं और १८वीं सन्धियोंके अन्तिम घत्तोंमें 'पउमकित्तिमुणि'का प्रयोग आता है, जिससे स्पष्ट है कि आचार्य पद्मकीर्तिमुनिने 'पासणाहचरिउ'की रचना की। ग्रन्थके अन्तमें आचार्यने कविप्रशस्ति निबद्ध की है, जो निम्न प्रकार है—

जइ वि विरुद्धं एयं णियाण-बंधं जिणिंद तुह समये।
तह वि तुह चलण-कित्तं कइत्तणं होज्ज पउमस्स॥
रइयं पास-पुराण भमिया पुहवी जिणालया दिट्ठा।
इण्हिं जीविय-मरणं हरिस-विसाओ ण पउमस्स॥
सावय-कुलम्मि जम्मो जिणचलणाराहणा कइत्तं च।
एयाइं तिण्णि जिणवर भवि भवे हुंतु पउमस्स॥

णवं-सय-णउआणउये कत्तियमासे अमावसी दिवसे ।
रइयं पास-पुराणं कइणा इह पउमणामेण[1] ॥

अर्थात्—पद्मकीर्तिने पार्श्वपुराणकी रचना की, पृथ्वीभ्रमण किया और जिनालयोंके दर्शन किये अब उसे जीवन-मरणके सम्बन्धमें कोई हर्ष-विषाद नहीं है। श्रावककुलमें जन्म, जिनचरणोंमें भक्ति तथा कवित्व, ये तीन बातें हे जिनवर! पद्मको जन्मान्तरोंमें प्राप्त हो। अन्तिम पद्यमें कविने अपनी रचनाके समयका उल्लेख किया है। १८वीं सन्धिके अन्तिम कड़वकमें आचार्यने अपनी गुरुपरम्पराका निर्देश किया है, जो निम्न प्रकार है—

सुपसिद्धु महामइ णियमधरु थिउसेण-संघु इह महिहि वरु ।
तहिँ चंदसेणु णामेण रिसी वय-संजम-णियमइँ जासु किसी ॥
तहाँ सीसु महामइ णियमधारि णयवंतु गुणायरु बंभयारि ।
सिरि माहउसेणु महाणुभाउ जिणसेणु सीसु पुणु तासु जाउ ॥
तहाँ पुव्व-सणेहें पउमकित्ति उप्पण्णु सीसु जिणु जासु चित्ति ।
तें जिणवर-सासणु-भासिएण कह विरइय जिणसेणहा मएण ॥

× × × ×

घत्ता—सिरि-गुरु-देव-पसाएँ कहिउ असेसु वि चरिउ मइँ ।
पउमकित्ति-मुणि-पुंगवहो देउ जिणेसरु विमलमइ[2] ॥

अर्थात् इस पृथ्वीपर सुप्रसिद्ध अत्यन्त प्रतिभाशाली, नियमोंका धारक श्रेष्ठ सेनसंघ हुआ। उसमें चन्द्रसेन नाम ऋषि थे। जिनके जीवित रहनेके साधन ही व्रत, संयम और नियम थे। इनके शिष्य महामति नियमधारी, नयवान्, गुणोंकी खान ब्रह्मचारी तथा महानुभाव श्री माधवसेन हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य जिनसेन हुए। पूर्वस्नेहके कारण पद्मकीर्ति उनका शिष्य हुआ, जिसके चित्तमें जिनवर विराजते थे।

गुरुदेवके प्रसादसे यह ग्रन्थ लिखा गया, मुनि पद्मकीर्तिको जिनेश्वर बुद्धि प्रदान करें।

इस गुरुपरम्परासे स्पष्ट है कि पद्मकीर्तिके गुरु जिनसेन, दादागुरु माधवसेन और परदादागुरु चन्द्रसेन थे। सेनसंघ अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है और इस संघमें बड़े-बड़े आचार्य उत्पन्न हुए हैं। पद्मकीर्ति दाक्षिणात्य थे, क्योंकि सेनसंघका प्रभुत्व दक्षिण भारतमें रहा है। 'पासणाहचरिउ'के वर्णनोंसे भी इनका दक्षि-

---

१. पासणाहचरिउ, अन्तिम ग्रन्थ प्रशस्ति ।
२. पासणाहचरिउ, सम्पादक प्रफुल्ल कुमार मोदी, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, १८।२२ ।

णात्य होना सिद्ध होता है। मामाकी कन्याके साथ विवाह करनेकी पद्धतिका वर्णन इस ग्रन्थकी १३वीं सन्धिमें आया है। युद्धवर्णन सम्बन्धमें कर्नाटक और महाराष्ट्रके वीरोंकी प्रशंसा की गयी है। अतएव जन्मभूमिके प्रेमके कारण कवि-को दाक्षिणात्य माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है।

स्थितिकाल

ग्रन्थरचनाका निर्देश कविने प्रशस्तिमें किया है। पर यह प्रशस्ति सन् १४७३की प्राचीन पाण्डुलिपिमें उपलब्ध नहीं है। उसके पश्चात्की आमेर भण्डार में सुरक्षित पाण्डुलिपियोंमें उक्त प्रशस्ति पायी जाती है। सबसे प्राचीन प्रतिमें प्रशस्ति न होनेके कारण कुछ सन्देह होता है, पर यह हमें लिपिकारोंका प्रमाद मालूम पड़ता है। प्रशस्तिके भावोंको देखनेसे यह स्पष्ट होता है कि प्रशस्ति ग्रन्थकर्त्ता द्वारा ही लिखित है। यद्यपि प्रशस्ति गाथा छन्दमें लिखी गयी है, पर इससे भी किसी प्रकारकी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि पुष्पदन्तने भी अपने 'णायकुमारचरिउ'की प्रशस्तिका एक भाग गाथाछन्दमें लिखा है। प्रशस्ति-के अनुसार इस ग्रन्थकी रचना संवत् ९९९ कार्तिक मासकी अमावस्याको हुई है, पर यहाँ यह विचारणीय है कि यह संवत् शक संवत् है या विक्रम संवत्। श्रद्धेय डा० हीरालाल जैन इसे शक संवत् मानते हैं और प्रो० डा० कोछड़ इसे विक्रम संवत् मानते हैं। पद्मकीर्ति दाक्षिणात्य विद्वान् थे और दक्षिण भारतमें काल गणना शक संवत्के अनुसार ली जाती है। वि० सं० का उपयोग उत्तर भारतमें होता रहा है। पद्मकीर्तिने अपने गुरुका नाम जिनसेन दादागुरुका नाम माधव-सेन और परदादागुरुका नाम चन्द्रसेन बतलाया है। इस गुरुशिष्यपरम्पराके नामोंमें चन्द्रसेन (चन्द्रप्रभ) और माधवसेनके नामोंका उल्लेख 'हिरेआवलि'में प्राप्त एक अभिलेखमें गुरुशिष्यके रूपमें हुआ[1] है। इस अभिलेखमें उसका समय अंकित है—

"स्वस्ति श्रीमतु विक्रम-वर्षद ४ [ ] नेय साधा [रण]-संवत्सरद माध-शुद्ध ५ वृ० वारदन्दु श्रीमन्मूल-संघद सेन-गणद पोगरि-गच्छद चन्द्रप्रभ सिद्धान्त-देव-शिष्यरष माधवसेन-भट्टारकदेवरु" अर्थात् मूलसेन, सेनगण और पौगीर-गच्छके चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेवके शिष्य माधवसेन भट्टारकदेव जिनचरणोंका मनन करके पञ्चपरमेष्ठिके स्मरण कर समाधिमरण धारण कर स्वर्गस्थ हुए। चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवन मल्लदेव शक संवत् ८९८ ई० सन् १०७६ में सिंहासनारूढ हुआ था और तत्काल ही उसने अपने नामसे एक

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, भाग दो, अभिलेख संख्या २८६, पृ० ४३६।

संवत् चलाया था। गैरोनेट और जैन शिलालेखसंग्रह द्वितीय भागके सम्पादक-ने विक्रम वर्षंद् नामसे निर्दिष्ट किया है। साथ ही इन विद्वानोंने अभिलेखमें अंकित चारके पश्चात् कुछ स्थान रिक्त होनेसे यह अनुमान किया है कि इस चारके अंकके वाद भी कोई अंक अंकित रहा है, जो अब लुप्त हो गया है और यह लुप्त अंक ९ होना चाहिये। इन विद्वानोंने इस अभिलेखका समय चालुक्य वि० सं० ४९वाँ वर्ष माना है। यह वर्ष शक संवत् १०४७, ई० सन् ११२४ और वि० सं० ११८१ होता है। अब यदि इस अभिलेखका समय शक सं० १०४७ और उसमें उल्लिखित चन्द्रसेन और माधवसेनको पद्मकीर्तिकी गुरुपरम्परामें माना जाये तो शक सं० १०४७ में माधवसेन जीवित थे, यह मानना पड़ेगा। अभिलेखके अनुसार उन्हें ही दान दिया गया था और यदि पद्मकीर्तिके ग्रन्थकी समाप्ति शक सं० ९९९ में मानी जाये, तो पद्मकीर्तिके दादागुरु माधवसेन इसके भी पूर्व २५-३० वर्ष अवश्य ही रहे होंगे। मनुष्यकी आयु तो १०० वर्ष सम्भव है, पर ७०-७५ वर्ष तक कोई व्यक्ति आचार्य रहे, यह असाधारण प्रतीत होता है। अब यदि 'पासणाहचरिउ'की समाप्तिका समय वि० सं० ९९९ माना जाये, तो वि० सं० ९९९—वि० सं० ११८१ में भी वे जीवित थे और यह असम्भव जैसा प्रतीत होता है। पद्मकीर्तिके गुरु, दादागुरु और परदादागुरु सेन संघके थे और 'हिरेआवलि' शिलालेखके चन्द्रप्रभ और माधवसेन ही पद्मकीर्ति-के परदादागुरु और दादागुरु हैं।

इस चर्चापर विचार करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'हिरेआवलि' अभिलेखमें चारकी संख्याके पश्चात् जो ९के अंककी कल्पना की गयी है, वह ठीक नहीं है। यहाँ ४का अंक ही मानना चाहिये, उसके पश्चात् किसी अंककी कल्पनाकी संभावना नहीं है। जैन शिलालेखसंग्रह द्वितीय भागके २१२, २१३ और २१४ संख्यक अभिलेख भी इसपर प्रकाश डालते हैं। गैरोनेटने सा०धा० को साधारण संवत्सर माना है, पर चालुक्य विक्रमका ४९वाँ वर्ष साधारण संवत्सर नहीं है। इस वर्ष शिवावसु संवत्सर आता है। अभिलेख संख्या २०३से स्पष्ट है कि विश्ववसु संवत्सर शक संवत् ९८७ में था और उसके बाद शक संवत् १०४७में आता है। यह शक संवत् १०४७ ही विक्रम चालुक्यका ४९वाँ वर्ष है। अतएव उक्त विषमताओंसे यह स्पष्ट है कि 'हिरेआवलि' अभिलेखमें ४ अंकके आगे ९ अंक या सा०धा०को साधारण होनेका अनुमान भ्रान्त है। विक्रम चालुक्यका दूसरा वर्ष पिंगल-संवत्सरके पश्चात् कालयुक्त और तत्पश्चात् सिद्धार्थिन संवत्सर आते हैं। अतः स्पष्ट है कि विक्रम चालुक्यका तीसरा वर्ष कालयुक्त और चौथा सिद्धार्थिन संवत्सर था। अतएव 'हिरेआवलि' अभिलेखके

सा०धा०को सिद्धा मानना चाहिये, जो सिद्धार्थिनका संक्षिप्त रूप है। अतः सिद्धार्थिनः संवत् विक्रम चालुक्यके चौथे वर्षमें था। इसका समन्वय हिरे-आवलि अभिलेखमें अंकित ४ और सा०धा०से हो जाता है।

अभिलेखमें चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेवके शिष्य माधवसेन भट्टारकदेवकी स्वर्ग-प्राप्तिका उल्लेख है। इस उल्लेखसे यह निश्चित हो जाता है कि माधव-सेनके जीवित होनेका यदि कहीं निर्देश हो सकता है, तो वह १००२के पूर्व ही हो सकता है। हुम्मचके एक अभिलेखमें भी माधवसेनका नाम आया है। यह अभिलेख शक संवत् ९८४का है। इसमें लौक्किकयवसदिके लिए 'जम्बहलिल' प्रदान करनेके समय इन माधवसेनको दान दिये जानेका उल्लेख है। हुम्मच्च और हिरे-आवलि दोनों समीपस्थ गाँव हैं। हिरे-आवलिमें भट्टारकका पट्ट था, यह हमें जैनशिलालेखसंग्रह द्वितीय भागके अभिलेख २८६ संख्यकमें उल्लिखित माधवसेनकी भट्टारक उपाधिसे भी ज्ञात हो जाता है। जिस क्षेत्रमें मन्दिर, मठको दान दिया जाता था, वह उस क्षेत्रके मठाधीश या भट्टारकको ही दिया जाता था। अतः यह अनुमान सहज है कि अभिलेख संख्या १९८के अनुसार जिन माधवसेनको दान दिया गया वे हिरे-आवलि शिलालेखके अनुसार दान पानेवाले माधवसेनसे भिन्न नहीं हैं। आशय यह है कि माधवसेन शक संवत् ९८४में जीवित थे और शक संवत् १००२में इस लोकका त्याग किया। जैनशिला-लेखसंग्रह द्वितीय भागके १९८ संख्यक अभिलेखसे भी माधवसेनके पट्टका परिज्ञान होता है। अतः अनुमान है कि माधवसेनके प्रशिष्य पद्मकीर्तिको अपने 'पासणाहचरिउ'के लिखनेकी प्रेरणा इसी पार्श्वनाथ मन्दिरसे प्राप्त हुई होगी। अतएव यह अनुमान सर्वथा सत्य है कि हिरे-आवलि अभिलेखके माधवसेन ही पद्मकीर्तिके दादागुरु हैं और दादागुरुका समय शक संवत् १००१के आस-पास है। अतः उनका प्रशिष्य उनके पूर्वका नहीं हो सकता। यदि पद्मकीर्तिके ग्रन्थकी समाप्ति वि०सं० ९९९में मानें, तो उन्हें शक संवत् ८६४में जीवित मानना पड़ेगा जो कि असम्भव हैं। अतः पासणाहचरिउकी समाप्तिका संवत् शक संवत् ही है, विक्रम संवत् नहीं। अतएव—

१. पासणाहचरिउकी समाप्ति शक संवत् ९९९ कार्तिक मासकी अमावस्या-को हुई है।

२. ग्रन्थके रचयिता पद्मकीर्तिके गुरुका नाम जिनसेन, दादागुरुका नाम माधवसेन है और परदादागुरुका नाम चन्द्रसेन है। दादागुरु और परदादा-गुरुके नामोंकी सिद्धि हिरे-आवलि अभिलेखसे होती है।

रचनापरिचय

यह ग्रन्थ १८ सन्धियोंमें विभक्त है। इसके परिमाण आदिके सम्बन्धमें

ग्रन्थकारने स्वयं ही लिखा है—

अट्ठारह-संधिउ एँहु पुराणु तेसट्ठि-पुराणे महापुराणु।
सयतिण्णि दहोत्तर कडवायहँ णाणा-विह-छंद-सुहावयाहँ।
तेतीस सयइँ तेवीसयाइँ अक्खरइं किंपि सविसेसयाइँ।
एँउएँत्थु सत्थि गंथहा पमाणु फुडु पयडु असेसु विकय-पमाणु।
जो को वि अत्थु आरिस णिवद्धु सो एत्थु गंथि सद्दत्थ-वद्धु।
जं आरिस-पास-पुराण वुत्तु जं गणहर-मुणिवर-रिसिहिँ वुत्तु।
तं एत्थु सत्थ मइँ वित्थरिउ जं कव्व करंतइँ संसरिउ।
तउ संजउ जेण विरोहु जाहिँ तं एँत्थु गंथिमइँ कहिउ णाहि।
सम्मत्तहा दूसणु जेणहोइ आगमण तेण ण वि कज्जु को वि।

घत्ता— मित्थत्त करंति य कव्वइँ पर सम्मत्तइँ मणहरइँ।
किंपाव-फलोवम-सरिसइँ होहिँ अंति असुहंकरइँ[1] ॥

अर्थात् १८ संधियोंसे युक्त यह पुराण ६३ पुराणोंमें सबसे अधिक प्रधान है। नाना प्रकारके छन्दोंसे सुहावने ३१० कड़वक तथा ३३२३ से कुछ अधिक पंक्तियाँ इस ग्रन्थका प्रमाण है। यह स्पष्टतः पूराका पूरा प्रामाणिक है। ऋषियोंके द्वारा जो भी तत्त्व निर्धारित किया गया है, वह सब इस ग्रन्थमें अर्थयुक्त शब्दोंमें निबद्ध है। जो ऋषियोंने पार्श्वपुराणमें कहा है, जो गणधरों, मुनियों और तपस्वियोंने बतलाया है तथा जो काव्यकर्त्ताओंने निर्दिष्ट किया है, वह मैंने इस शास्त्रमें प्रकट किया है। जिससे तप और संयमका विरोध हो वह मैंने इस ग्रन्थमें नहीं कहा है। जिससे सम्यक्त्व दूषित हो उस आगमसे भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं रहा।

विपरीतसम्यक्त्वसहित किन्तु मनोहर काव्य मिथ्यात्व उत्पन्न करते हैं तथा किंपाक फलके समान अन्तमें अशुभकर होते हैं।

प्रथम सन्धिमें २३ कड़वक हैं। २४ तीर्थंकरोंकी स्तुतिके पश्चात् कविने लघुता प्रदर्शित करनेके अनन्तर काव्य लिखनेकी प्रेरणाका निर्देश किया है। खलनिन्दाके पश्चात् मध्यदेशका वर्णन किया है। कविने बताया है कि मगध देश धनधान्यसे बहुत ही सम्पन्न है, यहाँके साधारण व्यक्ति भी चोर, शत्रुओं-से मुक्त हैं। यहाँके उपवनोंके परिसर फलफूलोंसे संयुक्त हैं। धानके लहलहाते हुए खेत और गाती हुई बालिकाओं द्वारा उनकी रखवाली किसके मनको नहीं आकृष्ट करती है। यहाँ भ्रमर, कमलसमूहोंको छोड़कर कृषक बन्धुओंके मुखों-

---

१. पासणाहचरिउ, प्राकृत टेक्स्ट सोसाईटी, १८।२०।

सा०धा०को सिद्धा मानना चाहिये, जो सिद्धार्थिनका संक्षिप्त रूप है। अतः सिद्धार्थिनः संवत् विक्रम चालुक्यके चौथे वर्षमें था। इसका समन्वय हिरे-आवलि अभिलेखमें अंकित ४ और सा०धा०से हो जाता है।

अभिलेखमें चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेवके शिष्य माधवसेन भट्टारकदेवकी स्वर्ग-प्राप्तिका उल्लेख है। इस उल्लेखसे यह निश्चित हो जाता है कि माधव-सेनके जीवित होनेका यदि कहीं निर्देश हो सकता है, तो वह १००२के पूर्व ही हो सकता है। हुम्मचके एक अभिलेखमें भी माधवसेनका नाम आया है। यह अभिलेख शक संवत् ९८४का है। इसमें लौक्किययवसदिके लिए 'जम्वहलिल' प्रदान करनेके समय इन माधवसेनको दान दिये जानेका उल्लेख है। हुम्मच्च और हिरे-आवलि दोनों समीपस्थ गाँव हैं। हिरे-आवलिमें भट्टारकका पट्ट था, यह हमें जैनशिलालेखसंग्रह द्वितीय भागके अभिलेख २८६ संख्यकमें उल्लिखित माधवसेनकी भट्टारक उपाधिसे भी ज्ञात हो जाता है। जिस क्षेत्रमें मन्दिर, मठको दान दिया जाता था, वह उस क्षेत्रके मठाधीश या भट्टारकको ही दिया जाता था। अतः यह अनुमान सहज है कि अभिलेख संख्या १९८के अनुसार जिन माधवसेनको दान दिया गया वे हिरे-आवलि शिलालेखके अनुसार दान पानेवाले माधवसेनसे भिन्न नहीं हैं। आशय यह है कि माधवसेन शक संवत् ९८४में जीवित थे और शक संवत् १००२में इस लोकका त्याग किया। जैनशिला-लेखसंग्रह द्वितीय भागके १९८ संख्यक अभिलेखसे भी माधवसेनके पट्टका परिज्ञान होता है। अतः अनुमान है कि माधवसेनके प्रशिष्य पद्मकीर्तिको अपने 'पासणाहचरिउ'के लिखनेकी प्रेरणा इसी पार्श्वनाथ मन्दिरसे प्राप्त हुई होगी। अतएव यह अनुमान सर्वथा सत्य है कि हिरे-आवलि अभिलेखके माधवसेन ही पद्मकीर्तिके दादागुरु हैं और दादागुरुका समय शक संवत् १००१के आस-पास है। अतः उनका प्रशिष्य उनके पूर्वका नहीं हो सकता। यदि पद्मकीर्तिके ग्रन्थकी समाप्ति वि०सं० ९९९में मानें, तो उन्हें शक संवत् ८६४में जीवित मानना पड़ेगा जो कि असम्भव है। अतः पासणाहचरिउकी समाप्तिका संवत् शक संवत् ही है, विक्रम संवत् नहीं। अतएव—

१. पासणाहचरिउकी समाप्ति शक संवत् ९९९ कार्तिक मासकी अमावस्या-को हुई है।

२. ग्रन्थके रचयिता पद्मकीर्तिके गुरुका नाम जिनसेन, दादागुरुका नाम माधवसेन है और परदादागुरुका नाम चन्द्रसेन है। दादागुरु और परदादा-गुरुके नामोंकी सिद्धि हिरे-आवलि अभिलेखसे होती है।

रचनापरिचय

यह ग्रन्थ १८ सन्धियोंमें विभक्त है। इसके परिमाण आदिके सम्बन्धमें

ग्रन्थकारने स्वयं ही लिखा है—

अट्ठारह-संधिउ एँहु पुराणु तेसट्ठि-पुराणे महापुराणु।
सयतिण्णि दहोत्तर कडवायहँ णाणा-विह-छंद-सुहावयाहँ।
तेतीस सयइँ तेवीसयाइँ अक्खरइं किंपि सविसेसयाइँ।
एँउएँत्थु सत्थि गंथहा पमाणु फुडु पयडु असेसु विकय-पमाणु।
जो को वि अत्थु आरिस णिबद्धु सो एत्थु गंथि सद्दत्थ-बद्धु।
जं आरिस-पास-पुराण वुत्तु जं गणहर-मुणिवर-रिसिहिँ वुत्तु।
तं एत्थु सत्थ मइँ वित्थरिउ जं कव्व करंतइँ संसरिउ।
तउ संजउ जेण विरोहु जाहिँ तं एँत्थु गंथिमइँ कहिउ णाहि।
सम्मत्तहा दूसणु जेणहोइ आगमण तेण ण वि कज्जु को वि।

घत्ता— मित्थत्त करंति य कव्वइँ पर सम्मत्तइँ मणहरइँ।
किंपाव-फलोवम-सरिसइँ होहिँ अंति असुहंकरइँ[1] ॥

अर्थात् १८ संधियोंसे युक्त यह पुराण ६३ पुराणोंमें सबसे अधिक प्रधान है। नाना प्रकारके छन्दोंसे सुहावने ३१० कड़वक तथा ३३२३ से कुछ अधिक पंक्तियाँ इस ग्रन्थका प्रमाण है। यह स्पष्टतः पूराका पूरा प्रामाणिक है। ऋषियोंके द्वारा जो भी तत्त्व निर्धारित किया गया है, वह सब इस ग्रन्थमें अर्थयुक्त शब्दोंमें निबद्ध है। जो ऋषियोंने पार्श्वपुराणमें कहा है, जो गणधरों, मुनियों और तपस्वियोंने बतलाया है तथा जो काव्यकर्त्ताओंने निर्दिष्ट किया है, वह मैंने इस शास्त्रमें प्रकट किया है। जिससे तप और संयमका विरोध हो वह मैंने इस ग्रन्थमें नहीं कहा है। जिससे सम्यक्त्व दूषित हो उस आगमसे भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं रहा।

विपरीतसम्यक्त्वसहित किन्तु मनोहर काव्य मिथ्यात्व उत्पन्न करते हैं तथा किंपाक फलके समान अन्तमें अशुभकर होते हैं।

प्रथम सन्धिमें २३ कड़वक हैं। २४ तीर्थंकरोंकी स्तुतिके पश्चात् कविने लघुता प्रदर्शित करनेके अनन्तर काव्य लिखनेकी प्रेरणाका निर्देश किया है। खलनिन्दाके पश्चात् मध्यदेशका वर्णन किया है। कविने बताया है कि मगध देश धनधान्यसे बहुत ही सम्पन्न है, यहाँके साधारण व्यक्ति भी चोर, शत्रुओं-से मुक्त हैं। यहाँके उपवनोंके परिसर फलफूलोंसे संयुक्त हैं। धानके लहलहाते हुए खेत और गाती हुई बालिकाओं द्वारा उनकी रखवाली किसके मनको नहीं आकृष्ट करती है। यहाँ भ्रमर, कमलसमूहोंको छोड़कर कृषक बन्धुओंके मुखों-

---

१. पासणाहचरिउ, प्राकृत टेक्स्ट सोसाईटी, १८।२०।

के कपोलोंका सेवन करते थे। यहाँ विविध प्रकारके समस्त विद्वान अपने-अपने देशोंका त्याग कर, यहाँ आकर रहते हैं। देव भी स्वर्गसे च्युत हो यहाँ निवास करनेकी कामना करते हैं। इसी देशमें पोदनपुर नामका नगर है, जो प्राकाट, शालाओं, मठों, जिनमन्दिरों, प्रणालियों, सड़कों, गोपुरों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं, आरामों, उपवनों, नदियों, कूपों, वापियों, वृक्षों, चौराहों एवं विभिन्न प्रकारके बाजारसे सुशोभित है। इस नगरमें चौशाला, ऊँचा, विशाल तथा विचित्र ग्रहोंसे युक्त राजभवन था। यह महीतलपर उसी प्रकार सुशोभित था जिस प्रकार नभतलमें नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा। राजभवनके वर्णनके पश्चात् महाराज अरविन्द और उनकी पत्नी प्रभावतीके रूप, सौन्दर्य और गुणोंका वर्णन किया है। अनन्तर राजाके पुरोहित विश्वभूतिके गुणोंका निरूपण किया गया है। इस पुरोहितकी पत्नीका नाम अनुद्धरी था, जो अपने रूपलावण्यसे विश्वभूतिको आकृष्ट करती थी। इस दम्पत्तिके दो पुत्र हुए— कमठ और मरुभूति। कमठकी पत्नी मदमत्त महागजकी करिणीकी शोभा धारण करनेवाली शुद्ध हृदय तथा शीलवती थी। उसका नाम वरुणा था। मरुभूतिकी पत्नी परलोक मार्गके विपरीत आचरण करने वाली तथा कुशील थी। उसका नाम वसुन्धरी था। एक दिन विश्वभूतिको संसारसे विरक्ति हुई और उसने घर-बार छोड़कर अपना पद अपने पुत्रको सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। अनुद्धरीने भी पतिका अनुकरण किया और वह भी प्रव्रजित हो गयी। राजाने कमठ और मरुभूतिको बुलाकर उन दोनोंमेंसे मरुभूतिको पुरोहितके पदपर प्रतिष्ठित किया। एक दिन राजा अरविन्दको किसी शत्रुको वश करनेके लिए दूर देश जाना पड़ा, साथमें मरुभूति भी गया। किन्तु वह अपना समस्त परिवार वहींपर छोड़ गया। इसी समय वह दुष्ट, विनष्ट चित्त तथा महामदोन्मत्त कमठ घरमें रहती हुई अपनी भ्रातृवधूको देखकर उसपर अनुरक्त हो गया। कमठने अपने छोटे भाईकी पत्नीके साथ अनुचित व्यवहार किया। जब मरुभूति शत्रु पराजयके अनन्तर वापस घर आया, तो उसे कमठकी इस अनीतिका पता लगा। पर उदार मरुभूतिने कमठको क्षमा कर दिया। पर राजाको कमठकी यह अनीति पसन्द न आयी और उसने उसे नगरसे निर्वासित कर दिया। कमठ एक तपोवनमें प्रविष्ट हुआ और तापसियोंके आश्रममें जाकर रहने लगा। मरुभूति राजाके द्वारा समझाये जानेपर भी अपने भाईकी तलाश करनेके लिए निकल पड़ा। वह तापसियोंके आश्रममें पहुँचा और वहाँ मरुभूतिको पञ्चाग्नि तप करते हुए देखकर प्रभावित हुआ। उसने भावपूर्वक उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और प्रणाम करनेके लिए उसके चरणोंमें सिर झुकाया। कहने लगा "हे महाबल!

आप गुणोंके आगार मुझे क्षमा करें।" कमठने एक शिलाखण्ड उठाकर मरुभूति-पर प्रहार किया, जिससे मरुभूतिका प्राणान्त हो गया। मरुभूति आर्त्तध्यानसे मरण करनेके कारण उसी वनमें महागजके रूपमें उत्पन्न हुआ और कमठ कुक्कुट नामक भयंकर सर्प हुआ। मरुभूतिका जीव अषनिघोष गजराज अपने समूहके साथ सम्पूर्ण वनमें बड़े अनुरागसे घूमता था, अपने समूहकी रक्षा करता था। वह करिणियोंके साथ कमलयुक्त सरोवरोंमें विहार करता था।

द्वितीय सन्धिमें समस्त राज्यका त्याग कर राजा अरविन्दके मुनीन्द्र होनेका वर्णन आया है। अरविन्द मुनिने चिन्तन करते हुए अवधिज्ञान प्राप्त किया। इस सन्दर्भमें नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गतिके दुःखोंका वर्णन है। राजा अरविन्दने निष्क्रमण किया और पञ्चमुष्टिलोञ्चकर दीक्षा धारण की। द्वितीय सन्धिमें १६ कड़वक हैं और इसमें राजा अरविन्दके दीक्षित होनेकी विचार धाराका चित्रण आया है।

तृतीय सन्धिमें १६ कड़वक हैं। तृतीय सन्धिमें अरविन्दकी तपश्चर्या और उनके विहारका चित्रण आया है। इस सन्धिमें सम्यक्त्वकी महिमा, सम्यक्त्वके दोष, सम्यक्त्वकी प्रशंसा, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका स्वरूप बतलाया गया है। जिनवरकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए बतलाया गया है कि भक्तिके प्रभावसे मनुष्य समस्त दुर्गतियोंके दुःखोंसे छूट जाता है। इसी सन्धिमें अपनि-घोष गजपतिके उद्‌बोधनका भी सन्दर्भ आया है। अरविन्द मुनिने उसे सम्बो-धित करते हुए कहा—"हे गजबल ! मैं राजा अरविन्द हूँ, पोदनपुरका स्वामी हूँ, यहाँ आया हूँ। तू मरुभूति है, जो हाथीके रूपमें उत्पन्न हुआ है। विधिवशात् तू इस सार्थके पास आया है। मैंने पहले ही तुझे कमठसे पास जानेसे रोका था। उसकी अवहेलना कर तू इस दुःखको प्राप्त हुआ है। हे गजवर ! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तू मेरे द्वारा कहे हुए वचनोंका यथासम्भव पालन कर। सम्य-क्त्व और अणुव्रतोंको ग्रहण कर, यही तेरे कल्याणका मार्ग है।" मुनि अरविन्द-ने मोक्षलाभ किया और गज श्रेष्ठ तपश्चर्यामें संलग्न हुआ।

चतुर्थ सन्धिमें १२ कड़वक हैं और अषनिघोष गजकी तपस्याका वर्णन आया है। अषनिघोषकी मृत्यु कुक्कुट सर्पके दंशनसे हुई, पर द्वादश भावनाओं-का चिन्तन करनेके कारण उसका जन्म सहस्त्रारकल्पमें हुआ और कुक्कुट सर्प पञ्चम नरकमें उत्पन्न हुआ। इस चौथी सन्धिमें राजा हेमप्रभु, राजकुमार विद्युत्‌वेगकी कथा भी वर्णित है। प्रसंगवश मुनिके २८ मूलगुण एवं संयम तपश्चर्या आदिका वर्णन आया है।

पाँचवीं सन्धिमें १२ कड़वक हैं। इस सन्धिमें मरुभूतिका जीव सहस्रार

के कपोलोंका सेवन करते थे। यहाँ विविध प्रकारके समस्त विद्वान अपने-अपने देशोंका त्याग कर, यहाँ आकर रहते हैं। देव भी स्वर्गसे च्युत हो यहाँ निवास करनेकी कामना करते हैं। इसी देशमें पोदनपुर नामका नगर है, जो प्राकाट, शालाओं, मठों, जिनमन्दिरों, प्रणालियों, सड़कों, गोपुरों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं, आरामों, उपवनों, नदियों, कूपों, वापियों, वृक्षों, चौराहों एवं विभिन्न प्रकारके बाजारसे सुशोभित है। इस नगरमें चौशाला, ऊँचा, विशाल तथा विचित्र ग्रहोंसे युक्त राजभवन था। यह महीतलपर उसी प्रकार सुशोभित था जिस प्रकार नभतलमें नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा। राजभवनके वर्णनके पश्चात् महाराज अरविन्द और उनकी पत्नी प्रभावतीके रूप, सौन्दर्य और गुणोंका वर्णन किया है। अनन्तर राजाके पुरोहित विश्वभूतिके गुणोंका निरूपण किया गया है। इस पुरोहितकी पत्नीका नाम अनुद्धरी था, जो अपने रूपलावण्यसे विश्वभूतिको आकृष्ट करती थी। इस दम्पत्तिके दो पुत्र हुए- कमठ और मरुभूति। कमठकी पत्नी मदमत्त महागजकी करिणीकी शोभा धारण करनेवाली शुद्ध हृदय तथा शीलवती थी। उसका नाम वरुणा था। मरुभूतिकी पत्नी परलोक मार्गके विपरीत आचरण करने वाली तथा कुशील थी। उसका नाम वसुन्धरी था। एक दिन विश्वभूतिको संसारसे विरक्ति हुई और उसने घर-बार छोड़कर अपना पद अपने पुत्रको सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। अनुद्धरीने भी पतिका अनुकरण किया और वह भी प्रव्रजित हो गयी। राजाने कमठ और मरुभूतिको बुलाकर उन दोनोंमेंसे मरुभूतिको पुरोहितके पदपर प्रतिष्ठित किया। एक दिन राजा अरविन्दको किसी शत्रुको वश करनेके लिए दूर देश जाना पड़ा, साथमें मरुभूति भी गया। किन्तु वह अपना समस्त परिवार वहींपर छोड़ गया। इसी समय वह दुष्ट, विनष्ट चित्त तथा महामदोन्मत्त कमठ घरमें रहती हुई अपनी भ्रातृवधूको देखकर उसपर अनुरक्त हो गया। कमठने अपने छोटे भाईकी पत्नीके साथ अनुचित व्यवहार किया। जब मरुभूति शत्रु पराजयके अनन्तर वापस घर आया, तो उसे कमठकी इस अनीतिका पता लगा। पर उदार मरुभूतिने कमठको क्षमा कर दिया। पर राजाको कमठकी यह अनीति पसन्द न आयी और उसने उसे नगरसे निर्वासित कर दिया। कमठ एक तपोवनमें प्रविष्ट हुआ और तापसियोंके आश्रममें जाकर रहने लगा। मरुभूति राजाके द्वारा समझाये जानेपर भी अपने भाईकी तलाश करनेके लिए निकल पड़ा। वह तापसियोंके आश्रममें पहुँचा और वहाँ मरुभूतिको पञ्चाग्नि तप करते हुए देखकर प्रभावित हुआ। उसने भावपूर्वक उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और प्रणाम करनेके लिए उसके चरणोंमें सिर झुकाया। कहने लगा "हे महाबल!

आप गुणोंके आगार मुझे क्षमा करें।" कमठने एक शिलाखण्ड उठाकर मरुभूति-पर प्रहार किया, जिससे मरुभूतिका प्राणान्त हो गया। मरुभूति आर्त्तध्यानसे मरण करनेके कारण उसी वनमें महागजके रूपमें उत्पन्न हुआ और कमठ कुक्कुट नामक भयंकर सर्प हुआ। मरुभूतिका जीव अषनिघोष गजराज अपने समूहके साथ सम्पूर्ण वनमें बड़े अनुरागसे घूमता था, अपने समूहकी रक्षा करता था। वह करिणियोंके साथ कमलयुक्त सरोवरोंमें विहार करता था।

द्वितीय सन्धिमें समस्त राज्यका त्याग कर राजा अरविन्दके मुनीन्द्र होनेका वर्णन आया है। अरविन्द मुनिने चिन्तन करते हुए अवधिज्ञान प्राप्त किया। इस सन्दर्भमें नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गतिके दुःखोंका वर्णन है। राजा अरविन्दने निष्क्रमण किया और पञ्चमुष्टिलोञ्चकर दीक्षा धारण की। द्वितीय सन्धिमें १६ कड़वक हैं और इसमें राजा अरविन्दके दीक्षित होनेकी विचार धाराका चित्रण आया है।

तृतीय सन्धिमें १६ कड़वक हैं। तृतीय सन्धिमें अरविन्दकी तपश्चर्या और उनके विहारका चित्रण आया है। इस सन्धिमें सम्यक्त्वकी महिमा, सम्यक्त्वके दोष, सम्यक्त्वकी प्रशंसा, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका स्वरूप बतलाया गया है। जिनवरकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए बतलाया गया है कि भक्तिके प्रभावसे मनुष्य समस्त दुर्गतियोंके दुःखोंसे छूट जाता है। इसी सन्धिमें अषनि-घोष गजपतिके उद्बोधनका भी सन्दर्भ आया है। अरविन्द मुनिने उसे सम्बो-धित करते हुए कहा—"हे गजबल! मैं राजा अरविन्द हूँ, पोदनपुरका स्वामी हूँ, यहाँ आया हूँ। तू मरुभूति है, जो हाथीके रूपमें उत्पन्न हुआ है। विधिवशात् तू इस सार्थके पास आया है। मैंने पहले ही तुझे कमठसे पास जानेसे रोका था। उसकी अवहेलना कर तू इस दुःखको प्राप्त हुआ है। हे गजवर! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तू मेरे द्वारा कहे हुए वचनोंका यथासम्भव पालन कर। सम्य-क्त्व और अणुव्रतोंको ग्रहण कर, यही तेरे कल्याणका मार्ग है।" मुनि अरविन्द-ने मोक्षलाभ किया और गज श्रेष्ठ तपश्चर्यामें सलग्न हुआ।

चतुर्थ सन्धिमें १२ कड़वक हैं और अषनिघोष गजकी तपस्याका वर्णन आया है। अषनिघोषकी मृत्यु कुक्कुट सर्पके दंशनसे हुई, पर द्वादश भावनाओं-का चिन्तन करनेके कारण उसका जन्म सहस्त्रारकल्पमें हुआ और कुक्कुट सर्प पञ्चम नरकमें उत्पन्न हुआ। इस चौथी सन्धिमें राजा हेमप्रभु, राजकुमार विद्युत्वेगकी कथा भी वर्णित है। प्रसंगवश मुनिके २८ मूलगुण एवं संयम तपश्चर्या आदिका वर्णन आया है।

पाँचवीं सन्धिमें १२ कड़वक हैं। इस सन्धिमें मरुभूतिका जीव सहस्रार

स्वर्गसे च्युत हो जम्बू द्वीपके अपरविदेह क्षेत्रमें पृथ्वीपति होनेका वर्णन आया है। कमठका जीव भीलके रूपमें उत्पन्न हुआ है। मरुभूतिका जीव चक्रायुध सिरके श्वेत बालोंको देखकर संसारसे विरक्त हो तपश्चर्या करने लगा। पूर्व जन्मके वैरभावके कारण कमठका जीव भीलने चक्रायुधपर वाणप्रहार किया, जिससे मुनि चक्रायुध ध्यानपूर्वक मरण कर ग्रैवेयकमें देवरूपमें उत्पन्न हुए और भीलका जीव नरकमें उत्पन्न हुआ।

छठी सन्धिमें १८ कड़वक हैं। चक्रायुधका जीव ग्रैवेयकसे च्युत होकर पूर्व विदेह क्षेत्रके विजय देशके राजाके यहाँ कनकप्रभके रूपमें उत्पन्न हुआ। कनकप्रभने वयस्क होकर अपने राज्यकी समृद्धि की। उसके धन-धान्यसे सदा समृद्ध ३२ हजार प्रदेश, ९६ करोड़ ग्राम, ९९ हजार खान, स्वर्ण और चाँदीके तोरणोंसे युक्त ८४ लाख श्रेष्ठ पुर, ८४ हजार करवट, सुखेट और द्रोणमुख थे। उसके मन और पवनकी गति वाले १८ करोड़ श्रेष्ठ घोड़े, ८४ लाख मदोन्मत्त हाथी एवं समस्त शत्रु दलका नाश करने वाले उतने ही उत्तम रथ थे। इस राजाके ८४ लाख अंगरक्षक, तीन सौ साठ रसोईआ एवं उबटन और सम्मर्दन करने वाले २०० अनुचर थे। ९६ हजार रानियाँ और तीन करोड़ उत्तम कृषक थे। चतुरंगिणी सेनासे घिरा हुआ वह राजा षट्खण्डकी विजयके लिए चल पड़ा। विजयके पश्चात् वह वापस लौटा और आनन्दपूर्वक साम्राज्य करने लगा। उसका अपार ऐश्वर्य था। आचार्यने इस सन्धिमें षट्ऋतुओंका वर्णन करते हुए कनकप्रभके भोगविलासका चित्रण किया है। एक दिन कनकप्रभने यशोधर मुनिके दर्शन किये और उनसे कर्मसिद्धान्तका उपदेश सुना। कनकप्रभने दीक्षा ग्रहण की।

सप्तम सन्धिमें १३ कड़वक हैं। आरम्भमें मुनिदीक्षाकी प्रशंसा की गयी है। अनन्तर १२ अंग और १४ पूर्वोंका वर्णन आया है। मुनि कनकप्रभने अंग और पूर्वोंके अध्ययनके पश्चात् पूर्वांगोंमें आयी हुई वस्तुओंकी संख्याका अध्ययन किया है। इस सन्दर्भमें तीन हजार नौ सौ पाहुडोंके अध्ययनका कथन आया है। कनकप्रभमुनिने कठोर तपश्चरण कर आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त की, साथ ही जलचरण, तन्तुचरण, श्रेणिचरण और जंघाचरण ऋद्धियोंके साथ सर्वावधि, मनःपर्ययज्ञान आदि प्राप्त किये। विक्रिया ऋद्धि एवं अक्षीण महानस ऋद्धि भी प्राप्त हुई। कनकप्रभने क्षीरवनमें प्रवेश कर गिरिशिखरपर आरूढ़ हो, धर्मध्यान प्रारम्भ किया। इसी समय कमठके जीवने, जो कि सिंहके रूपमें वहाँ निवास करता था, मुनिपर आक्रमण किया और उसने मुनिका प्राणान्त कर दिया। कनकप्रभमुनि समताभावपूर्वक मरण कर वैजयन्त नामक स्वर्गमें देव हुए।

कमठका जीव विभिन्न योनियोंमें जन्म-मरण करता हुआ ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुआ। उसने वशिष्ट नामक तपस्वीके समक्ष तापसदीक्षा ग्रहण की और वह पञ्चाग्नितप करने लगा।

आठवीं सन्धिमें २३ कड़वक हैं। इस सन्धिमें वाराणसीके राजा हयसेन और उनकी पत्नी वामादेवीका वर्णन आया है। तीर्थंकर पार्श्वनाथके गर्भमें आनेके छः महीने पहिलेसे ही देवों द्वारा रत्नोंकी वर्षा हुई और वामादेवीकी सेवाके लिए देवांगनोंका आगमन हुआ। वामादेवीने रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें १६ स्वप्न देखे और इन स्वप्नोंका फल राजा हयसेनसे पूछा। हयसेनने स्वप्नोंके फलपर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि तुम्हें संसारोद्धारक पुत्र उत्पन्न होगा। इस पुत्र-का महत्त्व सर्वत्र व्याप्त हो जायगा। अनन्तर तीर्थंकर पार्श्वनाथका गर्भावतरण, जन्माभिषेक, कर्णछेदन, नामकरणका वर्णन आया है। इन्द्र तीर्थंकर पार्श्वको वामादेवीके पास छोड़कर स्वर्ग चला गया।

नौवीं सन्धिमें १४ कड़वक हैं और हयसेनके भवनमें किये गये जन्मोत्सवका चित्रण है। पुत्र-उत्पत्तिसे हयसेनकी समृद्धि अधिक बढ़ी। शनैः-शनैः पार्श्वनाथ बाल्यावस्था पार कर ३१वें वर्षमें प्रविष्ट हुए। हयसेनकी राजसभामें भूटान, मौर्य, इक्ष्वाकु, कच्छ, सिन्धु आदि विभिन्न देशोंके राजा उपस्थित हुए। एक दिन राजसभामें दूत आया और उसने कुशस्थलके राजा द्वारा दीक्षा ग्रहण किये जानेका वर्णन किया। हयसेन इस समाचारसे दुःखित हुआ। इसी बीच दूतने कुशस्थलपर यवन राजा द्वारा आक्रमण और धमकी दिये जानेकी बात बतलायी। हयसेनने प्रतिज्ञा की कि यवनका गर्व खर्व कर दूँगा। उसने युद्धके लिए प्रस्थान किया।

दसवीं सन्धिमें १४ कड़वक हैं। इस सन्धिके आरम्भमें बताया गया है कि पार्श्वनाथ यवन सेनाका सामना करनेके लिए चल पड़े। हयसेनने पार्श्वनाथको बहुत समझाया कि अभी तुम बालक हो, युद्धमें प्रौढ़ व्यक्तियोंको ही जाना चाहिये। अतः तुम यहीं निवास करो और मैं युद्धके लिए जाऊँगा। पार्श्वनाथने निवेदन किया कि शिशु तथा बालकका लालन-पालन करना पिताका कर्त्तव्य है। इसके विपरीत वृद्धावस्थामें पिताकी सेवा-सुश्रुषा करना पुत्रका धर्म है। अतः कुमारने युद्धमें जानेके लिए अत्यधिक आग्रह किया, जिसे पिताको स्वीकार करना पड़ा। चतुरंगिणीसे युक्त कुमार पार्श्वनाथने युद्धके लिए प्रस्थान किया। मार्गमें नानाप्रकारके शकुन हुए। सरोवरके समीप सेनाका शिविर पड़ा। इस सन्दर्भमें आचार्यने सूर्यास्त, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय, सूर्योदय, सैन्यप्रस्थान आदिका सुन्दर चित्रण किया है। कुशस्थलके राजा रविकीर्तिने कुमार पार्श्वका

स्वर्गसे च्युत हो जम्बूद्वीपके अपरविदेह क्षेत्रमें पृथ्वीपति होनेका वर्णन आया है। कमठका जीव भीलके रूपमें उत्पन्न हुआ है। मरुभूतिका जीव चक्रायुध सिरके श्वेत बालोंको देखकर संसारसे विरक्त हो तपश्चर्या करने लगा। पूर्व जन्मके वैरभावके कारण कमठका जीव भीलने चक्रायुधपर वाणप्रहार किया, जिससे मुनि चक्रायुध ध्यानपूर्वक मरण कर ग्रैवेयकमें देवरूपमें उत्पन्न हुए और भीलका जीव नरकमें उत्पन्न हुआ।

छठी सन्धिमें १८ कड़वक हैं। चक्रायुधका जीव ग्रैवेयकसे च्युत होकर पूर्व विदेह क्षेत्रके विजय देशके राजाके यहाँ कनकप्रभके रूपमें उत्पन्न हुआ। कनकप्रभने वयस्क होकर अपने राज्यकी समृद्धि की। उसके धन-धान्यसे सदा समृद्ध ३२ हजार प्रदेश, ९६ करोड़ ग्राम, ९९ हजार खान, स्वर्ण और चाँदीके तोरणोंसे युक्त ८४ लाख श्रेष्ठ पुर, ८४ हजार करवट, सुखेट और द्रोणमुख थे। उसके मन और पवनकी गति वाले १८ करोड़ श्रेष्ठ घोड़े, ८४ लाख मदोन्मत्त हाथी एवं समस्त शत्रु दलका नाश करने वाले उतने ही उत्तम रथ थे। इस राजाके ८४ लाख अंगरक्षक, तीन सौ साठ रसोईआ एवं उबटन और सम्मर्दन करने वाले २०० अनुचर थे। ९६ हजार रानियाँ और तीन करोड़ उत्तम कृषक थे। चतुरंगिणी सेनासे घिरा हुआ वह राजा षट्खण्डकी विजयके लिए चल पड़ा। विजयके पश्चात् वह वापस लौटा और आनन्दपूर्वक साम्राज्य करने लगा। उसका अपार ऐश्वर्य था। आचार्यने इस सन्धिमें षट्ऋतुओंका वर्णन करते हुए कनकप्रभके भोगविलासका चित्रण किया है। एक दिन कनकप्रभने यशोधर मुनिके दर्शन किये और उनसे कर्मसिद्धान्तका उपदेश सुना। कनकप्रभने दीक्षा ग्रहण की।

सप्तम सन्धिमें १३ कड़वक हैं। आरम्भमें मुनिदीक्षाकी प्रशंसा की गयी है। अनन्तर १२ अंग और १४ पूर्वोंका वर्णन आया है। मुनि कनकप्रभने अंग और पूर्वोंके अध्ययनके पश्चात् पूर्वांगोंमें आयी हुई वस्तुओंकी संख्याका अध्ययन किया है। इस सन्दर्भमें तीन हजार नौ सौ पाहुडोंके अध्ययनका कथन आया है। कनकप्रभमुनिने कठोर तपश्चरण कर आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त की, साथ ही जलचरण, तन्तुचरण, श्रेणिचरण और जंघाचरण ऋद्धियोंके साथ सर्वावधि, मनःपर्ययज्ञान आदि प्राप्त किये। विक्रिया ऋद्धि एवं अक्षीण महानस ऋद्धि भी प्राप्त हुई। कनकप्रभने क्षीरवनमें प्रवेश कर गिरिशिखरपर आरूढ़ हो, धर्मध्यान प्रारम्भ किया। इसी समय कमठके जीवने, जो कि सिंहके रूपमें वहाँ निवास करता था, मुनिपर आक्रमण किया और उसने मुनिका प्राणान्त कर दिया। कनकप्रभमुनि समताभावपूर्वक मरण कर वैजयन्त नामक स्वर्गमें देव हुए।

जीव हिंसा और परिग्रहका त्याग कर पञ्चत्व प्राप्त किया। स्वर्ग गया और वहाँ देवियोंके साथ विचरण करने लगा। पार्श्वकुमारने सर्पको पञ्चनमस्कार मन्त्र दिया जिसके प्रभावसे पातालमें नागराजोंके बीच तीन पल्यकी आयुवाला धरणेन्द्रदेव हुआ। सर्पकी मृत्युको देखकर कुमारके मनमें विरक्ति हुई और वह संसारके भोगोंको असार समझने लगा। लौकान्तिक देवोंने आकर कुमारके वैराग्यकी वृद्धि की और कुमारने जिनदीक्षा ग्रहण की। कुमारके दीक्षित होनेसे रविकीर्ति और प्रभावतीको विशेष कष्ट हुआ। जब हयसेनने कुमारकी दीक्षाका समाचार सुना, तो हतप्रभ हो गया। मन्त्रियोंने उसे बहुत समझाया। माता वामादेवीको भी पुत्रके दीक्षा समाचारसे कष्ट हुआ। मन्त्रियोंने किसी प्रकार हयसेन और वामादेवीको समझाकर सन्तुष्ट किया।

चौदहवीं संधिमें ३० कड़वक हैं। आरम्भमें पार्श्वनाथके तप और संयमका चित्रण किया है। आकाशमार्गसे जाते हुए असुरेन्द्रके विमानका स्थगन होना और स्थगनका कारण पार्श्वकुमारको जानकर असुरेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथको मार डालनेका निश्चय करना एवं नाना प्रकारके उपसर्ग देना, और उपसर्गोंके शमनके लिए धरणेन्द्रका आना, नागराज द्वारा पार्श्वकी सेवा करना तथा असुरकुमारको उपसर्ग न करनेके लिए चेतावनी देना आदिका वर्णन आया है। पार्श्वनाथकी केवलज्ञानकी उत्पत्ति भी इसी सन्धिमें वर्णित है।

पन्द्रहवीं सन्धिमें १२ कड़वक हैं। केवलज्ञानकी प्रशंसाकी गयी है। देवों द्वारा केवलज्ञानकल्याणक सम्पन्न करनेवाले उत्सवका वर्णन आया है। इन्द्र द्वारा छोड़े गये वज्रसे असुरकुमारका पार्श्वनाथके शरणमें जाना, इन्द्र द्वारा समवशरणकी रचना, देवों द्वारा जिनेन्द्रकी स्तुति, इन्द्रकी उपदेश देनेके हेतु प्रार्थना आदि विषय इसी सन्धिमें आये हैं।

सोलहवीं सन्धिमें १८ कड़वक हैं। आरम्भमें गणधर द्वारा लोकोत्पत्तिपर प्रकाश डालनेके लिए आग्रह किया गया है और समवशरणमें आकाश, लोकाकाश, मेरु, अधोलोक, उर्ध्वलोक, स्वर्ग आदिके वर्णनके पश्चात् वैमानिक ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासियोंकी आयुका वर्णन आया है। मध्यलोक और उसमें स्थित जम्बूद्वीप, सप्त क्षेत्र, षट् कुलाचल पूर्व-अपर विदेह, गंगादि नदियाँ लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि, पुष्करार्धद्वीप, ढ़ाईद्वीपके क्षेत्र, पर्वतादिद्वीपसमुद्रोंमें सूर्य-चन्द्रकी संख्या, तीनों वातवलयोंका स्वरूप एवं कमठासुर द्वारा जिनेन्द्रसे क्षमायाचनाका वर्णन आया है।

सत्रहवीं सन्धिमें २४ कड़वक हैं। इस सन्धिमें कुशस्थलीमें जिनेन्द्रके समवशरणका पहुँचना, रविकीर्तिका जिनेन्द्रके पास आगमन, शलाकापुरुषोंके सम्बन्ध-

स्वागत किया।

इसके पश्चात् ग्यारहवीं सन्धिके १३ कड़वकोंमें युद्धका वर्णन आया है। बताया है कि कुमारका आगमन सुनकर यवनराज सशंकित हुआ। पार्श्वके आ जानेसे रविकीर्तिकी सेनाका बल बढ़ा और यवनराजकी सेनाके साथ भयंकर युद्ध होने लगा। रविकीर्तिने अपूर्व रणकौशल दिखलाया। यवनराजके बहुतसे सामन्त और वीर रविकीर्ति द्वारा परास्त किये गये।

बारहवीं सन्धिमें १५ कड़वक हैं। आरम्भमें यवनराजके गजबलका रविकीर्तिपर आक्रमण करनेका चित्रण आया है। रविकीर्तिने अत्यन्त कौशलपूर्वक गजसेनाका विनाश किया, पर विशाल गजवाहिनीके समक्ष उसकी शक्ति कुण्ठित होने लगी। रविकीर्तिके मन्त्रियोंने इस रणदशाको देखकर कुमार पार्श्वसे निवेदन किया कि आप अब युद्ध करनेके लिए तैयार हो जाइये। आपकी शक्तिके समक्ष त्रैलोक्यकी शक्ति नतमस्तक है। कुमार पार्श्व एक अक्षौहिणी अश्व, गज, रथ और पैदल सैनिकों सहित रणभूमिमें प्रविष्ट हुए। पार्श्वने शत्रुके गजसमूहको क्षणभरमें तितर-बितर कर दिया। कुमार पार्श्वके साथ युद्ध करनेके लिए यवनराज अनेक प्रकारकी तैयारियाँ करने लगा और उसने दिव्य अस्त्रोंका प्रयोग किया। यवनराजने विभिन्न अस्त्रोंका प्रयोग किया, पर उसका एक भी वाण सार्थक न हुआ। कुमार पार्श्वने यवनराजको बन्दी बना लिया।

तेरहवीं सन्धिमें २० कड़वक हैं। आरम्भमें यवनराजके भटों द्वारा आत्मसमर्पणका वृतान्त आया है। युद्धसमाप्तिके अनन्तर कुमार पार्श्वने कुशस्थलीमें प्रवेश किया। रविकीर्तिने विभिन्न प्रकारसे कुमारका स्वागत और आतिथ्य किया। यवनराजके मन्त्रीने आकर सन्धिका प्रस्ताव उपस्थित किया। कुमार पार्श्वने यवनराजको मुक्त कर दिया और सन्धिका प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया। रविकीर्तिने अपने मन्त्रियोंसे परामर्श कर अपनी कन्याका विवाह कुमार पार्श्वसे करनेकी इच्छा व्यक्त की। विवाहके लिए रवि, चन्द्रसे शुद्ध लग्न निश्चित की गयी। इसी समय कुमार पार्श्वको सूचना मिली कि नगरके बाहर कुछ तपस्वी आये हुए हैं। कुमार पार्श्व उन तपस्वियोंको उद्‌बोधन करनेके लिए चल पड़े। वहाँ जाकर देखा कि जिन लकड़ियोंको जलाकर पञ्चाग्नितप किया जा रहा है, उनमें एक लकड़ीके बीच सर्प है। कुमारने रोकते हुए कहा—इस लकड़ीको मत जलाओ, इसमें साँप है। तपस्वियोंके बीच रहनेवाला कमठका जीव तापसी रुष्ट हुआ और क्रोधपूर्वक बोला—इस लकड़ीमें सर्प कहाँ है? यह राजा खल है। मैं अभी इस लकड़ीको फाड़कर देखता हूँ। लकड़ीको फाड़ा गया, तो उसमेंसे एक विषधर भुजंग निकला। सभी देखकर आश्चर्यचकित रह गये। कमठके जीवको तो अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ। उसने अनशन कर

जीव हिंसा और परिग्रहका त्याग कर पञ्चत्व प्राप्त किया। स्वर्ग गया और वहाँ देवियोंके साथ विचरण करने लगा। पार्श्वकुमारने सर्पको पञ्चनमस्कार मन्त्र दिया जिसके प्रभावसे पातालमें नागराजोंके बीच तीन पल्यकी आयुवाला धरणेन्द्रदेव हुआ। सर्पकी मृत्युको देखकर कुमारके मनमें विरक्ति हुई और वह संसारके भोगोंको असार समझने लगा। लौकान्तिक देवोंने आकर कुमारके वैराग्यकी वृद्धि की और कुमारने जिनदीक्षा ग्रहण की। कुमारके दीक्षित होनेसे रविकीर्ति और प्रभावतीको विशेष कष्ट हुआ। जब हयसेनने कुमारकी दीक्षाका समाचार सुना, तो हतप्रभ हो गया। मन्त्रियोंने उसे बहुत समझाया। माता वामादेवीको भी पुत्रके दीक्षा समाचारसे कष्ट हुआ। मन्त्रियोंने किसी प्रकार हयसेन और वामादेवीको समझाकर सन्तुष्ट किया।

चौदहवीं संधिमें ३० कड़वक हैं। आरम्भमें पार्श्वनाथके तप और संयमका चित्रण किया है। आकाशमार्गसे जाते हुए असुरेन्द्रके विमानका स्थगन होना और स्थगनका कारण पार्श्वकुमारको जानकर असुरेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथको मार डालनेका निश्चय करना एवं नाना प्रकारके उपसर्ग देना, और उपसर्गोंके शमनके लिए धरणेन्द्रका आना, नागराज द्वारा पार्श्वकी सेवा करना तथा असुरकुमारको उपसर्ग न करनेके लिए चेतावनी देना आदिका वर्णन आया है। पार्श्वनाथकी केवलज्ञानकी उत्पत्ति भी इसी सन्धिमें वर्णित है।

पन्द्रहवीं सन्धिमें १२ कड़वक हैं। केवलज्ञानकी प्रशंसाकी गयी है। देवों द्वारा केवलज्ञानकल्याणक सम्पन्न करनेवाले उत्सवका वर्णन आया है। इन्द्र द्वारा छोड़े गये वज्रसे असुरकुमारका पार्श्वनाथके शरणमें जाना, इन्द्र द्वारा समवशरणकी रचना, देवों द्वारा जिनेन्द्रकी स्तुति, इन्द्रकी उपदेश देनेके हेतु प्रार्थना आदि विषय इसी सन्धिमें आये हैं।

सोलहवीं सन्धिमें १८ कड़वक हैं। आरम्भमें गणधर द्वारा लोकोत्पत्तिपर प्रकाश डालनेके लिए आग्रह किया गया है और समवशरणमें आकाश, लोकाकाश, मेरु, अधोलोक, उर्ध्वलोक, स्वर्ग आदिके वर्णनके पश्चात् वैमानिक ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासियोंकी आयुका वर्णन आया है। मध्यलोक और उसमें स्थित जम्बूद्वीप, सप्त क्षेत्र, षट् कुलाचल पूर्व-अपर विदेह, गंगादि नदियाँ लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि, पुष्करार्धद्वीप, ढाईद्वीपके क्षेत्र, पर्वतादिद्वीपसमुद्रोंमें सूर्य-चन्द्रकी संख्या, तीनों वातवलयोंका स्वरूप एवं कमठासुर द्वारा जिनेन्द्रसे क्षमायाचनाका वर्णन आया है।

सत्रहवीं सन्धिमें २४ कड़वक हैं। इस सन्धिमें कुशस्थलीमें जिनेन्द्रके समवशरणका पहुँचना, रविकीर्तिका जिनेन्द्रके पास आगमन, शलाकापुरुषोंके सम्बन्ध-

में जाननेकी इच्छा, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालचक्र, सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषम-दुःषमा, दुःषम-सुषमा, दुःषमा, दुःषम-दुःषमा, इन छह कालोंका वर्णन किया गया है। तृतीय कालके अन्तमें ऋषभदेवादि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उत्पत्ति, तीर्थंकरोंकी कायाका प्रमाण, उनके जन्मस्थान, वर्ण, आयु, तीर्थंकरों-के तीर्थकी अवधि, द्वादश चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव नारायण, नव प्रतिनारायण आदिका वर्णन आया है। रविकीर्ति भी तीर्थंकर पार्श्वनाथके उपदेशसे प्रभा-वित होकर दीक्षित हो जाता है और पार्श्वनाथके समवशरणमें शौरीपुर पहुँचता है।

१८वीं सन्धिमें २२ कड़वक हैं। समवशरणमें नरक जानेवाले मनुष्योंके कृत्योंके पश्चात् तिर्यञ्चगतिके जीवोंका विवरण आया है। मनुष्यगतिके जीवोंके दो भेद किये हैं—कर्मभूमिके मनुष्य और भोगभूमिके। भोगभूमिमें उत्पन्न होने वालोंके सत्कार्यका वर्णन करते हुए ढ़ाई द्वीपकी १७० कर्मभूमियोंका विवेचन किया है। देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले सत्कृत्योंका चित्रण कर समवशरणमें वामादेवी और हयसेनको उपदेश दिये जानेका कथन आया है। नागराजद्वारा पूर्वजन्मके वृत्तान्तके सम्बन्धमें पूछनेपर दशभवोंकी कथाका संक्षेपमें चित्रण आया है। हयसेन भी दीक्षित हो जाता है और अन्तमें ग्रन्थ परिचय और ग्रन्थकारकी गुरु-परम्पराके साथ ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

यह ग्रन्थ जैनसिद्धान्त और काव्यकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें सम्यक्त्व, श्रावकधर्म, मुनिधर्म, कर्मसिद्धान्त, विश्वका स्वरूप आदिका चित्रण आया है। सम्यक्त्वके स्वरूपका विवेचन निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे किया गया है। इस ग्रन्थमें सम्यक्त्वके चार गुण—१. मुनियोंके दोषोंका गोपन, २. च्युत-चारित्र व्यक्तियोंका पुनः सम्यक् चरित्रमें स्थापन ३. वात्सल्य और ४. प्रभावना बतलाये हैं। पाँच दोषोंमें—१. शंका, २. आकांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मूढ़दृष्टि, और ५. परसमयप्रशंसाकी गणना की है। श्रावकधर्मके अन्तर्गत गुणव्रत, अणुव्रत, शिक्षाव्रतका कथन आया है। मुनिधर्मके अन्तर्गत २८ मूलगुण—पाँच महाव्रतोंका पालन, पाँच समितियोंका धारण, पंचइन्द्रियोंका निग्रह, षड्-आवश्यक, खड़े-खड़े भोजन, एक बार भोजन, वस्त्रत्याग, केशलुञ्च, अस्नान, भूमिशयन और अदन्त धावन मूलाचारके समान ही इस ग्रन्थमें आये हैं। तपके दो भेद किये हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयनासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तपके भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तपके भेद हैं। इन मूलगुणोंके साथ २२ परीषह और उत्तरगुणोंका भी कथन

आया है। कर्मसिद्धान्त और सृष्टिविद्याके सम्बन्धमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बतलायी गयी हैं।

काव्यकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें महाकाव्यके सभी लक्षण घटित होते हैं। आचार्यने षड्ऋतु, सन्ध्या, रात्रि, नदी, वन, पर्वत, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदिका सुन्दर चित्रण किया है। यहाँ उदाहरणार्थ चन्द्रोदय वर्णनकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

> ऐत्थंतरि भुअणहा सुहु जणंतु णहिं उइउ चंदुतम भरुहणंतु।
> आणंद-जणणु परमत्थ-गब्भु अवयरिउ णाइ णह अमिय-कुंभु।
> चंदुग्गमे वियसिय कुमुअ-संड मउलिय सरेहि पंकय-उडंड।
> ससि-सोमु विणलिणिहृ णउ सुहाइ सूरुग्गम विडसड गुणहँ जाइ।
> अहवा जगि जो जसु ठियउ चित्ति गुण-रहिउ वि सम्मड देइ तित्ति।
> मयलंछण-किरणहिं तिमिरु णट्ठु जोण्हाणल परिपुण्णु दिट्ठु।
> कोडंतहँ मिहुणहँ सुक्खु जाउ रोमंचिउ तणु उच्छलिउ राउ।
> णिसि भीसण अलि-उल-सम-सदोस तम-रहिय ससंकें किय सतोस।
> बहु-दोष वि अहवा महिल होइ परिगरिय सुपुरिसें सोह देइ।
> घत्ता—णहु सयलु विकिउ अकलंकिउ थिउ सकलंकिउ चंद-तणु।
> णिय-कज्जहो विउस वि भुल्लहि णरवर किं पुणु इयर-जणु[1]।

इसी समय संसारको सुख पहुँचाता हुआ तथा अन्धकारपटलका नाश करता हुआ चन्द्रमा नभमें उदित हुआ। आनन्दकी उत्पत्ति करनेवाला तथा परमार्थभावको धारण करनेवाला वह चन्द्र नभमें अमृतकुम्भके समान अवतरित हुआ। चन्द्रोदयके समय कुमुदसमूह विकसित हुआ तथा सरोवरोंमें विकसित कमल मुकुलित हुए। सौम्यचन्द्र भी नलिनीको नहीं सुहाता। वह सूर्योदयपर ही प्रफुल्लित होती है और गुणोंका उत्कर्ष प्राप्त करती है। अथवा इस संसारमें जो जिसके चित्तमें बसा हुआ है, वह गुणहीन होते हुए भी उसकी तृप्ति करता है। चन्द्रमाकी किरणोंसे अन्धकारका नाश हुआ तथा गगन ज्योत्स्नाजलसे परिपूर्ण दिखलायी दिया। क्रीड़ामें आसक्त युगलोंको सुख प्राप्त हुआ, उनके शरीरमें रोमांच हुआ और अनुराग उमड़ पड़ा। भ्रमरसमूहके समान काली एवं भीषण रात्रिको चन्द्रमाने तमरहित और शोभायुक्त बनाया अथवा अत्यधिक दोषपूर्ण व्यक्ति भी सत्पुरुषकी संगतिमें शोभित होता है। चन्द्रमाने समस्त आकाशको कलंकरहित किया किन्तु स्वयं चन्द्रमाका शरीर कलंक युक्त

---

१. पासणाहचरिउ—१०।११।

रहा। जब विद्वान् तथा उत्तम पुरुष भी अपना कार्य भूल जाते हैं, तब फिर अन्य लोगोंकी क्या बात ?

इस प्रकार आचार्य पद्मकीर्तिने धर्म, दर्शन और काव्यकी त्रिवेणी इस ग्रन्थमें एक साथ प्रवाहित की है।

आचार्य इन्द्रनन्दि द्वितीय

इन्द्रनन्दि नामके कई आचार्योंके उल्लेख मिलते हैं। श्रुतावतारके कर्त्ता और ज्वालिनीकल्पके कर्त्ता इन्द्रनन्दिसे भिन्न कई इन्द्रनन्दियोंके निर्देश प्राप्त हैं। श्रुतावतारके कर्त्ताको स्व० श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने गोम्मटसार और मल्लिषेणप्रशस्तिके इन्द्रनन्दिसे अभिन्न स्वीकार किया है। श्रुतावतारमें वीरसेन और जिनसेन आचार्य तककी ही सिद्धान्तरचनाका उल्लेख है। अतः यदि वे नेमिचन्द्राचार्यके पीछे हुए होते तो बहुत सम्भव है कि गोम्मटसारका भी उल्लेख करते। चतुर्थ इन्द्रनन्दि नीतिसार अथवा समयभूषणके कर्त्ता हैं जो नेमिचन्द्र आचार्यके पश्चात् हुए हैं। उन्होंने नीतिसारके एक पद्यमें सोम-देवादिकके साथ नेमिचन्द्रका भी नामोल्लेख किया है। पञ्चम इन्द्रनन्दि इन्द्र-नन्दि-संहिताके रचयिता हैं। बहुत सम्भव है कि ये ही इन्द्रनन्दि पूजा-विधिके भी कर्त्ता हों। दायभागप्रकरणके अन्तमें पायी जानेवाली गाथाओंसे बहुत कुछ स्पष्टता प्राप्त होती है—

> पुज्जं पुज्जविहाणे जिणसेणाइवीरसेणगुरुजुत्तइ।
> पुज्जस्स या य गुणभद्दसूरीहिं जह तहुद्दिट्ठा॥ ६३॥
> वसुणंदि-इंदणंदि य तह य मुणिएमसंधिगणिनाहं (हिं)।
> रचिया पुज्जविही या पुव्वक्कमदो विणिद्दिट्ठा॥ ६४॥
> गोयम-समंतभद्द य अचलं कसुमाहणंदिमुणिणाहिं।
> वसुणंदि-इंदणंदिहिं रचिया सा संहिता पमाणा हु॥ ६५॥

दूसरी गाथामें वसुनन्दिके साथ एकसंधिमुनिका भी उल्लेख है, जो एक संधि-संहिताके कर्त्ता हैं, जिनका समय विक्रमकी १३वीं शताब्दी है। अतएव इन इन्द्रनन्दिको एकसंधिभट्टारकके बादका विद्वान् मानना होगा। प्रेमीजीने छेद-पिण्डको इन्द्रनन्दिसंहिताके कर्त्ताकी कृति माना है और इसका प्रधान कारण यह है कि यह ग्रन्थ उक्त संहितामें उसके चतुर्थ अध्यायके रूपमें समाविष्ट पाया जाता है। अतएव प्रेमीजीने छेद-पिण्डके कर्त्ताको १३वीं शताब्दीके बादका विद्वान् माना है।

श्री आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने छेद-पिण्डको स्वतन्त्र कृति माना है

और उसका रचयिता इन्द्रनन्दिसे भिन्न कोई अन्य इन्द्रनन्दि है। मुख्तार साहबने लिखा है—"मेरी रायमें यह छेद-पिण्ड जो अपनी रचना शैली आदि परसे एक व्यवस्थित स्वतन्त्र ग्रन्थ मालूम होता है। यदि उक्त इन्द्रनन्दि संहितामें भी पाया जाता है तो उसमें उसी तरह अपनाया गया है जिस तरह कि १७वीं शताब्दीकी बनी हुई भद्रबाहुसंहितामें 'भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र' नामके एक प्राचीन ग्रन्थको अपनाया गया है और जिस तरह उसके उक्त प्रकार अपनाये जानेसे वह १७वीं शताब्दीका ग्रन्थ नहीं हो जाता, उसी तरह छेद-पिण्डके इन्द्रनन्दिसंहितामें समाविष्ट हो जानेमात्रसे वह वि० की १३वीं शताब्दीकी अथवा उसके बादकी कृति नहीं हो जाता। वास्तवमें छेद-पिण्ड संहिता शास्त्रकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने विषयका एक बिल्कुल स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यह बात उसके साहित्यको आद्योपान्त गौरसे पढ़नेपर भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है। उसके अन्तमें गाथा संख्या तथा श्लोक संख्याका दिया जाना और उसका ग्रन्थ परिमाण प्रकट करना भी इसी बातको पुष्ट करता है। यदि वह मूलतः और वस्तुतः संहिताका एक अंग होता तो ग्रन्थ परिमाण उसी तक सीमित न रहकर सारी संहिताका ग्रन्थ परिमाण होता और वह संहिताके ही अन्तमें रहता, न कि उसके किसी अंगविशेषके अनन्तर।"[1]

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारके उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि छेद-पिण्ड एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसका समावेश इन्द्रनन्दिसंहितामें किया गया है। इसकी साहित्यिक प्रौढ़ता, गम्भीरता और विषय-व्यवस्था भी इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ सिद्ध करती है। जीवशास्त्र और कल्पव्यवहार जैसे प्राचीन ग्रन्थोंका उल्लेख होनेसे छेद-पिण्डके रचयिता इन्द्रनन्दिकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। श्री आचार्य जुगलकिशोरजीने अनुमान किया था कि छेद-पिण्डके रचयिता इन्द्रनन्दि मल्लिषेणप्रशस्तिमें निर्दिष्ट इन्द्रनन्दि है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिके पद्यमें कहा गया है—

भावेइ छेदपिंडं जो एदं इंदणंदिगणिरचिदं।
लोइयलोउत्तरिए ववहारे होइ सो कुसलो॥
इय इंदणंदिजोइंदविरइयं सज्जणाण मलहरणं।
विहियं तं भत्तीए सम्मत्तपसत्तचित्तेण॥[2]

उपर्युक्त गाथाओंसे मिलता जुलता भाव मल्लिषेण प्रशस्तिके निम्नलिखित पद्यमें पाया जाता है—

---

१. पुरातन जैन वाक्य सूची [प्रथम भाग], सम्पादक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सन् १९५०, प्रस्तावना पृ० १०८।

२. छेदपिण्ड, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १८, गाथा—३६१, ३६२ (१)।

दुरित-ग्रह-निग्रहाद्भयं यदि भो भूरि-नरेन्द्र-वन्दितम् ।
ननु तेन हि भव्यदेहिनो भजत श्रीमुनिमिन्द्रनन्दिनम् ॥[1]

अर्थात् हे भव्यजीवो ! यदि तुम्हें दुरित-निग्रहोंसे—पापरूपी ग्रहके द्वारा पकड़े जानेसे कुछ भय होता है तो अनेक नरेन्द्र वन्दित इन्द्रनन्दि मुनिको भजो।

इन्द्रनन्दि प्रायश्चित्त विधि द्वारा पापरूप ग्रहका निराकरण करनेवाले हैं। अतएव उनके प्रायश्चित्त शास्त्रके पढ़नेकी ओर किया गया संकेत प्रतीत होता है। छेद-पिण्ड ग्रन्थके प्रशस्ति पद्यमें भी इस शास्त्रको मलहरण करने वाला बताया है। अतएव यह अनुमान निर्दोष है कि मल्लिषेण प्रशस्तिमें उल्लिखित इन्द्रनन्दि ही छेद-पिण्डके रचयिता इन्द्रनन्दि हैं। मल्लिषेण प्रशस्ति शक संवत् १०५०, फाल्गुन शुक्ला तृतीयाको अङ्कित की गयी है। अतएव इन्द्र-नन्दिका समय इससे पूर्व होना चाहिए। हमारा अनुमान है कि इन इन्द्रनन्दिका समय ई० सन् की दशम शताब्दीका उत्तरार्द्ध या ११वीं शतीका पूर्वार्ध होना सम्भव है।

रचना-परिचय

इन्द्रनन्दिका छेदपिण्ड नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थका प्रका-शन माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे वि० सं० १९७८में हुआ है। प्रकाशित प्रतिमें ३६२ गाथाएँ हैं, पर ग्रन्थमें निबद्ध गाथामें ३३३ ही गाथाओंकी संख्या बतायी है और श्लोक प्रमाण ४२० बताया गया है—

चउरसयाइं वीसुत्तराइं गंथस्स परिमाणं ।
तेत्तीसुत्तरतिसयपमाणं गाहाणिबद्धस्स ॥[2]

श्री प्रेमीजीने 'तेतीसुत्तर'के स्थानपर 'बासट्ठयुत्तर' पाठ स्वीकार किया है, पर आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने इस मान्यताका खण्डन किया है और उन्होंने मूल गाथाएँ ३३३ ही मानी हैं। शेष गाथाओंको प्रक्षिप्त माना है। २९ गाथाएँ जहाँ-तहाँ प्रक्षिप्त रूपमें समाविष्ट हो गयी हैं। मुख्तार साहबने कुछ गाथाओंकी छान-बीनकर उन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है, पर हमें मुख्तार साहबके तर्क समीचीन प्रतीत नहीं होते। हमने समस्त ग्रन्थ ३६२की अक्षर संख्या गिनकर श्लोक मान निकाला तो ४२० श्लोकसे कुछ ही अक्षर बढ़ते हैं। अतएव इस ग्रन्थमें प्रक्षिप्त या व्यर्थकी बढ़ी हुई गाथाओंमें न कहीं पुन-

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्रथम भाग, शिलालेख संख्या—५४, पद्य-२७, पृ० १०६।

२. छेदपिण्ड माणिक चन्द्र ग्रंथमाला, ग्रन्थांक-१८, गाथा—३६० पृ० ७५।

शक्ति है, और न ऐसा क्रम ही है जिससे कहीं भी प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना की जाय। लिपिकर्त्ताकी असावधानीसे या अन्य किसी कारणवश 'तेतीसुत्तर' पाठ निबद्ध हो गया है। जाँच करनेपर ४२० श्लोक गाथाओंमें ही पूर्ण होती है।

आरम्भमें आचार्यने प्रायश्चित्त, छेद, मल-हरण, पाप-नाशन, शुद्धि, पुण्य, पवित्र, पावन—ये सब प्रायश्चित्तके नामान्तर बताये हैं। प्रायश्चित्तके द्वारा चित्तादिकी शुद्धि करके आत्म-विकासको प्राप्त किया जाता है। जो आत्म-विकास अथवा मुक्तिको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अपने दोषों—अपराधोंपर कड़ी दृष्टि रखनेकी आवश्यकता है। किस दोष या अपराधके लिए कौन-सा दण्ड या प्रायश्चित्त विहित है—यही इस ग्रन्थका वर्ण्य-विषय है। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चतुःसंघ और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूप चतुर्विध वर्णके सभी स्त्री-पुरुषोंको लक्ष्यकर ग्रन्थ लिखा गया है। दोषोंके प्रकारों और उनके आगमादि विहित तपश्चरणादिरूप संशोधनोंका इसमें निर्देश और संकेत किया है। यह अनेक आचार्योंके उपदेशको अधिगत करके जीत और कल्प व्यवहारादि प्राचीन शास्त्रोंके आधारपर निर्मित है। आत्म-शुद्धिका साधन प्रायश्चित्त ही है। इस प्रायश्चित्तसे ही आत्मशुद्धि सम्भव है। आरम्भकी ४० गाथाओंमें मूल गुणोंके पश्चात् प्रथम महाव्रतका वर्णन आया है। ग्रन्थका प्रथम मूल गुणाधिकार है और द्वितीय महाव्रताधिकार। इस महाव्रताधिकारके अन्तर्गत प्रथम प्रकरणमें प्रथम महाव्रतका निरूपण किया है। द्वितीय और तृतीय महाव्रताधिकार नामक तृतीय प्रकरणमें ४१-४६ गाथाएँ हैं। इन छः गाथाओंमें द्वितीय और तृतीय महाव्रतका वर्णन किया है तथा इन व्रतोंमें होनेवाले दोषों और उनकी प्रायश्चित्त विधियोंका कथन आया है। चतुर्थ प्रकरण चतुर्थ महाव्रताधिकार नामका है। इसमें ४७-६० गाथाएँ हैं। इस व्रतमें लगनेवाले दोषों और उन दोषोंको दूर करने हेतु उपवासादि प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। पञ्चम प्रकरण पञ्चम महाव्रताधिकार नामका है। इसमें ६१से लेकर ६८ तक गाथाएँ हैं। परिग्रह परिमाण महाव्रतमें प्रमाद या अज्ञानतापूर्वक लगनेवाले दोष और उनकी प्रायश्चित्तविधियोंका वर्णन आया है। षष्ठप्रकरण रात्रि-भोजन त्याग नामक षष्ठव्रताधिकार आया है। इसमें ६९-७५ गाथाएँ हैं। स्वप्नमें रात्रि-भोजन करना, असमयमें भोजन करना, रोगावस्था या उपसर्गावस्थामें बैठकर भोजन करना आदि दोषोंके प्राय-श्चित्तोंका वर्णन आया है। सप्तम प्रकरणसे लेकर एकादश प्रकरण तक ७६-१०३ गाथाएँ हैं। इनमें पञ्च समितियोंमें लगने वाले दोष और उनमें विहित प्रायश्चित्तोंका कथन किया है। द्वादश इन्द्रिय निरोधाधिकारमें एक ही

गाथा है। इन्द्रियनिरोधमें होनेवाले अतिचारोंकी शुद्धिके लिए एक, दो, तीन, चार और पाँच उपवास करनेका वर्णन आया है। १३वाँ अधिकार केशलुञ्चाधिकार है। इसमें १०५–१०८ गाथाएँ हैं। समयका अतिक्रमण कर केशलुञ्च करना या आगमोक्त विधिके अनुसार केशलुञ्च न करने सम्बन्धी प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। चतुर्दश षडावश्यकाधिकारमें १०९–१२३, पञ्चदश अचेलकाधिकारमें १२४–२५, षोडश अस्नान-अदन्त-मन-क्षिति-शयनाधिकारमें १२६वीं गाथा, सप्तदश स्थितिभोजनैकभक्ताधिकारमें १२७वीं गाथा, अष्टादश उत्तरगुणाधिकारमें १२९–१५२ गाथाएँ, एकोनविंशति चूलिका प्रकरणमें १५३–१७३ गाथाएँ, २०वें दशविध प्रायश्चित्ताधिकारमें १७४–१७५ गाथाएँ, २१वें आलोचनाधिकारमें १७७–१८१ गाथाएँ, २२वें प्रतिक्रमणाधिकारमें १८२–१८७, २३वें उभयाधिकारमें १८८–१८९ गाथाएँ, २४वें विवेकाधिकारमें १९०–१९३ गाथाएँ, २५वें व्युत्सर्गअधिकारमें १९४–२०२, २६वें तपाधिकारमें २०३–२०८, २२६–२४२, २७वें पंचकअधिकारमें २०९–२१५, २८वें मासिक चतुर्मासिक अधिकारमें २१६–२१८, २८वें षाण्मासिकाधिकारमें २१९–२२५, ३०वें छेदाधिकारमें २४३–२५२, ३१वें मूलाधिकारमें २५३–२६१, ३२वें स्वगणानुपस्थान अधिकारमें २६२–२६९, ३३वें परगणानुपस्थान अधिकार में २७०–२७५, ३३वें पारञ्चिक अधिकारमें २७६–२८४, ३४वें श्रद्धानाधिकारमें २८५–२८७, ३५वें ऋषि प्रायश्चित्त अधिकारमें २८८वीं गाथा, ३६वें संयतिका या श्रवणी नाम अधिकारमें २८९–३०२ और ३७वें त्रिविधश्रावक प्रायश्चित्ताधिकारमें ३३७–३६९ गाथाएँ आयी हैं। नामानुसार तत्तदधिकारमें होनेवाले दोष और उन दोषोंके निराकरणार्थ प्रायश्चित्तविधिका वर्णन आया है। वस्तुतः यह प्रायश्चित्तशास्त्र आत्म-शुद्धिके लिए अत्यन्त उपयोगी है। मूलगुण और और उत्तरगुणोंमें प्रमाद या अज्ञानसे लगनेवाले दोषोंका कथन किया गया है।

आचार्य वसुनन्दि प्रथम

वसुनन्दि नामके अनेक आचार्य हुए हैं। एक ही वसुनन्दिकी आप्तमीमांसावृत्ति, जिनशतकटोका, मूलाचारवृत्ति, प्रतिष्ठासारसंग्रह रचनाएँ सम्भव नहीं हैं। ग्रन्थ परीक्षणोंसे यह अनुमान होता है कि आप्तमीमांसावृत्ति और जिनशतक टीकाके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। इसी प्रकार प्रतिष्ठापाठ और श्रावकाचारके रचयिता भी एक ही वसुनन्दि होंगे, क्योंकि इन दोनों रचनाओंमें पर्याप्त साम्य है। वसुनन्दि प्रथमने प्रतिष्ठासंग्रहकी रचना संस्कृत भाषामें की है और श्रावकाचार या उपासकाध्ययनकी रचना प्राकृत भाषामें। अतः स्पष्ट है कि वे उभय भाषाके ज्ञाता थे। यही कारण है कि वसुनन्दिको उत्तरवर्ती

आचार्योंने सैद्धान्तिक उपाधि द्वारा उल्लिखित किया है। श्रावकाचारकी प्रशस्तिमें वसुनन्दिने अपनी गुरुपरम्पराका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे।
भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण॥
कित्ती जस्सिंदुसुब्भा सयलभुवणमज्झे जहिच्छं भमित्ता,
णिच्चं सा सज्जणाणं हियय-वयण-सोए णिवासं करेई।
जो सिद्धंतंबुरासिं सुणयतरणमासेज्जलीलावतिण्णो।
वण्णेउं को समत्थो सयलगुणगणं से वियड्ढो विलोए॥
सिस्सो तस्स जिणिंदसासणरओ सिद्धंतपारंगओ,
खंती-मद्दव-लाहवाइदसहाधम्मम्मि णिच्चुज्जओ।
पुण्णेंदुज्जलकित्तिपूरियजओ चारित्तलच्छीहरो,
संजाओ णयणंदिणाममुणिणो भव्वासयाणंदओ॥
सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहिवेलातरंगधोयमणो।
संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचन्दु त्ति॥
तस्स पसाएण मए आइरिय परंपरागयं सत्थं।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं॥[1]

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें स्वसमय और परसमयके ज्ञायक भव्य-जनरूप कुमुदवनको विकसित करनेवाले चन्द्रतुल्य श्रीनन्दि नामके आचार्य हुए।

जिसकी चन्द्रसे भी शुभ कीर्ति समस्त भुवनोंके भीतर इच्छानुसार परिभ्रमण कर पुनः वह सज्जनोंके हृदय, मुख और श्रोत्रमें निवास करती है, जो सुनयरूप नौकाका आश्रय लेकर सिद्धान्तरूप समुद्रको लीलामात्रसे पार कर गये उन श्रीनन्दि आचार्यके समस्त गुणगणोंका कौन वर्णन कर सकता है।

उन श्रीनन्दि आचार्यका शिष्य जिनेन्द्रशासनमें रत, सिद्धान्तका पारंगत, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश प्रकारके धर्ममें नित्य उद्यत, पूर्णचन्द्रके समान उज्ज्वलकीर्तिसे जलको पवित्र करनेवाला चारित्ररूपी लक्ष्मीका धारक और भव्यजीवोंके हृदयको आनन्दित करनेवाला नयनन्दि नामका मुनि हुआ।

उस नयनन्दिका शिष्य जिनागमरूप जलनिधिकी बेलातरंगोंसे धुले हुए हृदयवाला नेमिचन्द्र—इस नामसे सकल जगत्में प्रसिद्ध हुआ।

उन नेमिचन्द्र आचार्यके प्रसादसे मैंने आचार्यपरम्परासे आया हुआ यह उपासकाध्ययनशास्त्र वात्सल्यभावनासे प्रेरित होकर भव्यजीवोंके लिए रचा है।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें श्रीनन्दि नामके

---

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, प्रशस्ति, गाथा—५४०—५४४।

आचार्य हुए। उनके शिष्य नयनन्दि और नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्र हुए। नेमिचन्द्रके प्रसादसे वसुनन्दिने यह उपासकाध्ययन लिखा है।

आचार्य वसुनन्दिने आचार्य नयनन्दिको अपने दादागुरुके रूपमें स्मरण किया है। 'सुदंसणचरिउ'की प्रशस्तिमें बताया है कि धारानरेश महाराज भोज अनेक विद्वान् और आचार्योंके आश्रयदाता थे। लिखा है—

> आराम-गाम-पुरवरणिवेस, सुपसिद्ध अवंती णाम देस।
> सुरवइपुरिव्व विवुहयणइट्ठ, तहिं अत्थि धारणयरी गरिट्ठ॥
> रणिदुद्धर अरिवर-सेल-वज्जु, रिद्धिय देवासुर जणिय चोज्जु।
> तिहुयणु णारायण सिरिणिकेउ, तहिं णरवइपुंगमु भोयदेउ॥
> मणिगणपहदूसियरविगभत्थि, तहिं जिणवर वद्धुविहारु अत्थि।
> णिव विक्कम्मकालहो ववगएसु, एयारह संवच्छर स एसु।
> तहिं केवलि चरिउं अमरच्छरेण, णयणंदी विरयउ वित्थरेण॥[1]

इस प्रशस्तिसे यह स्पष्ट है कि नयनन्दि धारानरेश महाराज भोजके समय-विद्यमान थे और उन्होंने वि० सं० ११०० में 'सुदंसणचरिउ'की रचना की। नयनन्दि सुप्रसिद्ध तार्किक परीक्षामुखसूत्रकार आचार्य माणिकनन्दिके शिष्य थे। वसुनन्दिने अपनी प्रशस्तिमें नयनन्दिको श्रीनन्दिका शिष्य लिखा है। नयनन्दिने अपनी गुरुपरम्परामें श्रीनन्दिके नामका उल्लेख नहीं किया। वसुनंदिका श्रीनन्दिसे क्या अभिप्राय है—यह स्पष्ट नहीं होता। श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीका अनुमान है कि रामनन्दिके लिए ही वसुनन्दिने श्रीनन्दिका प्रयोग किया। क्योंकि जिन विशेषणोंसे नयनन्दिने रामनन्दिका स्मरण किया है, उन्हीं विशेषणोंका प्रयोग वसुनन्दिने श्रीनन्दिके लिए किया है। नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्र हुए और उनके शिष्य वसुनन्दि।

स्थिति-काल

ग्रन्थरचनाकार वसुनन्दिने इस ग्रन्थके निर्माणका समय नहीं दिया है। परन्तु उनकी इस कृतिका उल्लेख १३ वीं शताब्दीके विद्वान् पंडित आशाधरने अपने 'सागारधर्मामृत'की टीकामें किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय १३ वीं शताब्दीके पूर्व निश्चित है। मूलाचारकी आचारवृत्तिमें ११ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य अमितगतिके उपासकाचारसे पाँच श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि वे अमितगतिके बाद हुए हैं। अतएव वसुनन्दि श्रावकाचारकी रचना विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुई है। श्री स्व० पण्डित नाथूराम-

---

१. सुदंसणचरिउ, प्रशस्तिभाग।

जी प्रेमीने लिखा है—"अमितगतिने भी भगवती आराधनाके अन्तमें आराधना-की स्तुति करते हुए एक वसुनन्दि योगीका उल्लेख किया है—

या निःशेषपरिग्रहेभदलने दुर्वारसिंहायते,
या कुज्ञानतमोघटाविघटने चंद्राशुरोचीयते।
या चिन्तामणिरेव चिन्तितफलैः संयोजयन्ती जनान्,
सा वः श्रीवसुनन्दियोगिमहिता पायात्सदाराधना[1]॥

या तो ये वसुनन्दियोगी इन वसुनन्दिसे पूर्ववर्ती कोई दूसरे ही है और या फिर अमितगति और वसुनन्दि समकालीन हैं, जिससे वे एक दूसरेका उल्लेख कर सके हैं। यदि समकालीन हैं तो फिर वसुनन्दिको विक्रमकी ११ वीं शतीका विद्वान् होना चाहिये। अतएव श्रीप्रेमीजी और आचार्य युगलकिशोर मुख्तार इन दोनोंके मतसे वसुनन्दिका समय अमितगतिके पश्चात् और आशाधरके पूर्व होना चाहिये। हमारा अनुमान है कि इनका समय ई० सन्‌की ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध सम्भव हैं। यतः वसुनन्दिके दादागुरु श्री नयनन्दिने विक्रम संवत् ११०० में 'सुदंसणचरिउ' नामक ग्रन्थकी रचना की है। वसुनन्दि द्वारा दी गयी प्रशस्तिसे यह अनुमान होता है कि वसुनन्दि और नयनन्दि समकालीन हैं। उन दोनोंके समयमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। श्री पण्डित हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने लिखा है—"इतना तो निश्चित ही है कि नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द हुए और उनके शिष्य वसुनन्दि। वसुनन्दिने जिन शब्दोंमें अपने दादागुरुका प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है, उससे ऐसा अवश्य ध्वनित होता है कि वे उनके सामने विद्यमान रहे हैं। यदि यह अनुमान ठीक हो तो १२ वीं शताब्दीका प्रथम चरण वसुनन्दिका समय माना जा सकता है। यदि वे उनके सामने विद्यमान न भी रहे हों, तो भी प्रशिष्यके नाते वसुनन्दिका काल १२ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध ठहरता है"।[2]

श्री पण्डित हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीके उक्त कथनसे भी यह स्पष्ट है कि वसुनन्दिका समय ई० सन्‌की ११वीं शताब्दीका अन्तिम चरण या १२वीं शताब्दीका प्रथम चरण सम्भव है।

रचना परिचय

आचार्य वसुनन्दिके 'प्रतिष्ठासारसंग्रह', 'उपासकाचार' और 'मूलाचार-की आचारवृत्ति' ये तीन ग्रन्थ इनके हैं। आप्तमीमांसावृत्ति और जिनशतक

---

१. जैन साहित्य और इतिहासमें उद्धृत, पृ० ४६३।

२. वसुनन्दिश्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १९।

टीकाके रचयिता अन्य वसुनन्दि हैं। इन समस्त ग्रन्थोंमें इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना उपासकाध्ययन या श्रावकाचार है।

उपासकाध्ययन या श्रावकाचार

श्रावकाचारमें कुल ५४६ गाथाएँ हैं, जो ६५० श्लोकप्रमाण हैं। मंगलाचरण-के अनंतर देशविरति नामक पञ्चम गुणस्थानमें दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ११ स्थान—(प्रतिमा) होते हैं। श्रावकको व्रती, उपासक, देशसंयमी और आगारी आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है, जो अभीष्ट देव, गुरु, धर्मकी उपासना करता है, वह उपासक कहलाता है। गृहस्थ वीतराग-देवकी नित्य पूजा-उपासना करता है, निर्ग्रंथगुरुओंकी सेवा वैयावृत्यमें नित्य तत्पर रहता है और सत्यार्थधर्मकी आराधना करते हुए यथाशक्ति उसे धारण करता है। अतः वह उपासक कहलाता है। वसुनन्दिने, ११ स्थान सम्यग्दृष्टिके होते हैं, अतः सर्वप्रथम सम्यक्त्वका वर्णन किया है। उन्होंने आप्त आगम और तत्त्वोंका शंकादि २५ दोषरहित अतिनिर्मल श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। आप्त और आगमके लक्षणके पश्चात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्त्व बतलाया है। इसी सन्दर्भमें जीवतत्त्वका वर्णन करते हुए जीवोंके भेद-प्रभेद, उनके गुण, आयु, कुल, योनि-का कथन किया है। अजीव तत्त्वके भेद बतलाकर छहों द्रव्योंके स्वरूपका वर्णन किया है। बताया है कि इन द्रव्योंमें जीव और पुद्गल ये दो परिणामी हैं, और ये दो ही क्रियावान् हैं, क्योंकि इनमें गमन आगमन आदि क्रियाएँ पायी जाती हैं। शेष चार द्रव्य क्रियारहित हैं, क्योंकि उनमें हलन-चलन क्रियाएँ नहीं पायी जातीं। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंको छोड़ शेष चारों द्रव्योंको परमागममें नित्य कहा गया है क्योंकि उनमें व्यंजनपर्याय नहीं पायी जाती है। जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्योंमें व्यंजनपर्याय पायी जाती है। अतएव वे परिणामी और अनित्य हैं।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य जीवका उपकार करते हैं, अतएव वे कारणभूत हैं। जीव सत्तास्वरूप है, इसीलिये किसी भी द्रव्यका कारण नहीं होता। जीव शुभ और अशुभ कर्मोंका कर्त्ता है क्योंकि वही कर्मोंके फलको प्राप्त होता है। अतएव वह कर्मफलका भोक्ता भी है। शेष द्रव्य न कर्मोंके कर्त्ता हैं और न भोक्ता ही हैं। छहों द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करके एक ही क्षेत्रमें रहते हैं। तो भी एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं होता, क्योंकि वे सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाही होकर भी अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते।

इसके पश्चात् आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वका स्वरूप विश्लेषण किया गया है। अनन्तर सम्यक्त्वके निःशंक, निःकांक्ष, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंगोंका नाम निर्दिष्ट किया गया है। सम्यग्दर्शनके होनेपर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन आठ गुणोंके उत्पन्न होनेका कथन आया है। आठ अङ्गोंमें प्रसिद्ध होनेवालोंके नामका कथन करते हुए बताया है कि राजगृह नगरमें अञ्जन नामक चोर निःशंकित अंगमें प्रसिद्ध हुआ। चम्पानगरीमें अनन्तमती नामकी वणिक्पुत्री निःकांक्षित अंगमें प्रसिद्ध हुई। रुद्दवर नगरमें उद्दायन नामक राजा निर्विचिकित्सा अंगमें प्रसिद्ध हुआ। मथुरा नगरमें रेवती रानी अमूढ़दृष्टि अङ्गमें प्रसिद्ध हुई। मागध नगर-राजगृहमें वारिषेण नामक राजकुमार स्थितिकरण गुणको प्राप्त हुआ। हस्तिनापुर नामके नगरमें विष्णुकुमार मुनिने वात्सल्य अंग प्रकट किया। ताम्रलिप्त नगरीमें जिनदत्तसेठ उपगूहन गुणसे युक्त प्रसिद्ध हुआ और मथुरा नगरीमें वज्रकुमारने प्रभावना अंग प्रकट किया। इस प्रकार सम्यग्दर्शनका स्वरूप बतलाकर दार्शनिक श्रावकका लक्षण कहा गया है। सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध पंच उदुम्बरफलसहित सप्त व्यसनका त्यागी दार्शनिक श्रावक कहलाता है। यह पंच उदुम्बरफलके साथ सन्धानक, वृक्ष, पुष्प आदिका त्याग करता है।

इसके पश्चात् द्यूत-मद्य-मांस आदि सातों व्यसनोंके दोषोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है तथा किस-किस व्यसनके सेवनसे किस-किस व्यक्तिको कष्ट प्राप्त हुआ, इसका भी वर्णन किया है। व्यसन सेवन करनेवाला व्यक्ति नरकादि गतियोंमें परिभ्रमण करता है। अतएव १३४वीं गाथासे १७६वीं गाथा तक अर्थात् ४२ गाथाओंमें नरकगतिके दुःखोंका वर्णन किया है। नरकगतिमें क्षेत्रकृत, कालकृत एवं पारस्परिक वैरजनित वेदनाओंका निरूपण किया है। पश्चात् छह गाथाओंमें तिर्यञ्चगतिके दुःखोंका, आठ गाथाओंमें मनुष्यगतिके दुःखोंका और १४ गाथाओंमें देवगतिके दुःखोंका वर्णन किया गया है। अन्तमें उपसंहार करते हुए लिखा है—

> एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसार-सायरे घोरे।
> जीवो सरण-विहीणो विसणस्स फलेण पाउणइ ॥[1]

अर्थात्, अनेक प्रकारके दुःखोंको घोर संसारसागरमें यह जीव शरणरहित होकर अकेला ही व्यसनके फलसे प्राप्त होता है।

---

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, श्लोक २०४।

२०५वीं गाथासे ३१२वीं गाथा तक ११ प्रतिमाओंका वर्णन आया है। व्रतप्रतिमाके अन्तर्गत पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका निरूपण किया है। अतिथिसंविभाग व्रतके अन्तर्गत दानका वर्णन किया है। उत्तम, मध्य और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके पात्र होते हैं। इनमें व्रत, नियम और संयमका धारण करनेवाला साधु उत्तम पात्र कहलाता है। ग्यारह प्रतिमास्थानोंमें स्थित श्रावक मध्यम पात्र है। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह कुपात्र है। सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है। जिस दातामें श्रद्धा, भक्ति, सन्तोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण होते हैं, वह दाता प्रशंस्य है।

इसके अनन्तर दान विधिका आहार, औषध, शास्त्र और अभय दानोंका, दानके फलका वर्णन किया गया है। सल्लेखनाव्रतका वर्णन भी किया गया है। अनन्तर सामायिकप्रतिमा, प्रोषधप्रतिमा, सचित्तत्यागप्रतिमा, रात्रि-भुक्तित्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भनिवृत्तप्रतिमा, परिग्रहत्याग-प्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा और उद्दिष्टत्यागप्रतिमाके स्वरूपका निरूपण किया गया है। रात्रिभोजनके दोषोंका वर्णन करनेके अनन्तर श्रावकके अन्य विधेय कर्त्तव्योंका कथन किया है। यथा—

विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ॥[1]

अर्थात्—देशविरत श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य विनय वैयावृत्य, काय-क्लेश और पूजनविधान करना चाहिये। दर्शनविनय, ज्ञान-विनय, चारित्रविनय, तप विनय और उपचारविनय ये पाँच प्रकारके विनय, बतलाये गये हैं। वैयावृत्यके अन्तर्गत मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघके वैयावृत्य करनेका वर्णन किया है। काय-क्लेशके अन्तर्गत व्रत, उपवास एवं पंचमीव्रत, रोहिणीव्रत, अश्विनीव्रत, सौख्यसम्पत्तिव्रत, नन्दीश्वरपंक्तिव्रत और विमानपंक्तिव्रत आदि व्रतोंका कथन किया है।

इसके पश्चात् नामपूजा, स्थापनापूजा, आदिका कथन करते हुए प्रतिष्ठा-चार्य, प्रतिमा-प्रतिष्ठाकी लक्षणविधि और प्रतिष्ठाफलका कथन आया है। कारापक लक्षण, इन्द्रलक्षण, प्रतिमाविधान, प्रतिष्ठाविधानका विस्तारसे वर्णन आया है। पश्चात् द्रव्यपूजा, क्षेत्रपूजा, कालपूजा, और भावपूजाका कथन आया है। इसके पश्चात् आचार्यने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपा-

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, श्लोक ३१९।

तीत ध्यानोंका वर्णन किया है। पूजनके फलका कथन करते हुए प्रत्येक द्रव्यके चढ़ानेके फलका पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। बताया है कि पूजनके समय नियमसे भगवान्‌के आगे जलधारा छोड़नेसे पापरूपी मैलका शमन होता है। चन्दन रसके लेपसे सौभाग्यकी प्राप्ति होती है। अक्षतोंसे पूजा करनेवाला व्यक्ति अक्षय नव निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी चक्रवर्त्ती होता है और रोग शोकसे रहित हो अक्षीण ऋद्धिसे सम्पन्न होता है। पुष्पोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला और विभिन्न प्रकारके दिव्य भोगोंसे सम्पन्न कामदेव होता है। नैवेद्यके चढ़ानेसे मनुष्य शक्तिमान, तेजस्वी और सुन्दर होता है। दीपोंसे पूजा करनेवाला व्यक्ति केवलज्ञानको प्राप्त करता है। धूपसे पूजा करनेवाला निर्मल यश, फलसे पूजा करनेवाला निर्वाण-फल एवं अभिषेक करनेवाला व्यक्ति इष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करता है। भगवान्‌की पूजा करनेसे संसारके सभी सुख प्राप्त होते हैं। श्रावक धर्मके पालन करनेके फलका विवेचन करते हुए लिखा है—

> अणुपालिऊण एवं सावयधम्मं तओवसाणम्मि।
> सल्लेहणं च विहिणा काऊण समाहिणा कालं॥
> सोहम्माइसु जायइ कप्पविमाणेसु अच्चुयंतेसु।
> उववादगिहे कोमलसुयंधसिलसंपुडस्संते॥
> अंतोमुहुत्तकालेण तओ पज्जत्तिओ समाणेइ।
> दिव्वामलदेहधरो जायइ णवजुव्वणो चेव॥
> समचउरससंठाणो रसाइधाऊहिं वज्जियसरीरो।
> दिणायरसहस्सओणवकुवलयसुरहिणिस्सासो॥[1]

इस प्रकार श्रावकधर्मका परिपालनकर और उसके अन्तमें विधिपूर्वक सल्लेखना करके समाधिसे मरणकर अपने पुण्यके अनुसार सौधर्मस्वर्गको आदि लेकर अच्युतस्वर्गपर्यन्त कल्पविमानोंमें उत्पन्न होता है। वहाँके उपपादगृहोंके कोमल एवं सुगन्धयुक्त शिलासम्पुटके मध्यमें जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अपनी छहों पर्याप्तियोंको सम्पन्न कर लेता है तथा अन्तर्मुहूर्तके भीतर दिव्य निर्मल देहका धारक एवं नवयौवनसे युक्त हो जाता है। वह देव समचतुरस्त्र संस्थानका धारक, रसादि धातुओंसे रहित शरीरवाला, सहस्र सूर्योंके समान तेजस्वी, नवीन कमलके समान सुगन्धित निःश्वासवाला होता है।

इस प्रकार श्रावकधर्मका पालन करनेका फल भोगभूमि, देवगति एवं मनुष्यगतिमें विविध भोगोंकी उपलब्धि होना बतलाया है। बुद्धि, तप, विक्रिया

---

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, श्लोक ४९४–४९७।

औषध, रस, बल और अक्षीण महानस ऋद्धियोंकी प्राप्ति भी होती है। मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर मुनिधर्मका आचरण करता हुआ पुण्यात्मा निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

वसुनन्दिने एकादश प्रतिमाओंको आधार मान कर श्रावकधर्मका प्रतिपादन किया है। इन्होंने कुन्दकुन्दके समान सल्लेखनाको चतुर्थ शिक्षाव्रत बतलाया है। श्रावकके आठ मूलगुणोंका उल्लेख भी नहीं किया गया है। सप्तव्यसनोंमें मांस और मद्य सेवन ये दो स्वतन्त्र विषय माने गये हैं और मद्य सेवनके अन्तर्गत मधुके परित्यागका भी स्पष्ट निर्देश किया है तथा दर्शनप्रतिमाधारीके लिए सप्तव्यसनोंके साथ पाँच उदुम्बरफलके त्यागका भी स्पष्ट कथन आया है। वसुनन्दीने अपने इन विचारों द्वारा अष्टमूलगुणवाली परम्पराका भी समन्वय करनेकी चेष्टा की है।

वसुनन्दीके इस श्रावकाचारमें व्रतोंके अतिचारोंका कथन नहीं आया है। प्रतीत होता है कि इन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके 'चारित्रपाहुड'की शैलीका अनुसरण कर अतिचारोंका कथन नहीं किया है। स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा और देवसेनके भावसंग्रहमें भी अतिचारोंका कथन नहीं आया है। इस प्रकार वसुनन्दिने अपने उपासकाध्ययनमें अनेक नये तथ्योंका समावेश किया है।

प्रतिष्ठासारसंग्रह

इस ग्रन्थमें छः परिच्छेद हैं। प्रथम और द्वितीय परिच्छेदमें पंचांग शुद्धि और लग्न-शुद्धिका वर्णन आया है। लग्न-शुद्धिके साथ षड्वर्ग-शुद्धि, गोचर-ग्रह-शुद्धि आदि भी वर्णित हैं। तृतीय परिच्छेदमें भूमि-शुद्धि, भूमि-परीक्षा, दिग्देवता, वास्तु-पूजा, वास्तुपूजाके मन्त्र, दिशाओंके स्वामी आदि वर्णित हैं। ग्रन्थकर्त्ताने इस परिच्छेदका नाम वास्तुविचार रखा है।

चतुर्थ परिच्छेदके प्रारम्भमें जिनबिम्बके बनानेकी विधिका वर्णन करते हुए लिखा है—

अथ बिंबं जिनेंद्रस्य कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम्।
ऋज्वायतसुसंस्थानं तरुणांगं दिगंबरम्॥
श्रीवृक्षभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजांगुलप्रमाणेन साष्टांगुलशतायुतम्[1]॥

---

१. जैन सिद्धान्त भवन आराकी हस्तलिखित प्रति $\frac{ख}{१४०}$ चतुर्थ परिच्छेद, पद्य १–२।

प्रतिमाके ऊरु, नाभि, कर्ण, जानु आदि विभिन्न अंगोंके प्रमाणका विवेचन किया गया है। इस परिच्छेदमें ८२ पद्य हैं और मूर्तिनिर्माणकी विधिका पूर्णतया वर्णन किया गया है।

पञ्चम परिच्छेदमें प्रतिष्ठाकी वेदीका वर्णन है और क्षेत्रपाल एवं दिग्पालके स्वरूपका चित्रण किया गया है। अनन्तर २४ तीर्थंकरोंके यक्षोंके वाहनोंका वर्णन आया है। पश्चात् २४ मन्त्रों द्वारा यक्षोंकी आहुतियाँ वर्णित हैं। षष्ठ परिच्छेदमें मण्डप-विधि, वेदिका-निर्माण, कर्णिका-निर्माण तथा वेदी शुद्धिके विभिन्न मन्त्र आये हैं।

षोडश विद्या-देवियोंकी स्थापनाके अनन्तर उनकी पूजाके मन्त्र दिये गये हैं। चतुर्विंशति जिन-मात्रिकाओं, ३२ इन्द्रोंके स्थापना-मन्त्र एवं पूजन-मन्त्र दिये गये हैं। द्वारपाल और दिक्पालकी स्थापनाविधि भी आयी है। माला-स्थापना एवं विभिन्न द्रव्योंके स्थापना-मन्त्र भी अंकित किये गये हैं।

सकलीकरणकी विशिष्ट विधि दी गयी है तथा वेदीशुद्धि और वेदी-प्रतिष्ठाके विभिन्न मन्त्र और विधियाँ अंकित हैं। ध्वजारोपण, कलश-स्थापना आदिकी विधि आयी है। अन्तमें निम्नलिखित प्रशस्ति अंकित है—

"इति श्री वसुनन्दिसैद्धान्तिकविरचिते प्रतिष्ठासारसंग्रहे षष्ठपरिच्छेदः स्वस्ति श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यआम्नाये भट्टारक दिल्लीपट्टाधीशा श्री १०८ राजेन्द्रकीर्तिदेवाः तेषां शिष्यपण्डितपरमानन्देन लिखितमिदम् ॥"

रामसेनाचार्य : व्यक्तित्व और कार्य

रामसेन नामके कई आचार्य भट्टारक और विद्वान् हुए हैं। उनमेंसे यहाँ तत्त्वानुशासनके कर्त्ता रामसेनाचार्यके व्यक्तित्व और कर्तृत्वपर विचार करना है। तत्त्वानुशासनके अन्तमें प्रशस्ति दी गयी है जिसमें आचार्यने अपने विद्या गुरु और दीक्षागुरुका निर्देश किया है। प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

श्री वीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्री नागसेन-मुनिरुद्ध-चरित्रकीर्तिः ॥
तेन प्रबुद्ध-धिषणेन गुरूपदेश—
मासाद्य सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूतम्।

तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटार्थम्[1] ॥

अर्थात् वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव विद्यागुरु हैं तथा पुण्य-मूर्ति एवं उच्चकोटिके चरित्र धारी कीर्तिमान नागसेन दीक्षागुरु हैं। प्रबुद्ध-बुद्धि रामसेन विद्वान्‌ने गुरुओंके उपदेशको प्राप्तकर इस सिद्धि-सुख-सम्पत्तिके उपायभूत तत्त्वानुशासनशास्त्रको जगत्-हितके लिए रचना की है। यह स्पष्ट अर्थसे युक्त है।

यहाँ यह विचारणीय है कि रामसेनाचार्यने जिस गुरुपरम्पराका उल्लेख किया है उसका समर्थन दूसरे प्रमाणोंसे कहाँ तक होता है। यशस्तिलकचम्पू-की रचना सोमदेवसूरिने शक संवत् ८८१ (वि० सं० १०१६)में की है। इस ग्रन्थके आठवें आश्वासके अन्तर्गत 'ध्यान-विधि' नामका एक कल्प आया है। इस कल्पका तत्त्वानुशासन पर कुछ भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। सोमदेवने नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें जिन महेन्द्रदेव भट्टारकका अपनेको अनुज लिखा है और उन्हें 'वादीन्द्रकालानल' बताया है वे उन महेन्द्रदेवसे भिन्न नहीं हैं, जिनका रामसेनने अपने शास्त्रगुरुओंके रूपमें उल्लेख किया है। अत: आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तारके इस अनुमानकी पुष्टि होती है कि रामसेनके शास्त्र-गुरु नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें उल्लिखित महेन्द्रदेव भट्टारक हों। सोमदेव-ने अपनेको नेमिदेवका शिष्य लिखा है जो कि यशोदेवके शिष्य थे और उन्हें सकलतार्किकोंका चूड़ामणिरूप महावादी प्रकट किया है। इन भगवान् नेमि-देवके अनेक शिष्योंमें सोमदेव भी एक शिष्य थे। परभनीके ताम्र-शासनसे भी यह सिद्ध होता है।

नेमिदेवके शिष्योंमें जो १०० शिष्य सोमदेवके अग्रज थे उनमें महेन्द्रदेव प्रमुख विद्वान् तथा सोमदेवके विशेष सम्पर्कमें रहनेवाले थे। इसी कारण सोमदेवने नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें उनका उल्लेख किया है।

के० के० हैंडिकि, उपकुलपति गोहाटी विश्वविद्यालयने अपने 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' (Yasastilak and Indian Culture) नामक ग्रन्थके परि-शिष्ट संख्या १ में सोमदेवके प्रतिहार राज्य कन्नौजके साथ प्रस्तावित सम्बन्ध विषयमें विचार करते हुए उसे ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकार नहीं किया है। सोमदेवने यशस्तिलकमें अपनेको देवसंघका बतलाया है और परभनीके

१. तत्त्वानुशासन, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, दिसम्बर सन् १९६३, पद्य २५६, २५७, पृ० २१५।

ताम्रशासनमें उनके दादागुरु यशोदेवको गौडसंघका लिखा है, जिससे कुछ विद्वानोंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सोमदेव गौड (बंगाल)से दक्षिण देशको जाते हुए मार्गमें कुछ समयके लिए कन्नौज ठहरे होंगे। उस समय वहाँके राजा महेन्द्रपाल प्रथमने, जिनका समय ई० सन् ८९३ से ९०७ है या अधिक सम्भाव्य महेन्द्रपाल द्वितीयने, जिनके समयका एक शिलालेख संवत् १००३का प्रतापगढ़से उपलब्ध हुआ है, उन्हें नीतिवाक्यामृतकी रचनाके लिए प्रेरित किया होगा, पर इस विचारका समर्थन किसी भी पुष्ट प्रमाणसे नहीं होता है।[1] अतः महेन्द्रपालका सोमदेवके साथ सम्बन्ध नहीं है। यह तो महेन्द्रदेव आचार्य हैं, जिनकी प्रेरणासे 'नीतिवाक्यामृत' लिखा गया है। प्रशस्तिमें अंकित 'वादीन्द्र-कालानल' विशेषण किसी राजाका नहीं हो सकता है, बल्कि किसी आचार्यका ही सम्भव है। अतएव रामसेनके विद्यागुरु महेन्द्रदेव नेमिदेवके शिष्य और सोमदेवके बड़े गुरुभाई थे। रामसेनके चतुर्थ शास्त्रगुरु विजयदेव हैं। ये विजय-देव सम्भवतः भगवती आराधनापर विजयोदया टीका लिखनेवाले विजयदेव हैं, जिनका दूसरा नाम अपराजितसूरि था। डॉ० ए० एन० उपाध्येने अपने बृहत्कथाकोशकी प्रस्तावनामें अपराजितसूरिके समय आदिका विस्तारसे विचार किया है। एक विजयका उल्लेख शक संवत् ९९९ में उत्कीर्ण नगर ताल्लुकके ३५ संख्यक अभिलेखमें आया है। इसमें वादिराजके उत्तरवर्ती

---

१. "It has recently been suggested by some scholars that Somadeva may have passed some time at Kanouj : and during his sojourn there, he was encouraged to compose his 'Nitivakyamrita' by Mahendra-Pala I (Circa 893–907 A. D.), or more probably, by Mahendrapala II, who is known to have reigned about the middle of the tenth century A. D. The Partabgarh Inscription of the time of Mahendrapala II of Kanouj is, for instance, dated Samvat 1003 = 946 A. D. (Ep. Ind. Vol. XIV, pp. 176–188). But the Supposed connection of Somadeva with the Pratihara cocurt of Kanouj can hardly be accepted as a historical fact, as, unlike his association with the Deccon, it is mentioned neither in the colophons to his works nor in the Parbhani inscription."—Yasastilak and Indian culture, By K. K. Handiqui, Jivaraja Jain Granthamala No. 2, Appendix I. Page 464.

कमलभद्राचार्यको एक दान दिया गया है। इसमें पूर्ववर्ती गुरुओंका उल्लेख करते हुए वादिराजसूरिके अनन्तर दो पद्य श्रीविजयकी प्रशंसामें लिखे गये हैं, जिनमें एक पद्य वही है जो वादिराज द्वारा उनकी प्रशंसामें कहा गया है। वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें श्रीविजयकी प्रशंसा की है। वादिराज-सूरि द्वारा प्रशंसित श्रीविजय ही यदि अपराजितसूरि होते तो उनकी विजयोदया टीकामें जिनसेनके महापुराण और अमृतचन्द्राचार्यके ग्रन्थोंका प्रभाव अवश्य रहता, पर ऐसा नहीं है।

एक विजय 'जम्बूदीवपण्णत्ती'के कर्त्ता पद्मनन्दिके शास्त्रगुरु हैं, जिनके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है—वे नाना नरपतियोंसे पूजित, विगतभय, संघ-भंगउन्मुक्त, सम्यकदर्शनशुद्ध, संयमतपशीलसम्पूर्ण, जिनवरवचनविनिर्गत परमागमदेशक, महासत्त्व, श्रीनिलय गुणोंसे युक्त और विशेष ख्यातिप्राप्त गुरु थे। उनसे आगमको सुनकर तथा प्राप्तकर इस ग्रन्थकी रचना की है।[1] इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि जंबूदीवपण्णत्तीके निर्माणके समय अथवा इसके पूर्व श्रीविजय विद्यमान थे। अतएव यह सम्भव है कि ये ही विजयमुनि रामसेनके शास्त्रगुरु हों।

सेनगणकी पट्टावलीमें भी रामसेनके साथ विजयका उल्लेख मिलता है। इस पट्टावलीमें एक नागसेनका नाम आया है। बहुत सम्भव है कि ये नागसेन ही रामसेनके दीक्षागुरु हैं। पट्टावलीमें बताया है—

श्रीनेमिसेनाः खलु तत्र पट्टे श्रीरामसेनाः खलु तार्किकाद्याः।
श्रीवज्रसेनश्च वसन्तसेनो विनीतसेनो विनयेषु धीमान्॥

श्रीमन्नागरसेनस्तु विजयश्च मुनीश्वरः।
तपस्सु द्वादशाङ्गेषु रतो जिनपरायणः॥

× × ×

श्रीरामभद्रो मुनिनागसेनो महेन्द्रसेनो मुनिभद्रनामा।
श्रीजैनमार्गाब्धिविवर्धनाय राकापतित्वं समुपागतास्ते[2]॥

इस पट्टावलीमें नेमिसेनके पट्टपर रामसेनके आसीन होनेका उल्लेख आया है। इसमें विजय, महेन्द्र और नागसेनके भी उल्लेख हैं। अतएव रामसेनको सेनगणका आचार्य होना चाहिए और इनके दीक्षागुरु नागसेन भी इसी गणके हैं।

---

१. जंम्बूदीवपण्णत्ती, सोलापुर संस्करण, १३।१४३-१४५।

२. The Jaina Antiquary Vol. XIII, N–2, Arrah, Sengana Pattavali पद्य २३, २४, ३०।

श्री जुगलकिशोर मुख्तारने काष्ठासंघनन्दितटगच्छकी गुर्वावली उल्लिखित की है। इस गुर्वावलीमें निम्नलिखित आठ आचार्योंका निर्देश आया है—१. अर्हद्वल्लभसूरि, २, पंचगुरु, ३. गंगसेन, ४. नागसेन, ५. सिद्धान्तसेन, ६. गोपसेन, ७. नोयगुरु और ८. रामसेन। इस गुर्वावलीके आधारपर रामसेन और नागसेनको काष्ठासंघके नन्दितटगच्छ और विद्यागणका आचार्य बताया है।

चन्द्रकीर्तिने पार्श्वपुराणकी प्रशस्तिमें रामसेनको विद्यागणका अधीश्वर, सूरिविद्याअनवद्य, स्याद्वादविद्याका निवास, विशदवृत्त और कीर्तिमान प्रकट किया है। भट्टारक श्रीभूषणने पाण्डवपुराणमें भी रामसेनका उल्लेख किया है। अतएव इन समस्त उल्लेखोंके आधारपर यही कहा जा सकता है कि तत्त्वानुशासनके रचयिता मुनि रामसेन सेनगणके आचार्य हैं।

स्थिति-काल

नागसेनके नाम और समयपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि इस नामके कई आचार्य हुए हैं। प्रथम वे नागसेन हैं, जो दशपूर्वके पाठी थे और जिनका समय वि० सं० से २५० वर्ष पूर्व है। दूसरे नागसेन वे हैं, जो ऋषभसेन गुरुके शिष्य थे और जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १४ में आया है। इनका समय वि० सं० ७५७ है। तीसरे नागसेन वे हैं जो चामुण्डरायके साक्षात् गुरु और अजितसेनके प्रगुरु थे और जिनका चामुण्डरायपुराणमें आचार्य कुमारसेनके बाद उल्लेख आया है। इस पुराणका रचनाकाल वि० सं० १०३५ है। चतुर्थ नागसेन वे हैं जिन्हें रानी अक्कादेवीने 'गोणद वेडंगि' जिनालयके लिए ई० सन् १०४७ में भूमिदान किया था और जो मूलसंघ सेनगण और पोगरिगच्छके आचार्य थे[१]। पंचम नागसेन नन्दितटगच्छकी गुर्वावलीके अनुसार गंगसेनके उत्तरवर्ती तथा सिद्धान्तसेन और गोपसेनके पूर्ववर्ती हुए हैं। इनका समय दशवीं शताब्दीका मध्यकाल है। अतएव नागसेनके समयके आधारपर रामसेनका समय भी निर्णीत किया जा सकता है। हमारा अनुमान है कि मूलसंघ सेनगण और पोगरिगच्छके विद्वान् आचार्य नागसेन ही रामसेनाचार्यके गुरु हैं। अतएव रामसेनका समय ई० सन् १०४७ के आसपास होना चाहिए।

श्री आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारने तत्त्वानुशासनकी प्रस्तावनामें रामसेनके समयकी पूर्व सीमा वि० सं० ९०० निर्धारित की है। वि० की १३वीं

---

१. Jainism in South india, Page 106

शतीके विद्वान् पं० आशाधरजीने इष्टोपदेश आदि टीकाओंमें तत्त्वानुशासनके कितने ही पद्योंको ग्रन्थके नामसहित उद्धृत किया है। किसी-किसी टीकामें उद्धृत पद्योंके साथ रामसेनाचार्यका नाम भी दिया है। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें इष्टोपदेशकी टीकाके रचनेका उल्लेख आया है और जिनयज्ञकल्पका रचनाकाल वि० सं० १२८५ है। अतएव रामसेनके समयकी उत्तर सीमा वि० सं० १२८५ के पूर्व है।

उत्तरपुराणका एक पद्य तत्त्वानुशासनके पद्यसे बहुत साम्य रखता है। अतः यह स्पष्ट है कि रामसेनने उत्तरपुराणके पद्यका अनुसरण किया है। गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित आत्मानुशासनके कतिपय पद्योंका प्रभाव भी तत्त्वानुशासनपर है। यथा—

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुरा
ज्ञानज्योतिषि पञ्चतत्त्वसहितं लग्नं नभश्चाखिलम्।
लक्ष्मीधामदधद्विधूतविततध्वान्तः स धामद्वयं
पन्थानं कथयत्वनन्तगुणगुणभृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः[1]॥

अर्थात्, जिनके शरीरकी कान्तिमें इन्द्रसहित समस्त देव निमग्न हो गये, जिनकी ज्ञानरूप ज्योतिमें पञ्चद्रव्यसहित समस्त आकाश समा गया, जो लक्ष्मीके स्थान हैं, जिन्होंने फैला हुआ अज्ञान अन्धकार नष्ट कर दिया, जो आभ्यन्तर और बाह्यके भेदसे दोनों प्रकारके तेजको धारण करते हैं और जो अनन्त गुणोंके धारक हैं, ऐसे कुन्थुनाथ भगवान् सभीके लिए मोक्षमार्ग प्रदर्शित करें।

इसी आशयको लेकर आचार्य रामसेनने भी पद्य रचा है, जो भावकी दृष्टिसे थोड़ा-सा भिन्न होनेपर भी गुणभद्रका अनुकरण है। यथा—

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद्दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञान-ज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवःस्वस्त्रयो।
शब्द-ज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तु नः[2]॥

इससे स्पष्ट है कि रामसेनाचार्य गुणभद्रके उत्तरकालीन हैं। गुणभद्रका उत्तरपुराण शक संवत् ८१५, वि० संवत् ९५०में पूर्ण हुआ है। अतएव रामसेनके समयकी पूर्वसीमा ९५० तक पहुँच जाती है।

१. उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ६४।५५।
२. तत्त्वानुशासन, वीरसेवामंदिर, श्लोक २५९।

पञ्चास्तिकाय गाथा १४६ की तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासनध्यानग्रन्थे' इस वाक्यके साथ तत्त्वानुशासनका ८६वाँ पद्य उद्धृत किया है। जयसेनाचार्यका समय ई० सन् की १२वीं शताब्दी है। परमात्मप्रकाशके द्वितीय अधिकारके ३६वें पद्यकी टीकामें ब्रह्मदेवने तथा 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे' इस वाक्यके साथ तत्त्वानुशासनका ८४ संख्यक पद्य उद्धृत किया है। इसी प्रकार द्रव्यसंग्रहकी ५७वीं गाथाकी टीकामें ब्रह्मदेवने इस ग्रंथकी ८३ संख्यक गाथा उद्धृत की है। इससे स्पष्ट है कि रामसेनाचार्य ब्रह्मदेव और जयसेनके पूर्ववर्ती हैं। तत्त्वानुशासनके पद्योंकी समता हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके पद्योंमें भी प्राप्त होती है। तुलनासे ऐसा ज्ञात होता है कि हेमचन्द्रने तत्त्वानुशासनका अनुसरण किया है।

देवसेनकी आलापपद्धतिके पर्यायाधिकारमें तत्त्वानुशासनका ११२ संख्यक पद्य अंग बन गया है। ब्रह्मदेवका समय भोजका राज्यकाल है। भोजने वि० सं० १०७५-११०७ तक शासन किया है। अतएव ब्रह्मदेवका समय ई० सन् की ११वीं शताब्दीका उत्तरार्ध या १२वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। इन सब ग्रंथोंके उद्धरणों और प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि रामसेनका समय ई० सन्की ११वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। इस समयकी सिद्धि उनके गुरुनागसेनके समयसे भी हो जाती है।

रचना-परिचय

'तत्त्वानुशासन' नामक ग्रंथ उपलब्ध है। इस ग्रंथमें २५९ पद्य हैं। इस ग्रंथका प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रंथमालाके ग्रंथांक १३में किया गया है। इस प्रकाशनमें इस ग्रंथके रचयिता नागसेन बतलाये हैं, पर आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने इस ग्रन्थका संशोधित संस्करण प्रकाशित किया है, जिसमें इसके रचयिता रामसेनाचार्य सिद्ध किये हैं। यह ग्रन्थ अध्यात्मविषयक है और स्वानुभूतिसे अनुप्राणित है। मंगलाचरण, ग्रन्थनिर्माणप्रतिक्रिया, वास्तव सर्वज्ञके अस्तित्व और लक्षण निर्देशके अनन्तर सर्वज्ञके कथनानुसार दुःखके कारण बन्ध और उसके हेतुओंको हेयतत्त्व तथा सुखके कारण मोक्ष और उसके हेतुओंको उपादेयतत्त्व बतलाकर बन्धके स्वरूपका निर्देश किया गया है। बन्धके चार भेद बतलाये हैं—१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. अनुभागबन्ध और ४. प्रदेशबन्ध। बन्धका कार्य ही संसार-परिभ्रमण है। बन्धके मुख्य तीन हेतु हैं—१. मिथ्यादर्शन, २. मिथ्याज्ञान और ३. मिथ्याचारित्र। इनके लक्षण प्रतिपादित करनेके अनन्तर मिथ्यादर्शनरूप मोहको चक्रवर्ती राजा, मिथ्याज्ञानको मोहका मन्त्री और अहंकार, ममकारको मोहके पुत्र बताया

है। इस प्रकार मोहकी सेना और परिवारका कथन किया है। ममकार और अहंकारसे रागद्वेषकी, रागद्वेषसे क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नव कषायोंकी उत्पत्ति होकर किस प्रकार कर्मोंके बन्धनादिरूप संसारचक्र चलता है और यह जीव उसके चक्करमें पड़ सदा भ्रमता ही रहता है, कथन कर भव्यात्माको हितकर उपदेश दिया है। "हे आत्मन्! तू इस दृष्टिविकाररूप मोहको, और ममकार तथा अहंकारको अपना शत्रु समझ, इनके विनाशका प्रयास कर। इन मुख्य हेतुओंका क्रमशः नाश हो जाने पर शेष रागद्वेषादि बन्धहेतुओंका भी विनाश हो जाता है, और संसारपरिभ्रमण छूट जाता है। बन्धके हेतुओं-का नाश तभी सम्भव है, जब मोक्षके हेतुओंको अपनाया जाय, क्योंकि दोनों शीत तथा उष्ण स्पर्शके समान एक दूसरेके विरुद्ध हैं। लिखा है—

बन्धहेतु-विनाशस्तु मोक्षहेतु-परिग्रहात्।
परस्पर - विरुद्धत्वाच्छीतोष्ण-स्पर्शवत्तयोः ॥[1]

मोक्षहेतु या मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप त्रितयात्मक है, निर्जरा और संवररूप परिणमता हुआ मोक्षफल प्रदान करता है।

इसके अनन्तर ध्यानका मुख्य विषय आया है। ध्यानके चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। प्रथम दो दुर्ध्यान हैं, जो मुमुक्षुओंके लिए त्याज्य हैं और शेष दो सद्ध्यान हैं एवं बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेवालोंके लिए उपादेय हैं। अतीतकालमें जिन महानुभावोंने शुक्लध्यानको धारण किया है, उनके निर्देशानुसार, वज्रसंहनन, पूर्वश्रुतज्ञता और उपशम तथा क्षपकश्रेणी चढ़नेकी सामग्री अपेक्षित है। धर्मध्यानके इच्छुक योगीको ध्याता, ध्येय, ध्यान, ध्यानफल, ध्यानस्वामी, ध्यानक्षेत्र, ध्यानकाल और ध्यानावस्था इन आठका स्वरूप अवगत करना चाहिये। संक्षेपमें इन्द्रियों तथा मनका निग्रह करनेवाला ध्याता, यथाअवस्थित वस्तु ध्येय, एकाग्रचिन्तन ध्यान, निर्जरा तथा संवर ध्यानके फल, जिस देश, काल तथा अवस्थामें ध्यानकी निर्विघ्न सिद्धि हो, वह क्षेत्र, काल तथा अवस्था है।

ध्यानके स्वामी अप्रमत्त, प्रमत्त, देशसंयत, सम्यग्दृष्टि इन चार गुण-स्थानवर्ती जीवोंको बताया है। सामग्रीके भेदसे ध्याताओं और उनके ध्यानोंको तीन-तीन भेदोंमें विभक्त किया गया है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम सामग्रीके योगसे ध्यातामें उत्तम ध्यान, मध्यम सामग्रीके योगसे मध्यम ध्यान

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक २३।

एवं जघन्य सामग्रीके योगसे जघन्य ध्यान होता है। इसके पश्चात् धर्मके लक्षणादिभेदसे धर्मध्यानकी प्ररूपणा की गयी है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयरूपको लिया गया है। द्वितीय परिभाषाके अनुसार मोह-क्षोभसे विहीन आत्माके परिणामको धर्म कहा गया है। तृतीय परिभाषाके अनुसार वस्तुके स्वरूप, स्वभाव अथवा याथात्म्यको धर्म कहा है। चतुर्थ परिभाषाके अनुसार उत्तम क्षमादि दानरूप दशलक्षणधर्मका उल्लेख आया है।

परिस्पन्दरहित एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहा है और उस ध्यानको संचित कर्मोंकी निर्जरा तथा नये कर्मोंके आश्रयद्वारको रोकने रूप संवरका हेतु निर्दिष्ट कर निर्जरा तथा संवर दोनोंको ध्यानके फल सूचित किया है। तदनन्तर ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त हुए एकाग्रचिन्ता और निरोध शब्दोंके वाच्यार्थको ग्रहण किया है। वस्तुतः यह ध्यान विशुद्धबुद्धिधारक योगीके होता है। जो श्रुतज्ञान उदासीन राग-द्वेषसे रहित, उपेक्षामय यथार्थ और अति निश्चल होता है, वह ध्यानकी कोटिमें आ जाता है। उसे स्वर्ग तथा मोक्षफलका दाता भी बतलाया है।

इसके पश्चात् ध्यानकी निरुक्तिका निरूपण करते हुए उसकी उत्पत्तिमें सहायभूत सामग्रीका निर्देश किया है और वह है परिग्रहोंका त्याग, कषायोंका निग्रह, व्रतोंका धारण और इंद्रियों तथा मनका जीतना। इन्द्रियोंको उन्मार्गी घोड़ोंकी उपमा दो है और बताया है कि जितेन्द्रिय मानव ही ज्ञान तथा वैराग्य रूपी दो रस्सियोंके द्वारा उन्मार्गगामी घोड़ोंको वश करता है। इसी सन्दर्भमें द्वादश अनुप्रेक्षाओं पञ्चनमस्कार मन्त्रका प्रभाव एवं जप, ध्यान आदिका फल बतलाया है। गुरुउपदेशपूर्वक ध्यान करनेवाला व्यक्ति सभी प्रकारकी सिद्धियोंको इस प्रकार प्राप्त कर लेता है। ध्यानके इच्छुक व्यक्तिके लिए, ध्यानके योग्य, देश, काल, आसन, अवस्था, प्रक्रिया और दूसरी साधनसामग्रीका भी समावेश किया है।

तदनन्तर निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंकी दृष्टिसे ध्यानके आगमानुसार दो भेद बतलाये हैं जिनमें निश्चयध्यान स्वरूपावलम्बनरूप और व्यवहारध्यान परावलम्बनरूप होता है। निश्चयनयाश्रित स्वरूपावलम्बी ध्यानको 'अभिन्न' ध्यान और व्यवहारनयाश्रित परावलम्बी ध्यानको 'भिन्न' ध्यान कहा है। भिन्नध्यानमें जिसका अभ्यास परिपक्व हो जाता है, वहो निराकुलतापूर्वक अभिन्नध्यानमें प्रवृत्त होता है।

अनन्तर इस ग्रन्थमें योगके आठ अंगोंमेंसे ध्येय अंगका विषय विशेष रूपसे प्रारम्भ होता है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय

इन चारोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। ध्येयके दूसरे चार प्रकार—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे बतलाये गये हैं। आत्मज्ञानी इन चारोंको अथवा इन चारोंमेंसे किसी एकको अपनी इच्छानुसार ध्यानका विषय बना सकता है। वाच्यके वाचकको नाम, प्रतिमाको स्थापना, गुणपर्यायवान्को द्रव्य और गुण तथा पर्याय दोनोंको भावध्येय बतलाया है। यहाँ ध्यान करनेके लिए कई मन्त्रोंका भी कथन आया है। स्थापनाध्येय, द्रव्यध्येय और भाव-ध्येयका निरूपण भी विस्तारपूर्वक किया गया है। द्रव्यके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये मूल छह भेद बतलाये हैं। इस ग्रन्थमें जीवके स्थानपर पुरुष शब्दका प्रयोग आया है।

भावध्येयका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि जिस समय ध्याता ध्यानके बलसे शरीरको शून्य बनाकर ध्येयस्वरूपमें आविष्ट हो जानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है उस समय उस प्रकारकी ध्यानसंवित्तिसे भेदविकल्पको नष्ट करता हुआ वही परमात्मा गरुड़ अथवा कामदेव हो जाता है। ध्येय और ध्याता दोनोंका जो यह एकीकरण है, उसीको समरसीभाव कहते हैं। जो ध्याता बाह्य पदार्थोंमें समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैषम्य, प्रशम और शान्त जैसे शब्दोंके द्वारा अपने माध्यस्थ्यभावको वृद्धिगत करता है, वह भी वास्तविक ध्येयको प्राप्त कर लेता है।

व्यवहारध्यान परावलम्बनरूप है। इसमें अर्हदादि पंचपरमेष्ठियोंके स्वरूपका ध्यान किये जानेका कथन आया है। स्वावलम्बी ध्यान इच्छुक 'स्व' और 'पर'को यथावस्थित रूपमें जानकर तथा श्रद्धानकर 'पर'को निरर्थक समझते हुए त्याग करता है और 'स्व'के जानने-देखनेमें प्रवृत होता है, वह संस्कारित आत्मामें तल्लीनताको प्राप्त होता है। श्रौती भावनाका वर्णन श्लोक १४७–१५९ तक किया गया है। इसमें 'स्व' और 'पर'की भिन्न प्रतीति का कथन आया है—

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम्।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः॥
अचेतनं भवन्नाऽहं नाऽहमप्यस्म्यचेतनम्।
ज्ञानात्माऽहं न मे कश्चिन्नाऽहमन्यस्य कस्यचित्[1]॥

अर्थात्—शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ; क्योंकि मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है, यह शरीर अनेकरूप है, मैं एकरूप हूँ, यह क्षयी—नाशवान् है, मैं अक्षय अविनाशी हूँ।

---

१. तत्त्वानुशासन, पद्य १४९–१५०।

अचेतन कभी आत्मा नहीं होता, न आत्मा कभी अचेतन। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी दूसरेका हूँ।

इस संसारमें मेरा शरीरके साथ जो स्व-स्वामी सम्बन्ध हुआ है—शरीर मेरा स्व और मैं उसका स्वामी बना हूँ तथा दोनोंमें जो एकत्वका भ्रम है, वह सब भी परके निमित्तसे है, स्वरूपसे नहीं।

इस प्रकार श्रौती भावनाका विश्लेषण किया गया है। अनन्तर मुक्तिके लिए नैरात्म्याद्वैतदर्शनकी उक्तिका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि अन्यके प्रतिभाससे रहितको आत्माका सम्यक् अवलोकन है, वही नैरात्म्याद्वैतदर्शन है। अन्यात्मरूपके अभावका नाम नैरात्म्य है और वह स्वात्माकी सत्ताको लिए हुए होता है। अतः एकमात्र स्वात्मके दर्शनका नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है। आत्माको अन्यसे संयुक्त देखना द्वैत है और विभक्त देखना अद्वैत है। इस नैरात्म्याद्वैतदर्शनको धर्म और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानोंका ध्येय कहा है। इस प्रकार विस्तारपूर्वक द्वैत, अद्वैत एवं आलम्बनरूप वस्तुका कथन आया है।

इसके पश्चात् ध्यान द्वारा कार्य-सिद्धिके व्यापक सिद्धान्तका कथन आया है। जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ है, उसके ध्यान-से व्याप्तचित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपने वांछित कार्यको सिद्ध करता है। इसके बाद वैसे देवतामय कुछ ध्यानों और उनके फलोंका निर्देश किया गया है, जिसमें पार्श्वनाथ, इन्द्र, गरुड, कामदेव, वैश्वानर, अमृत और क्षीरोदधिरूप ध्यानों तथा उनके फलोंका विशेषरूपसे उल्लेख आया है।

तदनन्तर ध्यानका अनुष्ठान करनेवालोंके लिए आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्रावण, निर्विषीकरण, शान्तिकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, निग्रह आदि दृष्टिगोचर होते हैं। ध्यानके परिवारका कथन करते हुए पूरण, कुम्भन, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मंत्र, मंडल, धारणा, कर्मके अधिष्ठातादेवोंका संस्थान-लिंग-आसन-प्रमाण-वाहन-वीर्य-जाति-नाम-ज्योति-दिशा-मुखसंख्या-नेत्रसंख्या-भुजसंख्या-क्रूरभाव शान्तभाव-वर्ण-स्पर्श-अवस्था, वस्त्र-आभूषण-आयुध आदि ध्यानके परिकर बतलाये गये हैं।

तत्पश्चात् लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी फलसिद्धियोंका कथन आया है। ध्यानकी सिद्धिका मुख्य हेतु गुरु उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमन बतलाये हैं। साथ ही यह निर्देश किया है कि लौकिक फल चाहनेवालोंके जो ध्यान होता है, वह या तो आर्त्तध्यान है अथवा रौद्र। मुमुक्षु इन दोनों ध्यानोंका त्यागकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी उपासना करते

हैं। इन्द्रियविषयोंके सुखको ग्राह्य मानना सर्वथा अनुचित है। आत्मिक और इन्द्रिय सुखकी तुलना करते हुए लिखा है—

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम्।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम्॥

—तत्त्वानुशासन २४६

इस प्रकार इस ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक ध्यानका वर्णन आया है।

आचार्य गणधरकीर्त्ति

आचार्य गणधरकीर्त्ति अध्यात्मविषयके विद्वान् हैं। ये दर्शन व्याकरण और साहित्यके पारंगत विद्वान् थे। गद्य और पद्य लिखनेकी क्षमता इनमें विद्यमान थी। अध्यात्मतरंगिणीके टीकाकारके रूपमें गणधरकीर्तिकी ख्याति है। ये गुजरात प्रदेशके निवासी थे। इन्होंने अपनी यह टीका सोमदेव नामके किसी व्यक्तिके अनुरोधसे रची है। गणधरकीर्तिने अध्यात्मतरंगिणी-टीकाकी प्रशस्तिमें अपनी गुरुपरम्परा निबद्ध की है। साथ ही गुजरातकी प्रशंसा भी की है—

स्फूर्जद्बोधगणेभवद्यतिपतिर्वाचंयमः संयमी,
जज्ञे जन्मवतां सुपोतममलं यो जन्मयादो विभोः।
जन्यो यो विजयी मनोजनृपतेर्जिष्णोर्जगज्जन्मिनाम्,
श्रीमत्सागरनंदिनामविदितः सिद्धान्तवार्धेर्विधुः॥

स्याद्वादसात्मकतपोवनिताललामो भव्यातिसस्यपरिवर्द्धननीरदाभः।
कामोरुभूरुहविकर्तनसंकुठारस्तस्माद्विलोभहननोऽजनि स्वर्णनन्दी॥

तस्माद् गौतममार्गगो गुणगणैर्गम्यो गुणिग्रामणी-
र्गीतार्थो गुरुसंगनागगरुडो गीर्वाणगीर्गोचरः।
गुप्तिग्रामसमग्रतापरिगतः प्रोग्रग्रहोद्गारको,
ग्रन्थग्रंथिविभेदको गुरुगमः श्रीपद्मनन्दी मुनिः॥
आचार्योचितचातुरीचयचितश्चारित्रचञ्चुः शुचि-
श्चार्वीसंचयचित्रचित्ररचनासंचेतनेनोच्चकैः।
चित्तानन्दचमत्कृतिप्रविचरन्प्रांचत्प्रचेतोमतां,
प्राभूच्चारुविचारणैकनिपुणः श्रीपुष्पदन्तस्ततः॥

समभवदिह चातश्चन्द्रवत्कायकान्तिस्तदनुविहितबोधो भव्यसत्कैरवाणाम्।
मुनिकुवलयचन्द्रः कौशिकानन्दकारी, निहिततिमिरराशिश्चारुचारित्ररोचिः[1]॥

---

१. अध्यात्मतरंगिणी टीका, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ८–१२।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि इनकी गुरु-परम्परामें सागरनन्दि, स्वर्णनन्दि, पद्मनन्दि, पुष्पदन्त, कुवलयचन्द्र और गणधरकीर्तिके नाम आये हैं।

आचार्य सोमदेवने अध्यात्मतरंगिणी ग्रन्थकी रचना की है। इसी ग्रन्थपर गणधरकीर्तिने टीका लिखी है। सोमदेवका समय वि० सं० १०१६ है। अतः यह टीका उसके बाद ही लिखी गयी होगी। टीका गुजरातके चालुक्यवंशी राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंहके राज्यकालमें समाप्त की गयी है। टीकाके लिखे जानेका समय भी अंकित है—

संवत्सरे शुभे योगे पुष्यनक्षत्रसंज्ञके।
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथ पंचम्यां रवौ दिने॥
सिद्धा सिद्धिप्रदा टीका गणभृत्कीर्तिविपश्चितः।
निस्त्रिंशतर्जितारातिविजयश्रीविराजनि।
जयसिंहदेवसौराज्ये सज्जनानन्ददायिनि॥[1]

अर्थात् वि० सं० ११८९ चैत्र शुक्ला पंचमी, रविवार पुष्य नक्षत्रमें इस टीकाकी रचना की गयी है।

रचना-परिचय

श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीने इसकी दो पाण्डुलिपियोंकी चर्चा की है। एक पाण्डुलिपि ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन झालरापाटनमें है। यह प्रति संवत् १५३३ आश्विन शुक्ला द्वितीयाके दिन 'हिसार' में लिखी गयी है। यह प्रति सुनामपुरके वासी खडेलवालवंशी संघाधिपति श्रावक कल्हूके चार पुत्रोंमेंसे प्रथम पुत्र धोराकी पत्नी धनश्रीके द्वारा अपने ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयार्थ लिखाकर तात्कालिक भट्टारक जिनचन्द्रके शिष्य पण्डित मेधावीको प्रदान की गयी है। दूसरी प्रति पाटनके श्वताम्बरी शास्त्रभण्डारमें है।

गणधरकीर्तिने अपनी इस टीकामें पद्यगत वाक्यों एवं शब्दोंके अर्थके साथ-साथ कहीं-कहीं उसके विषयको भी स्पष्ट किया है। विषय स्पष्टीकरणमें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, जिनसेन आदि आचार्योंके ग्रन्थोंका अनुसरण एवं उल्लेख किया गया है। विषय स्पष्टीकरणकी दृष्टिसे यह टीका महत्त्वपूर्ण है। टीकाका गद्य प्रौढ़, समस्यन्त और सानुप्रास है। भाषा और साहित्यकी दृष्टिसे भी टीका कम महत्त्वपूर्ण नही है। यथा—

"निखिलसुरासुरसेवावसरमायातसुरसम्बोधनावधारितधर्मावसरण[णं] अमरोरगनरेन्द्रश्रीकल्पानोकहारामोल्लासामृताम्भोधरायमाण[णं] महापरम-

१. अध्यात्मतरंगिणी टीका, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य १७–१९।

पंचकल्याणकोकनदकाननोत्पत्तिसार[रं]भवाम्भोधिसमुत्तरणैकसेतुबन्धं सम्यक्त्व-रत्नं गीर्व्वाणगणा[न]नुग्राह्यता, अष्टादशसागरोपमकोटीकोटीं वा यावन्नष्टत्वा-द्दयादमत्यागादिस्वभावस्य धर्मस्य भरते धर्मकर्माणि प्रवर्तयन् [तु] भगवानिति जाताकूतपरिपाकेन समाधि[वि]र्भविष्यदासन्नमृत्युं वैराग्य-योग्या [गा] यनीलंयसां प्रहितां गीर्व्वाणेश्वरेण, तां च शृङ्गारादिरसाभिनयदक्षां हाव-भावविभ्रमविलासवतीं शान्तरसानन्तरसेव नश्वरस्वभावां विभात्यात्मनोऽ-नश्वरस्वभावतां चिकीर्षुरादिदेव इत्थं योगमुद्रामुन्मुद्रितवानित्याह[1] ।"

आचार्य भट्टवोसरि

आचार्य भट्टवोसरि ज्योतिष और निमित्तशास्त्रके आचार्य हैं । ये दिगम्बरा-चार्य दामनन्दिके शिष्य थे । इन्होंने स्वयं लिखा है—

जं दामनंदिगुरुणोऽमणयं आयाण जाणि (यं) गुज्झं ।
तं आयणाणतिलए वोसरिणा भन्नए पयडं[2] ॥

"श्रीमद्दामनन्दिगुरुसकाशात् यत् मया वोसरिणो आया-आयानां मनाक् गुह्यं परिज्ञातमस्ति तदेतस्मिन् स्वयं विरच्यमानायज्ञानतिलकाभिधानशास्त्रे नतनतं दुस्तरसंसारसागरोत्तीर्णं सर्वज्ञं वीरजिनं सिद्धं संघं पुलिंदिनीं च नत्वा प्रकटं भव्यत इति समुदायार्थः[3] ।"

स्पष्ट है कि भट्टवोसरिने गुरु दामनन्दिके पाससे आयोंका रहस्य प्राप्तकर आय-विषयक सम्पूर्ण शास्त्रोंके साररूपमें यह ग्रन्थ लिखा है । इस ग्रन्थपर स्वयं ग्रन्थकारकी रची हुई संस्कृतटीका भी है । टीका अथवा मूलग्रन्थमें रचयिताने रचनासमयका निर्देश नहीं किया है । ग्रन्थके सन्धि-वाक्योंमें निम्न प्रकार पुष्पिका प्राप्त होती है—

'इति दिगम्बराचार्य-पंडितश्रीदामनन्दि - शिष्यभट्टवोसरिविरचिते साय-श्रीटीकायज्ञानतिलके आयस्वरूपप्रकरणं प्रथमम्[4] ।'

प्रत्येक सन्धि-वाक्यके पूर्व एक संस्कृत-पद्य आता है । इन पद्योंमें भट्टवोसरि-का जीवनपरिचय प्राप्त होता है । प्रथम सन्धिका पद्य निम्न प्रकार है—

प्राच्योदीच्यकुले द्विजोच्युत इति ख्यातस्तस्य यः
श्रीनारायणसञ्ज्ञयाभवदतः सूनुः कुलीनाग्रणीः ।

---

१. अध्या० तरंगि०, अन्तिम प्रशस्ति, गद्यभाग ।
२. आयज्ञानतिलक, पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरा, गाथा २ ।
३. वही, द्वितीय गाथाकी टीका ।
४. वही, प्रथम संधि ।

विद्वान् दुर्लभराज इत्यभिहितस्तस्यात्मजो वोसरिः
स्वे शास्त्रे रचनां चकार रुचिरानायस्वरूपस्थितिम् ॥[1]

इस पद्यसे ज्ञात होता है कि प्राच्य-उदीच्य-ब्राह्मण वंशमें नारायण नामक व्यक्ति हुआ। इनका पुत्र दुर्लभराज और दुर्लभराजका पुत्र भट्टवोसरि हुआ। भट्टवोसरिके भाईका नाम 'कोक' बताया गया है। पञ्चम प्रकरणके अन्तिम पद्यसे कोककी सूचना प्राप्त होती है—

यत्तत्कालसमागतस्य जनयत्युल्लाभमात्रादपि
प्रष्टुर्नव्यवचोविकारपटुभिस्तत्त्वोपदेशैर्द्धृतिम्।
तत्संवत्सरमोहजालपटलप्रध्वंसदिव्यौषधं
कार्यं ज्ञानमिदं चकार रुचिरं कोकानुजो वोसरि[2] ॥

भट्टवोसरिने आयज्ञानग्रन्थके पातप्रकरणमें 'अणहिलपाटलपुर'का निर्देश किया है। इस पद्यसे यह भी ज्ञात होता है कि सुग्रीव आदि आचार्योंने जिस महाशास्त्रकी रचना की थी, उसका अध्ययन आचार्य दामनन्दिने किया और दामनन्दिसे समस्त विषयका परिज्ञान भट्टवोसरिने प्राप्त किया। पद्य निम्न प्रकार है—

सुग्रीवादिमुनीन्द्रगुम्फितमहाशास्त्रेषु यज्जल्पितं
साम्नायं गुरुदामनन्दिवचसा विज्ञाय सर्वं पुनः ॥
संक्षेपादणहिल्लपाटलपुरि प्रज्ञापदं ज्ञानिनं
पातसमाश्रयं तदधृता चक्रे स्फुटं वोसरि[3] ॥

अन्तिम सन्धि-वाक्यके पूर्व भी एक प्रशस्तिपद्य आया है, पर पद्य अशुद्ध है। इस पद्यसे भट्ट वोसरिका दिगम्बराचार्यत्व सिद्ध होता है। पद्यमें बताया है कि महादेव नामके विद्वान्से अल्प विषयको जानकर सुप्रणयिनीके रूपमें शाब्दी कलाको प्राप्तकर कोकके भाई वोसरि सुधीने यह शास्त्र रचा, जो कि स्फुरायमान वर्णोंवाली आयश्रीके सौभाग्यको प्राप्त है। अथवा उस आयश्रीसे सुशोभित है। यही कारण है कि आयज्ञानकी स्वोपज्ञ टीकाका नाम आयश्री है। पद्य निम्न प्रकार है—

महादेवान्मांत्री प्रमितविषयं रागविमुखो
विदित्वा श्रीकोत्कविसमयशा सुप्रणयनीं ॥

---

१. प्रथम प्रकरणका अन्तिम पद्य, आयज्ञानतिलक।

२. वही, पंचम प्रकरण।

३. वही, द्वितीय प्रकरण।

कलां दद्ध्याच्छाब्दीं विरचयदिदं शास्त्रमनुजः
स्फुरद्वर्णायश्रीमुभगमधुना वोसरिसुधीः[1] ॥

संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि वोसरिके पिताका नाम दुर्लभराज, दादाका नाम नारायण और बड़े भाईका नाम कोक था। यह प्राच्य-उदीच्य ब्राह्मण थे। जैनगुरुओंके प्रभावसे ये जैन धर्ममें दीक्षित हुए। दिगम्बराचार्य दामनन्दि इनके गुरु थे। ये मन्त्री, मन्त्रवादी, सुधी और रागविमुख—विरक्त दिगम्बराचार्य थे।

श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने बताया है कि दामनन्दिके शिष्य भट्टवोसरि वही हैं, जिनका श्रवणबेलगोलके अभिलेख ५५ में उल्लेख है। इन्होंने महावादी विष्णुभट्टको पराजित किया था। ये दामनन्दि-अभिलेखानुसार प्रभाचन्द्राचार्यके सधर्मा थे, जिनके चरण धाराधिपति भोजराजके द्वारा पूजित थे और जिन्हें महाप्रभावक उन गोपनन्दि आचार्यका सधर्मा लिखा है, जिन्होंने कुवादि दैत्य धूर्जटीको वादमें पराजित किया था।

श्री मुख्तार साहबका अनुमान है[2] कि धूर्जटी और महादेव दोनों पर्याय-वाची शब्द हैं। आश्चर्य नहीं कि जिन महादेवका उक्त प्रशस्तिपद्यमें उल्लेख है, वे ये ही धूर्जटी हों और इनकी तथा विष्णुभट्टकी घोर पराजयको देखकर ही भट्टवोसरि जैनधर्ममें दीक्षित हुए हों और इसीसे उन्होंने महादेवसे प्राप्त ज्ञानको 'प्रमित-विषय' विशेषण दिया हो और दामनन्दिसे प्राप्त ज्ञानको 'अमनाक्' विशेषणसे विभूषित किया हो।

इस प्रकार प्रभाचन्द्रका सधर्मा होनेसे भट्ट वोसरिका समय भी भोजराजके समकालीन माना जा सकता है। दामनन्दि तो भोजराजके समकालीन हैं ही, अतः उनके शिष्यका समय भी ई० सन्की ११वीं शताब्दीका उत्तरार्ध होना चाहिए। ग्रन्थके अन्तरंग परीक्षणसे भी यही सिद्ध होता है। आयज्ञानका प्रचार १३ वीं शती तक ही प्राप्त होता है। इसके पश्चात् प्रश्नशास्त्रमें आय वाली कल्पना लुप्तप्राय दिखलाई पड़ती है। ग्रह-योग प्रकरणमें जिन योगोंकी चर्चा की गयी है उन योगोंकी स्थिति दशम शताब्दीके उत्तरार्ध या ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धकी है। भाषाशैली और विषय इन दोनों ही दृष्टियोंसे आय-ज्ञानतिलक ११ वीं शताब्दीके बादकी रचना प्रतीत नहीं होती।

रचना-परिचय

इस ग्रन्थमें कुल ४१५ गाथाएँ और २५ प्रकरण हैं। प्रश्नशास्त्रकी दृष्टिसे

---

१. आयज्ञा०, २५वें प्रकरणका अन्तिम पद्य।

२. पुरातन जैनवाक्य सूची, वीर सेवा मन्दिर संस्करण, सन् १९५०, पृ० १०३।

यह महत्त्वपूर्ण है। इसमें ध्वज, धूम, सिंह, गज, खर, श्वान, वृष और ध्वांक्ष इन आठ आयों द्वारा प्रश्नोंके फलका सुन्दर वर्णन किया है। इन्होंने आठ आयों द्वारा स्थिर चक्र और चल-चक्रादिककी रचना कर विविध प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं। ग्रन्थप्रकरण निम्न प्रकार हैं—

१. आयस्वरूप—आठ आयोंके स्वरूप, गुण और आकृतियोंका विश्लेषण ४७ गाथाओंमें किया है।

२. पातविभाग—रुद्ध, रुद्ध-विमुक्त, रुद्ध-गृहीत-विमुक्त, संस्थान, अनुकूल, प्रतिकूल, चलित, सरित, अभिमुख, पूर्वमुख, अन्तरित आदि १६ पातोंका कथनकर उनके आयरूप अक्षरोंका विवेचन किया है। इसमें ३४ गाथाएँ हैं।

३. आयावस्था—१९ गाथाओंमें मित्र, शुभ, अशुभ, रिपु आदि सम्बन्धों द्वारा आयोंकी अवस्थाओंका कथन किया गया है।

४. ग्रह-योग—इस प्रकरणमें २८ गाथाएँ हैं। ग्रहोंके मूलतः दो भेद किये हैं—१. सौम्य और २. पाप। इन दोनों ही प्रकारके ग्रहोंके आयवर्ण एवं शुभाशुभ फलोंका निर्देश किया है।

५. पृच्छाकार्यज्ञान—१६ गाथाओंमें पृच्छककी चर्या, चेष्टा, दृष्टि एवं वार्त्तालाप आदिके द्वारा आयोंका आनयन।

६. शुभाशुभ—इसमें १७ गाथाएँ हैं। इनमें आयों द्वारा आये हुए शुभाशुभ वर्णोंपरसे फलादेश बतलाया गया है।

७. लाभालाभ—इस प्रकरणमें १० गाथाएँ हैं। इनमें पृच्छकके प्रश्नानुसार आयोंका निर्धारण कर लाभालाभ फलादेशका वर्णन किया है।

८. रोग-निर्देश—इसमें २१ गाथाएँ हैं। रोगके सम्बन्धमें किये गये प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं। सर्वप्रथम रोगकी साध्यासाध्यतापर विचार किया गया है। पश्चात् कितने समय तक रोग रहेगा, इसपर भी विचार किया गया है।

९. कन्या-परीक्षण—इस प्रकरणमें ११ गाथाएँ हैं। श्रावकधर्मके परिपालन हेतु विवाह आदि क्रियाएँ आवश्यक हैं। अतएव कन्याकी परीक्षाका वर्णन इन गाथाओंमें आया है। किस प्रकारके प्रश्नमें भार्या बननेवाली कन्या सुशील होगी, यह प्रश्नशास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया है।

१०. भू-लक्षण—इस प्रकरणमें २५ गाथाएँ हैं। प्रश्नानुसार किस प्रकारकी भूमि कुल, गोत्र, धन इत्यादि करनेवाली होगी और किस प्रकारकी भूमि हानि करनेवाली होगी, इसका विवेचन किया है।

११. परिज्ञान—९ गाथाओंमें प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नाक्षरों द्वारा गर्भसम्बन्धी गुह्य प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है।

१२. विवाह—इस प्रकरणमें केवल पाँच गाथाएँ हैं। इनमें विवाहसम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं।

१३. गमनागमन—इस प्रकरणमें ९ गाथाएँ हैं। विदेश या दूर देश गये हुए व्यक्तिके लौट कर आनेके समयका विचार किया गया है।

१४. परिचित ज्ञान—५ गाथाओंमें कौन व्यक्ति किस समय मित्र या शत्रुका रूप प्राप्त करेगा तथा किस परिचितसे लाभालाभ होगा—इसका विचार किया गया है।

१५. जय-पराजय—१३ गाथाओंके जय-पराजयका विचार किया गया है। किस समय आक्रमण करनेसे विजय लाभ होगा और किस समय आक्रमण करनेपर पराजय होगी आदि बातोंका प्रश्नाक्षरों द्वारा विचार किया गया है।

१६. वर्षा-लक्षणमें २८ गाथाएँ हैं। वर्षाकालमें आकर पृच्छकके वर्षा सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है। बताया है कि मनुष्योंको सुख, बुद्धि और ऐश्वर्यकी प्राप्ति अन्न द्वारा होती है और अन्नका हेतु वर्षा है। अतएव वर्षा सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकरणमें दिया गया है।

१७. अर्घ-काण्ड—इस प्रकरणमें २१ गाथाएँ हैं और तेजी-मन्दीका विचार गया है।

१८. नष्ट-परिज्ञान—इस प्रकरणमें ३१ गाथाएँ हैं और नष्ट हुई, चोरी गयी वस्तुका प्रश्नाक्षरों द्वारा विचार किया गया है।

१९. तपोनिर्वाह-परिज्ञान—इस प्रकरणमें ७ गाथाएँ हैं। संसारसे विरक्त होनेवाला व्यक्ति अपनी दीक्षाका निर्वाह कर सकेगा या नहीं आदि प्रश्नोंका विचार किया गया है।

२०. जीवित मान—इस प्रकरणमें ७ गाथाएँ हैं। ग्रहदशावश आयुका परिज्ञान प्राप्त करनेकी विधिका वर्णन है।

२१. नामाक्षरोद्देश—इस प्रकरणमें ११ गाथाएँ हैं। आरम्भमें बताया है कि जैसे दानके बिना धन, चन्द्रके बिना रात्रि शोभित नहीं होती उसी प्रकार नामके बिना विद्यमान वस्तु भी शोभित नहीं होती। अतः प्रश्नाक्षरविधि द्वारा वस्तु और व्यक्तिके नामका वर्णन किया है।

२२. प्रश्नाक्षरसंख्या—इस प्रकरणमें ११ गाथाएँ हैं। प्रश्नाक्षरगणना द्वारा शुभाशुभ फलका विवेचन किया है।

२३. संकीर्ण—इस प्रकरणमें १६ गाथाएं हैं और विविध प्रकारके प्रश्नोंके उत्तर निकालनेकी विधि वर्णित है।

२४. काल—सात गाथाओंमें नाना प्रकारके किये गये प्रश्नोंके फल कब प्राप्त होंगे—इसका विचार किया है।

२५. चक्रपूजा—इसमें पांच गाथाएं हैं और अन्तमें १२ पद्योंमें एक स्तुति अंकित की गयी है। अन्तमें १२ मन्त्र भी निबद्ध हैं।

इस प्रकार प्रश्नाक्षरों द्वारा फलादेश विधिका निरूपण किया है। प्रश्न-कर्त्ताकी शारीरिक शुद्धिके साथ मान्त्रिक शुद्धि भी अपेक्षित है। आचार्य तन-मनकी शुद्धिका वर्णनकर अन्तमें मान्त्रिक शुद्धिका विधान किया है। प्रश्न-शास्त्रकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

उग्रादित्याचार्य

आयुर्वेदके विशेषज्ञ विद्वान् उग्रादित्याचार्यने अपना विशेष परिचय नहीं लिखा है। इन्होंने अपने गुरुका नाम श्रीनन्दि, ग्रन्थनिर्माणस्थान रामगिरि पर्वत बताया है। रामगिरि पर्वत बेंगीमें स्थित था। बेंगी त्रिकलिंग देशमें प्रधान स्थान है। गंगासे कटक तकके स्थानको उत्कल देश कहा गया है। यही उत्तर कलिंग है। कटकसे महेन्द्रगिरि तकके पर्वतीय स्थानका नाम मध्य कलिंग है। महेन्द्रगिरिसे गोदावरी तकके स्थानको दक्षिण कलिंग कहते हैं। इन तीनों का सम्मिलित नाम त्रिकलिंग है। इस त्रिकलिंगके बेंगीमें सुन्दर रामगिरि पर्वतके जिनालयमें स्थित होकर उग्रादित्यने इस ग्रन्थकी रचना की है।

वेङ्गीशत्रिकलिङ्गदेशजननप्रस्तुत्य सानूत्कटः
प्रोद्यद्वृक्षलतावितानिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः।
सर्वैर्मन्दिरकन्दरोपमगुहाचैत्यालयालङ्कृते
रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम्॥[1]

यह रामगिरि पर्वत सम्भवतः वही है जिसका पद्मपुराणमें निर्देश आया है। हिन्दी विश्वकोषके सम्पादकने लिखा है—त्रिकलिंग जनपद मन्द्राजके उत्तर पलिकट नामक स्थानसे लेकर उत्तर गंजाम और पश्चिममें त्रिपति बेल्लारी कर्नूल, बिदर तथा चन्दा तक विस्तृत है। श्री नन्दलाल डेने अपने 'The geographical Dictonary of Ancient and Madievel India' नामक कोषमें मध्यभारतको त्रिकलिंग माना है और नागपुरसे २४ मील उत्तर

१. कल्याणकारक, अंतिम प्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, आराके पृ० ५३से उद्धृत।

विद्यमान रामटेकको रामगिरि माना गया। श्री पं० के० भुजबली शास्त्रीने भी नागपुरके निकटवर्ती रामटेकको ही रामगिरि बताया है और यहीं पर उग्रादित्याचार्य द्वारा कल्याणकारककी रचना हुई होगी।

उग्रादित्याचार्यने अपने गुरुका नाम श्रीनन्दि बताया है। श्रीनन्दि नामके कई आचार्य हुए हैं। प्रायश्चित्तचूलिका एवं योगसारके कर्त्ता गुरुदासके गुरुका नाम श्रीनन्दि बताया गया है। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें एक श्रीनन्दिका नाम आया है। इसमें इनका समय वि० संवत् ७४९ बताया गया है और इन्हें उज्जैनका पट्टाधीश बताया गया है। श्रीचन्द्रके गुरु भी श्रीनन्दि बताये गये हैं। आचार्य वसुनन्दिने भी अपने श्रावकाचारमें एक श्रीनन्दिका उल्लेख किया है जो इनके प्रगुरु थे। हमारा अनुमान है कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें उल्लिखित श्रीनन्दि ही उग्रादित्याचार्यके गुरु हैं।

स्थिति-काल

उग्रादित्यने अपने इस ग्रन्थमें पूज्यपाद, समन्तभद्र, पात्रस्वामी, सिद्धसेन, दशरथगुरु, मेघनाद, और सिंहसेनका उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त श्रुतकीर्ति, कुमारसेन, वीरसेन और जटाचार्यके उल्लेख भी आये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उग्रादित्याचार्य इन आचार्योंसे उत्तरवर्ती हैं। ग्रन्थकारने लिखा है—

"इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यैर्नृपतुंगवल्लभेन्द्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम्"

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि औषधिमें मांसकी निरुपयोगिताको सिद्ध करनेके लिए स्वयं आचार्यने श्रीनृपतुंगवल्लभेन्द्रकी सभामें इस प्रकरणका प्रतिपादन किया। ग्रंथके अन्तमें एक दिये हुए पद्यसे भी यह अवगत होता है कि नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथमकी राजसभामें औषधिमें मांस सेवनका निराकरण करनेके लिए इस ग्रन्थकी रचना सम्पन्न की गयी है।

> ख्यातः श्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितः
> प्रोद्यद्भूरिसभान्तरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने।
> मांसाशिप्रकरेंद्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो
> मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेंद्रवैद्यस्थितम्[1]॥

अर्थात् प्रसिद्ध नृपतुंगवल्लभ महाराजाधिराजकी सभामें जहाँ अनेक प्रकारके उद्भट विद्वान् थे एवं मांसाशनकी प्रधानताको पोषण करनेवाले बहुतसे आयुर्वेदके विद्वान् थे। उनके समक्ष मांसकी निष्फलताको सिद्ध करके इस

१. कल्याणकारक, हिताहित अध्याय, अन्तिम प्रशस्ति।

जैनेन्द्र वैद्यने विजय प्राप्त की। अमोघवर्ष प्रथमको नृपतुंग, वल्लभ और महाराजाधिराज उपाधियाँ प्राप्त थीं। इतिहासकारोंके मतसे अमोघवर्षके राज्यारोहणका समय शक संवत् ७३६ (वि० सं० ८७१) है। गुणभद्रसूरिकृत उत्तर-पुराणसे भी ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेनका शिष्य था।

> यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्
> पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
> संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
> स श्रीमान्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम्॥[1]

श्रीजिनसेनस्वामीके देदोप्यमान नखोंके किरणसमूह धाराके समान फैलते थे और उसके बीच उनके चरण, कमलके समान जान पड़ते थे। उनके चरण-कमलोंकी रजसे जब राजा अमोघवर्षके मुकुटमें लगे हुए नवोन रत्नोंकी कान्ति पीली पड़ जाती थी तब वह अपने आपको ऐसा स्मरण करता था कि मैं आज अत्यन्त पवित्र हुआ हूँ। स्पष्ट है कि अमोघवर्षका समय जिनसेनका कार्यकाल हैं। प्रो० सालेतोरने लिखा है—

"The next prominent Rastrakuta ruler who extended his patronage to Jainism was Amoghavarsa I, Nripatunga, Atishaya-dhawala (A. D. 815-877). From Gunabhadra's Uttarpurana (A. D. 898), we know that king Amoghavarsa I, was the disciple of Jinasena, the author of the Sankrit work Adipurana (A. D. 783) The Jaina leaning of king Amoghavarsa is further corroborated by Mahabiracharya, the author of the Jain Mathmatical work Ganita-sarasangraha, who relates that, that monarch was a follower of the Syadwad Doctrine.[2]"

इस उद्धरणसे भी स्पष्ट है कि अमोघवर्ष भगवत् जिनसेनाचार्यके शिष्य थे। अमोघवर्ष स्याद्वादमतका अनुयायी था—इस बातका समर्थन गणितसारसंग्रहके कर्त्ता महावीरचार्यके कथनसे भी होता है। इसी अमोघवर्षके शासनकालमें सिद्धान्तग्रन्थकी जयधवलाटीका वि० सं० ८९४ में समाप्त हुई।

जिनसेनने अपने पार्श्वाभ्युदयमें भी अमोघवर्षको परमेश्वरकी उपाधिसे

---

१. उत्तरपुराण, प्रशस्ति श्लोक ९।

२. Mediaeval Jainism, Page 38।

विभूषित बतलाया है। पच्चीसवें कल्पाधिकारके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है उसमें श्रीविष्णुराजका उल्लेख आया है—

श्रीविष्णुराजपरमेश्वरमौलिमाला—
संलालितांघ्रियुगलः सकलागमज्ञः ॥
आलापनीयगुणसोन्नतसन्मुनीन्द्रः ।
श्रीनंदिनंदितगुरुगुर्वर्जितोऽहम्[1] ॥

महाराज विष्णुराजके मुकुटकी मालासे जिनके चरणयुगल शोभित हैं, जो सम्पूर्ण आगमके ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणोंके धारी, यशस्वी, श्रेष्ठ मुनियोंके स्वामी हैं—ऐसे श्रीनन्दिनामके प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। ये आचार्य ही उग्रादित्यके गुरु हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि विष्णुराज परमेश्वर कौन है ? श्री पं० के० भुजबली शास्त्रीने[2] इन्हें कलचुरी राजवंशका अनुमानित किया है। पर यह अनुमान भ्रान्त है। डा० ज्योतिप्रसाद जैनने उक्त विष्णुराजको वेंगिका पूर्वी चालुक्यनरेश विष्णुवर्धन चतुर्थ सिद्ध किया है और उसी राजाके राज्यके अन्तर्गत रामतीर्थ पर्वतको उग्रादित्यका रामगिरि सूचित किया है।[3]

हमारी दृष्टिसे यह विष्णुराज अमोघवर्षके पिता गोविन्दराज तृतीयका ही अपर नाम है। जिनसेनने पार्श्वाभ्युदयमें अमोघवर्षकी परमेश्वर उपाधि बतलायी है। बहुत सम्भव है कि यह उपाधि राष्ट्रकूटोंको पितृ-परम्परागत हो। कतिपय ऐतिहासिक विद्वान् विष्णुराजको चालुक्यराजा विष्णुवर्धन मानते हैं, पर इससे उग्रादित्याचार्यके समय-निर्णयमें कोई बाधा नहीं आती। सम्भव है कि उस समय इस नामका कोई चालुक्य राजा भी रहा हो। पुरातत्त्ववेत्ता नरसिंहाचार्यने भी यह तथ्य स्वीकार किया है कि कल्याणकारककी रचना उग्रादित्यने अमोघवर्ष प्रथमके शासनकालमें की है। लिखा है—

Another manuscript of some interest is the medical work kalyanakaraka of Ugraditya, a Jaina author, who was a contemporary of the Rastrakuta king Amoghavrsa—I and of the Eastern chalukya king kali Vishnuvardhana V. The work opens with the statement that thc science of medicine is divided into two parts,

---

१. कल्याणकारक, परिच्छेद २५, पद्य ५१ ।

२. प्रशस्तिसंग्रह, आरा, पृष्ठ ९४ ।

1. Jaina Sources of the History of Ancient India pp. 204-206.

namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in Sanskrit prose on the uselessness of a flesh died, said to have been delivered by the author at the court of Amoghavarsha, where many learned men and doctors had assembled.[1]

अर्थात् अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंसे परिपूर्ण आयुर्वेदका कल्याणकारक नामक ग्रन्थ उग्रादित्याचार्य द्वारा विरचित मिलता है। ये जैनाचार्य राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम एवं चालुक्य राजा कलिविष्णुवर्धन पंचमके समकालीन थे। ग्रन्थका आरम्भ आयुर्वेद तत्त्वके प्रतिपादनसे हुआ है, जिसके दो विभाग किये गये हैं—(१) रोगरोधन और (२) चिकित्सा। अन्तिम एक गद्यखण्डमें उस विस्तृत भाषणको अंकित किया है, जिसमें मांसकी निष्फलता सिद्ध की गयी है और जिसे अनेक विद्वान् और वैद्योंकी उपस्थितिमें नृपतुंगकी सभामें उग्रादित्याचार्यने दिया था।

उग्रादित्याचार्यके गुरुका नाम श्रीनन्दि है। इन श्रीनन्दिका समय वि० सं० ७४९ है। यदि इसको शक संवत् मान लिया जाय तो उग्रादित्य आचार्य नन्दि संघके आचार्य सिद्ध होते हैं।

रचना-परिचय

उग्रादित्याचार्यका कल्याणकारक नामक एक बृहद्काय ग्रन्थ प्राप्त है। इस ग्रन्थमें २५ परिच्छेदोंके अतिरिक्त अन्तमें परिशिष्ट रूपमें अरिष्टाध्याय और हिताध्याय ये दो अध्याय भी आये हैं। ग्रन्थकर्त्ताने प्रत्येक परिच्छेदके आरम्भमें जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार किया है। ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा, उद्देश्य आदिका वर्णन किया गया है। २५ परिच्छेदोंके विषय-क्रम निम्न प्रकार हैं—

(१) स्वास्थ्य-संरक्षणाधिकार—इसमें ४९ पद्य हैं। वैद्यशास्त्रके संक्षिप्त विषय-वर्णनके पश्चात् शकुन, निमित्त और सामुद्रिक शास्त्र द्वारा आयु एवं स्वास्थ्यकी परीक्षा की गयी है।

(२) गर्भोत्पत्ति-लक्षण—इस परिच्छेदमें ६० पद्य हैं। गर्भसंरक्षणकी विधि गर्भाधानक्रम, गर्भ-पोषण और गर्भमें शरीर-वृद्धि होनेके क्रमका कथन किया गया है।

(३) सूत्रव्यावर्णन—इस परिच्छेदमें ६९ पद्य हैं। इनमें अस्थि, सन्धि,

1. Mysore Archaeological Report 1922. Page 22.

धमनी, मांसरज्जु, मर्मस्थान, दन्त, वात, मूत्र, मल, औषध, स्थूल शरीर, क्षीण-शरीर, मध्यम शरीर, वात-पित-कफ आदिका वर्णन आया है।

(४) धान्यादि-गुणाधिकार—इस परिच्छेदमें ४८ पद्यों द्वारा समय-वर्णनके पश्चात् विशेष-विशेष ऋतुओंमें संचित होने वाले दोषों और भोजनमें प्रयुक्त होनेवाले विशेष धान्योंका गुण-वर्णन किया गया है।

(५) अन्नपानविधि-वर्णनाधिकार—इस अधिकारमें ४५ पद्य हैं। जल, यवागू, मण्ड, मुद्गयूष, दुग्ध, दधि, तक्र, नवनीत, घृत, तैल आदिके गुणधर्मोंके वर्णनके पश्चात् विभिन्न पशुओंके मूत्रोंका गुणधर्म बताया गया है।

(६) रसायनविधि—इस परिच्छेदमें ४५ पद्य हैं। उद्वर्तन, स्नान, ताम्बूल-भक्षण, पादाभ्यंग, ब्रह्मचर्य, निद्रा, गोधूमचूर्ण, त्रिफला, यष्टिचूर्ण, विडंग-सार, नागबल, बाकुचीरसायन, वज्रादिरसायन, चन्द्रामृतरसायन आदिका निरूपण किया है।

(७) व्याधिसमुद्देश—इस परिच्छेदमें ६३ पद्य हैं। रोगोंकी उत्पत्तिके हेतुका वर्णन करनेके अनन्तर रोगीकी शय्या, शयन-विधि, दिनचर्या, चिकित्सा, औषधके गुण आदिका कथन आया है।

(८) वातरोगाधिकार—इस परिच्छेदमें ७३ पद्य हैं और विविध प्रकारके वात रोगोंका वर्णन किया गया है।

(९) पित्तरोगाधिकार—१०३ पद्योंमें विभिन्न प्रकारकी पित्तव्याधियों और उनके शमनके उपाय बतलाये गये हैं।

(१०) कफरोगाधिकार—इस परिच्छेदमें २८ पद्य हैं। इसमें विविध प्रकारके कफरोगों और उनकी चिकित्साका वर्णन आया है।

(११) महामायाधिकार—इस परिच्छेदमें १८० पद्य हैं और विभिन्न प्रकारकी कुष्ठादि महाव्याधियोंका कथन आया है।

(१२) द्वादशम परिच्छेदमें १३६ पद्य हैं और इसमें भी वात-पित्त जन्य महा-व्याधियोंका स्वरूप और उनकी चिकित्सा बतलायी गयी है।

(१३-१४-१५-१६-१७)—इन पाँच परिच्छेदोंमें क्षुद्र रोगोंका वर्णन आया है। त्रयोदशम परिच्छेदमें ९१ पद्य हैं और इसमें भगन्दर और उपदंश जैसी व्याधियोंकी चिकित्सा वर्णित है। चतुर्दश परिच्छेदके ९१ पद्योंमें शोथ, श्लीपद वल्मीक-पाद, गलगण्ड, नाड़ी-व्रण, प्रभृति रोगोंकी चिकित्सा बतलायी गयी है। पञ्चदश परिच्छेदमें २९२ पद्य हैं। इनमें तालुरोग, जिह्वारोग, दन्तरोग, नेत्ररोग, शिरोरोग आदिकी चिकित्सा बतलायी गयी है। षोडश अधिकारमें १०१ पद्य है। इनमें स्वांस, महास्वांस; तृष्णारोग, छर्दि रीग, मूत्रावरोध आदि

अनेक रोगोंकी चिकित्सा प्रतिपादित है। सप्तदश अधिकारमें १२० पद्य हैं और इनमें त्रिदोषोत्पन्न लघुव्याधियोंकी चिकित्सा बतलायी गयी है।

(१८) बालग्रहभूत तन्त्राधिकार—इस परिच्छेदमें १३७ पद्य हैं और विभिन्न बालरोगोंकी चिकित्सा वर्णित है।

(१९) विषरोगाधिकार—इस अधिकारमें विभिन्न प्रकारके विषोंकी चिकित्सा वर्णित है।

(२०) शास्त्रसंग्रहाधिकार—९४ पद्योंमें धातुओं एवं विभिन्न प्रकारके शरीरस्थ रोगोंकी चिकित्सा बताई गयी हैं।

(२१) कर्मचिकित्साधिकार—इस परिच्छेदमें ६६ पद्य हैं और वमन-विरेचनादि चिकित्साविधियोंका वर्णन है।

(२२) भैषज्यकर्मोपद्रवचिकित्साधिकार—इस परिच्छेदमें १७२ पद्य हैं। वमन, विरेचन, परिस्राव, बस्ति आदि विधियोंका वर्णन है।

(२३) सर्वौषधकर्मव्यापच्चिकित्साधिकार—इसमें १०९ पद्य हैं। विभिन्न प्रकारकी वमन-विरेचन विधियोंका वर्णन आया है।

(२४) रसरसायनसिद्धयधिकार—इस परिच्छेदमें ५६ पद्य हैं। रसकी महत्ता रसके भेद, रस-शुद्धि तथा पारदसिद्ध रस आदिका वर्णन आया है।

(२५) कल्पाधिकारमें ५७ पद्य हैं। हरीतिकी, त्रिफला, शिलाजतु, पायस, भल्लातपाषाणकल्प, मृत्तिकाकल्प, एरण्डकल्प, क्षारकल्प आदि कल्पोंका प्रतिपादन किया।

परिशिष्ट रूपमें रिष्टाधिकारमें अरिष्टोंका वर्णन और हिताहिताधिकारमें पथ्यापथ्यका निरूपण आया है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य भावसेन त्रैविद्य

आन्ध्रप्रदेशके अनन्तपुर जिलेमें अमरापुरम् ग्रामके निकट एक समाधिलेखमें निम्नलिखित पद्य अंकित है—

श्रीमूलसंघसेनगणदवादिगिरिवज्रदंडमप्प
भावसेनत्रैविद्यचक्रवर्तिय निषिधः॥

कातन्त्ररूपमालावृत्तिके रचयिता भी भावसेन त्रैविद्य हैं। इस ग्रन्थके अन्तमें आयी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि ये मूलसंघ सेनगणके आचार्य थे। सेनगणकी पट्टावलीमें भी इनका उल्लेख आया है—

परमशब्दब्रह्मस्वरूपत्रिविद्याधिपपरवादिपर्वतवज्रदंडश्रीभावसेनभट्टारकाणाम्[1] ॥

पट्टावलिमें आये हुए वादि, पर्वत, वज्र और शब्दब्रह्मस्वरूप इन विशेषणोंसे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उल्लेख भावसेन त्रैविद्यका ही है। पट्टावलि १७वीं शतीकी है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भावसेन त्रैविद्य अत्यन्त प्राचीन हैं। इतना तो स्पष्ट है कि सेनगणके पुरातन आचार्योंमें इनकी गणना की गयी है।

प्रकट है कि इन्हें 'वादिगिरिवज्रदण्ड' और 'वादिपर्वतवज्र' ये विशेषण वादीरूपी पर्वतोंके लिये वज्रके समान सिद्ध करते हैं। कातन्त्ररूपमालावृत्तिमें 'परवादिगिरिसुरेश्वर' विशेषण भी आया है, जिससे इनका शास्त्रार्थी विद्वान होना सिद्ध होता है। ग्रन्थपुष्पिकाओंमें इन्हें त्रैविद्य, त्रैविद्यदेव और त्रैविद्य-चक्रवर्ती विशेषण दिये गये हैं। जैन आचार्योंमें शब्दागम (व्याकरण), तर्कागम (दर्शन) तथा परमागम (सिद्धान्त) इन तीन विद्याओंमें निपुण व्यक्तिको त्रैविद्य' उपाधि दी[2] जाती थी। इससे स्पष्ट है कि भावसेन तर्क, व्याकरण और सिद्धान्त इन विषयोंके मर्मज्ञ विद्वान थे। विश्वतत्त्वप्रकाशके अन्तमें उनकी शिष्य द्वारा जो प्रशस्ति दी गयी है, उसमें षट्तर्क, शब्दशास्त्र, स्वमत-परमत आगम, वैद्यक, संगीत, काव्य, नाटक आदि विषयोंके ज्ञाता भी इन्हें बताया है। इसमें सन्देह नहीं कि भावसेन चार्वाक, वेदान्ती, योग, भाट्ट, प्राभाकर, सांख्य और बौद्ध दर्शनोंके ज्ञाता थे। प्रशस्तिमें आया हुआ पद्य निम्न प्रकार है—

षट्तर्कं शब्दशास्त्रं स्वपरमतगताशेषराद्धान्तपक्षं
वैद्यं वाक्यं विलेख्यं विषमसमविभेदप्रयुक्तं कवित्वम्।
संगीतं सर्वकाव्यं सरसकविकृतं नाटकं वेत्ति सम्यग्
त्रैविद्यत्वे प्रवृत्तिस्तव कथमवनौ भावसेनव्रतीन्द्र[3] ॥

यह प्रशस्ति १० पद्योंकी है। अन्य पद्योंमें अभिनवविधि, व्रतीन्द्र, मुनिप, वादीभकेशरी इत्यादि विशेषणों द्वारा प्रशंसा की गयी है। इस प्रशस्तिके तीन पद्य कन्नड़ भाषाके हैं और पूर्वोक्त समाधिलेख भी कन्नड़ भाषामें ही है। अतः भावसेनका निवासस्थान कर्नाटक प्रदेश था, यह स्पष्ट है।

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष १, पृ० ३८।

२. सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्याब्जभाभास्करः, पट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले। सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपंचाननः ॥—जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० ६२।

३. विश्वतत्त्वप्रकाश, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ५।

जैनाचार्य-परम्परामें भावसेन नामके दो अन्य विद्वान और भी हुए हैं। प्रथम विद्वान काष्ठासंघ लाडवागडगच्छके आचार्य थे। ये गोपसेनके शिष्य और जयसेनके गुरु थे। जयसेनने सन् ९९९में शकलीकरहाटक नगरमें धर्मरत्नाकर नामक संस्कृतग्रन्थ लिखा था। अतः इन भावसेनका समय दशम शतीका उत्तरार्द्ध है। दूसरे भावसेन काष्ठासंघ माथुरगच्छके आचार्य हैं। ये धर्मसेनके शिष्य तथा सहस्रकीर्तिके गुरु थे। सहस्रकीर्तिके शिष्य गुणकीर्तिका उल्लेख ग्वालियर प्रदेशमें सन् १४१२-१४१७तक प्राप्त होता है। अतः इन भावसेनका समय १४वीं शतीका उत्तरार्ध। प्रस्तुत भावसेन उक्त दोनों आचार्योंसे भिन्न हैं।

समय-विचार

भावसेनने अपने किसी ग्रन्थमें समयका उल्लेख नहीं किया है। अतः उनके समय-निर्णयमें अन्तरंग सामग्री और बाह्य सामग्रीका उपयोग करना आवश्यक है। विश्वतत्त्वप्रकाशकी एक प्राचीन प्रति शक संवत् १३६७ (ई० सन् १४४५) की है। कातन्त्ररूपमालाकी हस्तलिखित प्रति शक संवत् १३०५ (ई० सन् १३८३) की उपलब्ध है। इसी ग्रन्थकी एक अन्य प्रतिका उल्लेख कन्नड़ प्रांतीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ-सूचीमें आया है। कातन्त्ररूपमालाकी यह प्रति शक संवत् १२८९ (ई० सन् १३६७)की है। अतएव इन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर भावसेन त्रैविद्यका समय ई० सन् १३६७के पूर्व सुनिश्चित है। आचार्यने न्याय-दर्शनकी चर्चामें पूर्व पक्षके रूपमें भासर्वज्ञकृत न्यायसारके कई पद्य उद्धृत किये हैं। यह ग्रन्थ १० वीं शताब्दी का है। वेदान्तदर्शनके विचारमें लेखकने विमुक्तात्म-की इष्टसिद्धिका उल्लेख किया है। तथा आत्माके अणु आकारकी चर्चामें रामा-नुजके विचार उपस्थित किये हैं। इन दोनोंका समय १२ वीं शती है।

वेदप्रामाण्यकी चर्चाके सन्दर्भमें लेखकने तुरुष्कशास्त्रको बहुजनसम्मत कहा है तथा वेदोंके हिंसा उपदेशकी तुलना तुरुष्कशास्त्रसे की है। तुरुष्कशास्त्र मुस्लिमशास्त्रका पर्यायवाची है और उत्तर भारतमें मुस्लिमसत्ताका व्यापक प्रसार ई० सन् ११९२ से १२१० तक हुआ। तथा सुलतान इल्तुमसके समय ई० सन् १२१० से १२३६ तक यह सत्ता दृढ़मूल हुई और दक्षिणभारतमें भी मुस्लिम सत्ताका विस्तार हुआ। अतः तुरुष्कशास्त्रको बहुसम्मत कहना १३ वीं शताब्दीके मध्यसे पहले प्रतीत नहीं होता। इस तरह भावसेनके समयकी पूर्वावधि ई० सन् १२३६ और उत्तरावधि ई० सन् १३०० के लग-भग मानी जा सकती है। भावसेनने १३ वीं सदीके अन्तिमचरणके नैयायिक विद्वान केशवमिश्रकी तर्कभाषाका उपयोग नहीं किया है। अतः इन्हें

केशव मिश्रसे किंचित् पूर्व अथवा समकालीन होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि भावसेनके समाधिलेखकी लिपि १३ वीं शताब्दीके अनुकूल है। इससे भी इनका समय ई० सन्‌की १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग होना संभव है।

रचनाएँ

भावसेन प्रतिभाशाली विभिन्नविषयोंके ज्ञाता आचार्य हैं। इनकी निम्न-लिखित रचनाएँ प्राप्त हैं--

१. प्रमाप्रमेय—ग्रन्थके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए लिखा है—

श्रीवर्धमानं सुरराज्यपूज्यं साक्षात्कृताशेषपदार्थतत्वम्।
सौख्याकरं मुक्तिपतिं प्रणम्य प्रमाप्रमेयं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें भावसेन त्रैविद्यके विशेषणोंका प्रयोग आया है। इसमें केवल एक ही परिच्छेद प्राप्त है और यह मोक्षशास्त्रका पहला प्रकरण है तथा प्रमेयकी ही चर्चा की गयी है। ग्रन्थका उत्तरार्ध भाग अप्राप्य है, जिसमें प्रमाचर्चा भी सम्मिल्लित रही होगी। अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

'इति परवादिगिरिसुरेश्वरश्रीमद्‌भावसेनत्रैविद्यदेवविरचिते सिद्धान्तसारे मोक्षशास्त्रे प्रमाणनिरूपणः प्रथमः परिच्छेदः।'

इस ग्रन्थमें प्रत्यक्षके इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ये चार भेद किये हैं। परोक्षके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, ऊहापोह, अनुमान और आगम ये छः भेद माने हैं।

अनुमानके पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये छः अवयव तथा हेतुका लक्षण अन्यथानुपपत्तिको न मानकर व्याप्तिमान पक्षधर्मको बताया है। अनुमानके भेदोंका निरूपण दो रूपोंमें किया है—

१. केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी।

२. दृष्ट, सामन्यतोदृष्ट और अदृष्ट।

हेत्वाभासके सात भेद बतलाये गये हैं—असिद्ध, विरूद्ध, अनेकान्तिक, अकिञ्चित्कर, अनध्यवसित, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम।

विपक्षसे समानता बतलाने वाले वाक्यसे दिया हुआ उत्तर जाति कहलाता है। जतियोंकी संख्या बीस है, यतः वर्ण्यसमा जातिमें साध्यसमा जातिका अन्तर्भाव हाता है, अतः उसका पृथक् वर्णन नहीं किया है। प्रत्युदाहरण जातिका समावेश साधर्म्यसमा जातिमें होता है। अर्थापत्तिसमा तथा उपपत्ति-समा जातियाँ प्रकरणसमा जातिसे भिन्न नहीं हैं तथा अनित्यसमाजाति अवि-शेषसमा जातिसे अभिन्न है। अतः पुनरुक्त जातियोंको छोड़ देनेपर जातियाँ बीस होती हैं।

इस ग्रन्थमें २२ निग्रहस्थान और वादके चार अंगों—१. सभापति, २. सभ्यजन, ३. प्रतिवादी और ४. वादीका सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। वादके १. तात्त्विकवाद, २. प्रातिभवाद, ३. नियतार्थवाद और ४. परार्थनवाद-का वर्णन आया है।

पत्रका लक्षण, पत्रके अंग एवं पत्रके विषयमें जय और पराजयकी व्यवस्था वर्णित है। कथाके वाद, वादवितण्डा, जल्प और जल्पवितण्डा ये भेद किये गये हैं तथा वाद और जल्पको अभिन्न माना गया है। लिखा है—

"तस्मात् सम्यक्साधनदूषणवत्त्वेन वादान्न भिद्यते जल्पः। तद् वितण्डापि वादवितण्डातो न भिद्यते। ततो वादो जल्प इत्यनर्थान्तरम्। तद्वितण्डेऽपि तथा। तत एव कथायां वीतरागविजिगीषुविषयविभागो नास्त्येव"।

—प्रमाप्रमेय १।१०८। पृ० ९७-९८।

आगम, आगमाभास, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाणके प्रतिपादन प्रसंगमें मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान, तत्प्रतिमान एवं गणमानका स्वरूप भी प्रतिपादित है। उपमानप्रमाणके अन्तर्गत आगमिकपरम्पराके पल्य, रज्जु आदिकी गणना भी बतलायी गयी है।

२. कथा-विचार—इस ग्रन्थका केवल उल्लेख ही प्राप्त होता है। इसमें दार्शनिकवादोंसे सम्बद्ध वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान आदिका विस्तृत विचार किया गया होगा। यह ग्रन्थ अद्यावधि प्राप्त नहीं है।

३. शाकटायनव्याकरण-टीका—मध्यप्रान्तीय हस्तलिखित सूचीमें[1] इस ग्रन्थ-का निर्देश आया है। इसी आधारपर जैन साहित्य और इतिहास[2] में पंडित नाथूरामजी प्रेमीने और जिनरत्नकोष[3] में श्री वेलणकरने इसका उल्लेख किया है, पर अभी तक इसकी कोई हस्तलिखित या मुद्रित प्रति प्राप्त नहीं है।

४. कातन्त्ररूपमाला—कातन्त्ररूपमाला व्याकरणके सूत्रोंके अनुसार शब्द-रूपोंकी सिद्धिका वर्णन आया है। ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्धमें ५७४ सूत्रों द्वारा सन्धि, नाम, समास और तद्धितके रूपोंको सिद्धि की गयी है। उत्तरार्धमें ८०९ सूत्रों द्वारा तिङन्त कृदन्तके रूपोंका साधुत्व आया है। कातन्त्ररूपमाला यह नाम भावसेनका दिया हुआ है। यों इस ग्रन्थ-

---

१. मध्यप्रान्तीय हस्तलिखित ग्रन्थसूची, पृ० २५।

२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १५५।

३. जिनरत्नकोष, पृ० ३७७।

के वास्तविक नाम 'कलाप' और 'कौमार' हैं। लेखकका कथन है कि भगवान् ऋषभदेवने ब्राह्मीकुमारीके लिए इस ग्रन्थकी रचना की, अतः यह नाम पड़ा। स्वयं भावसेनने इस व्याकरणके लिए 'सर्ववर्माकृत' इस विशेषणका प्रयोग किया है। इस व्याकरणके दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। पहला संस्करण जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बईसे और दूसरा वीर-पुस्तक-भण्डार जयपुर-से प्रकाशित हुआ है। संस्कृत-भाषाके आरम्भिक अभ्यासियोंके लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

५. न्यायसूर्यावलि—इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि स्ट्रासवर्ग (जर्मनी) के संग्रहालयमें[1] है। इसमें मोक्षशास्त्रके ५ परिच्छेद हैं।

६. भुक्ति-मुक्तिविचार— इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि भी उपर्युक्त संग्रहालयमें है। इसमें स्त्रीमुक्ति और केवलभुक्तिकी चर्चा की गयी है।

७. सिद्धान्तसार—जिनरत्नकोषके वर्णनानुसार यह ग्रन्थ मूडबिद्रीके मठमें है तथा इसका ७०० श्लोकप्रमाण है। पर श्रीविद्याधर जोहरापुरकरकी सूचनाके अनुसार यह ग्रन्थ वहाँ[2] नहीं है।

८. न्यायदीपिका—इस ग्रन्थकी सूचना लुई राइस द्वारा सम्पादित मैसूर और कुर्गकी हस्तलिखित ग्रन्थसूचीसे प्राप्त होती है। कहा नहीं जा सकता कि यह धर्मभूषणकी न्यायदीपिकासे भिन्न कोई स्वतन्त्र कृति है अथवा वही है।

९. सप्तपदार्थी टीका—इसका उल्लेख पाटनके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूचीकी प्रस्तावनामें आया है।

१०. विश्वतत्त्वप्रकाश—इस ग्रन्थमें चार्वाकदर्शनमीमांसा, सर्वज्ञसिद्धि, ईश्वरमीमांसा, वेदप्रामाण्यमीमांसा, स्वतःप्रामाण्यविचार, भ्रान्तिविचार, मायावादविचार, आत्माणुत्वविचार, आत्मविभुत्वविचार, आत्मासर्वज्ञत्व-विचार, समवायविचार, गुणविचार, इन्द्रियविचार, दिग्द्रव्यविचार, वैशेषिकमतविचार, न्यायमतविचार, मीमांसादर्शनविचार, सांख्यदर्शन-विचार और बौद्धदर्शनविचार प्रकरणोंका समावेश किया गया है। विषयोंकी दृष्टिसे सर्वप्रथम आत्माके स्वरूपकी स्थापना की गयी है। चार्वाकोंका आक्षेप है कि जीव नामक कोई अनादि, अनन्त, स्वतन्त्र तत्व किसी प्रमाणसे ज्ञात नहीं है। जीव या चैतन्यकी उत्पत्ति शरीररूपमें परिणत चार महाभूतोंसे ही

---

१. विवेएन्ना ओरियेन्टल जरनल, सन् १८५७, पृ० ३०५।

२. विश्वतत्त्वप्रकाश, जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, प्रस्तावना पृ० ६।

होती है। यह चैतन्य शरीरात्मक है अथवा शरीरका ही गुण या कार्य है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि जीव चेतन, निरवयव, बाह्य इन्द्रियोंसे अग्राह्य और स्पर्शादिसे रहित है। इसके प्रतिकूल शरीर जड़, सावयव; बाह्य इन्द्रियोंसे ग्राह्य एवं स्पर्शादि सहित है। चैतन्यकी उत्पत्ति चैतन्यसे ही सम्भव है, जड़से नहीं। शरीर जीवरहित अवस्थामें भी पाया जाता है तथा जीव भी अशरीरी अवस्थामें पाया जाता है। अतएव चैतन्य-आत्माकी सिद्धि प्रमाणसे होती है।

आगमके उपदेशक सर्वज्ञका अस्तित्व चार्वाक और मीमांसक नहीं मानते। उनके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए भावसेनने बताया है कि सर्वज्ञका अस्तित्व आगम और अनुमानसे सिद्ध होता है। ज्ञानके समस्त आवरण नष्ट हो जानेपर स्वभावतः समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है। ज्ञान और वैरागका परम प्रकर्ष ही सर्वज्ञत्व है। पुरुष होना अथवा वक्ता होना सर्वज्ञत्वमें बाधक नहीं है। सर्वज्ञका अस्तित्व अनुमान द्वारा सुनिश्चित है।

न्यायदर्शनमें सर्वज्ञका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। किन्तु सर्वज्ञ जगत्कर्त्ता है, इसकी मीमांसा की गयी है। ईश्वर जगत्कर्त्ता है, यह कहनेका आधार है, जगत्को कार्य सिद्ध करना। कार्य वह होता है, जो पहले विद्यमान न हो तथा बादमें उत्पन्न हो जाये। किन्तु जगत् अमुक समयमें विद्यमान नहीं था, यह कहनेका कोई साधन नहीं है। अतः जगत्को कार्य सिद्ध करना ही गलत है। इस प्रकार कार्यत्वहेतुका खण्डन कर जगत्कर्त्ताका खण्डन किया है।

मीमांसक सर्वज्ञप्रणीत आगम तो नहीं मानते, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेदको प्रमाणभूत आगम मानते हैं। इनका चार्वाकोंने खण्डन किया है। वेद-को अपौरुषेय मानना भ्रान्त है, क्योंकि कार्य होनेसे वेदका भी कोई कर्त्ता होगा। वेदकी अध्ययनपरम्परा अनादि है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि काण्व, याज्ञवल्क आदि शाखाओंके नामोंसे उन परम्पराओंका प्रारम्भ उन ऋषियोंने किया था, यह स्पष्ट होता है। वेदकर्त्ताके सूचक वाक्य वैदिक ग्रन्थों-में ही उपलब्ध होते हैं। अतः वेदका प्रामाण्य अपौरुषेयताके कारण नहीं हो सकता है।

वेद स्वतः प्रमाण है, इस मीमांसक मतके सिलसिलेमें ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं या परतः प्रमाण होते हैं, इसका विचार लेखकने किया है। ज्ञान यदि वस्तुतत्त्वके अनुसार है, तो वह प्रमाण होता है तथा वस्तुके स्वरूपके विरुद्ध है, तो अप्रमाण होता है। अतः ज्ञानका प्रामाण्य वस्तुके स्वरूपपर आधारित

है—परतः निश्चित होता है, स्वतः नहीं। इसी सन्दर्भमें ज्ञानके स्वसंवेद्य और अस्वसंवेद्यको भी चर्चा की गयी है।

प्रामाण्यके सम्बन्धमें अप्रमाण ज्ञानका—भ्रान्तिका स्वरूप क्या है, यह विस्तारसे बतलाया गया है। माध्यमिक बौद्ध सभी प्रकारके पदार्थके ज्ञानको भ्रम कहते हैं। 'संसारमें कोई पदार्थ नहीं है, सब शून्य है' यह उनका अभिमत है, पर सर्वजनप्रसिद्ध प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणोंका इस प्रकार अभाव बतलाना युक्त नहीं। यदि प्रमाण विद्यमान हैं, तो उनके प्रमेय—बाह्य पदार्थोंका भी अस्तित्व अवश्य मानना होगा। इसी प्रकार योगाचार बौद्धोंके विज्ञानवादकी भी समीक्षा की गयी है।

जगत्के स्वरूपको भ्रमजन्य माननेवाले वेदान्तदर्शनकी समीक्षा विस्तारसे की है। वेदान्तियोंका कथन है कि प्रपञ्च—संसारकी उत्पत्ति अज्ञानसे होती है, तथा ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है। पर अज्ञान जैसे निषेधात्मक अभावरूप तत्त्वसे जगत् जैसा भावरूप तत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञान वस्तुको जान सकता है, उसका नाश नहीं कर सकता। वैदिक वाक्योंमें अनेक स्थानोंपर प्रपञ्चको ब्रह्मस्वरूप कहा है। अतः ब्रह्म यदि सत्य हो, तो प्रपंच भी सत्य होगा। प्रपंचकी सत्यतामें बाधक कोई प्रमाण नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे प्रपंच बाधित नहीं होता। इस प्रकार मायावादकी समीक्षा भी विस्तारसे की गयी है।

पूर्वोक्त दार्शनिक मान्यताओंके अतिरिक्त वैशेषिक और नैयायिक द्वारा अभिमत आत्मसर्वगतवादका निरसन किया गया है। वैशेषिक मतमें इन्द्रियोंको पृथ्वी आदि भूतोंसे उत्पन्न माना है तथा इन्द्रियों और पदार्थोंके सन्निकर्षके बिना प्रत्यक्षज्ञान सम्भव नहीं होता। अन्तमें प्रत्येक कर्मके भोगे बिना मुक्ति नहीं मिलती, इस मतका निराकरण किया है, तथा ध्यानबलसे कर्मक्षयका समर्थन किया है।

न्यायदर्शनकी तत्त्वव्यवस्थामें प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंकी गणना की गयी है। इन १६ पदार्थोंकी समीक्षाके अनन्तर ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोगपर विचार किया है।

भाट्ट मीमांसक अन्धकारको द्रव्य मानते है। नैयायिकादि उसे प्रकाशका अभावमात्र कहते हैं। यहाँ इन सभी मतोंकी विस्तृत समीक्षा की गयी है।

सांख्योंके मतसे जगत्का मूल कारण प्रकृतिनामक जड़तत्त्व है तथा वह सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणोंसे बना है। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय तथा

पंचमहाभूत इन्हींसे बने हैं। किन्तु जैनदृष्टिसे बुद्धि, अहंकार ये चैतन्यमय जीवके कार्य हैं, जड़ प्रकृतिके नहीं। सांख्योंका दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है सत्कार्य-वाद। कार्य नया उत्पन्न नहीं होता, कारणमें विद्यमान ही रहता है। यह प्रत्यक्षव्यवहारसे विरुद्ध है। सांख्य पुरुषको अकर्त्ता मानते हैं—बन्ध और मोक्ष पुरुषके नहीं होते, प्रकृतिके ही होते हैं। इस कथनकी भी जैनदृष्टिसे समीक्षा की गयी है।

बौद्धाभिमत क्षणिकवादका विवेचन करते हुए लिखा है कि बौद्ध आत्मा जैसा कोई शाश्वत तत्त्व नहीं मानते। रूप, संज्ञा, वेदना, विज्ञान, संस्कार इन पांच स्कन्धोंसे ही सब कार्य होते हैं। नित्य आत्माका अस्तित्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा सिद्ध होनेसे क्षणिकवादका निरसन हो जाता है। आत्मा नित्य न हो, तो मुक्तिका प्रयास व्यर्थ हो जायगा और पुनर्जन्म भी घटित नहीं हो सकेगा। इस प्रकार विस्तारपूर्वक क्षणिकवादकी समीक्षा की है। यह विश्वतत्त्वप्रकाश भी किसी ग्रन्थका एक परिच्छेद ही प्रतीत होता है। सम्भवतः पूर्ण ग्रन्थ आचार्य-का दूसरा ही रहा होगा।

आचार्य नयसेन

धर्मामृतके रचयिता आचार्य नयसेनका जन्मस्थान धारवाड़ जिलेका मूल-गुन्दा नामक तीर्थस्थान है। उत्तरवर्ती कवियोंने उन्हें 'सुकविनिकरपिकमाकन्द' 'सुकविजनमनःसरोजराजहंस', 'वात्सल्यरत्नाकर' आदि विशेषणोंसे विभूषित किया है। नयसेनके गुरुका नाम नरेन्द्रसेन था। नरेन्द्रसेन मुनि उच्चकोटिके तपस्वी और द्वादशांग शास्त्रके पारगामी थे। नयसेनने इन्हें सिद्धान्तशास्त्रमें जिनसेनाचार्यके समान व्याकरण और आध्यात्मिक शास्त्रके पाण्डित्यमें पूज्यपाद-के समान एवं तर्कशास्त्रमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक समन्तभद्राचार्यके समान बतलाया है। इन्हें 'त्रैविद्यचक्रवर्ती' भी कहा है।

नयसेनाचार्य, संस्कृत, तमिल और कन्नड़के धुरन्धर विद्वान थे। इन्होंने धर्मामृतके अतिरिक्त कन्नड़का एक व्याकरण भी रचा है। धर्मामृतके अध्ययन-से अवगत होता है कि ग्रन्थरचनाके समय ये मुनि अवस्थामें थे। इन्होंने अपनेको 'तर्कवागीश' कहा है तथा अपनेको चालुक्यवंशके भुवनैकमल्ल (शक संवत् १०६९-१०७६) द्वारा वन्दनीय कहा है। यह राजा इनकी सेवामें सदा तत्पर रहता था। नयसेनाचार्य अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं।

स्थिति-काल

धर्मामृतमें ग्रन्थरचनाका समय दिया हुआ है। इससे इनका समय ई० सन्‌की १२वीं शतीका पूर्वार्ध सिद्ध होता है। धर्मामृतमें बताया है—

गिरिशिखिवायुमार्गसंख्ययोः   लावगगमिन्दीवर्त्तिषुस्तिरे ।
षट्कालमुन्नतिय   नन्दवत्सरोमुवुत्सवं   विवशशिरद,
भाद्रपदमासलमद शुक्लपक्षदलनिरुयभप्यहस्तयुतार्कवारदोल् ।।

अर्थात् शक संवत् १०३७ भाद्रपद शुक्लपक्षमें रविवारके दिन हस्त नक्षत्रके रहनेपर इस ग्रन्थका निर्माण हुआ । इस शक संवत्में ७८ जोड़ने पर ११२५ ई० सन् आता है । किन्तु नन्दसंवत्सर ई० सन् ११२१में आता है तथा हस्तार्क भी भाद्रपद शुक्ल पक्षमें इसी संवत्में पड़ता है । अतः इनका समय ११२१ ई० मानना पड़ता है ।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि गिरिशब्दका प्रसिद्ध अर्थ सात त्याग कर चार क्यों ग्रहण किया गया है ? जैन परम्परामें गिरिशब्दका अर्थ चार ग्रहण किया गया प्रतीत होता है । यही कारण है कि ग्रन्थकर्त्ताने भी चारके अर्थमें गिरिशब्दका प्रयोग किया हो ।

रचनाएँ

नयसेनके दो ग्रन्थोंका निर्देश उपलब्ध होता है । धर्मामृत और कन्नड़ व्याकरण । धर्मामृतमें १४ रोचक कथाएँ हैं । इन कथाओं द्वारा धर्मतत्वोंका उपदेश दिया गया है । पहली कथा वसुभूति और दयामित्र सेठकी है । इस कथा-में सम्यक्त्वकी महिमा बतलायी गयी है । वसुभूति ब्राह्मणने धनके लोभसे कृत्रिम जिनदीक्षा ली । उसे मुनिदीक्षामें नाना प्रकारके कष्टोंका अनुभव हुआ । परन्तु प्रलोभनोंके कारण आठ दिन तक मुनि बना रहा । इसी बीच घटनाचक्रके बदल जानेसे लुटेरों द्वारा वसुभूति घायल हो गया । दयामित्रने उसे आत्मधर्मका उपदेश दिया । फलतः वसुभूतिको सम्यक्दर्शन उत्पन्न हो गया । सांसारिक पदार्थोंसे उसका मोह हट गया और उसे जैनधर्मकी सत्यतापर विश्वास हो गया । मृत्युके पश्चात् वसुभूतिने स्वर्गलाभ किया । कथामें सम्यक्दर्शन और श्रावकधर्मका पर्याप्त उपदेश आया है ।

दूसरी कथा निशंकित अंगकी महत्ता बताने वाली ललितांगदेवकी है । इस कथासे स्पष्ट है कि पापी-से-पापी मनुष्यका भी जैनधर्म द्वारा सुधार हो सकता है । इस धर्मके सिद्धान्तोंका पालन ऐश्वर्य और विभूतिको ही नहीं देता, अपितु आत्मकल्याणका कारण होता है । अर्हन्त भगवान्‌की भक्ति कल्पवृक्षतुल्य है । जो व्यक्ति वीतरागी प्रभुकी शरणमें पहुँच जाता है, उनके आदर्श द्वारा अपनी आत्माको उन जैसा ही बनानेका प्रयत्न करता है, वह व्यक्ति निश्चय ही उन जैसा भगवान् बन जाता है । जैनदर्शनमें व्यक्तिको हीन या निःशक्ति नहीं

माना गया है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। विकारोंके दूर करनेसे आत्मा परमात्मा बन जाती है। ललितांगदेव बड़ा उपद्रवी और अधर्मात्मा था, पर निशंकित होकर आत्मधर्मका पालन करनेसे वह महान् बन गया।

तीसरी कथा निःकांक्षित अंगकी महत्ता प्रकट करनेवाली अनन्तमतीकी है। अनन्तमतीके ऊपर कितने संकट आये, विपत्तियोंके पहाड़ गिरे, पर वह अपने कर्त्तव्यपथसे विचलित नहीं हुई। उसने धर्मकी आराधना किसी फल-प्राप्तिकी आकांक्षासे नहीं की। प्रत्युत धर्म आत्माका स्वरूप है, अतएव धर्ममें स्थित रहना ही मानवता है, ऐसा निश्चय कर वह अपने धर्ममें सदा दृढ़ रही। अनन्तमतीकी कथा उसके चरित्रपर पूरा प्रकाश डालती है।

चौथी कथामें निर्विचिकित्सा अंगका समुचित पालन करनेसे क्या फल प्राप्त होता है तथा सेवाकार्य प्रत्येक व्यक्तिके जीवनको कितना उन्नत बनाता है, इसका वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति घृणा, द्वेष, मात्सर्य आदि दुर्भावों-का परित्याग कर सेवामार्गमें लग जाते हैं, वे अपना कल्याण अवश्य कर लेते हैं। राजा उद्दायन ऐसा ही धर्मात्मा व्यक्ति था। दान देना, सेवा करना, मानवमात्रकी सहायता करना, राजा उद्दायनका जीवनव्रत था। उसकी आत्मा अत्यन्त निर्मल और प्रलोभनोंसे अछूती थी।

पाँचवीं कथामें अमूढ़दृष्टि अंगकी महत्ता बतलायी गयी है। सच्चा विश्वास कितना फलदायक होता है, यह रेवती रानीकी दृढ़तासे स्पष्ट है। यों तो रेवती रानीकी कथा अन्य ग्रन्थोंमें भी आयी है, पर इस ग्रन्थमें श्रावकधर्मके वर्णनके साथ विशेषरूपसे प्रतिपादित की गयी है। ज्ञान और चारित्र सम्यक्त्वके बिना झूठे हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी भी सम्यक्त्वके अभावमें नरक-निगोदके पात्र बनते हैं। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य बाह्याडम्बरोंको जीवनमें सरलतासे स्थान दे देता है। धर्म और आत्माचरणके नामपर आडम्बर एवं गुरुडम जीवनको खोखला बनाकर नष्ट कर देते हैं। इस कथामें आडम्बरों और गुरुडमोंको जीवनसे पृथक कर जीवनको सात्विक बनानेपर जोर दिया है। प्रत्येक विचारक व्यक्ति आत्माका शोधन करनेके लिए प्रलोभनोंका त्याग करना चाहता है, पर मोहवश वह वैसा नहीं कर पाता है। मुनि या श्रावक दोनोंको ही प्रलो-भनोंका त्याग करना पड़ता है। अहंकार और ममकार आत्माके शत्रु हैं, जो इनके अधीन रहता है, वह निश्चयतः आत्मधर्मसे च्युत है। दीक्षा लेना आसान है, भावुकतामें आकर कोई भी व्यक्ति दीक्षा ले सकता है, पर उसका यथार्थ निर्वाह सब किसीसे नहीं हो सकता है। इस कथामें अभव्यसेनमुनिका जीवन चित्रित हुआ है।

छठी कथा उपगूहन अङ्गकी विशेषता प्रकट करनेवाली है। इस अङ्गका पालन जिनेन्द्रदत्त सेठने किया था। प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अपनी गलतियों और त्रुटियोंको न देखकर दूसरोंकी गलतियों और त्रुटियोंको देखता है। परिणाम यह निकलता है कि हम दूसरोंको गलतियाँ ही देखते रह जाते हैं, अपना सुधार नहीं कर पाते। उपगूहन अंगकी कथा बतलाती है कि दूसरोंके दोषोंका आच्छादन कर उन्हें मार्गपर लाया जाये। घृणा हमें पापसे करना चाहिये, पापीसे नहीं।

सातवीं कथा स्थितिकरण अंगके पालन करनेवाले वारिषेणकुमारकी है। इस कथासे स्पष्ट है कि सच्चा मित्र किस प्रकार अपने मित्रका कल्याण कर सकता है। मित्रका कार्य केवल मनोरंजन करना ही नहीं, प्रत्युत मित्रका सुधार करना है। वारिषेणकुमारने अपने मित्र पुष्पडालका कितना उपकार किया। दीक्षासे विचलित होते हुए मित्रको आत्मकल्याणमें स्थिर किया। पुष्पडाल १२ वर्षों तक मुनि बने रहने पर भी अपनी भार्याके मोहमें आसक्त रहा। आत्मध्यानके स्थानपर उसके रूपलावण्यका ही चिन्तन करता रहता था। कथा बड़ी ही रोचक है, बीच-बीचमें दिया गया धर्मोपदेश जन्म-जरारूपी मलेरियाको दूर करनेके लिए चीनी लपेटी कुनेनकी गोली है।

आठवीं कथा वात्सल्य अंगके धारी विष्णुकुमारकी है। इस कथामें बताया गया है कि साधर्मी भाईसे वात्सल्यभाव रखना, संकटमें सहायता पहुँचाना और उसके साथ हर तरहका सहयोग रखना प्रत्येक व्यक्तिके लिए आवश्यक है। जो स्वार्थवश अपना ही लाभ सोचते हैं, अन्य व्यक्तियोंके लाभालाभका विचार नहीं करते, वे मानव नहीं दानव हैं। मानवशब्द ही इस बातका द्योतक है कि विवेकशील बनकर प्रेमभावसे रहना तथा परोपकारमें सदा प्रवृत्ति करना। धर्मद्वेष व्यक्तिको कितना नीचा गिरा देता है, यह राजा बलिके आचरणसे स्पष्ट है। सहनशीलता जीवनके विकासके लिए एक आवश्यक और उपयोगी गुण है। जो व्यक्ति छोटी-सी बातको लेकर रुष्ट हो जाता है और बदला लेनेकी भावनाको मनमें बैठा लेता है, वह व्यक्ति नीच प्रकृतिका है। विष्णुकुमारमुनिने वात्सल्यसे प्रेरित होकर मुनिसंघकी रक्षा की।

नवीं कथामें प्रभावना अंगकी महत्ता बतलायी गयी है। इस अंगका पालन वज्रकुमारमुनिने किया है। प्रचलित कथाकी अपेक्षा इसमें अनेक अवान्तर कथाएँ आयोजित की गयी हैं। अवान्तर कथाओंके रहनेसे कथा रोचक बन गयी है। धर्ममार्गका उद्योतन करनेके लिए प्रत्येक व्यक्तिको सदा तैयार रहना चाहिये। धर्म वह रसायन है, जिसका सेवन कर कोई भी व्यक्ति संसार

सागरसे पार करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। वज्रकुमार मुनिने धर्मप्रचार-के लिए संकट सहकर भी ओहिली देवीके जैन रथको चलाया। अतएव प्रत्येक व्यक्तिको धर्मात्माओंकी सेवा करना, धर्ममार्गका उपदेश देना, दुःखी और दीन प्राणियोंको धर्मका सच्चा स्वरूप समझाकर अच्छे मार्गपर लगाना चाहिये।

दसवीं कथा अहिंसा धर्मकी विशेषता प्रकट करनेवाली है। समाज और व्यक्तिको अहिंसाके द्वारा ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। राग, द्वेष और मोहके अधीन होकर ही व्यक्ति हिंसामें प्रवृत्त होता है। सेठ गुणपालकी कथा विधर्मीको कन्या देनेका विरोध करती है। दशवीं कथा द्वारा धनकीर्ति कुमार अल्पहिंसाके त्यागसे ही महान बन गया, की सिद्धि की गयी है।

ग्यारहवीं कथा सत्याणुव्रतकी महत्ता बतलानेके लिए लिखी गयी है। जीवनमें अहिंसा धर्मको उतारनेके लिए सत्यका पालन करना परमावश्यक है। निंद्य वचन, कठोर वचन और किसीके दिलको दुखानेवाले वचन असत्य वचनके अन्तर्गत हैं। असत्य भाषण करनेसे संघश्रीकी क्या दुर्गति हुई, यह इस कथासे स्पष्ट है। धनद राजाने बौद्धधर्मानुयायी संघश्रीको जैनधर्ममें दीक्षित कर भी लिया। किन्तु अपने गुरुके बहकानेमें आकर संघश्री असत्य भाषण कर पुनः बौद्ध हो गया। असत्य भाषणके कारण संघश्रीको अन्धा बनना पड़ा। जो व्यक्ति जीवनमें सत्यव्रतका पालन करते हैं, उनका आत्मकल्याण होनेमें विलम्ब नहीं होता।

बारहवीं कथा तो इतनी रोचक और ज्ञानवर्द्धक है कि पाठक सत्यको प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हुए बिना नहीं रह सकता है। जीवनसत्य, जो कि कठिन आवरणमें छिपा रहता है, इस कथा द्वारा प्रकाशमें आ जाता है। गलत-फहमीके कारण स्वार्थवश मनुष्य कितना नीच हो सकता है, धर्मात्माओंपर कितने अत्याचार कर सकता है, यह इस कथामें वर्णित जिनदत्त सेठके आचरण-से स्पष्ट है। धनका मोह मनुष्यको कितना जघन्य कृत्य करनेके लिए प्रेरित करता है, यह भी इस कथामें आया है। अवान्तर कथाएँ भी बड़ी ही रोचक और आत्मशोधक हैं।

तेरहवीं कथा शीलव्रतकी महत्ता बतलानेके लिए लिखी गयी है। इस व्रतमें अपूर्व शक्ति है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी आत्मशक्तिका विकास करता है। राग-द्वेषरूप विभावपरिणति ब्रह्मचर्यव्रतके पालन करनेसे दूर हो जाती है। इस कथामें प्रभातिकुमार और चन्द्रलेखाका अद्भुत चरित्र चित्रित हुआ है।

चौहदवीं कथामें परिग्रहके दोषोंका विवेचन करते हुए अपरिग्रहकी विशेषता बतलायी गयी है। तृष्णा और लालसा व्यक्तिको कितना बेचैन रखती है, यह इस कथासे स्पष्ट है। विषयासक्तिको लेकर मरण करनेसे व्यक्ति तिर्यञ्च आदि योनियोंमें भ्रमण करता है। इस कथामें बताया गया है कि राजा अनुपरिचरने मृत्युके समय परिग्रहमें आसक्ति रखनेके कारण सर्पयोनिमें जन्म ग्रहण किया। अनन्तवीर्य महाराज द्वारा सम्बोधन प्राप्त होनेपर अपने शत्रुसे बदला लेनेकी भावनाके कारण वह भवनवासी देव हुआ। पश्चात् वहाँसे च्युत होकर इसी राजाका जीव हस्तिनापुरके राजा जयदत्तके यहाँ गुरुदत्त नामका पुत्र हुआ और समय पाकर समस्त परिग्रहका त्याग कर आत्मकल्याण किया। आचार्यने परिग्रहको समस्त पापोंका खजाना बताया है। इस एक पापके कारण असंख्यात पाप करने पड़ते हैं।

इस प्रकार इस ग्रन्थमें कथाओंके माध्यमसे धर्मके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। श्रावकाचारको प्रायः सभी बातें इस ग्रंथमें बतायी गयी हैं। सप्ततत्त्व, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, अष्टांग सम्यक्दर्शन, कर्मसिद्धान्त, सप्त व्यसनत्याग, अष्टमूलगुण, द्वादशउत्तरगुण, सल्लेखना आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। विषय प्रतिपादन करनेकी विधि अत्यन्त सरल और सरस है। कथात्मक शैलीमें धर्मसिद्धान्तोंका निरूपण किया गया है।

वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती

आचारसारके रचयिता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती मूलसंघ पुस्तकगच्छ और देशीयगणके आचार्य हैं। आचारसार ग्रंथके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गयी है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि इनके गुरु मेघचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। लिखा है—

श्रीमेघचन्द्रोज्ज्वलमूर्त्तिकीर्त्तिः समस्तसैद्धान्तिकचक्रवर्ती।
श्रीवीरनन्दी कृतवानुदारमाचारसारं यतिवृत्तसारम्[1]॥

ग्रंथके प्रत्येक अधिकारके अन्तमें जो पुष्पिका दी गयी है उसमें भी आचार्य वीरनन्दिने अपने गुरु मेघचन्द्रका उल्लेख किया है—

"इति श्रीमन्मेघचन्द्रत्रैविद्यदेवपादप्रसादाऽऽसादिताऽऽत्मप्रभावसमस्तविद्याप्रभावसकलदिग्वर्त्तिकीर्त्तिश्रीमद्वीरनंदिसैद्धांतिकचक्रवर्त्तिप्रणीते श्री'आचारसार' नाम्नि ग्रंथे शीलगुणवर्णनात्मको द्वादशोऽधिकारः"॥

१. आचारसार, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ११, १२।३३।

इस प्रशस्ति और पुष्पिकावाक्यसे यह स्पष्ट है कि वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु मेघचन्द्र थे और इनका परिचय श्रवणबेलगोलाके अभिलेख नं० ४७ में निम्न प्रकार प्राप्त होता है—

तर्कन्यायसुवज्रवेदिरमलार्हत्सूक्तिसन्मौक्तिकः
शब्दग्रंथविशुद्धशंखकलितः स्याद्वादसद्विद्रुमः।
व्याख्यानोर्जितपोषणप्रविपुलप्रज्ञोद्धवीचीचयो
जीयाद्विश्रुतमेघचन्द्रमुनिपस्त्रैविद्यरत्नाकरः॥
श्रीमूलसंघकृतपुस्तकगच्छदेशी-
योद्यद्गणाधिपसुतार्किकचक्रवर्ती।
सैद्धान्तिकेश्वरशिखामणिमेघचन्द्र-
स्त्रैविद्यदेव इति सद्विबुधाः स्तुवन्ति॥
सिद्धान्ते जिन-वीरसेनसदृशाः शास्त्राब्जनीभास्करः
षटतर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं
त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपंचाननः[1]॥

इन पद्योंसे स्पष्ट है कि वीरनन्दिके गुरु मेघचन्द्र न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त आदि सभी विषयोंके अपूर्व विद्वान् थे। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें प्रभाचन्द्र और शुभचन्द्र आदि कई प्रधान शिष्योंके स्मृतिलेख श्रवणबेलगोलाकी शिलाओं पर अंकित हैं।

'कर्णाटककविचरिते'से अवगत होता है कि इन मेघचन्द्रने पूज्यपादके समाधितन्त्रकी एक टीका लिखी है और ये अभिनव पम्प (नागचन्द्र)के गुरु बालचन्द्रके सहाध्यायी थे। मेघचन्द्रकी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार है।

गोलाचार्य
|
अभयनन्दि
|
सोमदेव
|
सकलचन्द्र
|
मेघचन्द्र

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ४७, पद्य २८, २९, ३० पृष्ठ ६२।

इस ग्रंथकी प्रशस्तिसे तथा श्रवणबेलगोलाके ५०वें अभिलेखसे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीका मेघचन्द्रके साथ गुरु-शिष्य-के साथ पिता-पुत्रका भी सम्बन्ध था—

वैदग्ध्यश्रीवधूटीपतिरतुलगुणालंकृतिर्मेघचन्द्र-
त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः।
सैद्धान्तव्यूहचूडामणिरनुपमचिन्तामणिर्भूजनानां
योऽभूत्सौजन्यरून्द्रश्रियमवति महौ वीरनन्दी मुनीन्द्रः[1] ॥

यही पद्य अभिलेखसंख्या ५० का ५० वाँ पद्य भी है। इससे स्पष्ट है कि मेघचन्द्रके पुत्र वीरनन्दी थे।

स्थिति-काल

श्रवणबेलगोलके अभिलेखसंख्या ४७,५० और ५२ से ज्ञात होता है कि आचार्य मेघचन्द्रका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में और उनके शुभचन्द्रदेवनामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६९ (वि० सं० १२०३) में हुआ था तथा उनके द्वितीय शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक संवत् १०४१ (वि० सं० ११७६) में एक महापूजा प्रतिष्ठा करायी थी। इससे प्रतीत होता है कि आचारसारके कर्त्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती इसी समयके लगभग अर्थात् ई० सन्की १२वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए होंगे।

'कर्णाटककविचरिते' के अनुसार नागचन्द्रका समय वि० सं० ११६२ के लगभग निश्चित किया गया है और इनके गुरु बालचन्द्रको मेघचन्द्रका सहाध्यायी बताया है। अतएव स्पष्ट है कि मेघचन्द्रके शिष्य वीरनन्दीका समय ई० सन्की १२वीं शताब्दीका मध्य भाग है।

प्रस्तुत वीरनन्दि 'चन्द्रप्रभचरित' के कर्त्ता आचार्य वीरनन्दिसे भिन्न हैं। वे अभयनन्दिके शिष्य और गुणनन्दिके प्रशिष्य थे।

रचना-परिचय

वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीकी एक ही कृति प्राप्त है—'आचारसार'। इसमें मुनियोंके आचारका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ग्रन्थ १२ परिच्छेदोंमें विभक्त है। ग्रन्थका प्रमाण स्वयं ही ग्रन्थकर्त्ताने बताया है—

ग्रन्थप्रमाणमाचारसारस्य श्लोकसम्मितम्।
भवेत्सहस्रं द्विशतं पंचाशच्चांकतस्तथा ॥[2]

१. आचारसार, १२।३२।

२. वही, अन्तिम पद्य।

प्रथम अधिकारमें ४९ पद्य हैं और २८ मूलगुणोंका कथन आया है। द्वितीय अधिकारमें ९४ पद्य हैं और मुनिके रहन-सहन आचार-विचार, क्रिया-कलाप आदिका वर्णन किया गया है। तृतीय अधिकारमें ७५ पद्य हैं और दर्शनाचारका वर्णन आया है। चतुर्थ अधिकारमें ९७ पद्यों द्वारा ज्ञानाचारका वर्णन किया गया है। पंचम अधिकारमें १५१ पद्य हैं और चारित्राचारका विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है। षष्ठ अधिकारमें १०२ पद्य हैं और तपाचारका वर्णन आया है। सप्तम अधिकारमें २६ पद्य हैं और वीर्याचारका कथन किया है। अष्टम अधिकारमें ८४ पद्य हैं और अष्टशुद्धियोंका विस्तारपूर्वक कथन आया है। नवम अधिकारमें स्वाध्याय, पर्व कर्त्तव्य एवं समताका वर्णन आया है। दशम अधिकारके ६३ पद्योंमें ध्यानका वर्णन है। एकादश अधिकारमें १९० पद्य हैं और जीव तथा कर्मोंकी प्ररूपणा की गयी है। द्वादश अधिकारमें ३३ पद्य हैं और शीलका वर्णन आया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ मुनियोंके आचार-विचारको अवगत करनेके लिए उपादेय है। पंचाचार और षडावश्यकोंका मूलाचारके समान ही वर्णन आया है। व्यवहारचर्याके वर्णनमें कतिपय नवीन बातें भी सम्मिलित की गयी हैं, जिनका सम्बन्ध लोकाचारके साथ है।

आचार्य श्रुतमुनि

श्री डॉ० ज्योतिप्रसादजीने[1] १७ श्रुतमुनियोंका निर्देश किया है। पर हमारे अभीष्ट आचार्य श्रुतमुनि परमागमसार, त्रिभंगी, मार्गणा, आस्रव, सत्ताविच्छित्ति आदि ग्रन्थोंके रचयिता हैं। ये श्रुतमुनि मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्द आम्नायके आचार्य हैं। इनके अणुव्रतगुरु बालेन्दु या बालचन्द्र थे। महाव्रतगुरु अभयचन्द्र सिद्धान्तदेव एवं शास्त्रगुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र थे। आस्रवत्रिभंगीके अन्तमें अपने गुरु बालचन्द्रका जयघोष निम्न प्रकार किया है—

इदि मग्गणासु जोगो पच्चयभेदो मया समासेण।
कहिदो सुदमुणिणा जो भावइ सो जाइ अप्पसुहं ॥
पयकमलजुयलविणमियविणेयजणकयसुपूयमाहप्पो।
णिज्जियमयणपहावो सो बालिंदो चिरं जयऊ ॥[2]

आरा जैन सिद्धान्त भवनमें भावत्रिभंगीकी एक ताड़पत्रीय प्राचीन प्रति

---

१. जैन सन्देश, शोधांक १०, पृ० ३५८-६१।
२. आस्रव-त्रिभङ्गी, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक २०, पद्य ६१,६२, पृ० २८३।

है, जिसमें मुद्रित प्रतिकी अपेक्षा निम्नलिखित सात गाथाएँ अधिक मिलती हैं। इन गाथाओंपरसे ग्रन्थरचयिताके समयके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त होती है—

"अणुवदगुरुबालेंदु महव्वदे अभयचंदसिद्धंति।
सत्थेऽभयसूरि-पहाचंदा खलु सुयमुणिस्स गुरू॥
सिरिमूलसंघदेसिय पुत्थयगच्छ कोंडकुंदमुणिणाहं (?)।
परमण्ण इंगलेसबलम्मिजादमुणिपहद(हाण) स्स॥
सिद्धंताहयचंदस्स य सिस्सो बालचंदमुणिपवरो।
सो भवियकुवलयाणं आणंदकरो सया जयऊ॥
सद्दागम-परमागम-तक्कागम-निरवसेसवेदो हु।
विजिदसयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरिसिद्धंति॥
णयणिक्खेवपमाणं जाणित्ता विजिदसयलपरसमओ।
वरणिवइणिवहवंदियपयपम्मो चारुकित्तिमुणी॥
णादणिखिलत्थसत्थो सयलणरिंदेहिं पूजिओ विमलो।
जिणमग्गगमणसूरो जयउ चिरं चारुकित्तिमुणी॥
वरसारत्तयणिउणो सुद्धं परओ विरहियपरभाओ।
भवियाणं पडिबोहणयरो पहाचंदणाममुणी॥

इन गाथाओंसे स्पष्ट है कि देशीयगण पुस्तकगच्छ इंगलेश्वरबलीके आचार्य अभयचन्द्रके शिष्य बालचन्द्रमुनि हुए। आचार्य अभयचन्द्र व्याकरण, परमागम, तर्क और समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे। इन्होंने अनेक वादियोंको पराजित किया था। गाथाओंमें आये हुए आचार्यों पर विचार करनेसे इनके समयका निर्णय किया जा सकता है।

श्रवणवेलगोलाके अभिलेखोंके अनुसार श्रुतमुनि अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य थे। इनके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए और उनके प्रिय शिष्य श्रुतकीर्तिदेव हुए। इन श्रुतकीर्तिका स्वर्गवास शक संवत् १३०६ (ई० सन् १३८४) में हुआ। इनके शिष्य आदिदेव मुनि हुए। पुस्तकगच्छके श्रावकोंने एक चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराकर उसमें उक्त श्रुतकीर्तिकी तथा सुमतिनाथ तीर्थङ्करकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थीं।[1]

बालचन्द्रमुनिने श्रुतमुनिको श्रावकधर्मकी दीक्षा दी थी। आस्रवत्रिभंगीमें श्रुतमुनिने इनका स्मरण किया है।

अभयचन्द्र—ये मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्द आम्नायके

---

१. एपि कर्णा० ४, हनसूर, १२३।

आचार्य थे और इङ्गलेश नामक स्थानके मुनियोंमें प्रधान थे। ये व्याकरण, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि विशेष विषयोंके ज्ञाता थे। बालचन्द्रमुनि इनके शिष्य थे। श्रुतमुनिने इनसे मुनि-दीक्षा ली थी और शास्त्राध्ययन भी किया था।

प्रभाचन्द्र—समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारके ज्ञाता थे, परभावोंसे रहित थे और भव्यजनोंको प्रतिबोधित करनेवाले थे। ये श्रुतमुनिके विद्यागुरु थे।

चारुकीर्ति—ये नय, निक्षेप और प्रमाणके ज्ञाता, समस्त परवादियोंको जीतनेवाले, बड़े-बड़े राजाओं द्वारा पूजित और समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे।

'कर्णाटककविचरिते' के कर्त्ताने श्रुतमुनिके गुरु बालचन्द्रका समय वि० सं० १३३० के लगभग बताया है। उनका अभिमत है कि बालचन्द्रमुनिने शक संवत् ११९५ में द्रव्यसंग्रहकी एक टीका लिखी है और उसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम अभयचन्द्र लिखा है। इससे सिद्ध है कि श्रुतमुनिका समय ई० सन् की १३वीं शताब्दी है। श्रवणबेलगोलामें श्रुतमुनिकी निषद्यापर मंगराज कविका एक ७५ पद्योंका विशाल संस्कृत अभिलेख है। यह निषद्या शक संवत् १३५५ (वि० सं० १४९०) में प्रतिष्ठित की गयी है। इसमें प्रधानतः श्रुतकीर्ति, चारुकीर्ति, योगिराट् पण्डिताचार्य और श्रुतमुनिकी महिमाका वर्णन आया है। यह निषद्या श्रुतमुनिके १०० या १२५ वर्ष पश्चात् प्रतिष्ठित की गयी होगी। अतः श्रुतमुनिका समय ई० सन् की १३वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है।

रचना-परिचय

श्रुतमुनिकी तीन रचनाएँ प्राप्त होती हैं—

१. परमागमसार

२. आस्रवत्रिभङ्गी

३. भावत्रिभङ्गी

१. आस्रवत्रिभङ्गीमें ६२ गाथाएँ हैं। आस्रवके ५७ भेदोंका गुणस्थानोंमें कथन किया गया है तथा सन्दृष्टि भी दी गयी है। इसी प्रकार योग, कषाय आदिका भी गुणस्थानक्रमसे वर्णन आया है।

२. भावत्रिभङ्गीमें ११६ गाथाएँ हैं। पर जैनसिद्धान्त भवन आराकी प्रतिमें इसके आगे प्रशस्तिमूलक सात गाथाएँ भी मिलती हैं। इस ग्रन्थमें गुणस्थान और मार्गणाक्रमानुसार भावोंका वर्णन आया है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन भावोंका विशेष वर्णन किया गया

है। पाँच ज्ञानोंमें कौन क्षायिक होते हैं और कौन क्षायोपशमिक, इस वर्णनके पश्चात् मिथ्यात्वगुणस्थानमें कौन-कौनसे ज्ञान रहते हैं तथा शेष गुणस्थानोंमें कौन-कौनसे ज्ञान सम्भव हैं। इसी प्रकार चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवलज्ञान-दर्शनका भी कथन किया है। गुणस्थान और मार्गणा प्रत्ययोंमें भावोंको अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

३. परमागमसारमें २३० गाथाएँ हैं और आगमके स्वरूप तथा भेद-प्रभेदोंका वर्णन आया है। श्रुतमुनिकी ये तीनों रचनाएँ उनके सिद्धान्तज्ञानका महत्त्व प्रकट करती हैं। इन रचनाओं पर गोम्मटसार कर्मकाण्ड और जीवकाण्डका प्रभाव पूर्णतया ज्ञात होता है। भावत्रिभङ्गीमें पाँचों भावोंके उत्तर भेदोंमेंसे किस स्थानमें कितने भाव होते हैं और कितने नहीं होते और कितने भाव उसी स्थानमें होकर आगे नहीं होते इन तीनों बातोंका स्पष्टीकरण किया है। इसी कारण इस ग्रन्थका नाम त्रिभंगी है। इसी प्रकार आस्रवप्रत्यय किस गुणस्थानमें कितने होते हैं, कितने नहीं होते और कितने प्रत्यय उसी गुणस्थान तक होते हैं, आगे नहीं होते इन तीनोंका कथन किया है। दोनों त्रिभंगी ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला ग्रन्थसंख्या २० में प्रकाशित हैं।

आचार्य हस्तिमल्ल

जिस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें रामचन्द्र नाटककारके रूपमें ख्यात हैं, उसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदायमें हस्तिमल्ल। हस्तिमल्ल वत्स्यगोत्रीय ब्राह्मण थे और इनके पिताका नाम गोविन्दभट्ट था। ये दक्षिण भारतके निवासी थे। विक्रान्तकौरवकी[1] प्रशस्तिसे अवगत होता है कि गोविन्दभट्टने स्वामी समन्तभद्रके प्रभावसे आकृष्ट होकर मिथ्यात्वका त्याग कर जैनधर्म ग्रहण किया था। गोविन्दभट्टके छह पुत्र थे—१. श्रीकुमारकवि, २. सत्यवाक्य, ३. देवरवल्लभ, ४. उदयभूषण, ५. हस्तिमल्ल और ६. वर्द्धमान। ये छहों पुत्र कवीश्वर थे।

हस्तिमल्लके सरस्वतीस्वयंवरवल्लभ, महाकवितल्लज और सूक्तिरत्नाकर

---

१. गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः ॥१०॥ —विक्रान्तकौरवप्रशस्ति।
× × ×
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देरवल्लभः ॥१२॥ —विक्रान्तकौरवप्रशस्ति।
उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानकः।
वर्धमानकविश्चेति षडभूवन् कवीश्वराः ॥१३॥ —विक्रान्तकौरवप्रशस्ति।

विरुद[1] थे। उनके बड़े भाई सत्यवाक्यने कवितासाम्राज्यलक्ष्मीपति कहकर हस्तिमल्लकी सूक्तियोंकी प्रशंसा की है। 'राजावलिकथे' के कर्त्ताने उन्हें 'द्वयभाषाकविचक्रवर्त्ती' लिखा है।

प्रतिष्ठासारोद्धारके रचयिता ब्रह्मसूरिने अपने वंशका परिचय देते हुए लिखा है कि पाण्डयदेशमें गुडिपत्तनके शासक पाण्डयनरेन्द्र थे। ये पाण्डय राजा बड़े धर्मात्मा, वीर, कलाकुशल और पण्डितोंका सम्मान करते थे। वहाँ ऋषभदेवका रत्न-स्वर्णजटित सुन्दर मन्दिर था, जिसमें विशाखनन्दि आदि मुनि रहते थे। गोविन्दभट्ट भी यहीं निवास करते थे।

हस्तिमल्लके पुत्रका नाम पार्श्वपण्डित बताया जाता है जो कि पिताके समान ही यशस्वी और बहुशास्त्रज्ञ था। वह अपने वशिष्ठ काश्यपादि बन्धुओं-के साथ होयसल देशकी राजधानी छत्रत्रयपुरीमें जाकर रहने लगा। पार्श्व-पण्डितके चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय पुत्र हुए। चन्द्रपके पुत्र विजयेन्द्र और उनके पुत्र इन्द्रसूरि हुए। अतएव स्पष्ट है कि गुडिपत्तनद्वीप वर्त्तमान तन्जोर जिलान्तर्गत दीपनगुडि स्थान ही है। नाटककार हस्तिमल्ल इसी स्थानके निवासी थे। हस्तिमल्ल गृहस्थावस्थामें पुत्र-पौत्रादिसे समन्वित थे। इनका यह वास्तविक नाम नहीं है। यह उपाधिप्राप्त नाम है। वास्तविक नाम मल्लिषेण था। आपटेने दक्षिणके ग्रन्थागारोंके ग्रन्थोंकी जो सूची तैयार की थी, उसमें मल्लिषेण और हस्तिमल्ल ये दोनों नाम मिलते हैं। मल्लिषेण नाम सेनगणीय आचार्योंकी परम्परामें अपनेको सम्मिलित करनेका सूचक है, क्योंकि दक्षिणमें उन दिनों सेनगणीय आचार्योंकी बड़ी प्रतिष्ठा[2] थी। परवादीरूपी हस्तियोंको वश करनेके कारण हस्तिमल्ल यह उपाधिनाम पीछे प्रसिद्ध हुआ होगा।

हस्तिमल्ल युवावस्थामें उद्धत और अभिमानी थे, यह विक्रान्तकौरवकी प्रस्तावनासे स्पष्ट है। वे अपनेको सरस्वती द्वारा स्वयंवृतपति समझते हैं। निःसंदेह हस्तिमल्ल भ्रमणप्रिय थे। यही कारण है कि सुभद्रानाटिकामें भ्रमणको उन्होंने पुरुषोंका सुख माना[3] है। पिताकी आज्ञाको ये अलंघ्य मानते[4] थे। ये अपने प्रारम्भिक जीवनमें कीर्तिके अभिलाषी थे। इन्होंने अपने जीवनमें

१. सूत्रधार.......अस्ति किल सरस्वतीस्वयंवरवल्लभेन भट्टारगोविन्दस्वामिसूनुना हस्तिमल्लनाम्ना महाकवितल्लजेन विरचितं विक्रान्तकौरवं नाम रूपकमिति।
—विक्रान्तकौरवप्रशस्ति, पृ० ३, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई १९७२।

२. प्रशस्ति संग्रह, आरा, पृ० १०५।

३. नानादेशपरिभ्रमो नामैकं सौख्यं पुरुषस्य—सुभद्रा नाटिका, पृ० २।

४. पितःस्तु संकेतमलंघनीयं—विक्रान्तकौरव, ७४।५।

कीर्ति प्राप्त भी की। इन्हें भाग्यवादी भी माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि पहले राज्य द्वारा तिरस्कृत हुए, पश्चात् इन्हें सम्मान प्राप्त हुआ। सभी नाटकोंमें भाग्य और पूर्वजन्ममें किये गये कर्मोंकी मान्यता प्रकट करनेवाले अनेक स्थल आये। इनके नाटकोंके अध्ययनसे अवगत होता है कि आचार्य-हस्तिमल्ल, बहुभाषाविद्, कामशास्त्रज्ञ, सिद्धान्ततर्कविज्ञ एवं विविध शास्त्रोंके ज्ञाता थे। संगीतशास्त्रकी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें विक्रान्तकौरव और मैथिली-कल्याणमें आती हैं।

गुरुपरम्परा

विक्रान्तकौरवमें जो वंशपरम्परा दी है, उससे इनके समय एवं गुर्वावलीपर प्रकाश पड़ता है। वंशपरम्परा निम्न प्रकार है—
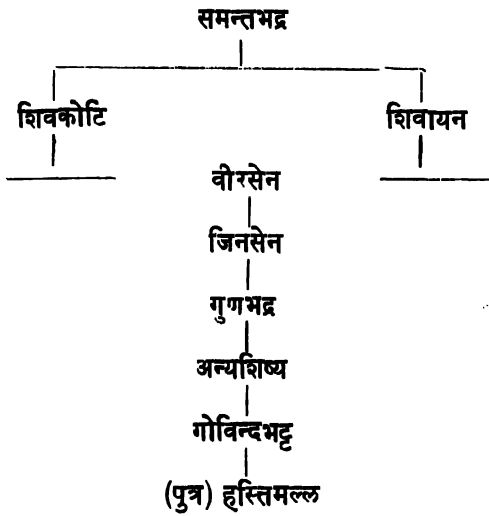
नेमिचन्ददेवने प्रतिष्ठातिलकमें जो वंशपरम्परा दी है वह निम्न प्रकार है—
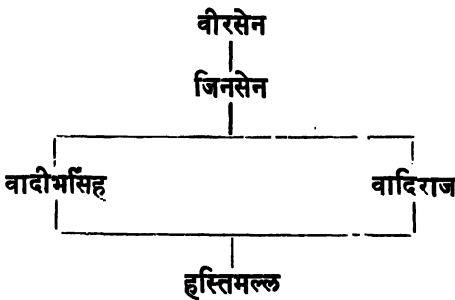
यह वंशपरम्परा प्रस्तुत हस्तिमल्लकी है, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता। यदि इन्हीं हस्तिमल्लकी है, तो उनके दो पुत्र होने चाहिये एक पार्श्व-पण्डित और दूसरा परवादिमल्ल। पार्श्वपण्डितकी परम्परामें ब्रह्मसूरि और परवादिमल्लकी परम्परामें नेमिचन्द माने जायेंगे।

अय्यपार्य द्वारा जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयमें जो वंशपरम्परा दी गयी है वह गुरु-शिष्य परम्परा है। हस्तिमल्लके पूर्वकी तो वही परम्परा है, जो हस्तिमल्ल और ब्रह्मसूरि द्वारा दी गयी है। हस्तिमल्लके पश्चात्‌की गुरु-शिष्यपरम्परा निम्न-प्रकार है—

१. हस्तिमल्ल
|
२. गुणवीर सूरि
|
३. पुष्पसेन
|
४. करुणाकर
|
५. (पुत्र) अय्यपार्य

विक्रान्तकौरवमें जो गुरु-शिष्यपरम्परा दी गयी है उसके अनुसार समन्त-भद्रकी शिष्य-परम्परामें शिवकोटि और शिवायन हुए। शिवायन शिवकोटिका छोटा भाई था और इनकी परम्परामें वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अन्य शिष्य गोविन्दभट्ट और हस्तिमल हुए। अतएव संक्षेपमें यह माना जा सकता है कि हस्तिमल्ल सेनसंघके आचार्य हैं और ये वीरसेन और जिनसेनकी परम्परामें हुए हैं।

स्थितिकाल

'कर्णाटककविचरिते'के अनुसार कवि हस्तिमल्लका समय वि० सं० १३४७ (ई० सन् १२९०) है। अय्यपार्य नामक विद्वानने जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयनामक ग्रन्थ वस्तुनन्दिप्रतिष्ठापाठ, इन्द्रनन्दिसंहिता, आशाधरप्रतिष्ठापाठके आधार-पर लिखा है। यह जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय वि० संवत् १३७६ (ई० सन् १३१९) में रचा गया है। अतः हस्तिमल्लके समयकी उत्तरवर्ती सीमा ई० सन् १३१९के पश्चात् नहीं हो सकती। हस्तिमल्लकी पूर्ववर्ती समयसीमा गुणभद्राचार्यके बाद ही होना चाहिये। इनके प्राप्त नाटकोंकी कथावस्तुका आधार 'महापुराण' और 'पद्मचरित' है। अतएव इनका समय ई० सन्‌की ९वीं शतीके पूर्व सम्भव नहीं है। श्री एम० कृष्णमाचार्यरने अपनी History of classical sanskrit lite rature में हस्तिमल्लके समयपर विचार करते हुए लिखा है—

"His father was a remote disciple of Gunabhadra, the disciple of Jinasena who lived about Saka 705. Hastimalla probably lived in the 9th Century[1] A.D."

अतः स्पष्ट है कि हस्तिमल्लके पिता गुणभद्रके शिष्य थे। इस कारण हस्ति-मल्लका समय गुणभद्रके पश्चात् और ई० सन् १३१९के पूर्व होना चाहिये। अब विचारणीय यह है कि हस्तिमल्लको इस समयसीमाके बीच कहाँ रखा जाय? हस्तिमल्ल पाण्ड्यनरेश द्वारा सम्मानित थे तथा सुन्दरपाण्ड्यने, जो कि पाण्ड्यनरेशका उत्तराधिकारी था, कविका सम्मान किया था। सुन्दरपाण्ड्य-का राज्यकाल वि० सं० १२०७ (ई० सन् १२५०) है। अतएव इनका समय ई० सन् की १३वीं शताब्दी होना चाहिये। श्री वासुदेव पटवर्धनने अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है—

"In Conclusion the only thing we can say about Hastimalla's

---

१. History of classical Sanskrit literature. Madras 1937, Page 641-42.

date is that he lived sometimes between the end of the 9th and the end of the 13th century[1] A.D."

अप्पार्य नामक विद्वानने सन् १३२०में अपना प्रतिष्ठापाठ लिखा है। उन्होंने इसकी आरम्भिक प्रशस्तिमें पण्डित आशाधर और हस्तिमल्लके नामका उल्लेख किया है। उस प्रशस्तिमें यद्यपि आशाधरका उल्लेख पहले और हस्तिमल्लका उल्लेख आशाधरके पश्चात् आया है, इससे इन दोनोंका समकालीन होना सिद्ध होता है। अतएव हमारी नम्र सम्मतिके अनुसार हस्तिमल्लका समय वि० संवत् १२१७–१२३७ (ई० सन ११६१–११८१) तक माना जाना चाहिये।

रचनाएँ

उभयभाषाकविचक्रवर्ती आचार्य हस्तिमल्लके निम्नलिखित चार नाटक और एक पुराण ग्रन्थ प्राप्त हैं। इनके द्वारा विरचित एक प्रतिष्ठापाठ भी बताया जाता है।

विक्रान्तकौरव—इस नाटकमें छह अङ्क हैं। महाराज सोमप्रभके पुत्र कौरवेश्वरका काशीनरेश अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाके साथ स्वयम्वरविधिसे विवाह सम्पन्न होनेकी कथावस्तु वर्णित है। कविने सुलोचना और कौरवेश्वरके प्रेमाकर्षणका सुन्दर चित्रण किया है।

जब स्वयंवरमें सुलोचना कौरवश्वरका वरण कर लेती है, तो चक्रवर्ती भरतका पुत्र अर्ककीर्ति काशीनरेशसे रुष्ट हो जाता है। राजा अकम्पन अपनी छोटी पुत्री रत्नमालाके साथ विवाह कर देना चाहता है, पर अर्ककीर्ति सहमत नहीं होता। फलतः कौरवेश्वरका अर्ककीर्तिके साथ युद्ध होता है, जिसमें अर्ककीर्ति परास्त हो जाता है। महाराज अकम्पन इस युद्धसे बहुत ही चिन्तित हैं। इसी बीच चक्रवर्तीका सन्देश प्राप्त होता है, जिसमें वे अर्ककीर्तिके अनुचित व्यवहारकी भर्त्सना करते हैं। फलतः अर्ककीर्ति अकम्पनके प्रस्तावको स्वीकार कर लेता है और रत्नमालाके साथ उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है। अनन्तर अकम्पन कौरवेश्वरके साथ सुलोचनाका विवाह भी सम्पन्न कर देता है।

नाटककारने कथावस्तुका संघटन नाटकीय सिद्धान्तोंके आधारपर किया है। इसमें प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँचों अवस्थाएँ घटित हुई हैं। कथावस्तुका क्रमनियोजन सरलरेखाके रूपमें सम्पन्न नहीं हुआ है। कथाका क्रम वक्ररेखाके रूपमें गतिशील होकर उद्देश्यको प्राप्त

---

१. 'अञ्जनापवनंजयं नाटकं सुभद्रा नाटिका च'का Introduction, Page 14, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई १९५०।

हुआ है। नायक धीरोदात्त और प्रतिनायक धीरोद्धत है। कविने सौन्दर्यानुभूतिमें सहायक मानवीय व्यापारों और उनके परस्पर सम्मिलित संघर्षोंका वर्णन किया है। कथावस्तुका अन्तिम लक्ष्य ऐहिक सिद्धि है। कविने भरत वाक्यमें काम और धर्म दोनों पुरुषार्थोंकी प्राप्तिकी कामना की हं।

२. मैथिलीकल्याणम्—यह पाँच अंकोंका नाटक है। इसमें बताया गया है कि वसंतोत्सवके अवसरपर सीता उपवनमें कामदेवके मन्दिरके निकट झूला झूलते समय रामके अपूर्व सौन्दर्यका दर्शन कर अभिभूत हो जाती हैं और राम भी सीताके दर्शनसे प्रेमविह्वल होते हैं। माधवी वनमें पुनः सीता और रामका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार कविने स्वयंवरके पूर्व राम और सीताके मिलनाकर्षणका सुन्दर चित्रण किया है। स्वयम्वरमें वज्रावर्त धनुषके तोड़नेकी शर्त रखी जाती है। अनेक राजा धनुषपर अपनी शक्ति आजमाते हैं, पर उनके प्रयत्न विफल हो जाते हैं। राम सहजभावसे आकर धनुषकी प्रत्यञ्चाको चढ़ाते हैं और धनुष टूट जाता है। जनक रामके साथ सीताका विवाह कर देते हैं।

३. अञ्जनापवनंजयं—इसमें सात अंक हैं। विद्याधरराजा प्रह्लादके पुत्र पवनंजय एवं विद्याधरकुमारी अञ्जनाके विवाहका वर्णन है। महेन्द्रपुरके राजमहलमें अञ्जना अपनी सखी वसंतमाला और मधुलिका तथा मालती नामक परिचारिकाओंके साथ प्रवेश करती है। उनकी चर्चाका विषय है निकट भविष्यमें होनेवाला स्वयंवर तथा उसका परिणाम। पवनंजय छिपकर अपने मित्र विदूषकके साथ राजमहलमें सखियोंके वार्तालापको सुनता है और उसे यह मिथ्या विश्वास हो जाता है कि अञ्जना उससे वास्तविक प्रेम नहीं करतो। अतः विवाहके पश्चात् अञ्जनाका परित्याग कर देता है। वरुणके विरुद्ध रावणको सामरिक सहायता देनेके लिए पवनंजय जाता है। वह वहाँ कुमुदवतीके तीरपर चक्रवाकीको कामाभिभूत देख अञ्जनाकी स्मृतिसे आकुलित हो जाता है। फलतः वह विमान द्वारा आदित्यपुरमें आता है और अंजनाके भवनमें रात्रि व्यतीत कर प्रातःकाल होनेके पूर्व ही समरभूमिको चला जाता है। अञ्जनाके प्रकट होते हुए गर्भचिह्नोंको देखकर, उसपर दुराचारिणी होनेका अभियोग लगाया जाता है। अञ्जनाको घरसे निर्वासित कर दिया जाता है। कुमार जब विजयसे लौटकर आता है, तो अञ्जनाको न पाकर बहुत दुःखी होता है और उसकी तलाशमें निकल पड़ता है। किसी प्रकार दोनोंका मिलन होता है।

४. सुभद्रानाटिका—इस नाटिकामें चार अंक हैं। महारानी वेलाती महा-

राज भरत और सुभद्राके प्रेममें विघ्न बनती है। सुभद्रा और भरतका प्रेमाकर्षण अहर्निश वृद्धिगत होता जाता है। अन्तमें नमि अपनी बहिन सुभद्राका विवाह भरत महाराजके साथ यह कहकर सम्पन्न करते हैं कि ज्योतिषियोंने यह भविष्यवाणी की है कि सुभद्राका विवाह जिसके साथ सम्पन्न होगा, वह चक्रवर्ती बनेगा। महारानी वैलाती पति-अभ्युदयको सुनकर उक्त प्रस्तावसे सहमत हो जाती है और सुभद्राका विवाह भरतके साथ सम्पन्न हो जाता है।

५. आदिपुराण—जैन सिद्धान्त भवन आरा ग्रन्थागारमें इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि वर्तमान है। कथावस्तु जिनसेनके आदिपुराणके समान ही है।

उपर्युक्त चार नाटकोंके अतिरिक्त १. उदयनराज २. भरतराज, ३. अर्जुनराज और ४. मेघेश्वर ये चारनाटक और इनके द्वारा विरचित माने जाते हैं। भरतराज सम्भवतः सुभद्रानाटिका और मेघेश्वर विक्रान्तकौरवका ही अपरनाम है। उदयनराज और अर्जुनराज इन दो नाटकोंके सम्बन्धमें अभी तक यथार्थ जानकारी उपलब्ध नहीं है।

आचार्य हस्तिमल्ल अत्यन्त प्रतिभाशाली और बहुशास्त्रज्ञ विद्वान् हैं।

आचार्य माघनन्दि

जैन साहित्यमें माघनन्दि नामके तेरह आचार्योंका उल्लेख प्राप्त होता है। १. एक आचार्य कुन्दकुन्दके आम्नायमें कुलभूषणके शिष्य माघनन्दिका उल्लेख आता है। यह गुरु-शिष्यपरम्परा निम्न प्रकार है—
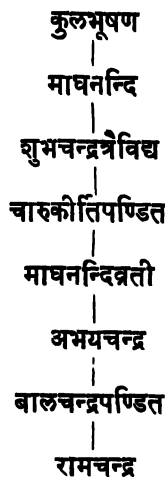
२. दूसरे माघनन्दिव्रती चारुकीर्ति पण्डितके शिष्य हैं। ३. तीसरे माघ-

नन्दि कोल्हापुरीय हैं जो कुलचन्द्रदेवके शिष्य थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

४. चतुर्थ माघनन्दि मूलसंघ देशीयगण वक्रगच्छ कुन्दकुन्दान्वयके हैं। इस आम्नायमें देवेन्द्र सिद्धान्तदेवके पश्चात् चतुर्मुखदेवका द्वितीय नाम वृषभ-नन्द्याचार्य दिया है। चतुर्मुखदेवके शिष्योंमें महेन्द्रचन्द्र पण्डितदेवका नाम प्रसिद्ध है। माघनन्दिके शिष्योंमें त्रिरत्ननन्दिका नाम अधिक प्रसिद्ध है। श्रवण-बेलगोलाके ५५वें अभिलेखमें चतुर्मुखदेवके ८४ शिष्योंके नाम आये हैं। इन्हीं शिष्योंमें एक माघनन्दि भी हैं। ५. पंचम माघनन्दि गुप्तिगुप्तके शिष्य हैं। इनकी गुरुपरम्परामें भद्रबाहुके शिष्य गुप्तिगुप्त, गुप्तिगुप्तके शिष्य माघनन्दि, माघनन्दिके शिष्य जिनचन्द्र और जिनचन्द्रके शिष्य कुन्दकुन्द बताये गये हैं। ये माघनन्दि श्रुतज्ञानियोंमें परिगणित हैं। ६. छठे माघनन्दि नयकीर्तिके शिष्य हैं। इनका उल्लेख श्रवणबेलगोलाके अभिलेखसंख्या ४२, १२४ और १२८में आया है। बताया है—

"गाम्भीर्य्ये मकराकरो वितरणे कल्पद्रुमस्तेजसि
प्रोच्चण्ड-द्युमणिः कलास्वपि शशी धैर्य्ये पुनर्मन्दरः।
सर्व्वोर्व्वी-परिपूर्ण-निर्म्मल-यशो-लक्ष्मी-मनोरञ्जनो
भात्यस्यां भुवि माघनन्दिमुनिपो भट्टारकाग्रेसरः[1]॥"

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ४२, पद्यसंख्या ३६, पृ० ४०।

इस पद्यमें माघनन्दिको समुद्रके समान गम्भीर, कल्पवृक्षके समान दानशील, सूर्यके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान कलावान्, मन्दराचलके समान धैर्यशील और समस्त पृथ्वीमें निर्मल यशस्वी प्रकट किया गया है। ७. सप्तम माघनन्दि श्रीधरके शिष्य हैं। श्रवणबेलगोलाके ४२वें अभिलेखमें बताया है कि ये माघनन्दि सिद्धान्तचक्रेश्वर कहलाते थे। ८. अष्टम माघनन्दि मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयके हैं। इनका निर्देश निम्नलिखित अभिलेखमें आया है—

'स्वस्ति श्रीमूलसंघदेशियगण-पोस्तकगच्छद कोण्डकुन्दान्वय कोल्लापुरद सावन्तन बसदिय प्रतिबद्धद श्री माघनन्दि-सिद्धान्त-देवर शिष्यरु शुभचन्द्र-त्रैविद्य-देवर शिष्यरप्प सागरणन्दि-सिद्धान्तदेवरिगे वसुधैक-बान्धव श्री करणद रेचिमय्यदण्डनायकरु शान्तिनाथ-देवर प्रतिष्ठेयं माडिधारा-पूर्व्वकं कोट्टरु[1]।"
९. नवम माघनन्दि योगीन्द्र हैं। इन्होंने शास्त्रसारसमुच्चय नामक ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थके अन्तमें एक पद्य अंकित है, जिसमें माघनन्दि योगीन्द्रको 'सिद्धान्ताम्बोधिचन्द्रमा' कहा गया है—

श्रीमाघनन्दियोगीन्द्रः सिद्धान्ताम्बोधिचन्द्रमाः।
अचीकरद्विचित्रार्थं शास्त्रसारसमुच्चयम्॥

कर्णाटककविचरितेके अनुसार एक माघनन्दिका समय ई० सन् १२६० है और उन्होंने इस ग्रन्थपर एक कन्नड़-टीका लिखी है तथा ये हो माघनन्दि श्रावकाचारके रचयिता भी हैं। इससे अवगत होता है कि शास्त्रसारसमुच्चयके कर्त्ता ई० सन् १२६० के पहले हुए हैं।

'मद्रास ओरियण्टल लाइब्रेरी'में प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण या जिनसंहिता नामका एक ग्रन्थ है, जिसके प्रारम्भमें लिखा है—

श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तितनूभवः।
कुमुदेन्दुरहं वच्मि प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणम्॥

और अन्तमें लिखा है—

'इति श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तितनूभवचतुर्विधपांडित्यचक्रवर्तिश्रीवादिकुमुदचन्द्रमुनीन्द्रविरचिते जिनसंहिताटिप्पणे पूज्यपूजकपूजकाचार्यपूजाफलप्रतिपादनं समाप्तम्॥'

इससे स्पष्ट है कि प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणके कर्त्ता कुमुदचन्द्र माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य थे।

---

१. जैन शिला लेख संग्रह, अभिलेखसंख्या ४७१ पृ० ३७५।

माघनन्दि-श्रावकाचार और शास्त्रसारसमुच्चयके टीकाकार माघनन्दिने 'कर्णाटककविचरिते'के अनुसार कुमुदेन्दुको अपना गुरु बताया है। सम्भव है कि शास्त्रसारसमुच्चयके कर्त्ता माघनन्दिके शिष्य कुमुदचन्द्र ही श्रावकाचारके रचयिताके गुरु हों। श्री प्रेमीजीका यह अनुमान सत्य प्रतीत होता है कि दादा और पौत्रके नाम समान हो सकते हैं। अतएव शास्त्रसारसमुच्चयके कर्त्ताका समय ई० सन् की १२वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है।

रचना-परिचय

यह ग्रन्थ चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायमें तीन काल, दश कल्प-वृक्ष, चतुर्दश कुलकर, षोडश भावना, चतुर्विंशति तीर्थंकर, ३४ अतिशय, पञ्चमहाकल्याण, चार घातियाकर्म, १८ दोष, ११ समवशरणभूमि, द्वादश गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, अनन्तचतुष्टय, द्वादश चक्रवर्ती, सप्त अग, चतुर्दश रत्न, नवनिधि, दशांग भोग, नव वासुदेव, नव नारद और एकादश रुद्रोंका कथन आया है। यह ग्रन्थ सूत्रशैलीमें लिखा गया है। प्रथम अध्यायमें २० सूत्र हैं।

द्वितीय अध्यायमें ४५ सूत्र हैं। तीन लोक, सात नरक, ४९ पटल, इन्द्रक, प्रकीर्णक और श्रेणीबद्ध बिल, चार प्रकारके दुःख, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्रादि द्वीप और समुद्र, मनुष्यलोक, ९६ कुभोगभूमि, पञ्चमन्दराचल, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, शतसरोवर, सहस्र कनकाचल, शतवक्षारगिरि, षष्ठिविभंगनदी, भोगभूमि, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवोंका कथन आया है।

तृतीय अध्यायमें ६६ सूत्र हैं। इसमें पञ्च लब्धि, तीन करण सम्यक्त्वके भेद-प्रभेद, अष्ट अंग, अष्ट गुण, पञ्च अतिचार, ११ निलय, सप्त व्यसन, तीन शल्य, आठ मूलगुण, पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, दैनिक षट्-कर्म, दशविध पूजा, चार प्रकारके दान, १२ अनुप्रेक्षा, १० धर्म, २८ मूलगुण, पाँच प्रकारके स्वाध्याय, चार प्रकारके ध्यान आदि वर्णित हैं।

चतुर्थ अध्यायमें ६५ सूत्र हैं। इसमें छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, दो प्रकारके प्रमाण, पाँच प्रकारके ज्ञान, तीन कुज्ञान, मतिज्ञानके ३३६ भेद, श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेद, नव नय सप्त भंग, पाँच भाव, गुणस्थान, जीव समास, प्राण, संज्ञा, लेश्या, अष्ट कर्म, चार प्रकारके बन्ध, कर्मोंकी मूल उत्तर प्रकृतियाँ और सिद्धोंके अष्टगुण प्रतिपादित हैं। छोटा-सा ग्रन्थ होनेपर भी सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान और आचारकी जानकारी प्राप्त करनेके लिए उपयोगी है।

वज्रनन्दि

मल्लिषेणप्रशस्तिमें वज्रनन्दिका नाम आया है। इन्हें नवस्तोत्रका रचयिता बताया है। लिखा है—

नवस्तोत्रं तत्र प्रसरति कवीन्द्राः कथमपि
प्रणामं वज्रादौ रचयत परन्नन्दिनि मुनौ।
नवस्तोत्रं येन व्यरचि सकलार्हत्प्रवचन-
प्रपञ्चान्तर्भाव-प्रवण-वर-सन्दर्भसुभगं[1] ॥

आचार्य जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें भी वज्रसूरिका उल्लेख किया है—

वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणं प्रवक्तृणामिवोक्तयः[2] ॥

अर्थात्, जो हेतुसहित बन्ध और मोक्षका विचार करनेवाली हैं, ऐसी श्री वज्रसूरिकी उक्तियाँ धर्मशास्त्रका व्याख्यान करनेवाले गणधरोंकी उक्तियोंके समान हैं, प्रमाणरूप हैं। इस कथनसे यह ध्वनित होता है कि वज्रसूरि प्रसिद्ध सिद्धान्तशास्त्रके वेत्ता हुए हैं। अपभ्रंश भाषाके कवि धवलने अपने हरिवंश-पुराणमें लिखा है—

वज्जसूरि सुपसिद्धउ मुणिवरु, जेण पमाणगंथु किउ चंगउ।

अर्थात् वज्रसूरि नामके प्रसिद्ध मुनिवर हुए, जिन्होंने सुन्दर प्रमाणग्रन्थ बनाया। जिनसेन और धवल दोनोंने ही वज्रसूरिका उल्लेख पूज्यपादके पश्चात् किया है। अतएव ये वही वज्रनन्दि मालूम होते हैं, जो पूज्यपादके शिष्य थे और जिन्हें देवसेनसूरिने अपने दर्शनसारमें द्राविडसंघका संस्थापक बतलाया है। नवस्तोत्रके अतिरिक्त इनका कोई प्रमाणग्रन्थ भी था। जिनसेनके उल्लेखसे इनके किसी सिद्धान्तग्रन्थके होनेकी भी सम्भावना की जा सकती है।

महासेन द्वितीय

जिनसेन प्रथमने अपने हरिवंशपुराणमें सुलोचनाकथाके रचयिता महासेन-का उल्लेख किया है। लिखा है—

महासेनस्य मधुरा शीलालङ्कारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना[3] ॥

---

१. जैनशिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, पद्य ११।

२. हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण, १।३२।

३. वही, १।३३।

अर्थात् माधुर्यगुणसे सहित अलङ्कार और रसयुक्त महाकवि महासेनकी सुलोचनाकथा किसके मनका हरण नहीं करती है। धवल कविने भी अपभ्रंशके हरिवंशपुराणमें सुलोचनाकथाकी प्रशंसा की है—

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण, पउमचरिउ मुणि रविसेणेण।

कुवलयमालाके रचयिता उद्योतनसूरिने भी महासेनकविकी सुलोचना-कथाकी चर्चा की है। यह कथा सम्भवतः प्राकृतमें रही होगी। लिखा है—

सण्णिहियजिणवरिंदा धम्मकहाबंधदिक्खियणरिंदा।
कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समवसरणं व ॥३९॥

अर्थात् जिसने समवशरण जैसी सुकथिता सुलोचनाकथा लिखी, जिस तरह समवशरणमें जिनेन्द्र स्थित रहते हैं और धर्मकथा सुनकर राजा लोग दीक्षित होते हैं, उसी प्रकार सुलोचनाकथामें भी जिनेन्द्र सन्निहित हैं और उसमें राजाने दीक्षा ले ली है।

उद्योतनसूरिने जिनसेन प्रथमसे ५ वर्ष पूर्व अपने ग्रन्थकी रचना की है। अतएव यह निश्चित है कि दोनोंके द्वारा प्रशंसित सुलोचनाकथा एक ही है। महासेनका समय ई० सन्की ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध या ९ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये।

आचार्य सुमतिदेव

मल्लिषेणप्रशस्तिमें सुमतिदेव नामके आचार्यका उल्लेख है, जो सुमति-सप्तकके रचयिता हैं। लिखा है—

सुमति-देवममुं स्तुतयेन वस्सुमति-सप्तकमाप्ततयाकृतं[1]।
परिहृतापथ-तत्त्व-पथार्त्थिनां सुमति-कोटि-विवर्त्तिभवार्त्तिहृत् ॥१३॥

श्री प्रेमीजीने वादिराजसूरि द्वारा पार्श्वनाथचरित उल्लिखित सन्मति आचार्यको सुमतिदेवसे अभिन्न स्वीकार किया है और इन सन्मतिने सिद्धसेनके संमतिप्रकरण नामक ग्रन्थपर टीका लिखी थी। श्री प्रेमीजीने मल्लिषेणप्रशस्ति-में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दि, वक्रग्रीव, वज्रनन्दि और पात्रकेसरीके पश्चात् सुमतिदेवकी स्तुति किये जानेके कारण इनका समय ७ वीं, ८ वीं शताब्दी अनुमानित किया है।

१. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या ५४, पद्य १३।

पद्मसिंह मुनि

पद्मसिंहमुनिने ज्ञानसार नामक प्राकृतग्रन्थकी रचना वि० सं० १०८६ में अम्बक नामके नगरमें की है। लिखा है—

णियमणपडिबोहत्थं परमसरूवस्स भावणणिमित्तं।
सिरिपउमसिंहमुणिणा णिम्मवियं णाणसारमिणं॥
सिरिविक्कमस्स काले दशसयछासीजुयंमि वहमाणे।
सावणसियणवमीए अंवयणयरम्मि कयमेयं[1]॥

इन गाथाओंसे स्पष्ट है कि पद्मसिंहमुनिने ६३ गाथाएँ ७४ श्लोक प्रमाणमें रची हैं। कवि ज्ञान, प्रमाण, नय, कर्मसिद्धान्त आदि विषयोंका पूर्ण ज्ञाता है। भगवान् वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करनेके पश्चात् बताया है कि कर्मसम्बद्ध जीव वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे दुःखभारसे आक्रान्त हो चतुर्गतिमें भ्रमण करता है—

जीवो कम्मणिबद्धो चउगइसंसारसायरे घोरे।
वुड्ढई दुक्खक्कंतो अलहंतो णाणबोहित्थं[2]॥

माधवचन्द्र त्रैविद्य

माधवचन्द्र नामके १०-११ विद्वान् दिखलाई पड़ते हैं। एक माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव हैं, जिन्होंने त्रिलोकसारपर संस्कृत-टीका लिखी है। ये आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य थे। इनका समय ई० सन् ९७५-१००० होना चाहिए।

दूसरे माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव वे हैं जिनके शिष्य नागचन्द्रदेवके पुत्र मादेयसेन बोवको तोलपुरुष विक्रम शान्तरकी रानी पालियक्कने अपनी माताकी स्मृतिमें निर्मापित पालियक्कबसतिके लिए दान दिया था[3]। लूईस राईसने इस अभिलेख-का समय लगभग ९५० ई० अनुमानित किया है, किन्तु स्वयं तोलपुरुष विक्रम-शान्तरका शिलालेख ई० सन् ८९७ का प्राप्त है[4]। अतः यह माधवचन्द्र त्रैविद्य-देव, जो इस नामके सर्वप्रथम ज्ञात आचार्य हैं, ९०० ई० के लगभग हुए होंगे। एक माधवचन्द्र नन्दिसंघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छकी पट्टावलीमें महीचन्द्रके पूर्व उल्लिखित हैं। पट्टावलीके अनुसार उनका समय ई० सन् ९३३-९६६ है।[5]

---

१. ज्ञानसार, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १३, गाथा ६१—६२।
२. वही, गाथा २।
३. एपि० कर्ण० ८, नागर ४५।
४. एपि० कर्ण० ८, नागर ६०।
५. जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग ९, किरण २, पृष्ठ १११।

चतुर्थ माधवचन्द्र वे हैं, जिनका स्मरण दुर्गदेवने किया है। दुर्गदेवने श्रीनिवास राजाके राज्यमें कुम्भनगरमें रिष्टसमुच्चयकी रचना की थी। स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द्रने श्रीनिवास या लक्ष्मीनिवासको एक साधारण सरदार माना है और कुम्भनगरको भरतपुरके निकटवाला कुम्भेर या कुम्भेरी कहा है। दुर्गदेवने अपने गुरुसंयमसेनके साथ माधवचन्द्रका भी स्मरण किया है। इन्होंने माधवचन्द्रके सम्बन्धमें लिखा है—

जयउ जए जियमाणो संजमदेवो मुणीसरो इत्थ।
तहवि हु संजमसेणो माहवचन्दो गुरू तह य[1]॥

अर्थात् संयमदेवके गुरु संयमसेन और संयमसेनके गुरु माधवचन्द्र बताये गये हैं। दुर्गदेवके गुरुका नाम संयमदेव है और दुर्गदेवका समय ई० सन् १०३२ है। अतएव माधवचन्द्रका समय इनसे ५० वर्ष पूर्व होना चाहिए। इस प्रकार ये माधवचन्द्र नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य माधवचन्द्रसे अभिन्न प्रतीत होते हैं।

एक अन्य माधवचन्द्रका निर्देश देवगढ़के ई० सन् १०८२ के अभिलेखमें आया है। मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ हनसोगेबलिके आचार्यके रूपमें भी एक माधवचन्द्रका निर्देश प्राप्त होता है। विष्णुवर्धन होयसलने अपने पुत्रके जन्मोपलक्ष्यमें इन्हें द्रोह घरट्ट जिनालयके लिए ग्रामादि दान दिये थे। यह उल्लेख नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य नेमिचन्द्र पण्डितदेवको उसी जिनालयके लिए वर्ष 'प्रमादिन'में दिये गये शासनमें हुआ है[2]। लू० राईसने इस अभिलेखका समय ११३३ ई० अनुमानित किया है। अतः यह माधवचन्द्र ई० सन् ११००-१२२५ के लगभग होने चाहिए।

एक अन्य माधवचन्द्र शुभचन्द्र सिद्धान्तदेवके शिष्य थे। ई० सन् ११३५ के लगभग विष्णुवर्धनके प्रसिद्ध दण्डनायक गंगराजके पुत्र बोप्पदेव दण्डनायकने अपने पिताके बड़े भाई बम्मदेवके पुत्र तथा अनेक बसतियोंके निर्माता एच० राजकी मृत्यूपर इनकी निषद्या बनवाकर उन्हींके द्वारा निर्मापित बसतियोंके लिए स्वयं एच० राजकी पत्नी और माताकी प्रेरणापर इन माधवचन्द्रको धारापूर्वक दान दिया था।[3]

हमारे अभीष्ट माधवचन्द्र नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य हैं, जिन्होंने अपने गुरुकी सम्मतिसे कुछ गाथाएँ यत्र-तत्र समाविष्ट की हैं। यथा—

---

१. रिष्टसमुच्चय, गोधा जैन ग्रन्थमाला, इन्दौर, वि०सं० २००५, पृ० १६८, पद्य२५४।
२. एपि० कर्ण० ५, बेल्लूर, १२४।
३. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेखसंख्या १४४।

गुरुणेमिचंदसम्मदकदिवयगाहा जहिं-तहिं रइया ।
माहवचंदतिविज्जेणिय मणु सदणिज्ज मज्जेहिं ।।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार और प्रेमीजी दोनों ही गोम्मटसारमें उल्लिखित तथा त्रिलोकसारके संस्कृतटीकाकारको नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका शिष्य मानते हैं, पर डॉ० ज्योतिप्रसादजीने क्षपणासारकी प्रशस्तिके आधारपर उसका रचनास्थान दुल्लकपुर∠छुल्लकपुर∠कोल्हापुर बताया है। उसमें तत्कालीन शासक प्रशस्तिमें उल्लिखित भोजराज वही शिलाहारवंशी भोजदेव प्रतीत होते हैं, जिनके राज्यमें सन् १२०५ ई० में आचार्य सोमदेवने शब्दार्णव चन्द्रिकाकी रचना की थी । इन माधवचन्द्रके प्रगुरु सिद्धान्ताधिप नेमिचन्द्रगणि गोम्मटसार त्रिलोकसारादिके कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती नहीं, किन्तु बृहद्‌द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता नेमिचन्द्रसे अभिन्न प्रतीत होते हैं । अतः क्षपणासारके कर्त्ता माधवचन्द्र त्रैविद्य आचार्य नेमिचन्द्रगणिके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्यसे भिन्न हैं।

त्रिलोकसार-संस्कृतटीकाके रचयिता और यत्र-तत्र गाथाओंके निर्माता माधवचन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य ही हैं, उनसे भिन्न अन्य कोई माधवचन्द्र नहीं।

आचार्य नयनन्दि

आचार्य नयनन्दि अपने युगके प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके गुरुका नाम माणिक्यनन्दि त्रैविद्य था। नयनन्दिने अपने ग्रन्थ 'सुदंसणचरिउ'में अपनी गुरु-परम्परा अंकित की है। उन्होंने बताया है कि महावीर जिनेन्द्रके महान् तीर्थमें कुन्दकुन्दान्वयकी क्रमागत परम्परामें नक्षत्र नामके आचार्य हुए। तत्पश्चात् पद्मनन्दि, विष्णुनन्दि और नन्दनन्दि आचार्य हुए। अनन्तर जिनोपदिष्ट धर्मकी शुभरश्मियोंसे विशुद्ध, अनेक ग्रन्थोंके रचयिता, समस्त जगतमें प्रसिद्ध, भवसमुद्रके लिए नौकास्वरूप विश्वनन्दि हुए। तत्पश्चात् क्षमाशील सैद्धान्तिक विशाखनन्दि हुए। इनके शिष्य जिनेन्द्रागमके उपदेशक, तपस्वी, लब्धप्रतिष्ठ, नरेन्द्रों और देवेन्द्रों द्वारा पूज्य रामनन्दि हुए। इनके शिष्य महापण्डित माणिक्यनन्दि हुए, जो अशेष ग्रन्थोंके पारगामी, तपस्वी, अंगोंके ज्ञाता, भव्यरूपी कमलोंके लिए सूर्यतुल्य एवं त्रिलोकको आनन्ददायी थे। उनके प्रथम शिष्य जगत् विख्यात नयनन्दि हुए। लिखा है—

जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महंते। महाकुन्दकुन्दण्णए एंतसंते ।।
सुणक्खाहिहाणो तहा पोमणंदी। पुणो विण्हुणंदी तओ णंदिणंदी ।।

जिणुद्दिट्ठधम्म सुरासीविसुद्धो । कयाणेयगंथो जयंते पसिद्धो ॥
भवंबोहिपोओ महाविस्सणंदी । खमाजुत्तु सिद्धंतिओ विसहणंदी ॥
जिणिंदागमाहासणे एयचित्तो । तवायारणिट्ठाए लद्धाए जुत्तो ॥
णरिंदामरिंदेहिं सो णंदवंदी । हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी ॥
असेसाण गंथाण पारम्मि पत्तो । तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो ॥
गुणावासभूओ सुतिल्लोक्कणंदी । महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी ॥

घत्ता—पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदि अणिंदिउ ।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ बुहअहिणंदिउ[1] ॥९॥

प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि सुनक्षत्र, पद्मनन्दि, विश्वनन्दि, नन्दनन्दि, विष्णुनन्दि, विशाखनन्दि, रामनन्दि, माणिक्यनन्दि और नयनन्दि नामक आचार्य हुए हैं।

स्थिति-काल

'सुदंसणचरिउ'का रचनाकाल स्वयं ही ग्रन्थकर्त्ताने अंकित किया है। यह ग्रन्थ विक्रम संवत् ११०० में रचा गया है। आचार्यने बताया है कि अवन्ति देशकी धारा नगरीमें जब त्रिभुवननारायण श्रीनिकेतनरेश भोजदेवका राज्य था, उसी समय धारा नगरीके एक जैन मन्दिरके महाविहारमें बैठकर वि० सं० ११०० में सुदर्शनचरितकी रचना की। प्रशस्तिमें उल्लिखित मालवाके परमार-वंशी सुप्रसिद्ध नरेश भोजदेव हैं, जिनके राज्यकालके अभिलेख वि० सं० १०७७ से ११०४ तकके पाये जाते हैं। भोजका राज्य राजस्थानके चित्तौड़से लेकर दक्षिणमें कोंकण व गोदावरी तक विस्तीर्ण था। अतएव नयनन्दिका समय वि० सं० की ११वीं शताब्दीका अन्तिम और १२वीं शतीका प्रारम्भिक भाग है।

रचना

नयनन्दिकी 'सुदंसणचरिउ' और 'सयलविहिविहाणकव्व' नामक दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। सुदंसणचरिउ अपभ्रंशका एक प्रबन्धकाव्य है, जो महाकाव्य-की कोटिमें परिगणित किया जा सकता है। रोचक कथावस्तुके कारण आक-र्षक होनेके साथ सालंकार काव्यकलाकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ उच्चकोटिका है। पञ्चनमस्कार मन्त्रका फल प्राप्त करने वाले सेठ सुदर्शनके चरितका वर्णन किया गया है। चरितनायक धीरोदात्त नायकके गुणोंसे परिपूर्ण है। ग्रन्थ १२ सन्धियोंमें विभक्त है।

---

१. सुदंसणचरिउ, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, प्रकाशक जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) सन् १९६०, १२।९।

प्रथम सन्धिमें णमोकारमन्त्रका पाठ करनेसे एक ग्वाला सुदर्शनके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। इस सन्धिमें जम्बूद्वीप, मगधदेश, राजगृह नगर और विपुलाचल पर्वतपर स्थित भगवान् महावीरके समवशरणका वर्णन किया गया है। द्वितीय सन्धिमें राजा श्रेणिकने गौतमगणधरसे पञ्चनमस्कारमन्त्रके फल-के सम्बन्धमें प्रश्न किया। उसके उत्तरमें गौतमगणधरने त्रैलोक्यका वर्णन करके अंगदेश, चम्पानगरी, दधिवाहन राजा, वहाँके निवासी सेठ ऋषभदास, उनकी पत्नी अर्हद्दासी तथा उनके सुभग नामक ग्वालेका वर्णन किया है। इस ग्वालेको एक बार वनमें मुनिराजके दर्शन हुए और उनसे णमोकारमन्त्र प्राप्त कर उसका पाठ करने लगा। सेठने उसे मन्त्रका माहात्म्य समझाया और धर्मोपदेश दिया। उस ग्वालेने गंगानदीमें जलक्रीड़ा करते हुए ठूठसे आहत होकर मन्त्रके स्मरण पूर्वक प्राण त्याग किये।

तृतीय सन्धिमें ग्वालेका वह जीव सेठ ऋषभदासके यहाँ पुत्रके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। सुभग और शुभलक्षणोंसे युक्त होनेके कारण पुत्रका नाम सुदर्शन रखा जाता है। वयस्क होने पर सुदर्शन अनेक प्रकारकी विद्याओं और कलाओंमें निपुणता प्राप्त करता है। सुदर्शनकी सुन्दरताके कारण नगरकी नारियाँ उसपर आसक्त होने लगती हैं।

चतुर्थ सन्धिमें बताया गया है कि सुदर्शनका एक घनिष्ठ मित्र कपिल था। एक दिन वह अपने इस मित्रके साथ नगर-परिभ्रमण कर रहा था कि सुदर्शन-की दृष्टि मनोरमा नामक कुमारी युवतीपर पड़ी और वह उसपर कामासक्त हो गया। मनोरमा भी उस पर मोहित हो गयी।

पञ्चम सन्धिमें सुदर्शन और मनोरमाके विवाहका वर्णन आया है और इसी सन्धिमें महाकाव्यकी प्रथित परम्पराके अनुसार सूर्यास्त, सन्ध्या, रात्रि, प्रभात एवं वर-वधूकी विभिन्न कामक्रीड़ाओंका निरूपण किया गया है।

षष्ठ सन्धिमें सुदर्शनके पिता सेठ ऋषभदास मुनिका दर्शन करते हैं और मुनिके उपदेशसे प्रभावित होकर विरक्त हो जाते है तथा अपने पुत्र सुदर्शनको गृहस्थमार्गकी शिक्षा देकर और उसे समस्त कुटुम्बका भार सौंपकर वे मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और अन्तमें उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

सप्तम सन्धिमें बताया गया है कि सुदर्शनके मित्रकी पत्नी कपिला उनपर मोहासक्त होती है और छलसे उसे अपने यहाँ बुलाती है। सुदर्शन बहाना बनाकर किसी प्रकार अपने शीलकी रक्षा करता है। वसन्तऋतुका आगमन हुआ और उत्सव मनानेके लिए राजा एवं प्रजा सभी उपवनमें सम्मिलित हुए। रानी अभया सुदर्शनके रूपलावण्यको देखकर मुग्ध हो गयी और उसने कपिला-

से मर्मकी बातें कर प्रतिज्ञा की कि वह सुदर्शनको वशीभूत करेगी। अष्टम सन्धिमें अभया रानीकी विरहवेदनाका वर्णन है। अभयाकी दयनीय अवस्था देखकर उसकी पण्डिता नामक सखीने बहुत समझाया, पर रानीका हठ न छूटा और अन्ततः विवश होकर पण्डिताको अभयाकी कामवासना तृप्त करानेके लिए वचनबद्ध होना पड़ा। पण्डिताने एक कुटिल चाल चली। उसने कुम्हारसे मनुष्याकृतिके मिट्टीके सात पुतले बनवाये। वह प्रतिपदासे लेकर सप्तमी तक क्रमसे एक-एक पुतला ढँककर अपने साथ लाती, प्रतोलीके द्वारपर द्वारपालसे झगड़कर पुतला फोड़ डालती और द्वारपालको रानीका भय दिखाकर आगेके लिए उसे चुप करा देती। इस प्रकार पण्डिताने महलके सातों द्वारपालोंको अपने अधीन कर अन्तःपुरका प्रवेश निर्बाध बना दिया। अष्टमीके दिन सुदर्शन श्मशानमें कायोत्सर्ग करनेके लिए गया। पण्डिताने उसके पास जाकर पहले तो उसे ध्यानच्युत एवं प्रलोभित करनेका प्रयत्न किया, पर जब उसे इस असत्प्रयासमें सफलता न मिली, तो वह सुदर्शनको उठाकर राजमहलमें ले गयी। रानी अभयाने सुदर्शनको विचलित करनेके लिए अनेक प्रयास किये, पर सुदर्शन सुमेरुकी तरह अडिग रहा। जब प्रयास करते-करते समस्त रात्रि व्यतीत हो गयी, तो रानीने दूसरा कपटजाल रचा और सुदर्शन पर शीलभंग करनेका आरोप लगाया। राजाने बिना सोचे-समझे सेठ सुदर्शनको प्राणदण्डका आदेश दिया। राजपुरुष उसे पकड़कर श्मशान ले गये और उसकी हत्याका प्रयास करने लगे। सुदर्शनके धर्मध्यानके प्रभावसे एक व्यन्तरदेवने हत्यारोंको स्तम्भित कर दिया और सुदर्शनके प्राणोंकी रक्षा की।

नवम सन्धिमें व्यन्तरदेवका राजाकी सेना एवं राजाके साथ भयानक युद्ध होनेका वर्णन आया है। राजाको अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी और व्यन्तरदेवकी आदेशानुसार उसे सुदर्शनके शरण में जाना पड़ा। सुदर्शनने उसे क्षमा कर दिया।

दशम सन्धिमें जीवनसंकटसे मुक्त होकर जिनमन्दिरमें गया और वहाँ उसने विमलवाहन मुनिसे अपने भवान्तर पूछे। मुनिने उसके क्रमशः व्याघ्र नामक क्रूर भील, श्वान तथा सुभग गोपाल इन तीन भवोंका वर्णन किया। इसी प्रसंगमें णमोकारमन्त्रके प्रभावका भी कथन किया। साथ ही मनोरमाकी पूर्वभवावलि भी बतलायी। मुनिका धर्मोपदेश सुनकर सुदर्शनने महाव्रत धारण कर लिये।

एकादश सन्धिमें मुनि सुदर्शनके ऊपर आये हुए उपसर्गोंका वर्णन है। अभयाके जीव व्यन्तरीने सुदर्शनको नाना प्रकारसे विचलित करनेका प्रयास किया। एक व्यन्तरने आकर उनकी रक्षा की।

बारहवीं सन्धिमें आया है कि सुदर्शन मुनिने चार घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। स्वर्गसे आकर इन्द्रने उनकी स्तुति की और कुवेरने समवसरणकी रचना की। केवलीके अतिशय तथा उनके उपदेशको सुन-कर अभयारानीके जीव व्यन्तरीको भी वैराग्यभाव हो गया और उसने सम्यक्त्वभाव धारण किया।

इस प्रकार इस महाकाव्यमें आकर्षक कथावस्तु गुम्फित है। कोमल पद, गम्भीर अर्थ और अलंकारोंकी अद्‌भुत छटा काव्यसौन्दर्यको वृद्धिगत करती है।

सयलविहिविहाण

'सकलविधिविधान' काव्य ५८ सन्धियोंमें समाप्त हुआ है, पर यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध है। इसमें १६ सन्धियाँ नहीं हैं। प्रारम्भकी दो तीन सन्धियोंमें ग्रन्थके अवतरण आदि पर प्रकाश डाला गया है। १२वीं से १५वीं सन्धि तक मिथ्यात्वके कालमिथ्यात्व और लोकमिथ्यात्व आदि अनेक मिथ्यावोंका स्वरूप बतलाते हुए क्रियावादी और अक्रियावादी आदि भेदोंका विवेचन किया है। १५वीं सन्धिसे ३१वीं सन्धि तक १६ सन्धियाँ प्राप्त नहीं हैं। कविने इस ग्रंथमें विलासिनी, भुजङ्गप्रिया, मञ्जरी, चन्द्रलेखा, मौक्तिकमाला, पादा-कुला, मदनलीला आदि विविध छन्दोंका प्रयोग किया है। अतएव छन्दशास्त्र-की दृष्टिसे भी यह ग्रंथ महनीय है। ३२वीं सन्धिमें मद्य, मांस, मधुके दोष, उदम्बरादि पंचफलोंके त्यागका विधान बताया है। ३३वीं सन्धिमें पञ्चअणु-व्रतोंकी विशेषताओंका वर्णन है और उनमें प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले व्यक्तियोंके आख्यान भी आये हैं। ५६वीं सन्धिके अन्तमें सल्लेखनाका उल्लेख है। इस ग्रन्थमें गृहस्थाचारका वर्णन विस्तारके साथ आया है।

इतिहासकी दृष्टिसे भी यह ग्रंथ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें काञ्ची पुर, अम्बाइय और बल्लभराजका कथन आया है। इस ग्रंथकी रचनाकी प्रेरणा मुनि हरिसिंहने की थी। प्रशस्तिमें वररुचि, वामन, कालिदास, कौतूहल, वाण, मयूर, जिनसेन, वादरायण, श्रीहर्ष, राजशेखर, जसचन्द्र, जयराम, जयदेव, पादलिप्त, पिंगल, वीरसेन, सिंहनन्दि, सिंहभद्र, गुणभद्र, समन्तभद्र, अकलंक, रुद्रगोविन्द, दण्डी, भामह, माघ, भरत, चउमुंह, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र और श्रीकुमारका निर्देश आया है।

इस ग्रंथकी सामग्री अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संसारकी असारता और मनुष्य-की उन्नति-अवनतिका इसमें हृदयग्राही चित्रण आया है।

द्वितीय परिच्छेद

परम्परापोषकाचार्य

प्रास्ताविक

आचार्य केवल 'स्व'का उत्थान ही नहीं करते हैं, अपितु परम्परासे वाङ्मय और संस्कृतिकी रक्षा भी करते हैं। वे अपने चतुर्दिक फैले विश्वको केवल बाह्य नेत्रोंसे ही नहीं देखते, अपितु अन्तःचक्षुद्वारा उसके सौन्दर्य एवं वास्तविक रूपका अवलोकन करते हैं। जगत्के अनुभवके साथ अपना व्यक्तित्व मिला कर धरोहरके रूपमें प्राप्त वाङ्मयकी परम्पराका विकास और प्रसार करते हैं। यही कारण है कि आचार्य अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये अपनी मौलिक प्रतिभाका पूर्णतया उपयोग करते हैं। दायित्व निर्वाहकी भावना इतनी बलवती रहती है, जिससे कभी-कभी परम्पराका पोषण मात्र ही हो पाता है।

यह सत्य है कि वाङ्मय-निर्माणकी प्रतिभा किसी भी जाति या समाजकी समान नहीं रहती है। आरम्भमें जो प्रतिभाएँ अपना चमत्कार दिखलाती हैं,

कुछ शताब्दियोंके बाद उनमें नूतनता नामकी वस्तु कम ही शेष रह जाती है। 'तीर्थंकर महावीर'की जो आरातीय परम्परा आरम्भ हुई, शनैः-शनैः उस परम्परामें भी मौलिकताका ह्रास होने लगा। प्राचीन आचार्योंने जिन विषयों पर ग्रन्थ-रचनाएँ की थीं, उन्हीं विषयोंपर भाषा और शैली बदलकर रचनाएँ लिखी जाने लगीं। अध्यात्म, सिद्धान्त, दर्शन, काव्य, आख्यान, चरित आदि विविध प्रकारके वाङ्मयका निर्माण तो अवश्य हुआ, पर मौलिकताका अभाव होनेके कारण एक प्रकारसे परम्पराका निर्वाह ही होता रहा।

परम्पराके निर्वाहका एक कारण राजनीतिक अस्थिरता भी है। १३वीं शताब्दीसे ह्रासका प्रवेश हुआ और मुस्लिम युगने साहित्य एवं संस्कृतिके विकासमें बहुत अधिक योगदान नहीं दिया है। हिन्दू राजाओंकी राजशक्ति क्षीण हो रही थी, फलतः देशमें स्थिरता और शान्तिका अभाव था। इस वातावरणके प्रभावसे वाङ्मय भी अछूता न रहा और जैनाचार्योंमें ही नहीं, समस्त भारतीय लेखकोंमें मौलिक प्रतिभाका अभाव दिखलायी पड़ने लगा।

सारस्वताचार्यों और प्रबुद्धाचार्योंने जिन रचनाओंका प्रणयन किया था, उन्हीं नामोंको लेकर सरल और चमत्कारशून्य शैलीमें रचनाओंका पुनरावर्तन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि दो-चार प्रतिभाशाली आचार्य इस पुनरावृत्तिकालमें भी उत्पन्न हुए, पर बहुसंख्यक आचार्योंने भावों और सन्दर्भोंका पिष्ट-पेषण ही किया।

परम्परा पोषणका नेतृत्व भट्टारकोंके हाथमें आया, जो कि मठाधीशके रूपमें अपनी विद्याबुद्धिका चमत्कार जनसाधारणके समक्ष प्रस्तुत किया करते थे। वाङ्मय-सृजनकी मौलिक प्रतिभा और अध्ययनका गाम्भीर्य प्रायः इन्हें प्राप्त नहीं था। धनी-मानी शिष्योंसे वेष्टित रहकर तन्त्र-मन्त्र या जादू-टोनेकी चर्चाएँ कर जन-मानसको ये अपनी ओर आकृष्ट करते थे। धर्मप्रचार करना, पूजा प्रतिष्ठाओं द्वारा सर्वसाधारणको धर्मके प्रति श्रद्धालु बनाये रखना एवं वाङ्मयका संरक्षण-सम्वर्द्धन करना प्रायः भट्टारकोंका लक्ष्य हुआ करता था। यही कारण है कि भट्टारकों द्वारा गद्दियोंपर समृद्ध ग्रन्थागार स्थापित किये गये। नवीन रचनाओंके साथ आर्ष और मान्य आचार्यों एवं साहित्यकारों द्वारा रचित विभिन्न प्रकारके वाङ्मयकी प्रतिलिपियाँ भी इन्हींके तत्त्वावधानमें प्रस्तुत की गयीं।

इसमें सन्देह नहीं कि इन भट्टारकोंने परम्पराके संरक्षणमें अपना पूरा योगदान किया है। पर युगकी मांगके अनुसार उत्तम कोटिके वाङ्मयका प्रणयन नहीं किया गया। धर्मप्रचारार्थ कथाकाव्य—चरितकाव्य लिखे हैं और

अधिकांश भट्टारकोंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है, पर इन रचनाओंसे परम्पराका संरक्षण ही हुआ है, विकास नहीं। धर्म और संस्कृतिके विकासका उत्तरदायित्व भट्टारकोंने सम्हाला। आरम्भमें यह वर्ग निश्चय ही निस्पृही, ज्ञानी, त्यागी एवं जितेन्द्रिय था। स्वयं विद्वान् होनेके साथ मनीषी विद्वानोंका संपोषण भी भट्टारकोंकी गद्दियों द्वारा होता रहा।

परम्परापोषणके इस युगमें रचे गये ग्रन्थोंकी संख्या सहस्रों हैं। पर इनका गुणात्मक मूल्य अल्प है। अतः यह युग ग्रन्थ-परिमाणकी दृष्टिसे भले ही महत्त्वपूर्ण हो, पर मूल्योंको दृष्टिसे उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इस परम्पराकी एक विशेषता यह है कि लोक-जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली विविधविषयक रचनाएँ सम्पन्न हुई हैं। परम्परापोषक आचार्यों द्वारा निर्मित वाङ्मयको निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. न्याय-दर्शनविषयक वाङ्मय
२. अध्यात्म एवं सिद्धान्त सम्बन्धी वाङ्मय
३. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक वाङ्मय
४. पौराणिकचरितग्रन्थ
५. लघुप्रबन्धग्रन्थ
६. दूतकाव्य
७. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ग्रन्थ
८. ऐतिहासिक ग्रन्थ
९. सन्धानकाव्य
१०. सूक्तिकाव्य
११. स्तोत्र, पूजा और भक्ति विषयक साहित्य
१२. संहिताविषयक साहित्य
१३. मन्त्र-तन्त्र एवं चमत्कार विषयक साहित्य
१४. व्रतमाहात्म्यसम्बन्धी साहित्य
१५. उद्यापन एवं क्रियाकाण्ड विषयक साहित्य
१६. ज्योतिष-आयुर्वेदविषयक साहित्य

परम्परापोषक आचार्योंने वैदिक और बौद्ध तन्त्र-मन्त्रवादका अध्ययनकर कतिपय रचनाएँ उन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर लिखी हैं, जो जैनदर्शन और आगमको दृष्टिसे अनुकूल सिद्ध नहीं होतीं। शासन-देवोंको महत्त्व देकर, उनके आराधना विषयक ग्रन्थ लिखे हैं। अध्यात्म और कर्मसिद्धान्तके स्थानपर चमत्कारोंका प्रणयन विशेषरूपमें हुआ है। यह सत्य है कि भट्टारकोंने अपने युगकी आव-

श्यकताके अनुसार लोकमानसको श्रद्धालु बनाये रखनेके लिये चमत्कारोंका प्रणयन किया है। यदि भट्टारक अपने युगमें लोकचेतनाका अध्ययन न करते, और तदनुकूल साहित्यका प्रणयन न करते, तो बहुत सम्भव है कि जैनधर्मके अनुयायियोंकी शृंखला टूटने लगती। अतः परम्पराके निर्वाहके लिए भट्टारकोंको बाध्य होकर लोक-साहित्यका सृजन करना पड़ा।

परम्परापोषक आचार्यों द्वारा रचित चरितकाव्योंमें काव्यात्मक अलंकृत शैलीका विकास नहीं हो पाया है। आचार्योंने पौराणिक कथाको ग्रहणकर वर्णन विस्तार और चमत्कारके बिना ही कथाकी धाराको प्रवाहित किया है। परिणाम यह निकला है कि परम्परा-पोषक आचार्यों द्वारा रचित काव्य पुराण तक ही सीमित रह गये। काव्यचमत्कार एवं रसोद्बोधके लिए जिस सौन्दर्यानुभूतिकी आवश्यकता रहती है और जिस सौन्दर्यानुभूतिकी अभिव्यञ्जनासे पौराणिक इतिवृत्तकाव्य बनता है, उसका प्रायः अभाव ही रह गया है। अनुष्टुप्, उपजाति, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित और मालिनी छन्दोंका ही प्रयोग पाया जाता है। छन्दवैविध्य और चित्रमयता प्रस्फुटित नहीं हो पायी है। कथावस्तुमें गहनताकी अपेक्षा व्यासका समावेश हुआ है। घटनाओं, पात्रों या परिवेशकी सन्दर्भपुरस्सर व्याख्याके स्थानपर केवल वातावरणके सौरभका ही नियोजन हो सका है। अतः इस युगमें पुराण और काव्य साधारणीकरणकी स्थितिको प्राप्त नहीं हो सके। मर्मस्पर्शी कथानकोंके स्थानपर अवान्तर और जन्म-जन्मान्तरके आख्यानोंका विस्तृत जाल इन आचार्योंकी रचनाओंमें गुम्फित है। जन्म-सन्तति, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पापका चित्रण विशेषरूपमें सम्पन्न हुआ है। लघुकाव्योंमें केवल कथामात्र ही लिखी गयी है। इसे हम पद्यबद्ध कथा कह सकते हैं। कथाको अलंकृत करने या रसमय बनानेका प्रयास नहीं किया गया है। कल्पनाशक्तिका विराटरूप, महद् उद्देश्य एवं विभिन्न मानसिक दशाएँ प्रस्फुटित नहीं हो पायी हैं।

चरित और आचार मूलक रचनाओंमें श्रावकाचार या मुन्याचारका वर्णन मिलता है। श्रावकाचारका आधार आचार्य समन्तभद्रका 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ही रहा है। इस क्षेत्रमें नयी उद्भावनाएँ नहीं हो सकी हैं, पर इतना सत्य है कि श्रावकाचारके विषयका प्रचार इन परम्परापोषक आचार्योंने विशेषरूपसे किया है। जीवनमूल्यों, आदर्शों और नैतिक मान्यताओंका स्पष्टीकरण विशेषरूपसे हुआ है।

संहिताविषयक रचनाएँ विशेषरूपमें सम्पन्न हुई हैं। हमें जैन साहित्यमें दो प्रकारके जीवनमूल्य दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम प्रकारके वे जीवनमूल्य

हैं, जो भौतिक, शारीरिक, सम्पत्ति तथा सुखभोगके त्यागसे सम्बन्ध रहते हैं, तो दूसरे वे जीवनमूल्य हैं जो ऐहिक सुखभोगके साधनोंको प्राप्त करनेके लिए मन्त्र-तन्त्र एवं आराधनाके उपयोगपर जोर देते हैं। यद्यपि अनेकान्तात्मक दृष्टिसे उक्त दोनों प्रकारके जीवनमूल्योंका समन्वय कर अन्तिम लक्ष्य त्याग या निवृत्तिको ही स्थापित किया है और आरम्भिक प्रवृत्तिको निवृत्तिकी ओर ले जानेवाला ही कहा है। परम्परापोषक आचार्योंने इस प्रकारके साहित्यका प्रचुररूपमें प्रणयन किया है। जो भौतिक सुख एवं ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिए सभी प्रकारके नैतिक साधनोंका उपयोग कर लेनेके औचित्यका समर्थन करता है। इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न जीवनमूल्योंके आपेक्षिक महत्त्व और उनका लाभ करनेवाले साधनोंकी आपेक्षिक उपादेयताके सम्बन्धमें लम्बा एवं गहरा चिन्तन किया है। अतः जीवनके बढ़ते हुए अनुभव, सम्पत्तिके बदलते हुए उपयोग, विभिन्न सुखभोग सम्बन्धी साधनोंकी प्राप्तिके हेतु आराधनामन्त्र-शास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, निमित्त आदि विषयोंका समावेश हुआ है।

संक्षेपमें परम्परापोषक आचार्योंने अपनी प्रतिभाका पूर्ण प्रदर्शन कर लोकहित साधक वाङ्मयका प्रणयन विशेषरूपमें किया है। भले ही आगम, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयोंमें नूतनताका समावेश न हुआ हो, पर लौकिक साहित्य का प्रभूत प्रणयन कर जनमानसको अपनी ओर आकृष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया है।

बृहद्प्रभाचन्द्र

ईस्वी सन् १९४४में आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तारने वीरसेवामन्दिरसे बृहद्प्रभाचन्द्रके तत्त्वार्थसूत्रका प्रकाशन किया है। यह प्रभाचन्द्र कौन हैं, कब हुए? इसके संबंधमें निश्चित जानकारी नहीं है। श्री मुख्तार साहबने अपनी प्रस्तावनामें चार प्रभाचन्द्रोंका उल्लेख किया है। प्रथम प्रभाचन्द्र तो वे हैं, जिन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे न्यायग्रन्थोंकी रचना की है। इनसे पूर्ववर्ती एक अन्य प्रभाचन्द्र भी हुए हैं, जो परलुरु निवासी विनयनन्दि आचार्यके शिष्य थे और जिन्हें चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा प्रथमने एक दान दिया था।[1] ये आचार्य वि० की ६वीं और ७वीं शताब्दीके विद्वान हैं। अतः उक्त कीर्तिवर्माका अस्तित्व शक संवत् ४८९ है। तीसरे प्रभाचन्द्र वे हैं, जिनका देवनन्दि आचार्यने जैनेन्द्र व्याकरणके 'रात्रेः कृतिप्रभाचन्द्रस्य' द्वारा उल्लेख किया है। इन प्रभाचन्द्रका समय भी वि०की छठी शताब्दीसे पूर्व होना चाहिये।

१. साउथ इण्डिया जयनिज्मा, भाग २, पृ० ८८।

चतुर्थ प्रभाचन्द्र वे हैं, जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलाके प्रथम शिलालेखमें पाया जाता है और जिनके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि वे भद्रबाहु श्रुत-केवलीके दीक्षित शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त थे। इनका समय वि० सं० से भी ३०० वर्ष पूर्व है।

प्रभाचन्द्रके तत्त्वार्थसूत्रका अध्ययन करनेसे कुछ ऐसे तथ्य उपस्थित होते हैं, जिनके आधारपर उनके समयका अनुमान किया जा सकता है। प्रभाचन्दने ५वें अध्यायमें द्रव्यका लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

सत्त्वं द्रव्यलक्षणम् ॥६॥
उत्पादादियुक्तं सत् ॥७॥
सहक्रमभाविगुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥८॥

द्रव्यके इन लक्षणोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने जहाँ गृद्धपिच्छाचार्यके सूत्रोंका संक्षेपीकरण किया है, वहाँ अष्टमसूत्रमें वृद्धि की है। गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमभावी बतलाया गया है। इस लक्षणपर स्पष्टत: अकलंकदेवका प्रभाव मालूम पड़ता है। अकलंकदेवने अपने न्याय विनिश्चयमें बतलाया है—

'गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः'

अर्थात् गुण सहभावी और पर्याय क्रमभावी बतलायी गयी हैं। अतः प्रभाचन्द्रने अपना तत्त्वार्थसूत्र गृद्धपिच्छाचार्यके अनुसरणपर लिखा और सूत्रोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्द्धन और परिवर्तन पूज्यपाद, अकलंकदेव आदिके आधारपर किया है। अतएव इन प्रभाचन्द्रका समय अकलंकदेवके पश्चात् होना चाहिये। प्रभाचन्द्रके नाममें प्रयुक्त 'बृहद्' विशेषण अन्य प्रभाचन्द्रोंसे उन्हें पृथक् करता है। तत्त्वार्थ-सूत्रके प्रत्येक अध्यायकी पुष्पिकामें बृहद् विशेषण प्राप्त होता है। यथा—

इति श्रीबृहत्प्रभाचन्द्र-विरचिते तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

प्रभाचन्द्रके नामसे अर्हंद्प्रवचन नामका एक ग्रन्थ भी मिलता है। इस अर्हत्प्रवचनके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि अर्हत्प्रवचनके रचयिता प्रभाचन्द्रने बृहत्प्रभाचन्द्रके तत्त्वार्थसूत्रका अवलोकन किया है। अकलंकदेवने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' ५।३८ में 'उक्तञ्च अर्हत्प्रवचने' लिखकर एक अर्हत्प्रवचनका निर्देश किया है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अपने इस अर्हं-त्प्रवचन नामक सूत्रग्रन्थको उसके कर्त्ताने प्राचीन अर्हंद्प्रवचनके अनुसरणपर

लिखा है। इसी कारण उन्होंने—"अथाऽतोऽर्हत्प्रवचनं सूत्रं व्याख्यास्यामः[1]" लिखा है। इस कथनसे स्पष्ट है कि इन्होंने अर्हत्प्रवनसूत्रका व्याख्यान किया है। अर्थात् प्राचीन ग्रन्थमें जिन मुख्य तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया था, उन्हींका निरूपण है।

'तत्त्वार्थसूत्र' और 'अर्हत्प्रवचन' इन दोनोंके अध्ययनसे यह अवगत होता है कि बृहत्प्रभाचन्द्रके 'तत्त्वार्थसूत्र'का अवलोकन 'अर्हत्प्रवचन'के रचयिता प्रभाचन्द्रने किया है। अर्हत्प्रवचनमें ५ अध्याय हैं और ८४ सूत्र हैं। इसमें प्रतिपाद्य वस्तुओंकी संख्या बतलायी गयी है। जीवोंके छह निकाय हैं, पाँच महाव्रत हैं, पाँच अणुव्रत हैं, तीन गुणव्रत हैं, चार शिक्षाव्रत हैं, तीन गुप्तियाँ हैं और पाँच समितियाँ हैं। इस प्रकार विषयका वर्णन न कर संख्या ही निर्देश किया है।

प्रस्तुत बृहत्प्रभाचन्द्रके नामसे जो तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है उसमें १० अध्याय हैं और १०७ सूत्र हैं। सूत्रोंकी संख्याका क्रम निम्न प्रकार है—

१५ + १२ + १८ + ६ + ६ + १४ + ११ + ८ + ७ + ५ = १०७

इसमें गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका संक्षिप्तीकरण ही पाया जाता है। यथा—

प्रमाणे द्वे ॥६॥
नयाः सप्त ॥७॥
× × ×
अखण्डं केवलम् ॥१४॥

स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका यह संक्षिप्तीकरण है। तृतीय अध्यायके अन्तमें ६३ शलाकापुरुष, ११ रुद्र, ९ नारद, २४ कामदेव बतलाये गये हैं। यह कथन गृद्धपिच्छाचार्यकी अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार सप्तम अध्यायमें श्रावकोंके ८ मूलगुण और मुनियोंके २८ मूलगुण बतलाये गये हैं।

कतिपय सूत्रोंमें तत्त्वार्थसूत्रकी अपेक्षा अधिक स्पष्टीकरण पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्रमें दानकी परिभाषा 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं'के रूपमें की है, पर बृहत्प्रभाचन्द्रने—

स्वपरहिताय स्वस्यातिसर्जनं दानम्[2] ॥११॥

---

१. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा सिद्धान्तसारादिसंग्रहके अन्तर्गत, पृ० ११४–११६ प्रकाशित।

२. बृहत्प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र ७।११।

अर्थात् अपने और परके हितके लिए अपनी वस्तुका त्याग करना दान है। यहाँ 'स्वपरहिताय' पद गृद्धपिच्छाचार्यके 'अनुग्रहार्थम्' पदसे अधिक स्पष्ट है। इसी प्रकार षष्ठ अध्यायके चतुर्थ सूत्रमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणके हेतुओंका कथन भी इन ग्रंथमें अधिक स्पष्ट है। गृद्धपिच्छने 'तत्प्रदोषनिन्हव' आदि सूत्र लिखा है, पर प्रभाचन्द्रने 'गुरुनिन्हवादयो' पद प्रयुक्त किया है, जिससे उक्त सूत्रकी अपेक्षा अधिक स्पष्टीकरण आ गया है। अतएव प्रभाचन्द्रका यह तत्त्वार्थसूत्र गृद्धपिच्छाचार्यके अनुकरणपर लिखा होनेपर भी कई बातें विशेष है।

आचार्य पार्श्वदेव

आचार्य पार्श्वदेव लौकिक विषयोंके मर्मज्ञ पण्डित हैं। इन्होंने अन्य शास्त्रोंके साथ संगीतशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थकी भी रचना की है। एक प्रशस्तिमें इनके सम्बन्धमें बताया गया है—"श्रीमदभयचन्द्र-मुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तकमहादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्वचूडामणिभरतभाण्डीक - भाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्तीसंङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते सङ्गीतसमयसारे"

संगीतसमयसारकी मुद्रित प्रतिमें प्रशस्ति निम्न प्रकार है—"श्रीमदभिनवभरताचार्यसरविमलहेम्मंणार्यविद्यापुत्रश्रुतिज्ञानच(क्र)वर्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते-संगीतसमयसारे"।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि पार्श्वदेव महादेवार्यके शिष्य और अभयचन्द्रके प्रशिष्य थे। कृष्णमाचार्यने इन्हें श्रीकान्त जातिके आदिदेव एवं गौरीका पुत्र बताया है। इनकी 'श्रुतज्ञानचक्रवर्ती', 'संगीताकर' और 'भाषाप्रवीण' उपाधियाँ थीं। श्रीनारायण मोरेश्वर खरेने पार्श्वदेवको दाक्षिणात्य अनुमानित किया है। उन्होंने लिखा है—"स्थायीके नामोंको देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि महाराष्ट्र तथा कर्नाटकमें प्रचलित संगीतकी ओर विशेष ध्यान दिया है। कर्नाटकके नाम बहुत बार देखनेमें आते हैं, इससे ग्रन्थकार स्वयं कर्नाटककी ओरके हों, ऐसी बहुत सम्भावना[1] होती है।"

पार्श्वदेवने संगीतसमयसारके द्वितीय अधिकरणके प्रथम श्लोकमें भोजराज और सोमेश्वरका उल्लेख किया है। भोजराजका समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वरका ११८३ है। इससे यह ध्वनित होता है कि 'संगीतसमयसार'के रचयिता पार्श्वदेवका समय ई० सन् ११८३ के पश्चात् होना चाहिये। इस

१. जैन सिद्धान्तभास्कर, आरा, भाग १०, किरण १, पृ० १७।

ग्रन्थका निर्देश 'रागविबोध'कार श्रीसोमनाथदेवने अपने 'रागविबोध'के तृतीय विवेकमें प्रबन्धके सम्बन्धमें स्पष्ट करते हुए लिखा है—"तथा च पार्श्वदेव:" एवं—"चतुर्भिर्धातुभि: षड्भिश्चांगैर्यस्मात्प्रबध्यते। तस्मात्प्रबन्ध: कथित्तो गीतलक्षणकोविदै: ॥" स्पष्ट है कि रागविबोधकार पार्श्वदेव और उनके संगीत-समय सारसे सुपरिचित थे। इनका समय शक संवत् १५३१ अर्थात् ई० सन् १६०० के लगभग है। अतएव पार्श्वदेवका समय ई० सन् ११८३ और ई० सन् १६०० के बीच होना चाहिये। संगीतसमयसारपर संगीतरत्नाकरका प्रभाव है और संगीतरत्नाकरका समय ई० सन् १२१०–१२४७ ई० है। इन दोनों ग्रन्थोंके रचयिताओंने एक-दूसरेका उल्लेख नहीं किया है। सम्भवत: एक-दूसरेने इन दोनों ग्रंथोंका अवलोकन न किया हो। दोनों ग्रन्थोंका विषय एक है, पर भाषा भिन्न है। संगीत रत्नाकरमें प्रत्येक विषयका विशद वर्णन है जब कि संगीतसमयसारमें ऐसा नहीं है। मार्ग और देशी इन दोनों पद्धतियोंका संगीत-रत्नाकरमें वर्णन आया है, पर संगीतसमयसारमें केवल देशी संगीतपर ही विचार किया गया है। देशी संगीतके जितने विषयोंका प्रतिपादन संगीतरत्ना-करमें मिलता है, उतनेका ही संगीतसमयसारमें भी। रागोंके नाम और लक्षण भी दोनों ग्रंथोंमें समान हैं। विषय-नियोजन और भाषा दोनों ग्रंथकी भिन्न-भिन्न है। अतएव पार्श्वदेवका समय १२वीं शताब्दीका अन्तिम पाद या १३वीं शताब्दीका प्रथम पाद होना संभव है।

कुछ विद्वान पार्श्वदेवको कदम्बवंशीय शासकोंका समकालीन मानकर पार्श्वदेवको उक्त वंशके राजा विजयशिवमृगेश वर्माका समकालीन मानते हैं, जिससे इनका समय ई० सन् की ६ठीं-७वीं शताब्दी आता है। पर ग्रंथके अन्त-रंग परीक्षणसे यह तिथि सिद्ध नहीं होती। ग्रन्थमें भोज आदि राजाओंका उल्लेख होने एवं संगीतके अन्य ग्रंथोंका प्रभाव रहनेके कारण पार्श्वदेवका समय १२वीं शताब्दीका अन्तिम पाद स्वीकार किया जा सकता है।

रचना-परिचय—पार्श्वदेवकी 'संगीतसमयसार' नामक एक ही कृति उप-लब्ध है, जिसका प्रकाशन त्रावंकोरसे त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज द्वारा हुआ है। ग्रंथ नव अधिकरणोंमें समाप्त हुआ है। प्रथम अधिकरणमें नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिस्वरूप, उसके भेद, मिश्रध्वनि, शारीरलक्षण, गीतलक्षण और उसके भेद, आलप्ति, वर्ण, अलंकार आदि विषयोंका समावेश है। नादो-त्पत्तिके पश्चात् स्वर, श्रुति, मूर्च्छना आदिकी व्याख्याएँ दी गयी हैं। स्थायी और दूसरे मिलाकर १३ अलंकार एवं सात गमक दिये गये हैं। मंगलाचरणके पद्यसे ध्वनित होता है कि ऋषभ नामक प्रथम स्वरका नामकरण आदि

तीर्थंकर ऋषभदेवके नामपर हुआ है और इसे संगीत स्वरोंमें प्राथमिकता दी गयी है। मुद्रालंकार द्वारा आचार्यने ऋषभस्वरकी उत्पत्तिपर प्रकाश डाला है—

नाभेस्समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
ऋषभ विनदेद् यस्मात्तस्माद् ऋषभ ईरितः॥

अर्थात् नाभिसे उठनेवाला वायु कण्ठ तथा शीर्षभागसे समाहत होता है, तब ऋषभस्वरकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ऋषभदेवके मंगलाचरणसे संगीत 'ऋषभ' स्वरका बोध कराया है।

स्वर, गीत, वाद्य और ताल इन चारोंकी सिद्धि नादके द्वारा ही सम्भव है। नादकी उत्पत्तिका कथन करते हुए लिखा है कि नाभिमें ब्रह्मस्थान है, जिसे ब्रह्मग्रन्थि माना जाता है, उस ब्रह्मग्रन्थिमें, उसके केन्द्रमें प्राणकी स्थिति है, उस केन्द्रस्थ प्राणसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। जब अग्नि और मारुतका संयोग हो जाता है, तब नाद उत्पन्न होता है। 'नाद'के 'न' और 'द' ये दोनों वर्ण क्रमशः प्राणमारुत और प्राणाग्निके वाचक हैं। नादके पाँच भेद हैं—१. अति सूक्ष्म २. सूक्ष्म ३. पुष्ट ४. अपुष्ट और ५. कृत्रिम। नाभिमें अतिसूक्ष्म, हृदय प्रदेशमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, शिरोदेशमें अपुष्ट और मुखमें कृत्रिम नादकी स्थिति नादभेदसे भासित होती है। यथा—

नाभौ यद् ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मग्रन्थिश्च यो मतः।
प्राणस्तन्मध्यवर्ती स्यादग्नेः प्राणात् समुद्भवः॥४॥
अग्निमारुतयोर्योगाद् भवेन्नादस्य सम्भवः।
नकारः प्राण इत्युक्तो दकारो वह्निरुच्यते॥५॥
अर्थोऽयं नादशब्दस्य संक्षेपात् परिकीर्तितः।
स च पंचविधो नादो मतंगमुनिसम्मतः॥६॥
अतिसूक्ष्मश्च सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
अतिसूक्ष्मो भवेन्नाभौ हृदि सूक्ष्मः प्रकाशते॥७॥
पुष्टोऽभिव्यज्यते कण्ठे त्वपुष्टः शिरसि स्मृतः।
कृत्रिमो मुखदेशे तु स्थानभेदेन भासते॥८॥

ध्वनि चार प्रकारकी बतलायी गयी है—१. काबुल-खाबुल, २. बम्बल, ३. नाराट और ४. मिश्रक। ध्वनिके विचारक्रममें कण्ठसम्बन्धी गुण और अवगुणोंपर भी प्रकाश डाला गया है। कण्ठके १. माधुर्य, २. श्रावकत्व, ३. स्निग्धत्व ४. घनता और ५. स्थानकत्रयशोभा ये पाँच गुण माने हैं तथा खेटि, खेणि और भग्न शब्द ये तीन कण्ठदोष बताये हैं। इन सभीकी परिभाषाएँ भी निबद्ध

की गयी हैं। आलप्तिके भेदोंका कथन भी किया गया है। सालक, विषम, सालक प्राञ्जल, साक्षरा, अनक्षरा और अताला आलप्तियोंके लक्षण निबद्ध किये हैं। इस प्रकार प्रथम अधिकरणमें नाद, ध्वनि और आलप्ति सम्बन्धी विचार किया गया है।

द्वितीय अधिकरणमें आलापके भेद, स्थायीके नामकरण और उनके स्वरूप दिये हैं। इस अधिकरणमें कर्नाटक देशमें प्रचलित संगीतपर विशेष प्रकाश डाला है। वादीस्वरकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"सप्तस्वराणां मध्येऽपि स्वरे यस्मिन् सुरागता।
स जीवस्वर इत्युक्ते अंशो वादी च कथ्यते॥

संवादी, विवादी और अनुवादीकी व्याख्या भी इसी अधिकरणमें की गयी है। रागोंके सम्बन्धमें विचार भी इसी प्रकरणमें पाया जाता है। ग्रह, न्यास, अंश, व्याप्ति और रसका कथन भी इसी अधिकरणमें है। राग, रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग आदिके विचारके साथ वादी, संवादी और विवादी स्वरोंके संयोगी भेद भी बतलाये हैं। रागोंके षाडव और ओढव रूपोंका वर्णन करनेके साथ, भैरव, हिंडोल, मालकंस इत्यादि रागोंका वर्णन भी किया है। तृतीय अधिकरण-में तोड़ी, वसन्त, भैरव, श्रीराग, शुद्धबंगाल, मालश्री, वराडी, गौड, धनाश्री, गुण्डकृति, गुर्जरी और देशी इन तेरह रागाङ्ग रागोंका लक्षणसहित निरूपण किया है। वेलावली, अंधाली, आसावरी, मंजरी, ललिता, कैशकी, नाटा, शुद्ध बरारी और श्रीकण्ठी ये ९ भाषाङ्ग राग दिये गये हैं। इस तृतीय अधिकरणमें सब मिलाकर ३३ रागोंके लक्षण लिखे गये हैं। यहाँ उदाहरणार्थ भैरव और श्रीरागके लक्षण दिये जा रहे हैं—

भिन्नषड्जसमुद्भूतोमन्यासोधांशभूषितः।
समस्वरोरिपत्यक्तः प्रार्थने भैरवः स्मृतः॥
× × × ×
श्रीरागष्टक्करागाङ्गमतारो मन्द्रगस्तथा।
रिपंचमविहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः।
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते॥

चतुर्थ अधिकरणमें प्रबन्धकी व्याख्या दी है। यह व्याख्या, सोमनाथने भी अपने रागविबोधमें उद्धृत की है। चार धातु और छह अङ्गोंसे जिसका नियमन होता है, वह प्रबन्ध है। जिस प्रकार आस्थायी, अन्तरा, आभोग और संचारी ये ध्रुपदके प्रबन्धक धातु बताये गये हैं। इसके पश्चात् पाद, बन्ध, स्वरपद,

चित्र, तेन, मिश्र इत्यादि करणोंकी व्याख्या एकादश ध्रुवोंके अनन्तर उनका उपयोग करनेकी विधि बतलायी गयी है। प्रत्यक्ष गायन किस प्रकार करना चाहिये, इसके सम्बन्धमें भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ अंकित की गयी हैं।

पञ्चम अधिकारमें अनवद्यादि चार प्रकारके वाद्योंके भेद बतलाकर तत्सम्बन्धी परिभाषा भी अंकित की गयी है। पाठवाद्यके १२ भेद बतलाये हैं और किन-किन अक्षरोंको किस-किस वाद्यपर किस प्रकार बजाना चाहिये, यह भी बतलाया गया है।

षष्ठ अधिकरणमें नृत्य और अभिनयके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है। अंग-विक्षेपके विभिन्न प्रकार दिये गये हैं। भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें जिन अभिनयोंका जिक्र किया है, उनका वर्णन भी इस अधिकरणमें है।

सप्तम अधिकरणमें तालका उद्देश्य, लक्षण और उसके नाम दिये गये हैं। अन्तमें संगीतमें तालका महत्त्व प्रतिपादित करनेवाला निम्न पद्य पाया जाता है—

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तालहीनानि गेयानि मंत्रहीना यथाहुतिः॥

अष्टम अधिकरण गीताधिकरण है। इसमें गीत गानेकी विधि, गीतके गुण-दोष, नर्तक, वादक आदिकी परिभाषाएँ एवं उत्तम, मध्यम और जघन्य गायकके लक्षण बताये गये हैं। प्रबन्धगीत, तालगीत एवं आलापगीत आदि भेदोंका भी कथन किया है।

नवम अधिकरणमें प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदिका वर्णन किया गया है। इस संगीतसमयसारमें ११वीं-१२वीं शताब्दीके देशी संगीतका विस्तृत विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार मार्गसंगीतके प्रपंचमें नहीं पड़ा है। उसने केवल देशी संगीतका ही अंकन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि पार्श्वदेवने संगीतको मोक्षशास्त्रके समान ही उपादेय बताया है। रागवर्द्धक होनेपर भी संगीत वीतरागताकी ओर ले जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि भगवद्भक्तिके लिये तन्मयता उपादेय है और यह संगीतमें प्राप्त होती है। वीणाकी झंकार, वेणुकी स्वरमाधुरी, मृदंग, मुरज, पणव, दर्दुर, पुष्कर मंजीर, आदि वाद्योंकी स्वरलहरी आत्मा और प्राणोंमें एकीभाव उत्पन्न करती है और इस एकीभावसे ध्यानकी सिद्धि होती है। मन, वचन, काय एकनिष्ठ होकर समाधिका अनुभव करते हैं। इस प्रकार पार्श्वदेवने अपने इस ग्रन्थमें संगीतको उपादेयता स्वीकार की है और इसे समाधिप्राप्तिका एक कारण माना है। प्रथम अधि-

करणमें रचयिताने गमकों द्वारा मनकी एकाग्रताका निरूपण किया है। लिखा है—

स्वश्रुतिस्थानसंभूतां छायां श्रुत्यन्तराश्रयाम्।
स्वरो यद् गमयेद् गीते गमकोऽसौ निरूपितः ॥४८॥
स्फुरितः कम्पितो लीनस्तिरिपुश्चाहतस्तथा।
आन्दोलितस्त्रभिन्नश्च गमकाः सप्त कीर्तिताः ॥४९॥

इस प्रकार धर्मशास्त्रके समान ही संगीतशास्त्रका महत्त्व स्वीकार किया है।

भास्करनन्दि

तत्त्वार्थके टीकाकारोंमें भास्करनन्दिका अपना स्थान है। टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें बताया है—

'तस्यासीत् सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धान्तपारङ्गतः,
शिष्यः श्रीजिनचन्द्रनामकलितश्चारित्रभूषान्वितः।
शिष्यो भास्करनन्दिनाम विबुधस्तस्याभवत् तत्त्ववित्,
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटम्' ॥४॥

अर्थात् भास्करनन्दिके गुरुका नाम जिनचन्द्र है। ये जिनचन्द्रसिद्धान्तके पारगामी तथा चारित्रसे भूषित थे। ग्रन्थके पुष्पिकावाक्योंमें महासिद्धान्त जिन-चन्द्रभट्टारक नाम दिया गया है। प्रशस्तिमें जिनचन्द्रभट्टारकके गुरुका नाम सर्वसाधु लिखा है। बताया गया है कि सर्वसाधुने संन्यासपूर्वक मरण किया है।

तत्त्वार्थवृत्तिके अध्ययनसे स्पष्ट है कि भास्करनन्दिके गुरुका नाम जिनचन्द्र और जिनचन्द्रके गुरुका नाम सर्वसाधु था। यहाँ यह विचारणीय है कि जिनचन्द्र कौन हैं और इनका समय क्या है? इतिहासके अवलोकनसे जिन-चन्द्र नामके चार-पाँच आचार्योंका परिज्ञान प्राप्त होता है। एक जिनचन्द्र चन्द्रनन्दिके शिष्य थे, जिनका उल्लेख कन्नड़ कवि पोन्नने अपने 'शान्तिपुराण' में किया है। भास्करनन्दिके गुरु जिनचन्द्र सर्वसाधुके शिष्य है अतः पोन्न द्वारा उल्लिखित जिनचन्द्र भास्करनन्दिके गुरु नहीं हो सकते हैं। दूसरे जिनचन्द्र सिद्धान्तसारके रचयिता हैं। इनकी गुरुपरम्परा ज्ञात नहीं है। अतः इनका सम्बन्ध भी भास्करनन्दिके साथ नही जोड़ा जा सकता है। तृतीय जिनचन्द्र धर्मसंग्रहश्रावकाचारके रचयिता मेधावीके गुरु और पाण्डवपुराणके रचयिता शुभचन्द्राचार्यके शिष्य थे। 'तिलोयपण्णत्ति'की प्रशस्तिमें इनका उल्लेख निम्न प्रकार आया है—

तत्पट्टाम्बुधिसच्चन्द्रः शुभचंद्रः सतां वरः ।
पंचाक्षवनदावाग्निः कषायक्ष्माधराशनिः ॥१६॥
तदीयपट्टाम्बरभानुमाली क्षमादिनानागुणरत्नशाली ।
भट्टारकः जिनचन्द्रनामा सैद्धान्तिकानां भुवि योऽस्ति सीमा ॥१७॥
स्याद्वादामृतपानप्ततमनसो यस्यातनोत्सर्वतः,
कीर्त्तिर्भूमितले शशाङ्कधवला सुज्ञानदानात्सतः ।
चार्वाकादिमतप्रवादितिमिरोष्णांशोर्भुनीन्द्रप्रभोः,
सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य जयतात्संघो हि तस्यानघः[1] ॥१८॥

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र वि० सं० १९१५ में विद्यमान थे। अतएव शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्र भास्करनन्दिके गुरु सम्भव नहीं हैं।

चौथे जिनचन्द्र श्रवणबेलगोलके अभिलेखसंख्या ५५ में द्वितीय माघनन्दिके आचार्यके पश्चात् उल्लिखित हैं। पण्डित ए० शान्तिराज शास्त्रीने सुखबोध-वृत्तिकी प्रस्तावनामें इन्हीं जिनचन्द्रको भास्करनन्दिके गुरु होनेकी सम्भावना व्यक्त की है। बताया है कि माघनन्दि आचार्य संवत् १२५० में जीवित थे। अतः इनके उत्तरकालमें होनेवाले जिनचन्द्रका समय संवत् १२७५ सम्भव है।

श्रवणबेलगोलाके उक्त अभिलेखका सम्भावित समय शक संवत् १०२२ (वि० सं० ११५७) है। उसमें उल्लिखित माघनन्दिका समय संवत् १२५० कैसे हो सकता है। कर्नाटककविचरितेके अनुसार एक माघनन्दिका समय ई० सन् १२६० है। वे माघनन्दिश्रावकाचारके कर्त्ता हैं और उन्होंने शास्त्रसारसमुच्चयपर कन्नड़में टीका लिखी है। पण्डित शान्तिराजजीका अभिप्राय सम्भवतः उक्त माघनन्दिसे ही है, पर अभिलेखमें प्रतिपादित माघनन्दि इनसे भिन्न हैं। अतः जिनचन्द्रका समय पण्डित शान्तिराजजी द्वारा निर्धारित सम्भव नहीं है। पुष्ट प्रमाणके अभावमें श्रवणबेलगोलाके अभिलेखमें निर्दिष्ट जिन-चन्द्रको भास्करनन्दिका गुरु नहीं माना जा सकता। अभिलेखमें जिनचंद्रको व्याकरणमें पूज्यपादके समान, तर्कमें अकलंकके समान और काव्यप्रतिभामें भारविके समान बतलाया है, पर भास्करनन्दिके गुरु महासैद्धान्तिक हैं। इनके पाण्डित्यकी जानकारी सुखबोधवृत्तिसे ही प्राप्त की जा सकती है।

भास्करनन्दि पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानंदके पश्चात् हुए हैं। यह उनकी टीकाके मंगलश्लोकमें आगत 'विद्यानन्दाः' पदसे स्पष्ट है। भास्करनन्दिने यशस्तिलक, गोम्मटसार, संस्कृतपञ्चसंग्रह, और वसुनन्दिश्रावकाचारके

---

१. जैन सिद्धान्तभास्कर आरा, किरण २, भाग ११, पृ० १०९।

पद उद्धृत किये हैं। वसुनन्दिका समय विक्रमकी १२वीं शताब्दी है। अतएव भास्करनन्दिका समय इसके पश्चात् होना चाहिये। हमारा अनुमान है कि इन भास्करनन्दिका समय १४वीं शताब्दीका अन्तिम पाद सम्भव हैं। भास्कर-नन्दिने अपनी वृत्ति पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिके अनुकरणपर लिखी है। इसमें विभिन्न आचार्योंके पद्य भी उद्धृत किये हैं और टीकाकी शैली १३वीं, १४वीं शताब्दीकी होनेसे इनके समयके सम्बन्धमें उक्त अनुमान यथार्थ प्रतीत होता है। श्री पं० मिलापचन्द्र कटारियाने तृतीय प्रशस्तिपद्यमें आये हुए 'शुभगति' पाठके स्थानपर 'शुभमति' पाठ मानकर भास्करनन्दिके प्रगुरु शुभचन्द्र मुनिको माना है। इन शुभचन्द्रका समय वि० सं० १४५०-१५०७ है। इनके पट्टपर जिनचन्द्र आसीन हुए और उनका समय वि० सं० १५०७-१५७१ है। इन जिनचन्द्रने मुड़ासामें जीवराज पापड़ीवालकी वि० सं० १५४८ में प्रतिष्ठा करायी थी। श्रावकाचारके कर्त्ता मेधावी भी इनके शिष्य थे। अत: इस आधारपर भास्करनंदिका समय वि० सं० १६वीं शती है।

रचना

भास्करनन्दिकी एक रचना उपलब्ध है—'तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति'–सुखसुबोधटीका। इसका प्रकाशन मैसूर विश्वविद्यालयने किया है। टीकाकारने पूज्यपादके साथ अकलंक और विद्यानन्दके ग्रंथोंसे भी प्रभाव अर्जित किया है। प्रथम सूत्रकी वृत्ति लिखते हुए भास्करनन्दिने अन्य वादियोंके द्वारा माने गये मोक्षके उपायों-का समालोचन करते हुए सोमदेवरचित 'यशस्तिलकचम्पू'के छठे आश्वाससे बहुत कुछ अंश ग्रहण किया है। तीसरे अध्यायके १०वें सूत्रकी वृत्तिमें अकलंक-देवके तत्त्वार्थवार्तिकसे विदेहक्षेत्रसम्बन्धी वर्णनको ग्रहण किया है। इस वृत्तिकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

१. विषयस्पष्टीकरणके साथ नवीन सिद्धान्तोंकी स्थापना।

२. पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंको आत्मसात् कर उनका अपने रूपमें प्रस्तुतीकरण।

३. ग्रंथान्तरोंके उद्धरणोंका प्रस्तुतीकरण।

४. मूल मान्यताओंका विस्तार

५. पूज्यपादकी शैलीका अनुसरण करनेपर भी मौलिकताका समावेश।

इनकी एक अन्य रचना ध्यानस्तव भी है, जो रामसेनके तत्त्वानुशासनके आधारपर रचित है।

ब्रह्मदेव

अध्यात्मशैलीके टीकाकारोंमें आचार्य ब्रह्मदेवका नाम उल्लेखनीय है। ये जैनसिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान थे। इन्होंने 'स्व' समय और 'पर' समयका अच्छा अध्ययन किया है। इनके सम्बन्धमें बृहद्द्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पंडित जवाहरलालजीने लिखा है कि ब्रह्म उनकी उपाधि है, जो बतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे और देव उनका नाम है। कई ग्रन्थकारोंने अपने नामके प्रारम्भमें ब्रह्मशब्दका उपयोग उपाधिके रूपमें किया है। यथा—आराधनाकथाकोशके कर्त्ता ब्रह्म नेमिदत्त और श्रुतस्कन्धके रचयिता ब्रह्म हेमचन्द्र। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्म नेमिदत्त ब्रह्मचारी थे, पर 'ब्रह्म' यह उनकी उपाधि न होकर सम्भवतः ब्रह्मदेव यही पूरा नाम रहा हो। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंसे उनके पाण्डित्यका तो परिज्ञान होता ही है, साथ ही अनेक विषयोंकी जानकारी भी मिलती है। ब्रह्मदेवके परिचयके सम्बन्धमें उनके ग्रन्थोंसे कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती है। श्री पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने अपने एक निबन्धमें बताया है कि 'द्रव्यसंग्रह'के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, वृत्तिकार ब्रह्मदेव और सोमराज श्रेष्ठि ये तीनों ही समसामयिक हैं। उन्होंने अपने कथनकी पुष्टिके लिए 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की टीकाके उत्थानवाक्यको उपस्थित कर लिखा है—

"पहले नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव द्वारा सोमनामके राजश्रेष्ठिके निमित्त मालव देशके आश्रमनामक नगरके मुनिसुव्रत चैत्यालयमें २६ गाथात्मक द्रव्यसंग्रहके लघुरूपमें रचे जाने और बादमें विशेष तत्त्वपरिज्ञानार्थ उन्हीं नेमिचन्द्रके द्वारा बृहद्द्रव्यसंग्रहकी रचना हुई है। उस बृहद्द्रव्यसंग्रहके अधिकारोंके विभाजन-पूर्वक यह वृत्ति आरम्भ की जाती है। साथमें यह भी सूचित किया है कि उस समय आश्रमनामका यह नगर महामण्डलेश्वरके अधिकारमें था और सोम नामका राजश्रेष्ठि भाण्डागार आदि अनेक नियोगोंका अधिकारी होनेके साथ-साथ तत्त्वज्ञानरूप सुधारसका पिपासु[1] था।"

श्री परमानन्दजीका अनुमान है कि ब्रह्मदेवके उक्त घटनानिर्देश और लेखनशैलीसे यह स्पष्ट है कि ये सब घटनाएँ उनके सामने घटी हैं। अतएव वृत्तिकार ब्रह्मदेवको नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवके समकालीन या उनसे कुछ ही उत्तरकालवर्ती मानना चाहिए।

द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव मालवदेशके निवासी थे। इन्होंने आश्रमनगरको अपने निवाससे पवित्र किया था और भव्यचातकोंको ज्ञाना-

१. अनेकान्त वर्ष १९, पृ० १४५।

मृतका पान कराया था। मुनि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवने पहले सोमश्रेष्ठिके विशेष निमित्त २६ गाथात्मक पदार्थलक्षणरूप लघुद्रव्यसंग्रहकी रचना की, पश्चात् तत्त्वपरिज्ञानार्थं ५८ गाथात्मक बृहद्द्रव्यसंग्रहकी रचना की, जिसका उल्लेख वृत्तिकारने उत्थानवाक्यमें किया है। वृत्तिकार ब्रह्मदेवने उसी आश्रम नगरके मुनिसुव्रत चैत्यालयमें अध्यात्मरसगर्भित द्रव्यसंग्रहकी महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। यह टीका और मूलग्रन्थरचना भोजदेवके राज्यकाल वि० सं० १०७०-१११०के मध्य लिखी गयी है। उत्थानिकावाक्यसे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मदेवकी टीका और द्रव्यसंग्रह दोनों ही भोजके कालमें रचे गये हैं। अतएव ब्रह्मदेवका समय वि० सं० की १२वीं शताब्दी होना चाहिए।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने ब्रह्मदेवको जयसेनके बादका विद्वान बतलाया है[1]। पर ब्रह्मदेव इनसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं, क्योंकि जयसेनने 'पञ्चास्तिकाय' की पहली गाथाकी टीकामें ग्रन्थके निमित्तकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अथ प्राभृतग्रंथे शिवकुमारमहाराजो निमित्तं अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठयादि ज्ञातव्यं"। इससे स्पष्ट है कि जयसेन निमित्त कथनकी बातसे परिचित थे। अतएव वे ब्रह्मदेवके उत्तरवर्ती ज्ञात होते हैं। यों तो ब्रह्मदेवकी टीकाशैली जयसेनाचार्य जैसी ही प्रतीत होती है। जयसेनाचार्यने टीकाओंमें शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थका कथन करनेका निर्देश किया है। मंगलादिकी चर्चा एवं व्याख्यान करनेकी पद्धति जयसेनाचार्य जैसी ही प्रतीत होती है। अतः सहसा ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मदेवने जयसेनाचार्यका अनुसरण किया हो। जयसेनने 'पंचास्तिकाय'की १४६वीं गाथा और समयसारकी २१७वीं गाथाकी टीकामें, द्रव्यसंग्रहकी ५७वीं गाथाकी टीकामें उद्धृत उद्धरणोंको अपनाया है। अतः अनुमान यह है कि 'बृहद्द्रव्यसंग्रह'की १३वीं गाथामें उद्धृत गद्य-वाक्योंके आधारपर पण्डित आशाधरजीने श्लोककी रचना की है—

"सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृति-षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं वीत-रागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। पाषा-णरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन······ इन्द्रियसुखादि-परद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते, परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवर-गृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्ल-क्षणम्। यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीय-

---

१. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृ० ७२।

कषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानु-भूतिलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु" दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तराइभत्तेया..........स एव सदृष्टिघूलिरेखादिदृश-क्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहितस्व-शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्त्तते...स एव जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये..............सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानु-भूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्टमगुणस्थानवर्ती भवति।"[1]

यही अभिप्राय पण्डित आशाधरजीके निम्नलिखित पद्यमें अंकित उपलब्ध होता है—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिंदादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघः[2]॥

उक्त गद्य-पद्यमें शब्द और अर्थ सादृश्य है। अतः यह मानना पड़ता है कि किसी एकने दूसरेका अनुसरण किया है। आशाधरजीका समय वि० की १३वीं शताब्दी है। आशाधरजीने बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकाके अनेक वाक्य ग्रहण किये हैं—अतः ब्रह्मदेव आशाधरके पूर्ववर्ती हैं। इनका समय जयसेनसे पूर्व है।

पं० अजितकुमार शास्त्रीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित बृहद्द्रव्यसंग्रहकी भूमि-कामें लिखा है—"जयसलमेरके श्वेताम्बरीय भण्डारमें वि० सं० १४८५ श्रावण सुदी तेरस शनिवारकी लिखी हुई टीकावाली द्रव्यसंग्रहकी एक प्रति है। जो माण्डवगढ़ वर्त्तमान माण्डूमें काष्ठासंघ, माथुरसंघके भट्टारक गुणकीर्तिके शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति, हरिभूषणदेव और ज्ञानचन्द्रकी आम्नायमें अग्रवालवंशी, गर्गगोत्री श्रावक साहु धीनुके पुत्र हींगाकी धर्मपत्नीने अपने ज्ञानावरणकर्मके क्षयार्थं लिखवायी थी।' इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मदेवका समय इस पाण्डुलिपिकी तिथिसे पूर्ववर्ती है। अतः निष्कर्षरूपमें ब्रह्मदेवका समय ई० सन् की १२वीं शती है।

रचनाएँ

१. बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रथम संस्करण, गाथा १३, पृ० ३३-३५।
२. सागारधर्मामृत, १।१३।

२. परमार्थप्रकाशकी टीका
३. तत्त्वदीपक
४. ज्ञानदीपक
५. प्रतिष्ठातिलक
६. विवाहपटल
७. कथाकोष

बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका—बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें अनेक सैद्धान्तिक बातोंका समावेश किया गया है। १०वीं गाथाके व्याख्यानमें समुद्घातका, तेरहवींके व्याख्यानमें गुणस्थान और मार्गणाओंका, ३५वीं गाथाके व्याख्यानमें १२ अनुप्रेक्षाओंका और विशेषत: तीनों लोकोंका बहुत ही विस्तारके साथ वर्णन किया है। ज्ञान और दर्शनके प्रकरणमें ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों-की चर्चा कर दर्शनोपयोगका वर्णन किया गया है।

द्वितीय अधिकारकी प्रारम्भिक गाथाओंकी उत्थानिकामें 'परिणामि जीवमुत्तं' गाथा उद्धृत कर छहों द्रव्योंका विस्तारसे व्याख्यान किया है। लिखा है—

परिणामपरिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपर्यायाभ्यां कृत्वा शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनीति। 'जीव' शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते, तेन जीव-तीति जीवः। व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। "मुत्तं" शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्शगन्धवर्णवती मूर्त्तिरुच्यते, तत्सद्भावान्मूर्त्तः पुद्गलः। जीवद्रव्यं पुनरुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तमपि शुद्धनिश्चयनयेना-मूर्त्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि। "सपदेसं" लोकमात्रप्रमिता-संख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पंचद्रव्याणि पंचास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि। कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्।[1]

अर्थात् स्वभाव और विभाव पर्यायों द्वारा परिणामसे जीव एवं पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं। शेष चार द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल विभावव्यञ्जनपर्यायके अभावकी मुख्यतासे अपरिणामी हैं। 'जीव' शुद्धनिश्चय नयसे निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभावधारक शुद्ध चैतन्यरूप है। आगममें शुद्ध चैतन्यको प्राण कहते हैं। उस शुद्ध चैतन्यरूप प्राणसे जो जीता है, वह जीव

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रथम संस्करण, द्वितीय अधिकार, चूलिका प्रकरण, पृ० ७६–७७।

है। व्यवहारनयसे कर्मोंके उदयसे प्राप्त द्रव्य तथा भावरूप चार प्राणोंसे अर्थात् इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास नामक प्राणसे जीता है, जीयेगा और पहले जीता था, वह जीव है। पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अजीवरूप हैं। शुद्ध आत्मासे विलक्षण, स्पर्श, गन्ध, रस तथा वर्णका सद्भाव जिसमें पाया जाता है, वह मूर्तिक है। पुद्गल मूर्तिवाला होनेसे मूर्ति कहलाता है। जीव-द्रव्य अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयसे मूर्त है किन्तु शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अमूर्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य भी अमूर्तिक हैं। लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंको धारण करनेसे जीवादि पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय नामसे कहे जाते हैं और बहुप्रदेशरूप कायत्वके न होनेसे काल-द्रव्य अप्रदेश है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्योंका विस्तारसे निरूपण किया है। द्रव्योंके इस विवेचनप्रसंगमें शंका-समा-धान भी प्रस्तुत किया गया है। बताया है कि यदि जीव-अजीव ये दोनों द्रव्य सर्वथा अपरिणामी ही हैं, तो संयोगपर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं, तो जीव-अजीव द्रव्यरूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं, आस्रवादि सात पदार्थ नहीं? इस शंकाका उत्तर देते हुए बताया है कि कथंचित् परिणामी होनेसे सात पदार्थोंका कथन संगत होता है। जीव शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे शुद्ध चिदानन्द स्वभावरूप है, पर अनादि कर्मबन्धरूप पर्यायके कारण राग आदि परद्रव्यजनित उपाधिपर्यायको ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्यायरूपसे परिणमन करता है, तो भी निश्चयनयसे अपने शुद्ध रूप को नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्योंका भी कथन किया है।

इस प्रकार टीकाकार ब्रह्मदेवने गाथाका शाब्दिक व्याख्यान ही नहीं किया, अपितु उसका विशेष विवेचन या व्याख्यान किया है। जैन आगमिक परम्परानुसार मति, श्रुत ज्ञानको परोक्ष कहा है, किन्तु ब्रह्मदेवने गाथा ५की टीकामें शंका-समाधानपूर्वक उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। इसी प्रकार गाथा ४४की व्याख्यामें दर्शनका स्वरूप तर्कशास्त्र और सिद्धान्त ग्रन्थानुसार उपस्थित किया गया है। ब्रह्मदेवने इस स्वरूपका विवेचन धवला और जय-धवला टीकाओंके आधारपर किया है। निश्चयतः ब्रह्मदेवने आगम और अध्यात्मके प्रकाशमें द्रव्यसंग्रहकी टीका लिखी है। इस टीकामें उद्धरणपद्यों-की बहुलता है। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमार्थप्रकाश, योग-सार, मूलाचार, भगवतीआराधना, इष्टोपदेश, यशस्तिलक, आप्तस्वरूप, त्रिलोकसार और तत्त्वानुशासनके उद्धरण उपलब्ध होते हैं। गाथा ४९में पंच-नमस्कारग्रन्थ, लघुसिद्धचक्र और बृहद्सिद्धचक्रका कथन आया है। पंच-

नमस्कार ग्रन्थको १२००० श्लोकप्रमाण कहा है—"अन्यदपि द्वादशसहस्र-प्रमितपंचनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम्।"[1] इसी प्रकार पंचपरमेष्ठिग्रन्थका कथन भी आया है। लिखा है—"तथैव विस्तरेण पंचपरमेष्ठिग्रन्थकथितक्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूप-मन्त्रवादसम्बन्धिपंचनमस्कारग्रन्थे[2] चेति।" इस प्रकार बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका निर्देश आया है, जो इतिहासकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण हैं।

परमार्थप्रकाशवृत्ति—परमार्थप्रकाशकी यह टीका भी बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकाके समान विस्तृत है। यह सत्य है कि इसमें द्रव्यसंग्रहकी टीकाके समान सैद्धान्तिक विषयोंका समावेश नहीं हो सका है। भावनात्मकग्रन्थ होनेके कारण टीकाकारने आत्मा, भक्ति, वीतरागता एवं सरागताका विस्तारपूर्वक कथन किया है। द्रव्यसंग्रहके समान इसमें भी शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थकी पद्धतिको अपनाया गया है। विषयोंके लिए शंका-समाधानपूर्वक प्रत्येक विषयका स्पष्टीकरण किया है। गाथा २।१७ के व्याख्यानमें बताया है कि निश्चयसम्यक्त्व वीतरागचारित्रका अविनाभावी है, पर निश्चयसम्यक्त्व तो गृहस्थावस्थामें भी सम्भव है, पर वीतरागचारित्र वहाँ नहीं रहता है। अतः पूर्वापर विरोध आता है। इस विरोधका परिहार नयदृष्टि द्वारा किया गया है। इसी प्रकार शुद्धात्माका ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पर अन्यत्र यह भी बताया गया है कि द्रव्यपरमाणुभावमें परमाणुका ध्यान करनेसे केवल-ज्ञान उत्पन्न होता है। इस शंकाका समाधान भी तात्त्विकदृष्टिसे किया है। टीकाके अन्तमें बताया है कि "इस ग्रन्थमें अधिकतर पदोंकी सन्धि नहीं की गयी है और सुखपूर्वक बोध करानेके लिए वाक्य भी पृथक्-पृथक् रखे गये हैं। अतः विद्वानोंको इस ग्रन्थमें लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सन्धि, समास, विशेष्य, विशेषण, वाक्य, समाप्ति आदि सम्बन्धी दूषण नहीं देखना चाहिये।"

टीकाकी व्याख्यानशैलीका निरूपण करते हुए स्वयं टीकाकारने लिखा है—"एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः। नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणितः। बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः, एवं गुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः। अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञानमयरूपं परमात्मद्रव्य-मुपादेयमिति भावार्थः। अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रथम संस्करण, गाथा ४९, पृ० २०८।
२. वही. गाथा ५४, पृ० २२२।

यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यः[१]।" सन्धि आदिके सम्बन्धमें इसी आशयका कथन बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें भी पाया जाता है। बताया है—"अत्र ग्रन्थे विवक्षितस्य सन्धिर्भवति' इति वचनात्पादानां सन्धिनियमो नास्ति। वाक्यानि च स्तोक-स्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम्। तथैव लिङ्गवचनक्रियाकारकसम्बन्धसमास-विशेषणवाक्यसमाप्त्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये विस्मृति-दूषणं च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति[२]"।

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि ब्रह्मदेवकी टीकाशैली भाष्यात्मक होनेपर भी सरल है। व्याख्याएँ नये रूपमें प्रस्तुत की गयी हैं। अन्य ग्रन्थोंसे जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका विषयके साथ मेल बैठता है। टीकाकारके व्यक्तित्वके साथ मूललेखकका व्यक्तित्व भी ब्रह्मदेवमें समाविष्ट है।

रविचन्द्र

आचार्य रविचन्द्र अपनेको मुनीन्द्र कहते हैं। उनका निवासस्थान कर्नाटक-प्रान्तके अन्तर्गत 'पनसोज' नामका स्थान है। कर्नाटकके शिलालेखोंमें रविचन्द्र-का नाम कई स्थानोंपर आया है। अभिलेखोंसे इनका समय ई० सन्की दशम शताब्दी सिद्ध होता[३] है। धारवाड़के सन् १९६२ ई० के एक अभिलेखमें रविचन्द्र मुनिका उल्लेख आया[४] है। तृतीय रवीचन्द्रका उल्लेख श्रवणबेलगोलाके अभि-लेख सं० ५३ में आया है। इस अभिलेखके अनुसार सन् ११२०में वे वर्तमान थे। एक अन्य रविचन्द्रका उल्लेख मासोपवासी सैद्धान्तिकके रूपमें प्राप्त होता है। इस अभिलेखमें माघनन्दिकी गुरुपरम्परा दी गयी है। बताया है कि नन्दिसंघ बलात्कारगणके वर्त्तमान मुनि होय्सल राजाओंके गुरु थे। श्रीधर त्रैविद्यपद्म-नन्दि त्रैविद्यवासुपूज्य सैद्धान्तिशुभचन्द्र-भट्टारक-अभयनन्दिभट्टारक—अरुहणंदि सिद्धान्ति, देवचन्द्र अष्टोपवासि कनकचन्द्र, नयकीर्ति, मासोपवासि रविचन्द्र, हरियनन्दि, श्रुतकीर्ति त्रैविद्य, वीरनन्दिसिद्धान्ति, गण्डविमुक्त, नेमिचन्द्रभट्टारक,

---

१. परमार्थप्रकाश, टी० पृ० ७-८।

२. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५८, पृ० २४०।

३. Epigraphic Carncatica, XII, Gulbi Taluk, N0 57, Journal of the Bombay Branch of the R. A. S., X, PP. 171-2, 204 t. डा० ए० एन० उपाध्ये, आराधनासमुच्चय, योगसारसंग्रह, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् १९६७, पृ० ७।

४. दक्षिणभारतीय एपिग्राफिकाका वार्षिक प्रतिवेदन, सन् १९३४-३५, पृ० ७। अभि-लेखसंख्या ४३२।

गुणचन्द्र, जिनचन्द्र, वर्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, विद्यानन्दि स्वामि, कटकोपाध्याय श्रुतकीर्ति, वादिविश्वासघातक मलेयालपाण्ड्यदेव, नेमिचन्द्र मध्याह्न-कल्पवृक्ष वासुपूज्य[1]। इस अभिलेखसे स्पष्ट है कि माघचन्द्रकी गुरुपरम्परामें मासोपवासि रविचन्द्र हुए हैं। इन रविचंद्रका समय ई० सन्‌की १३ वीं शती सिद्ध होता है। 'आराधनासारसमुच्चय'के रचयिता रविचन्द्र उपर्युक्त रविचन्द्र ही हैं या इनसे भिन्न हैं, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता है। ग्रन्थान्तमें आचार्यने अपना परिचय एक ही पद्यमें दिया है—

श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः पनसोगेग्रामवासिभिर्ग्रन्थः।
रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी ॥४२॥

इस परिचयसे इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य दक्षिणभारतके निवासी थे और इन्होंने जैन आगमका पाण्डित्य प्राप्त किया था।

आराधनासारमें रविचन्द्रने पूर्वाचार्योंके अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इन उद्धरणोंसे इनके समयके सम्बन्धमें अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होंने रामसेन द्वारा विरचित तत्त्वानुशासनका निम्नलिखित पद्य आराधनासार-समुच्चयमें 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत किया है—

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु।
शुभाशुभमलाभावाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यदुः[2] ॥२०४॥

अर्थात् अपूर्वकरण आदि स्थानोंमें जो उदासी—अनासक्तिमय तत्त्वज्ञान होता है, वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके मलके नाश होनेके कारण शुक्ल-ध्यान कहा गया है। श्री पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने रामसेनका स्थिति-काल दशम शतीका मध्य माना है। अतएव रविचन्द्रका समय रामसेनके बाद आता है।

'आराधनासारसमुच्चय'का उल्लेख शुभचन्द्रने स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृतव्याख्यामें किया है। शुभचन्द्रने अपनी यह व्याख्या ई० सन् १५५६में पूर्ण की है। अतएव यह निश्चित है कि रविचन्द्रकी ख्याति उस समय तक व्याप्त हो चुकी थी। अतएव उनका समय ई० सन् १५५६ के पूर्व अवश्य है। माघचन्द्र-की गुरुपरम्पराके अवलोकनसे ऐसा प्रतीत होता है कि आराधनासारसमुच्चय-के रचयिता हूलेबीडके कन्नड़ लेखमें वर्णित रविचन्द्र ही हैं। यह अभिलेख ई० सन् १२०५ का है। इसी प्रकार १३ वीं शतीके 'केलगेरे'के अभिलेखमें भी मासो-

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४।
२. तत्त्वानुशासन, पद्य ३४२।

पवासो रविचन्द्र सिद्धान्तदेवका उल्लेख है। अतएव इनका समय ई० सन्‌की १२वीं शताब्दी का अन्तिम पाद या १३वीं शतीका प्रथम पाद संभव है।

रविचन्द्रका आराधनासारसमुच्चय संस्कृतपद्योंमें लिखा गया उपलब्ध है। इस ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र और सम्यक्तप इन चारों आराधनाओंका वर्णन किया गया है। सम्यक्चारित्र आराधनामें अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन द्वादश अनुप्रेक्षाओंका भी वर्णन आया है। तपाराधनाका स्वरूपविश्लेषण करनेके पश्चात् आराध्य, आराधक, आराधनोपाय, आराधनाफलका भी चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थमें दो प्राकृत और पाँच संस्कृतके उद्धरण भी आये हैं। भाषा प्रांजल है। आचार्यने विषयका प्रतिपादन बहुत ही सुन्दररूपमें किया है। अनेक पद्योंपर कुन्दकुन्दका प्रभाव दिखलायी पड़ता है। सम्यग्दर्शनका महत्त्व बतलाते हुए लिखा है—

वृक्षस्य यथा मूलं प्रासादस्य च यथा ह्यधिष्ठानम्।
विज्ञानचरिततपसां तथा हि सम्यक्त्वमाधारः ॥३८॥
दर्शननष्टो नष्टो न तु नष्टो भवति चरणतो नष्टः।
दर्शनमपरित्यजतां परिपतनं नास्ति संसारे ॥३९॥
त्रैलोक्यस्य च लाभाद्दर्शनलाभो भवेत्तरां श्रेष्ठः।
लब्धमपि त्रैलोक्यं परिमितकाले यतश्च्यवते ॥४०॥
निर्वाणराज्यलक्ष्म्याः सम्यक्त्वं कंठिकामतः प्राहुः।
सम्यग्दर्शनमेव निमित्तमनन्ताव्ययसुखस्य[1] ॥४१॥

इन पद्योंपर कुन्दकुन्दकी निम्नलिखित गाथाओंका स्पष्ट प्रभाव मालूम पड़ता है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥
दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥
सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥
सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं[2] ॥ ५ ॥

---

१. सम्पादक डॉ० ए० एन० उपाध्ये, आराधनासारसमुच्चय १।३८-४१।
२. दंसणपाहुड, गाथा २।५।

रविचन्द्रने यह समस्त ग्रन्थ आर्याछन्दोंमें लिखा है।

अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, कोण्डकुन्दान्वयकी इंगलेश्वरी शाखाके श्रीसमुदायमें माघनन्दि भट्टारक हुए हैं। इनके नेमिचन्द्र भट्टारक और अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ये दो शिष्य हुए हैं। अभयचन्द्र बालचन्द्र पण्डितके श्रुतगुरु थे। लिखा है—

"स्वस्ति श्रीमूलसंघदेशियगणपुस्तकगच्छकोण्डकुन्दान्वयदिङ्गलेश्वरदबलिय श्रीसमुदायद-माघनन्दिभट्टारक-देवरप्रियशिष्यसं श्रीमन्नेमिचन्द्र-भट्टारक-देवसं श्रीमदभयचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्तिगलुं.......शकवर्ष ११९७ नेयभावसंवत्सरद भाद्रपद शुद्ध १२ बुधवारद.......।"[१]

हलेबीडके एक संस्कृत और कन्नड़ मिश्रित अभिलेखमें अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके समाधिमरणका उल्लेख आया है। यह अभिलेख शक संवत् १२०१ (ई० सन् १२७९)का है।[२] इसी स्थानके एक अन्य अभिलेखमें अभयचन्द्रके प्रिय शिष्य बालचन्द्रके समाधिमरणका निर्देश है। यह अभिलेख शक संवत् ११९७ (ई० सन् १२७४)का है।[३]

ईस्वी सन् १२०५के हलेबीडके एक अन्य कन्नड़ अभिलेखमें माघनन्दिकी गुरुपरम्परामें अभयनन्दि भट्टारकका नाम आया है।[४] केलगेरके अभिलेखमें भी अभयनन्दि उल्लिखित हैं। यह अभिलेख ईस्वी सन्‌की तेरहवीं शतीके उत्तरार्द्धका है।[५]

उपर्युक्त अभिलेखोंमें अभयचन्द्रका निर्देश आनेसे उनका समय ईस्वी सन् १३वीं शती सिद्ध होता है। बहुत संभव है कि ये १३वीं शतीके प्रारम्भमें हुए हों और ७९ वर्ष तक जीवित रहे हों।

रावन्दूरके संस्कृतमिश्रित कन्नड़ अभिलेखमें अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य श्रुतिमुनि और उनके शिष्य प्रभेन्दुके[६] नाम आये हैं। भारंगीके एक शिलालेखमें बताया गया है कि राय राजगुरु मण्डलाचार्य महावादवादीश्वर

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह भाग ३, अभिलेख ५१४।

२-३. वही, अभिलेख ५२४।

४. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, अभिलेख ३४२। वही, अभिलेख, ३७६।

५. जैनशिलालेखसंग्रह, चतुर्थ भाग, अभि० सं० ३७६।

६. जैनशिलालेखसंग्रह, तृतीय भाग, अभि० सं० ५८४।

रायवादि पितामह अभयचन्द्र सिद्धान्तदेवका ज्येष्ठ शिष्य बुल्लगौड़ था, जिसका पुत्र गोपगौड़ नागरखण्डका शासक था। नागरखण्ड कर्नाटक प्रदेश-में था।[1] बुल्लगौड़के समाधिमरणका उल्लेख भारंगीके एक अन्य अभिलेखमें भी मिलता है, जिसमें बताया गया है कि बुल्ल या बुल्लुपको यह अवसर अभयचन्द्रकी कृपासे प्राप्त हुआ[2] था। हुम्मचके एक अन्य अभिलेखमें अभयचन्द्र-को चैत्यवासी कहा[3] है।

अभयचन्द्रके समाधिमरणसे सम्बन्धित अभिलेखमें कहा गया है कि वह छन्द, न्याय, निघण्टु, शब्द, समय, अलंकार, भूचक्र, प्रमाणशास्त्र आदिके विशिष्ट विद्वान थे। इसी तरह श्रुतिमुनिने परमागमसारके अन्तमें अभयचन्द्रसूरिका परिचय देते हुए लिखा है—

> सद्दागम-परमागम-तक्कागम-णिरवसेसवेदी हु।
> विजिद-सयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरि-सिद्धंतो॥

इससे भी अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीके पाण्डित्यपर प्रकाश पड़ता है। श्रुतमुनिका परमागमसार शक संवत् १२६३में समाप्त हुआ है। अतएव श्रुतमुनि-का समय ई० सन्‌की १३वीं शताब्दी निश्चित है।

रचना

अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने कर्मप्रकृतिनामक ग्रन्थकी रचना की है। श्री आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने इनको गोम्मटसार जीवकाण्डकी मन्द-प्रबोधिका टीकाका रचयिता भी[4] माना है। कर्मप्रकृतिके आदि और अन्तमें मंगलपद्य दिये गये हैं, जो निम्नप्रकार हैं—

> प्रक्षीणावरणद्वैतमोहप्रत्यूहकर्मणे।
> अनन्तानन्तधीदृष्टिसुखवीर्यात्मने नमः॥
>
> × ×
>
> जयन्ति विधुताशेषपापाञ्जनसमुच्चयाः।
> अनन्तानन्तधीदृष्टिसुखवीर्या जिनेश्वराः॥

इन दोनों पद्योंके अतिरिक्त शेष समस्त ग्रन्थ गद्यमें लिखा गया है।

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३, अभि० सं० ६१०।
२. वही० अभि० सं० ६४६।
३. वही० अभि० सं० ६६७।
४. अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १२, पृ० ४४१।

मंगलाचरणके पश्चात् तीन प्रकारके कर्म बतलाये गये हैं तथा द्रव्यकर्मके चार भेद हैं—

"आत्मनः प्रदेशेषु बद्धं कर्म द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म चेति त्रिविधम् ।"

× × ×

"तत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन द्रव्यकर्म चतुर्विधम् ।"

आत्मप्रदेशोंमें बँधा हुआ कर्म द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इस तरह तीन प्रकारका होता है । द्रव्यकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका होता है । अभयचन्द्रने प्रकृतिका स्वरूप ज्ञानप्रच्छदनादि स्वभाव बतलाकर उसने तीन भेद किये हैं—१. मूलप्रकृति, २. उत्तरप्रकृति और ३. उत्तरोत्तरप्रकृति ।

"तत्र ज्ञानप्रच्छादनादिस्वभावः प्रकृति । सा मूलप्रकृतिरुत्तरप्रकृतिरुत्तरोत्तरप्रकृतिरिति त्रिधा ।"

इसके पश्चात् मूलप्रकृतिको ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप आठ प्रकारकी बतलाकर प्रत्येकका पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्दिष्ट किया है । उत्तरप्रकृतियोंके १४८ भेद बतलाये हैं तथा प्रत्येक प्रकृतिका स्वरूप भी बतलाया है । स्वरूपप्रतिपादन बड़ी सरलता· पूर्वक किया गया है, जिससे साधारण पाठक भी कर्मप्रकृतिके स्वरूपको हृदयंगम कर सकता है । ज्ञानावरणीयकर्मकी पाँच उत्तरप्रकृतियोंके स्वरूप निदर्शनको यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—"तत्र पंचभिरिन्द्रियैर्मनसा च मननं ज्ञानं मतिज्ञानं तदावृणोतीति मतिज्ञानावरणीयम् । मतिज्ञानगृहीतार्थादन्यस्यार्थस्य ज्ञानं श्रुतज्ञानं तदावृणोतीति श्रुतज्ञानावरणीयम् । वर्णगन्धरसस्पर्शयुक्तसामान्यपुद्गलद्रव्यं तत्संबान्धसंसारोजोवद्रव्याणि च देशान्तरस्थानि कालान्तरस्थानि च द्रव्यक्षेत्रकालभवभावानवधीकृत्य यत्प्रत्यक्षं जानातीत्यवधिज्ञानं तदावृणोतीत्यवधिज्ञानावरणीयम् । परेषां मनसि वर्तमानमर्थं यज्जानाति तन्मनःपर्ययज्ञानं तदावृणोतीति मनःपर्ययज्ञानावरणीयम् । इन्द्रियाणि प्रकाशं मनश्चानपेक्ष्य त्रिकालगोचरलोकसकलपदार्थानां युगपदवभासनं केवलज्ञानं तदावृणोतीति केवलज्ञानावरणीमम् ।"

इस प्रकार इस ग्रन्थमें समस्त १४८ उत्तरप्रकृतियोंका स्वरूपनिर्धारण और भेद बतलाये गये हैं। नोकर्मवर्णन प्रसंगमें संसारी जीव, मुक्त जीव, भव्य, अभव्य आदिका वर्णन किया है । सम्यक्त्ववर्णनके सन्दर्भमें क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यतालब्धि और करणलब्धिका वर्णन किया है । १४ गुणस्थानोंके वर्णनके पश्चात् मुक्तावस्थाका चित्रण किया गया है ।

भट्टारक पद्मनन्दि

संस्कृतभाषाके उन्नायकोंमें भट्टारक आचार्य पद्मनन्दिकी गणना की जाती है। ये प्रभाचन्द्रके शिष्य[1] थे। कहा जाता है कि दिल्लीमें रत्नकीर्तिके पट्टपर वि० सं० १३१० की पौष शुक्ला पूर्णिमाको भट्टारक प्रभाचन्द्रका अभिषेक हुआ था। इनका जन्म ब्राह्मण जातिमें हुआ था। खम्भात, धारा, देवगिरि आदि स्थानोंमें विहार कर धर्म और संस्कृतिका प्रचार-प्रसार किया था। इन्होंने दिल्लीमें नासिरुद्दीन मुहम्मदशाहको भी प्रसन्न किया था। प्रभाचन्द्र ७४ वर्ष तक पट्टाधीश रहे।

एक बार प्रतिष्ठामहोत्सवके समय व्यवस्थापक गृहस्थ उपस्थित नहीं रहे, तो प्रभाचन्द्रने उसी उत्सवको पट्टाभिषेकका रूप देकर पद्मनन्दिको अपने पट्ट पर अभिषिक्त कर दिया[2] था। इन्होंने वि० सं० १४५० की वैशाख शुक्ला द्वादशीको एक आदिनाथस्वामीकी मूर्ति प्रतिष्ठित करायी[3] थी। ये मूलसंघ स्थित नन्दिसंघ बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छके आचार्य थे।

भट्टारक पद्मनन्दिके तीन प्रमुख शिष्य थे, जिन्होंने भट्टारकपरम्पराएँ स्थापित अन्य शिष्योंके साथ मदनदेव, नयनन्दि और मदनकीर्ति इन प्रमुख शिष्योंके भी नामोल्लेख पाये जाते हैं।

स्थितिकाल

आचार्य पद्मनन्दि भट्टारक और मुनि दोनों विशेषणों द्वारा अभिहित हैं। इनका पट्टाभिषेक वि० सं० १३८५ (ई० सन् १३२८) में हुआ था। ये पन्द्रह वर्ष, सात माह और १३ दिन गृहस्थीमें रहे। पश्चात् १३ वर्ष तक दीक्षित हो ज्ञान और चारित्रकी साधना करते रहे। २९ वर्षकी अवस्थाके अनन्तर ये पट्ट-पर अधिष्ठित हुए और ६५ वर्षों तक पट्टाधीश बने रहे। इस प्रकार इनका जन्म समय ई० सन् १३०० के लगभग आता है। आदिनाथस्वामीकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा वि० सं० १४५० (ई० सन् १३९३) में इनके द्वारा सम्पन्न हुई है। वि०

---

१. श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत्प्रतिष्ठः प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्न-रत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी ॥ २८ ॥ गुर्वावली, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ५३।

२. वि० सं० १३८५ पोस सुदि ७ पद्मनन्दिजी गृहस्थ वर्ष १५ मास ७ दीक्षा वर्ष १३, मास ५ पट्टवर्ष ६५ दिवस १८ अन्तर दिवस १० सर्व वर्ष ९९ दिवस २८ जाति ब्राह्मण पट्ट दिल्ली। —भट्टारकसम्प्रदाय, लेखांक २३७।

३. भट्टारकसम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक २३९।

सं० १४६५ (ई० सन् १४०८) और वि० सं० १४८३ (ई० सन् १४२६) के विजोलियाके शिलालेखोंमें इनकी प्रशंसा की गयी[1] है और वहाँ मानस्तम्भोंमें इनकी प्रतिकृति अंकित मिलती है।

टोडानगरमें भूगर्भसे २६ दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिन्हें वि० सं० १४७० (ई० सन् १४१३) में प्रभाचन्द्रके प्रशिष्य और भट्टारक पद्मनन्दिके शिष्य, भट्टारक विशालकीर्त्तिके उपदेशसे खण्डेलवाल जातिके गंगेलवाल गोत्रीय किसी श्रावकने प्रतिष्ठित कराया था। इससे स्पष्ट है कि भट्टारक पद्मनन्दि ई० सन् १४१३ के पूर्ववर्त्ती हैं। अतएव संक्षेपमें पट्टावलियों और प्रशस्तियोंके आधारपर आचार्य पद्मनन्दिका समय ई० सन्‌की १४वीं शती है।

रचनाएँ

आचार्य पद्मनन्दिके नामसे कई स्तोत्र मिलते हैं। पर गुरुका नाम निर्दिष्ट न होनेसे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्राप्त स्तोत्र इन्हीं पद्मनन्दिके हैं या किन्हीं दूसरे आचार्यके। अतएव यहाँ सुनिर्णीत और संदिग्ध दोनों ही प्रकारको रचनाओंका निर्देश किया जाता है—

१. जीरापल्लीपार्श्वनाथस्तवन

२. भावनापद्धति

३. श्रावकाचारसारोद्धार

४. अनन्तव्रतकथा

५. वर्द्धमानचरित

सन्दिग्ध कृतियाँ

१. वीतरागस्तोत्र

२. शान्तिजिनस्तोत्र

३. रावणपार्श्वनाथस्तोत्र

१. **जीरापल्लीपार्श्वनाथस्तोत्रमें** जीरापल्ली स्थित देवालयके मूलनायक भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति की गयी है। इस स्तोत्रमें १० पद्य हैं। कविने रथोद्धता, शालिनी और वसन्ततिलका छन्दोंका प्रयोग किया है। कवि आराध्यकी स्तुति करता हुआ कहता है—

दुस्तरेऽत्र भव-सागरे सतां कर्म-चण्डिम-भरान्निमज्जताम्।
प्रास्फुरोति न कराऽवलम्बने त्वत्परो जिनवरोऽपि भूतले॥

१. प्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली १९५४, प्रस्तावना, पृ० १९।

त्वत्पदाम्बुज-युगाऽऽश्रयादिदं पुण्यमेति जगतोऽवतां सताम् ।
स्पृश्यतामपि न चाऽन्यशीर्षगं तव (त्वत्) समोऽत्र तवको निगद्यते[1] ॥

अन्तिम पद्यमें अंकित अनन्वय अलंकार आराध्यको उपमारहित और सर्व श्रेष्ठ सिद्ध करता है। इस संसार-सागरमें कर्मभारके कारण निमज्जित होने वाले प्राणियोंको भगवान् पार्श्वनाथका करावलम्बन ही रक्षा करनेमें समर्थ है। अतएव जगत उद्धारकके रूपमें मूल नायक पार्श्वनाथ ही प्रसिद्ध हैं।

२. भावनापद्धति[2]

इस रचनाका दूसरा नाम भावनाचतुस्त्रिंशतिका भी है। भावनाको निर्मल करनेके लिए ३४ पद्यप्रमाण यह भावपूर्ण स्तुति है। रूपक अलंकारकी योजना करता हुआ कवि कहता है कि यह मानसहंस जिनेन्द्रसेवारूपी मन्दाकिनीके निर्मल जलमें विचरण करे। यत: यमराजके जालमें आबद्ध होनेपर यह प्राणी किस प्रकार आनन्दपूर्वक विचरण कर सकेगा। अतएव समय रहते हुए सजग होकर भक्तिरूपी भागीरथीमें स्नान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अद्यैव मानस-मराल ! जिनेन्द्रसेवा—
देवापगांभसि रमस्व मनस्विमान्ये।
यातेऽथवा विधिवशाद्दिवसावसाने,
कीनाश-पाश-पतितस्य कुतो रतिस्ते ॥७॥

इस पद्यमें 'मानसमराल' और 'जिनेन्द्रसेवादेवापगांभसि'में रूपक अलंकार-की सुन्दर योजना की गयी है।

कवि सम्पत्ति, बल, वैभवको विद्युत्के समान चपल और पुत्रमित्र, सुहृत्, सुवर्णादिकको भी नितान्त अस्थिर और विनश्वर अनुभव करता हुआ अपने-को सम्बोधित करता है और कहता है कि सैकड़ों अहमिन्द्रोंके द्वारा जिनके चरणकमलोंकी पूजा की जाती है उन सनातन चैतन्यस्वभाव, ज्ञान-दर्शन स्वरूप, आनन्दके आगार जिनेन्द्रमें मेरा मन लीन हो। यथा—

संपेव संपदबला चपला घनाली
लोलं वपु: सुत-सुहृत्-कनकादि-सर्वं ।
ज्ञात्वेति सोऽहमहमिंद्र-शत-स्तुतांहे !
लीये मुदा त्वयि सनातन ! चित्स्वभावे ॥१४॥

१. अनेकान्त वर्ष ९, किरण ७, जुलाई १९३८, में प्रकाशित।
२. अनेकान्त वर्ष ११, किरण ७-८, सन् १९५२, पृ० २५८-५९ पर प्रकाशित।

कवि आचार्य आतंक, शोक और जन्म-मरणको उत्तुंग शैलका रूपक देकर सांसारिक कष्टोंकी अभिव्यंजना करते हुए कहते है कि इस उत्तुंग शैलपर बार-बार चढ़ने और उतरनेके महान कष्टके कारण में कठिन संतापसे पीड़ित हूँ। अतएव प्रभो ! मैं आपके वचनरूपी पवित्र निर्मल सरोवरमें प्रवेश करता हूँ। जिस प्रकार पर्वतपर बार-बार चढ़ने और उतरनेसे अनेक प्रकारका संताप होता है और उस संतापको दूर करनेके लिए स्नानादि अनेक क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, इसी प्रकार जन्म-मरण, रोग-शोक आदिको दूर करनेके लिए भगवान् जिनेन्द्रके वचनोंका अवलम्बन लेनेसे शान्ति प्राप्त होती है—

आतंक-शोक-मरणोद्भव-तुंगशैल-
रोहाऽवरोहकरणैर्मम पीडितस्य।
दुर्वारतापहनये भवताज्जिनेश !
युष्मद्वचः शुचि-सुधा-सरसि प्रवेशः ॥१५॥

कवि भावविभोर होकर भगवान्से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि प्रभो ! जो आपकी पाषाणनिर्मित मूर्तिका ध्यान करता है वह भी संसारमें पतनसे बच जाता है फिर जो आपके ज्ञानात्मक रूपका ध्यान करेगा, वह किस फलको प्राप्त होगा, यह कहा नहीं जा सकता है—

ग्रावादि-निर्म्मित-शुभप्रतिमासु यस्त्वां
ध्यायत्यमर्त्त्य-पतितामुपयाति सोऽपि।
ज्ञानात्मकं तु भजतां भवतः स्वरूपं
कीदृक्कियत्फलमलं तदहं न जाने॥

३. श्रावकाचारसारोद्धार—इसमें तीन परिच्छेद हैं। तृतीय परिच्छेदके अन्तमें लिखा गया है—"इति श्रावकाचारसारोद्धारे श्रीपद्मनन्दिमुनिविरचिते द्वादशव्रतवर्णनो नाम तृतीयः परिच्छेदो समाप्तः"। इस ग्रन्थमें गृहस्थविषयक आचारका वर्णन किया गया है। इस श्रावकाचारके प्रणयनकी प्रेरणा लम्ब-कञ्चुककुलान्वय साहू बासाधरसे प्राप्त हुई थी। साहू बासाधरके पितामह 'गोकर्ण'ने 'सूपकारसार' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। गोकर्णके पुत्र सोमदेव हुए। इनकी धर्मपत्नीका नाम प्रेमा था। इनके सात पुत्रोंमें बासाधर सबसे बड़े पुत्र[१] थे।

४. अनन्तव्रतकथा—इसमें ८५ पद्य हैं। अनन्तचतुर्दशीके व्रतको सम्पन्न करनेवाले फलाधिकारी व्यक्तिकी कथा वर्णित है। अन्तमें कविने अपना परिचय भी दिया है।

---

१. इसकी पाण्डुलिपि आमेरके शास्त्रभण्डारमें है।

५. **वर्द्धमानचरित**—इस संस्कृतग्रन्थमें तीर्थंकर वर्द्धमानका इतिवृत्त वर्णित है। पद्यसंख्या अनुमानतः ३०० है।

संदिग्ध ग्रन्थोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता है। आचार्यपद्मनन्दि-की रचनाओंमें भक्तिसम्बन्धी आदर्श उच्च कोटिका पाया जाता है।

भट्टारक सकलकीर्ति

विपुल साहित्य निर्माणकी दृष्टिसे आचार्य सकलकीर्तिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत वाङ्मयको संरक्षण ही नहीं दिया, अपितु उसका पर्याप्त प्रचार और प्रसार किया। हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिमें ब्रह्मजिनदासने इनको महाकवि कहा है—

तत्पट्टपङ्कजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवरः प्रतापी।
महाकवित्वादिकलाप्रवीणः तपोनिधिः श्रीसकलादिकीर्तिः॥

इससे स्पष्ट है कि इनकी प्रसिद्धि महाकवीश्वरके रूपमें थी। आचार्य सकलकीर्तिने प्राप्त आचार्यपरम्पराका सर्वाधिकरूपमें पोषण किया है। तीर्थ-यात्राएँ कर जनसामान्यमें धर्मके प्रति जागरूकता उत्पन्न की और नवमंदिरोंका निर्माण कराकर प्रतिष्ठाएँ करायीं। आचार्य सकलकीर्तिने अपने जीवनकालमें १४ बिम्बप्रतिष्ठाओंका संचालन किया था। गलियाकोटमें संघपति मूलराजने इन्हींके उपदेशसे चतुर्विशति जिनबिम्बकी स्थापना की थी। नागद्रह जातिके श्रावक संघपति ठाकुरसिंहने भी कितनी ही बिम्बप्रतिष्ठाओंमें योग दिया। आबूमें इन्होंने एक प्रतिष्ठा महोत्सवका संचालन किया था, जिसमें तीन चौबीसीकी एक विशाल प्रतिमा परिकरसहित स्थापित की गयी थी।

निःसन्देह आचार्य सकलकीर्तिका असाधारण व्यक्तित्व था। तत्कालीन संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदि भाषाओंपर अपूर्व अधिकार था। भट्टारक सकलभूषणने अपने उपदेशरत्नमाला नामक ग्रन्थकी प्रशस्तिमें सकलकीर्तिको अनेक पुराणग्रन्थोंका रचयिता लिखा है। भट्टारक शुभचन्द्रने भी सकल-कीर्तिको पुराण और काव्य ग्रन्थोंका रचयिता बताया है। लिखा है—

'तच्छिष्याग्रेसरानेकशास्त्रपयोधिपारप्राप्तानाम्, एकावलि-द्विकावलि-कनका-वलि - रत्नावलि - मुक्तावलि - सर्वतोभद्र-सिंहविक्रमादिमहातपोवज्रनाशितकर्म-पर्वतानाम्, सिद्धान्तसार-तत्त्वसार-यत्याचाराद्यनेकराद्धान्तविधातॄणाम्, मिथ्या-त्वतमोविनाशैकमार्त्तण्डानाम्, अभ्युदयपूर्वनिर्वाणसुखावश्यविधायि-जिनधर्मा-म्बुधिविवर्द्धनपूर्णचन्द्राणाम्, यथोक्तचरित्राचरणसमर्थननिर्ग्रन्थाचार्यवर्याणाम् श्रीश्रीश्रीसकलकीर्त्तिभट्टारकाणाम्।'[1]

---

१. शुभचन्द्राचार्यपट्टावलि, ७ अनुच्छेद।

अर्थात्-पद्मनन्दिके शिष्य, अनेक शास्त्रोंके पारगामी, एकावलि, द्विकावलि, रत्नावलि, मुक्तावलि, सर्वतोभद्र, सिंहविक्रम आदि महातपोंके आचारणद्वारा कर्मरूपी पर्वतोंको नष्ट करनेवाले, सिद्धान्तसार, तत्त्वसार, यत्याचार आदि आगमग्रन्थोंके रचयिता, मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यतुल्य, जिनधर्मरूपी समुद्रको वृद्धिगत करनेके लिए चन्द्रमातुल्य और यथोक्त चारित्र-का पालन करनेवाले निर्ग्रन्थाचार्य सकलकीर्त्ति हुए।

अतः स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थाचार्य सकलकीर्त्ति एक बड़े तपस्वी, ज्ञानी धर्म-प्रचारक और ग्रन्थरचयिता थे। उस युगमें ये अद्वितीय प्रतिभाशाली एवं शास्त्रों-के पारगामी थे।

आचार्य सकलकीर्तिका जन्म वि० सं० १४४३ (ई० सन् १३८६)में हुआ था[1]। इनके पिताका नाम कर्मसिंह और माताका नाम शोभा था। ये हूंवड़ जातिके थे और अणहिलपुर पट्टनके रहनेवाले थे[2]। गर्भमें आनेके समय माताको स्वप्नदर्शन हुआ था। पतिने इस स्वप्नका फल योग्य, कर्मठ और यशस्वी पुत्रकी प्राप्ति होना बतलाया था।

बालकका नाम माता-पिताने पूर्णसिंह या पूनसिंह रखा था। एक पट्टा-वलीमें इनका नाम 'पदार्थ' भी पाया जाता है। इनका वर्ण राजहंसके समान शुभ्र और शरीर ३२ लक्षणोंसे युक्त था। पाँच वर्षकी अवस्थामें पूर्णसिंहका विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न किया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण अल्पसमयमें ही शास्त्राभ्यास पूर्ण कर लिया। माता-पिताने १४ वर्षकी अवस्थामें ही पूर्णसिंह-का विवाह कर दिया। विवाहित हो जानेपर भी इनका मन सांसारिक कार्योंके बन्धनमें बँध न सका। पुत्रकी इस स्थितिसे माता-पिताको चिन्ता उत्पन्न हुई और उन्होंने समझाया—"अपार सम्पत्ति है, इसका उपभोग युवावस्थामें अवश्य करना चाहिये। संयम प्राप्तिके लिए तो अभी बहुत समय है। यह तो जीवनके चौथे पनमें धारण किया जाता है। पिता-पुत्रके बोचमें जो वार्तालाप हुआ उसे भट्टारक भुवनकीर्तिने निम्नलिखित रूपमें व्यक्त किया है—

१. चोऊद त्रिताल प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ।
२. न्याति मांहि मुहुतवंत हूंवड हरषि वखाणिइए।
करमसिंह वितपन्न उदयवंत इम जाणीइए॥
शोभित तरस अरधांगि, मूलि सरीस्य सुंदरीय।
सील स्यंगारित अङ्गि पेखु प्रत्यक्षे पुरंदरीय॥
—सकलकीर्तिरास, जैन सन्देश, शोधाङ्क १६ में उद्धृत।

देखवि चञ्चल चित्त माता पिता कहि वछ सुणि ।
अहम् मंदिर बहू वित्त आविसिह कारणि कवइ ॥
लहुआ लीलावंत सुख भोगवि संसार तणाए ।
पछइ दिवस बहूत, अछिह संयम तप तणाए ॥
वयणि तं जि सुणेवि पुत्र पिता प्रति हम कहिए ।
निजमन सुविस करेवि धीर जे तरणि तप गहिए ॥
ज्योवन गिइ गमार पछइ पालइ शीयल घणां ।
ते कुहु कवण विचार विण अवसर जे वरसीयिए ॥

कहा जाता है कि माता-पिताके आग्रहसे ये चार वर्षों तक घरमें रहे और १८वें में प्रवेश करते ही वि० सं० १४६३ (ई० सन् १४०६) में समस्त सम्पत्तिका त्याग कर भट्टारक पद्मनन्दिके पास नेणवांमें चले गये। भट्टारक यशःकीर्ति शास्त्रभण्डारकी पट्टावलीके अनुसार ये २६वें वर्षमें नेणवां गये थे। ३४वें वर्षमें आचार्य पदवी धारण कर अपने प्रदेशमें वापस आये और धर्मप्रचार करने लगे। इस समय ये नग्नावस्थामें थे।

आचार्य सकलकीर्तिने बागड़ और गुजरातमें पर्याप्त भ्रमण किया था और धर्मोपदेश देकर श्रावकोंमें धर्मभावना जागृत की थी। उन दिनोंमे उक्त प्रदेशोंमें दिगम्बर जैन मन्दिरोंकी संख्या भी बहुत कम थी तथा साधुके न पहुँचनेके कारण अनुयायियोंमें धार्मिक शिथिलता आ गयी थी। अतएव इन्होंने गाँव-गाँवमें विहार कर लोगोंके हृदयमें स्वाध्याय और भगवद्भक्तिकी रुचि उत्पन्न की।

बलात्कारगण इडर शाखाका आरम्भ भट्टारक सकलकीर्तिसे ही होता है। ये बहुत ही मेधावी, प्रभावक, ज्ञानी और चरित्रवान थे। बागड़ देशमें जहाँ कहीं पहले कोई भी प्रभाव नहीं था, वि० सं० १४९२ में गलियाकोटमें भट्टारक गद्दीकी स्थापना की तथा अपने आपको सरस्वतीगच्छ एवं बलात्कारगणसे सम्बोधित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी और रत्नावली, सर्वतोभद्र, मुक्तावली आदि व्रतोंका पालन करनेमें सजग थे।

स्थितिकाल

भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा वि० सं० १४९० (ई० सन् १४३३) वैशाख शुक्ला नवमी शनिवारको एक [1]चौबीसी मूर्ति; विक्रम संवत् १४९२ (ई० सन् १४३५) वैशाख कृष्ण दशमीको [2]पार्श्वनाथमूर्ति; सं० १४९४ (ई० सन् १४३७)

१. भट्टारकसम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ३३१।
२. वही, लेखांक ३३१।

वैशाख शुक्ला त्रयोदशीको आबू [1]पर्वतपर एक मन्दिरकी प्रतिष्ठा करायी गयी; जिसमें तीन चौबीसीकी प्रतिमाएँ परिकरसहित स्थापित की गयी थीं। वि० सं० १४९७ (ई० सन् १४४०)में एक आदिनाथस्वामीकी[2] मूर्ति तथा वि० सं० १४९९ (ई० सन् १४४२)में सागवाड़ामें आदिनाथ[3] मन्दिरकी प्रतिष्ठा की थी। इसी स्थानमें आपने भट्टारक धर्मकीर्तिका पट्टाभिषेक भी किया था।

भट्टारक सकलकीर्तिने अपनी किसी भी रचनामें समयका निर्देश नहीं किया है, तो भी मूर्तिलेख आदि साधनोंके आधारपरसे उनका निधन वि० सं० १४९९ पौष मासमें महसाना (गुजरात)में होना सिद्ध होता है। इस प्रकार उनकी आयु ५६ वर्षकी आती है।[4]

'भट्टारकसम्प्रदाय' ग्रन्थमें विद्याधर जोहरापुरकरने इनका समय वि० सं० १४५०-१५१० तक निर्धारित किया[5] है। पर वस्तुतः इनका स्थितिकाल वि० सं० १४४३-१४९९ तक आता है।

रचनाएँ

आचार्य सकलकीर्ति संस्कृतभाषाके प्रौढ़ पंडित थे। इनके द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनाओंकी जानकारी प्राप्त होती है—

१. शान्तिनाथचरित
२. वर्द्धमानचरित
३. मल्लिनाथचरित
४. यशोधरचरित
५. धन्यकुमारचरित
६. मुकमालचरित
७. सुदर्शनचरित
८. जम्बूस्वामीचरित
९. श्रीपालचरित

१. भ० सं० लेखांक ३३३।
२. वही, लेखांक ३३४।
३. वही, लेखांक ३३०।
४. प्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, प्रस्तावना पृ० ११ तथा डॉ० कासलीवाल द्वारा लिखित तीन ऐतिहासिक पट्टावलियाँ।
५. भट्टारकसम्प्रदाय, सोलापुर पृ० १५८, बलात्कारगण, इडरशाखा कालपट।

१० मूलाचारप्रदीप
११. प्रश्नोत्तरोपासकाचार
१२. आदिपुराण—वृषभनाथचरित
१३. उत्तरपुराण
१४. सद्भाषितावली—सूक्तिमुक्तावली
१५. पार्श्वनाथपुराण
१६. सिद्धान्तसारदीपक
१७. व्रतकथाकोष
१८. पुराणसारसंग्रह
१९. कर्मविपाक
२०. तत्त्वार्थसारदीपक
२१. परमात्मराजस्तोत्र
२२. आगमसार
२३. सारचतुर्विंशतिका
२४. पञ्चपरमेष्ठीपूजा
२५. अष्टाह्निकापूजा
२६. सोलहकारणपूजा
२७. द्वादशानुप्रेक्षा
२८. गणधरवलयपूजा
२९. समाधिमरणोत्साहदीपक

राजस्थानी भाषामें लिखित रचनाएं

१. आराधनाप्रतिबोधसार
२. नेमीश्वर-गीत
३. मुक्तावली-गीत
४. णमोकार-गीत
५. पार्श्वनाथाष्टक
६. सोलहकारणरासो
७. शिखामणिरास
८. रत्नत्रयरास

१. शान्तिनाथचरित

इस चरितकाव्यमें १६ अधिकार हैं और ३४७५ पद्य हैं। इसमें १६वें

तीर्थंकर शान्तिनाथका जीवनवृत्त अंकित है। काव्यचमत्कार यत्र-तत्र पाया जाता है। महाकाव्यत्वके स्थानपर पौराणिकताका ही समावेश हुआ है।

२. वर्द्धमानचरित

इस चरितकाव्यमें अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमानके पावन जीवनका वर्णन किया गया है। कथावस्तु १९ सर्ग या अधिकारोंमें विभक्त है। प्रथम छह सर्गोंमें महावीरके पूर्व भवोंका और शेष १३ सर्गोंमें गर्भकल्याणकसे लेकर निर्वाणकल्याणक तक विभिन्न लोकोत्तर घटनाओंका विस्तृत वर्णन मिलता है। भाषा सरल और काव्यमय है।

३. मल्लिनाथचरित

इस चरितकाव्यमें ७ सर्ग या परिच्छेद हैं और ८७४ श्लोक हैं। इसमें तीर्थंकर मल्लिनाथका चरित वर्णित है। ग्रन्थकर्त्ताने आरम्भमें मल्लिनाथ स्वामीको ही नमस्कार किया है—

नमः श्रीमल्लिनाथाय कर्ममल्लविनाशिने।
अनन्तमहिमाप्ताय त्रिजगत्स्वामिनेऽनिशं॥
शेषान् सर्वान् जिनान्वन्दे धर्मचक्रप्रवर्तकान्।
विश्वभव्यहितोद्युक्तान् पंचकल्याणनायकान्॥

—प्रथम सर्ग, पद्य १, २

कवि वस्तुवर्णनमें भी कुशल है। अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्दमें ग्राम, नगर, परिखा, ऋतु, सरित, वसन्त आदिका चमत्कारपूर्ण वर्णन करता है। वीतशोका नगरी, विस्तीर्ण खाइयों, ऊँचे परकोटों और तोरणों आदिके वर्णनमें उत्प्रेक्षाका प्रयोग चमत्काररूपमें किया गया है।

दीर्घखातिकया तुङ्ग शालगोपुरतोरणैः।
मनोज्ञैर्यदभाज्जंबूद्वीपवेद्यब्धिवत्तराम्॥
पुण्यवद्धामकूटाग्रध्वजहस्तैर्मरुद्धशैः।
नाकिनामाह्वयंतीव मुक्तये यद्भुवस्तराम्॥

—प्रथम सर्ग पद्य १९, २०

इस काव्यमें दान, अहिंसा, रत्नत्रय, भक्ति, पूजा आदिका भी वर्णन आया है। काव्यतत्त्वके साथ दर्शनतत्त्वको अवगत करनेके लिए यह रचना महत्त्वपूर्ण है।

यशोधरचरित

यशोधरकी कथा अत्यन्त लोकप्रिय रही है। इस कथाको आधार मानकर अनेक जैन कवियोंने विभिन्न भाषाओंमें काव्योंकी रचना की है। सकलकीर्तिकी

यह रचना संस्कृत भाषामें है। इसमें आठ सर्ग हैं। इसमें अहिंसाका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

धन्यकुमारचरित

इस चरितकाव्यमें धन्यकुमारकी कथा वर्णित है। इसमें सात सर्ग या अधिकार हैं। कविने घटनाओंको काव्यशैलीमें प्रस्तुत किया है और धन्यकुमारके जीवनकी कौतूहलपूर्ण घटनाओंको काव्यात्मक रूपमें उपस्थित किया है।

सुकुमालचरित

इस काव्यमें सुकुमालके जीवनका पूर्वभवसहित वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण कथा-वस्तु ९ सर्गोंमें विभक्त है। पूर्वभवमें किया गया वैरभाव जन्म-जन्मान्तरमें कितना कष्टकारी होता है, इसका चित्रण इस काव्यमें सुन्दररूपमें किया है। सुकुमाल वैभवपूर्ण जीवनयापन करता है, पर मुनि अवस्थामें अत्यन्त घोर तपश्चरण कर आत्मशुद्धि लाभ करता है।

सुदर्शनचरित

इस चरितकाव्यमें सेठ सुदर्शनका जीवनवृत्त वर्णित है और कथावस्तु ८ परिच्छेदोंमें विभक्त है। शीलव्रतके पालनमें सुदर्शनकी दृढ़ताका चित्रण बड़े ही सुन्दर रूपमें हुआ है। कविने अन्तर्द्वन्द्वोंका विकास बड़े ही सुन्दर रूपमें किया है। कपिलाके यहाँ सुदर्शनके पहुँचनेपर एवं कपिला द्वारा कमोत्तेजनाओंके उत्पन्न होनेपर भी सुदर्शनकी दृढ़ता किसके हृदयको स्पर्श नहीं करती। अभया रानी सुदर्शनको विचलित करनेका प्रयास करती है, पर वह सुमेरुकी चट्टानके समान दृढ़ रहता है। सुदर्शनके चरित्रकी यह दृढ़ता और शीलकी अटलता काव्यका उदात्तीकरण है। कविने मुनि अवस्थामें पाटलीपुत्रमें देवदत्ता गणिका द्वारा जो उपसर्ग दिखलाये हैं या जिन कामचेष्टाओंका वर्णन किया है, वे पुनरुक्त जैसी प्रतीत होती हैं। शीलके चित्रणमें आठों कारकोंका नियोजन किया गया है—

> शीलं मुक्तिवधूप्रियं भवहरं शीलं सशीलाः श्रिताः
> शीलेनात्र समाप्यते शिवपदं शीलाय तस्मै नमः।
> शीलान्नास्त्यपरः सुधर्मजनकः शीलस्य सर्वे गुणाः
> शीले चित्तमनारतं विदधतं मां शील मुक्तिं नय ॥३।१३०

संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि यह चरितकाव्य काव्यगुणोंसे युक्त उदात्त

शैलीमें लिखा गया है। अष्टम सर्गमें सुदर्शनकी आराधनाका रूपक अलंकारमें चित्रण किया है। भाषा सरल और कथा रससे परिपूर्ण है। सूक्तियाँ और धर्मोपदेश पर्याप्त मात्रामें हैं।

श्रीपालचरित

इसमें कोटीभट्ट श्रीपालके जीवनकी प्रमुख विशेषताओंका वर्णन आया है। समस्त कथावस्तु ७ सर्ग या परिच्छेदोंमें विभक्त है। श्रीपालका राजासे कुष्ठी होना, समुद्रमें गिरना, शूलीपर चढ़ना आदि कितनी ही ऐसी घटनाएँ हैं, जो पाठकोंके मनमें कौतूहल जागृत करती हैं। कविने नाटकीय ढंगसे घटनाओंका नियोजन किया है। इस चरितकाव्यकी रचना कर्मफलके सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेके लिए की गयी है। विश्वके समस्त प्राणी कर्मकृतफलको प्राप्त करते हैं। निकाचितकर्म फल दिये बिना नहीं रहते हैं। काव्यकी भाषा सरल और परिमार्जित है।

मूलाचारप्रदीप

यह आचारसम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें मुनिके जीवनकी समस्त क्रियाओं, विधिओं और साधनाओंका निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थमें १२ अधिकार हैं, जिनमें २८ मूलगुण, पंचआचार, दशलक्षणधर्म, द्वादशानुप्रेक्षा एवं द्वादशतपोंका विस्तारपूवक वर्णन किया गया है।

प्रश्नोत्तरोपासकाचार

इस ग्रन्थमें श्रावकोंके आचारधर्मका वर्णन है। इसमें २४ परिच्छेद हैं। मूलगुण, द्वादशव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत शिक्षाव्रत आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि भट्टारक सकलकीर्तिने श्रद्धालु भक्तोंके आचारविषयक प्रश्नोंका समाधान करनेके लिए इस ग्रन्थकी रचना की है।

आदिपुराण

इस पुराणमें भगवान् आदिनाथ, भरत, बाहुबलि, सुलोचना, जयकुमार आदिके जीवनवृत्तका वर्णन किया गया है। यह २० सर्गोंमें विभक्त है और इसमें ४६२८ पद्य हैं। इस कृतिका दूसरा नाम वृषभनाथचरित भी है। प्रधानतः इसमें आद तीर्थंकर ऋषभदेवका जीवन वर्णित है।

उत्तरपुराण

प्रथम तीर्थंकरको छोड़ शेष २३ तीर्थंकरोंका जीवनवृत्त इस पुराणमें वर्णित है। साथ ही इसमें चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि शलाकापुरुषोंके जीवन भी अंकित हैं। इसमें १५ अधिकार हैं।

सद्भाषितावली

इस सुभाषित ग्रन्थमें धर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, इन्द्रियजय, स्त्रीसहवास, कामसेवन, निर्ग्रन्थसेवा, तप, त्याग, राग-द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह आदि विभिन्न विषयोंका विवेचन किया है। इसमें कुल ३८९ पद्य हैं। सभी पद्य उपदेशप्रद हैं। यथा—

सर्वेषु जीवेषु दया कुरु त्वं, सत्यं वचो ब्रूहि धनं परेषाम्।
चाब्रह्मसेवा त्यज सर्वकालं, परिग्रहं मुंच कुयोनिबीजं॥

पार्श्वनाथपुराण

इसका दूसरा नाम पार्श्वनाथचरित भी है। इसमें २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथके जीवनका वर्णन है। कथाका आरम्भ वायुभूतिके जीवनसे हुआ है। वायुभूति अपनी साधना द्वारा पार्श्वनाथ बन निर्वाण प्राप्त करता है। समस्त कथावस्तु २३ सर्गोंमें विभक्त है।

सिद्धान्तसारदीपक

यह रचना करणानुयोगसम्बन्धी है। इसमें उर्ध्वलोक, मध्यलोक एवं अधोलोक इन तीनों लोकोंका एवं इन तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकियोंका विस्तृत वर्णन किया है। 'तिलोयपण्णत्ति' और 'त्रिलोकसार'के विषयको इस कृतिमें निबद्ध किया गया है। इसका रचनाकाल वि० सं० १४८१ और रचनास्थान बडाली नगर है। समस्त ग्रन्थ १६ अधिकारोंमें विभक्त है।

व्रतकथाकोश

इस ग्रन्थमें विभिन्न व्रत सम्बन्धी कथाएँ निबद्ध की गयी हैं। व्रतपालन द्वारा जिन व्यक्तियोंने अपने जीवनमें विभूतियाँ प्राप्त की हैं, उन व्यक्तियोंके आख्यानोंका वर्णन इस कथाकोशग्रन्थमें किया गया है।

पुराणसारसंग्रह

प्रस्तुत ग्रन्थमें आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान इन छह तीर्थंकरोंके चरितोंको निबद्ध किया गया है। तीर्थंकरोंका जीवनवृत्त अत्यन्त संक्षेपमें लिखा गया है।

कर्मविपाक

यह ग्रन्थ संस्कृतगद्यमें लिखा गया है। इसमें आठ कर्म तथा उनके १४८ भेदों-

का वर्णन है। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्धकी अपेक्षासे कर्मोंके बन्धका वर्णन सुन्दर एवं बोधगम्य है। इसमें ५४७ पद्य हैं।

तत्त्वार्थसारदीपक

जीव-अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका १२ अध्यायोंमें वर्णन किया गया है। प्रथम सात अध्यायोंमें जीव एवं उसकी विभिन्न अवस्थाओंका चित्रण है। अष्टम अध्यायसे द्वादश अध्याय तक अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षका क्रमशः वर्णन है। इस ग्रन्थको आचार्यने आध्यात्मिक रचना कहा है।

परमात्मराजस्तोत्र

यह लघु स्तोत्र है। इसमें १६ पद्य हैं। रचना भावपूर्ण है।

आचार्यद्वारा लिखित पूजासाहित्य भी कम लोकप्रिय नहीं रहा है। नामके अनुसार, पंचपरमेष्ठी, अष्टह्निका और सोलहकारण आदिकी पूजाएँ अंकित हैं। द्वादशानुप्रेक्षामें अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाओंका चित्रण किया गया है। इस प्रकार आचार्य सकलकीर्तिने सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, कर्मसिद्धान्त, आचार एवं चरितग्रन्थोंकी रचना कर संस्कृतसाहित्यको समृद्ध किया है।

राजस्थानी भाषामें आचार्य सकलकीर्तिने गीत, रास और फाग विषयक रचनाओंका प्रणयन किया है। गीतोंमें लघुगीत और प्रबन्धगीत दोनों ही पाये जाते हैं। राजस्थानीके साथ गुजराती भाषाका प्रयोग भी जहाँ-तहाँ उपलब्ध होता है।

निःसन्देह आचार्य सकलकीर्ति अपने युगके प्रतिनिधि लेखक हैं। इन्होंने अपनी पुराणविषयक कृतियोंमें आचार्यपरम्परा द्वारा प्रवाहित विचारोंको ही स्थान दिया है। चरित्रनिर्माणके साथ सिद्धान्त, भक्ति एवं कर्मविषयक रचनाएँ परम्पराके पोषणमें विशेष सहायक हैं। सिद्धान्तसारदीपक, तत्त्वार्थसार, आगमसार, कर्मविपाक जैसी रचनाओंसे जैनधर्मके प्रमुख सिद्धान्तोंका उन्होंने प्रचार किया है। मुन्याचार और श्रावकाचारपर रचनाएँ लिखकर उन्होंने मुनि और श्रावक दोनोंके जीवनको मर्यादित बनानेकी चेष्टा की है। इनकी हिन्दीमें लिखित 'सारसीखामणिरास' और 'शान्तिनाथफाग' अच्छी रचनाएँ हैं। इनमें विषयका प्रतिपादन बहुत ही स्पष्टरूपमें हुआ है।

भट्टारक भुवनकीर्त्ति

सकलकीर्तिके प्रधान शिष्योंमें भट्टारक भुवनकीर्तिकी गणना की गयी है। सकलकीर्तिकी मृत्युके पश्चात् इन्हें भट्टारकपद किस संवत्में प्राप्त हुआ था, इसका कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता है। श्री जोहरापुरकरने अपनी भट्टारकसम्प्रदाय नामक पुस्तकमें इनका समय वि० सं० १५०८-१५२७ माना[1] है। पर अन्य भट्टारकपट्टावलियोंमें सकलकीर्तिके पश्चात् धर्मकीर्त्ति एवं विमलेन्द्रकीर्तिके भट्टारक होनेका निर्देश पाया जाता है। इन्हीं पट्टावलियोंके अनुसार धर्मकीर्ति २४ वर्ष और विमलेन्द्रकीर्त्ति ९ वर्ष तक भट्टारक रहे। इस प्रकार सकलकीर्तिके ३३ वर्षके पश्चात् भुवनकीर्तिको वि० सं० १५३२ में भट्टारकपद मिला होगा, पर भुवनकीर्तिके पश्चात् होनेवाले सभी विद्वान् और भट्टारकोंने उक्त दोनों भट्टारकोंका कहीं भी निर्देश नहीं किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य सकलकीर्तिकी परम्परामें भुवनकीर्ति ही प्रथम शिष्य और भट्टारक हुए हैं। इन्हें वि० सं० १४९९ के पश्चात् किसी भी समय पट्टपर अभिषिक्त कर दिया गया होगा[2] तथा भट्टारकपट्टावली भट्टारक यशःकीर्ति-शास्त्रभण्डार (ऋषभदेव) में प्राप्त है।

आचार्य भुवनकीर्त्ति विविध भाषाओं और शास्त्रोंके ज्ञाता थे। इन्हें विभिन्न कलाओंका परिज्ञान भी था। ब्रह्मजिनदासने अपने रामचरितकाव्यमें इनकी कीर्तिका गुणानुवाद किया है तथा इन्हें यतिराज कहा है। यथा—

> पट्टे तदीये गुणावान् मनीषी क्षमानिधाने भुवनादिकीर्तिः।
> जीयाच्चिरं भव्यसमूहवंद्यो नानायतिव्रातनिषेवणीयः॥
> जगति भुवनकीर्तिर्भूतलख्यातकीर्तिः,
> श्रुतजलनिधिवेत्ता अनंगमानप्रभेक्ता।
> विमलगुणनिवासः छिन्नसंसारपाशः
> स जयति यतिराजः साधुराजिसमाजः[3]॥

भुवनकीर्तिके सम्बन्धमें ब्रह्मजिनदास, भट्टारक ज्ञानकीर्ति आदिने बताया है कि पहले ये मुनि रहे हैं और सकलकीर्तिकी मृत्युके पश्चात् इन्हें भट्टारकपद प्रदान किया गया है। शुभचन्द्र-पट्टावलिमें भी इसका उल्लेख मिलता है।

---

१. भट्टारकसम्प्रदाय, पृ० १५८।

२. देखें, राजस्थानके जैन सन्त, पृ० १७५ के फुटनोट नं० ३ में।

३. रामचरित्र (ब्र० जिनदास) श्लोक १८५-१८६।

"तत्पट्टाभरणानेकदक्षमौरव्यनिष्पादन–सकलकलाकलापकुशलरत्नसुवर्ण-रौप्यपित्तलाश्मप्रतिमा-तन्त्रप्रतिष्ठायाश्चार्चनविधानोपदेशाज्जितकीर्त्तिकर्पूरपूरित-त्रैलोक्यविवरणानाम्, महातपोधनानां श्रीमद्भुवनकीर्त्तिदेवानाम् ।"[1]

सकलकीर्त्तिके पट्टपर भूषणतुल्य; सकलकलाप्रवीण, रत्न, सुवर्ण, रौप्य, पित्तल, पाषाणकी प्रतिमा, यन्त्र और प्रासादमन्दिरकी प्रतिष्ठा और अर्चन-विधानजन्यकीर्ति-कर्पूरसे त्रिभुवनविवरको पूरित करनेवाले महातपस्वी श्री भुवनकीर्त्तिदेव हुए।

भुवनकीर्तिने ग्रन्थरचनाके साथ-साथ प्रतिष्ठाएं भी करायी थीं। वि० सं० १५११ में इनके उपदेशसे हूवड़ जातीय श्रावक करमण एवं उसके परिवारने चौबीसी प्रतिमा स्थापित की थी[2]।

सं० १५१३ में इन्हींके तत्त्वावधानमें चतुर्विंशतिप्रतिमाकी प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

सं० १५१५ में गंधारपुरमें प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी तथा इन्हींके उपदेशसे जूनागढ़में एक शिखरवाले मन्दिरका निर्माण कराया गया और उसमें धातुकी आदिनाथस्वामीकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी। इस उत्सवमें सौराष्ट्रके छोटे-बड़े राजा-महाराजा भी सम्मिलित हुए थे। भुवनकीर्त्ति इसमें मुख्य अतिथि[3] थे।

सं० १५२५ में नागद्रहाजाति, श्रावक पूजा एवं उसके परिवारवालोंने इन्हींके उपदेशसे आदिनाथस्वामीकी धातुमय प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी।

सं० १५२७ में वैशाख कृष्ण एकादशाको भुवनकीर्त्तिने हूंवणजातीय जयसिंह आदि श्रावकोंसे धातुकी रत्नत्रय चौबीसी प्रतिष्ठित करायी[4] थी।

रचनाएँ

आचार्य भुवनकीर्तिके 'जीवन्धररास', 'जम्बूस्वामीरास' और 'अञ्जना-चरित' ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'जीवन्धररास'में जीवन्धरके पुण्यचरितका और जम्बूस्वामीरासमें जम्बूस्वामीके पावनचरितका रासशैलीमें अंकन किया गया

१. शुभचन्द्रपट्टावलि, अनुच्छेद ८।

२. संवत् १५११ वर्षे वैशाख बदी ....श्रीशांतिनाथ नित्यं प्रणमंति।

३. सकलकीर्तिनुरास, पद्य १९-२१।

४. संवत् १५२७ वर्षे वैशाख बदी ११ बुधे श्रीमूलसंघे भट्टारकश्रीभुवनकीर्ति उपदेशात् हूंबड़ ब्रह्म जयसिंग भार्या भूरी सुतधर्मा भार्या हीरु भ्राता वीरा भार्या मरगदी सुत माड्या भूधर खीमा एते श्रीरत्नत्रयचतुर्विंशतिका नित्यं प्रणमंति।

है। अञ्जनाचरित छोटा-सा चरितकाव्य है। इसमें सती अञ्जनाके आख्यानको निबद्ध किया है।

ब्रह्म जिनदास

ब्रह्मजिनदास संस्कृतके महान् विद्वान् और कवि थे। ये कुन्दकुन्दान्वय, सरस्वती गच्छके भट्टारक सकलकीर्तिके कनिष्ठ भ्राता और शिष्य थे। बलात्कारगणको ईडर शाखाके सर्वाधिक प्रभावक भट्टारक सकलकीर्तिके अनुज होनेके कारण इनकी प्रतिष्ठा अत्यधिक थी।

इनको माताका नाम शोभा और पिताका नाम कर्णसिंह था। ये पाटनके रहनेवाले तथा हूंवड़ जातिके श्रावक थे। पर्याप्त धनिक और समृद्ध थे। कुछ समयके बाद इन्हें घरसे विरक्ति हो गयी और इन्होंने श्रमण-जीवन स्वीकार किया। इन्होंने गुरुके रूपमें सकलकीर्तिका आदरपूर्वक स्मरण किया है।

स्थितिकाल

ब्रह्मजिनदासकी जन्म-तिथिके सम्बन्धमें कोई निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है, पर वि० सं० १५१० से आचार्य ब्रह्मजिनदास ख्याति प्राप्त कर चुके हैं तथा अनेक मूर्तिलेखोंमें उनके निर्देश मिलते हैं। सकलकीर्तिका जन्म वि० सं० १४४३में हुआ है। अतः लघुभ्राता होनेके कारण इनकी जन्म तिथि ४-५ वर्ष बाद भी स्वीकार की जाये तो वि० सं० १४५० के पूर्व ही इनकी जन्मतिथि आती है। इन्होंने वि० सं० १५१० माघ शुक्ला पञ्चमीको एक पञ्चपरमेष्ठीकी मूर्ति स्थापित की थी। यथा—

"संवत् १५१० वर्षे माहमासे शुक्लपक्षे ५ रवौ श्रीमूलसंङ्घे····भट्टारक पद्मनन्दि तत्पट्टे भ० श्रीसकलकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्मजिनदास हुंबड जातीय सा० तेजु भा० मलाई·······।"

कविने गुजराती हरिवंशरासमें उसका रचनाकाल वि० सं० १५२० (ई० सन् १४६३) अंकित किया है। कहा जाता है कि भट्टारक सकलकीर्तिने वि० सं० १४८१ में संघसहित बडालीमें चातुर्मास किया था और वहांके अमीझरा पार्श्वनाथ चैत्यालयमें बैठकर 'मूलाचारप्रदीप' नामक ग्रन्थ अपने अनुज और शिष्य ब्रह्मजिनदासके आग्रहसे वि० सं० १४८१ श्रावण शुक्ला पूर्णिमाके दिन पूर्ण किया था। कविके संस्कृत हरिवंशपुराणकी पाण्डुलिपि मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशी रविवार वि० सं० १५५५ की प्राप्त होती है। अतः इनका यह ग्रन्थ ई० सन् १४९८ के पूर्व अवश्य ही रचा गया होगा। अतएव हमारा अनुमान

है कि ब्रह्मजिनदासका समय वि० सं० १४५०–१५२५ होना चाहिए। इस समयावधिमें कविकी रचनाओंका लेखन भी सम्भव है।

इनकी रचनाओंसे अवगत होता है कि मनोहर, मल्लिदास, गुणदास और नेमिदास इनके शिष्य थे। ब्रह्मजिनदास ग्रन्थरचयिता होनेके साथ कुशल उपाध्याय भी थे। यही कारण है कि इनके सान्निध्यमें अनेक शिष्योंने ज्ञानार्जन किया था।[1]

रचनाएँ (संस्कृत)

१. जम्बूस्वामीचरित
२. रामचरित
३. हरिवंशपुराण
४. पुष्पाञ्जलिव्रतकथा
५. जम्बूद्वीपपूजा
६. सार्द्धद्वयद्वीपपूजा
७. सप्तर्षिपूजा
८. ज्येष्ठिजिनवरपूजा
९. सोलहकारणपूजा
१०. गुरुपूजा
११. अनन्तव्रतपूजा
१२. जलयात्राविधि

राजस्थानी

१. आदिनाथपुराण
२. हरिवंशपुराण
३. राम-सीतारास
४. यशोधररास
५. हनुमतरास
६. नागकुमाररास
७. परमहसरास
८. अजितनाथरास
९. होलीरास
१०. धर्मपरीक्षारास
११. ज्येष्ठिजिनवररास
१२. श्रेणिकरास
१३. समकितमिथ्यात्वरास
१४. सुदर्शनरास
१५. अम्बिकारास
१६. नागश्रीरास
१७. श्रीपालरास
१८. जम्बूस्वामीरास
१९. भद्रबाहुरास
२०. कर्मविपाकरास
२१. सुकोशलस्वामीरास
२२. रोहिणीरास
२३. सोलहकारणरास
२४. दशलक्षणरास
२५. अनन्तव्रतरास
२६. धन्नकुमाररास
२७. चारुदत्तप्रबन्धरास
२८. पुष्पाञ्जलिरास

---

१. शिष्य मनोहर रुपड़ा ब्रह्म मल्लिदास गुणदास।
पढ़ो पढ़ावो बहु भाव सों जिन होई सोख्य विकास ॥—हरिवंशपुराणकी प्रशस्ति-
ब्रह्मजिनदास शिष्य निरमला नेमिदास सुविचार।
पढ़ई-पढ़ावो विस्तरो परमहंस अवतार ॥—परमहंसरास, पद्य ८।

२९. धनपालरास
३०. भविष्यदत्तरास
३१. जीवन्धररास
३२. नेमीश्वररास
३३. करकण्डुरास
३४. सुभौमचक्रवर्त्तीरास
३५. अट्ठाबीसमूलगुणरास
३६. मिथ्यादुक्कड़विनती
३७. बारहव्रतगीत
३८. जीवड़ागीत
३९ जिणन्दगीत
४०. आदिनाथस्तवन
४१. आलोचनाजयमाल
४२. गुरुजयमाल
४३. शास्त्रपूजा
४४. सरस्वतीपूजा
४५. गुरुपूजा
४६. जम्बूद्वीपपूजा
४७. निर्दोषसप्तमीव्रतपूजा
४८. रविव्रतकथा
४९. चौरासीजातिजयमाल
५०. भट्टारकविद्याधरकथा
५१. अष्टांगसम्यक्त्वकथा
५२. व्रतकथा
५३. पञ्चपरमेष्ठीगुणवर्णन

जम्बूस्वामीचरित—इस चरितकाव्यमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामीका जीवनवृत्त अंकित है। सम्पूर्ण काव्य ११ सर्गोंमें विभक्त है। शृङ्गार और वीररसका सुन्दर वर्णन पाया जाता है। अलंकारोंकी दृष्टिसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, निदर्शना, परिसंख्या आदि सभी प्रमुख अर्थालंकार प्राप्त हैं। भाषाशैलीको सशक्त बनानेके लिए सुभाषितोंका भी प्रयोग किया गया है।

हरिवंशपुराण—इस पुराणमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ और श्रीकृष्णके वंश हरिवंशमें उत्पन्न हुए व्यक्तियोंका वर्णन किया गया है। कौरव और पाण्डवोंकी कथा भी निबद्ध है। समस्त कथा ४० सर्गोंमें विभक्त है। रस, अलंकार, गुण और रीतिकी दृष्टिसे भी इस पुराणका पर्याप्त मूल्य है। सृष्टि-विद्या, श्रावकाचार, श्रमणाचार, गुण-द्रव्य, तत्त्वज्ञान, नय आदिका भी कथन आया है।

रामचरित—रविषेणाचार्यके पद्मपुराणके आधारपर इस रामकथाकी रचना की गयी है। समस्त इतिवृत्त ८३ सर्गोंमें विभक्त है और १५०० पद्य प्रमाण हैं। भाषाके सरल होने पर भी शैली अलंकृत है।

आदिनाथपुराण—राजस्थानी मिश्रित हिन्दीमें रचा गया यह पुराण ग्रन्थ कविकी सबसे बड़ी रचना है। ऋषभदेव, बाहुवलि, भरत आदि महापुरुषोंके जीवनवृत्त अंकित हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवकी पूर्वभवावली,

भोगभूमिकी समृद्धि, कुलकरोंकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा विभिन्न समयोंमें सम्पादित विभिन्न कृत्योंके निर्देश, कर्मभूमियोंका प्रारम्भ एवं इन कर्म-भूमियोंमें घटित होनेवाली विभिन्न अवस्थाओंका चित्रण किया गया है। आचार्यने देशी भाषामें ग्रन्थका रचे जानेका कारण बतलाते हुए लिखा है—

भवियण भावें सुणो आज, रास कहो मनोहार।
आदिपुराण जोई करी, कवित करूँ मनोहार॥
बाल गोपाल जिम पढ़े गुणे, जांणे बहु भेद।
जिन सासण गुण निरमला, मिथ्यामत छेद॥
कठिन नारेल दीजे बालक हाथ, ते स्वान न जांणे।
छोल्यां केला द्राख दीजे, ते गुण बहु माने॥
तिम ए आदपुराण सार, देस भाषा बखाणं।
प्रगुण गुण जिम विस्तरे, जिन सासण बखाणूं॥

हरिवंशपुराण—इस ग्रन्थका दूसरा नाम नेमिनाथरास भी है। कविने संस्कृतमें लिखे गये अपने पुराणपर ही राजस्थानी भाषामें इस काव्यग्रंथकी रचना की है। इसका रचनाकाल वि० सं० १५२० है।

रामसीतारास—रामके जीवनवृत्तको राजस्थानी भाषामें निबद्ध किया गया है। यह रचना वि० सं० १५०८ मार्गशोर्ष शुक्ला चतुर्दशीको लिखी गयी है।

यशोधररास—महाराज यशोधरकी कथा अहिंसाका महत्त्व वर्णित रहनेके कारण साहित्य-स्रष्टाओंके लिए विशेष प्रिय रहे हैं। ब्रह्मजिनदासने भी उक्त यशोधरकथाको आधार मानकर इस कृतिकी रचना की है। भाषा-शैलीकी दृष्टिसे यह रचना ग्राह्य है।

हनुमतरास—पुण्यपुरुष हनुमानका जीवन जैन आचार्य और जैन लेखकोंको विशेष प्रिय रहा है। यह एक लघु काव्य है, जिसमें चरितनायक हनुमानके जीवनकी मुख्य-मुख्य घटनाओंका वर्णन किया गया है। इस रासमें ७२७ दोहा, चौपाई बन्ध है।

नागकुमाररास—ज्ञानपंचमीव्रतका माहात्म्य दिखलानेके लिए नागकुमारको कथा प्रसिद्ध है। इस कथाके आधार पर संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत आदि भाषाओंमें भी काव्य लिखे गये हैं। ब्रह्मजिनदासने राजस्थानीमिश्रित हिन्दीमें नागकुमाररासकी रचना कर पंचमीव्रतका माहात्म्य प्रकट किया है।

परमहंसरास—इस आध्यात्मिक रूपककाव्यका नायक परमहंस नामक

राजा है और चेतनानामक रानी नायिका है। नायक मायारानीके वश होकर अपने शुद्ध स्वरूपको भूल जाता है और कायानगरीमें रहने लगता है। राजाका अमात्य मन है, जिसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति नामक दो पत्नियाँ हैं। इस काव्यका प्रतिनायक मोह है। इस प्रकार मोह और परमहंसका संघर्ष दिखलाकर मोहका पराजय और परमहंसकी विजय दिखलायी गयी है। यह प्रतीक रचना बड़ी सुन्दर है।

अजितनाथरास—इस रासग्रन्थमें द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथका जीवन वर्णित है। रचयिताने अजितनाथके जीवनकी प्रमुख घटनाओंको संक्षेपमें निबद्ध करनेका प्रयास किया है।

होलीरास—रचयिताने जैन मान्यताके आधारपर होलीकी कथा अंकित की है। इस रासग्रन्थमें कुल १४८ पद्य हैं, तथा दोहा, चौपाई और वस्तुबन्ध छन्दोंका प्रयोग किया गया है।

धर्मपरीक्षारास—मनुष्यको पापप्रवृत्तियोंसे हटाकर शुभप्रवृत्तियोंकी ओर अग्रसर करनेके लिए इस ग्रन्थकी रचना की गयी है। इस रासमें दो व्यक्तियोंके कार्य-कलाप विशेष रूपसे अंकित है। एक व्यक्ति मनोवेग है, जो शुद्धाचरण वाला है और दूसरा व्यक्ति पवनवेग है, जो सन्मार्गसे भ्रष्ट हो चुका है। इन दोनों व्यक्तियोंके आधारसे कथावस्तुका विकास हुआ है।

ज्येष्ठजिनवररास—यह लघुकथाकाव्य है। बताया गया है कि सोमाने प्रतिज्ञा की थी कि वह प्रतिदिन एक कलश जल लेकर श्रीजीका अभिषेक करेगी। उसने विभिन्न परिस्थितियोंके आनेपर भी अपनी इस प्रतिज्ञाका निर्वाह किया है। कविने सोमाकी इस प्रतिज्ञाका बड़े ही उदात्त रूपमें वर्णन किया है। पद्यसंख्या १२० है।

श्रेणिकरास—इस कृतिमें मगधसम्राट् श्रेणिकका जीवनवृत्त अंकित हैं। ये भगवान्के प्रमुख श्रोता थे। यह रासग्रन्थ दोहा और चौपाई छन्दमें लिखा गया है। भाषा सरल और सुन्दर है।

समकितमिथ्यातरास—इस लघुकाय रासमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका चित्रण किया गया है। इसमें ७० पद्य हैं। पाखण्डमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ताका अच्छा निराकरण किया गया है। फलप्राप्तिके हेतु किसी भी देवकी आराधना करना मिथ्यात्व है। सम्यक्दृष्टिकी श्रद्धा दृढ़ और निर्मल होती है। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप आत्माका ही श्रद्धान् करता है। उसकी दृष्टिमें अपने किये हुए कर्मोंका फलभोक्ता यह संसारी जीव है। अतएव किसी भी देवविशेषकी उपासना करनेसे पुत्र,धन आदिकी प्राप्ति संभव नहीं है।

सुदर्शनरास—इस रासकाव्यमें ३३७ पद्यों द्वारा सुदर्शनकी कथा वर्णित है। कविने विकारों और कषायोंका अच्छा चित्रण किया है।

अम्बिकारास—१५८ छन्दों द्वारा अम्बिकादेवीका चरित निबद्ध किया गया है। काव्यगुणोंका सामान्यतया समावेश हुआ है।

नागश्रीरास—इस रासमें रात्रिभोजनके त्यागका महत्त्व वर्णित है। इस व्रतका पालन नागश्रीने किया है। अतः कविने २५३ पद्योंमें नागश्रीका चरित लिखा है।

श्रीपालरास—इस रास काव्यमें ४४८ पद्य हैं और इसमें कोटिभट श्रीपालके जीवनका चित्रण हुआ है। कविने भाग्यवादका महत्त्व बतलाया है। श्रीपालके अतिरिक्त, मैना सुन्दरी, रयण मंजूषा, धवल सेठ आदि पात्रोंके चरितका चित्रण किया गया है।

जम्बूस्वामीरास—१००५ पद्योंमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके चरितका अंकन रासशैलीमें किया गया है।

भद्रबाहुरास—अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामीके जीवनका चित्रण इस रासकाव्यमें किया गया है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहुके शिष्य थे।

रविव्रतकथा—४६ पद्योंमें रविव्रतका माहात्म्य वर्णित है। इस कृतिकी भाषा सरल और सुबोध है।

कविने पूजासाहित्यमें नामानुसार पूजाओंका अंकन किया है। गीत और स्तवनोंमें भावोंकी गहराई पर्याप्त रूपमें पायी जाती है। ब्रह्मजिनदासकी काव्य-प्रतिभा असाधारण है। ग्रन्थबाहुल्यकी दृष्टिसे इनका स्थान जैनसाहित्यमें प्रमुख है। संस्कृतकी अपेक्षा राजस्थानीमिश्रित हिन्दी-रचनाएँ अधिक सरस हैं। अञ्जनाकी गोदसे शिशु हनुमानके गिरनेका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

अङ्के विधाय तनयं यावत्पश्येत्तदञ्जनी।
लोलत्वात्पतितस्तावदर्भकः पर्वतोपरि ॥
शतखण्डगतातत्र शिला बालकवेगतः।
हाहाकारं विमाने हि जातं तत्र नभस्तले ॥
अञ्जनासुन्दरी तावद्रोदनं विदधे परम्।
हा पुत्र हा गुणाधार हा मारसदृशाकृते ॥
समाप्तिञ्च मया नीताः सर्वे दुःखकदम्बकाः।
त्वया नवीना विहितास्तत्किं करवाण्यहम् ॥

चूर्णीभूतां शिलां दृष्ट्वा शिशुश्चोपद्रवोप्सितम् ।
उत्तानशय्यामाश्रित्याधयमानं करांगुलिम् ॥

हनुमच्चरित ५।१४२-१४७

पद्योंमें संगीतात्मकत भी पायी जाती है। निम्नलिखित पद्य दर्शनीय हैं—

तरलतरत्तुरंगास्तारत्तुंगाजवीना, वरघटपटुताभीराजितावारेणन्द्राः ।
दृढपथमथनोग्रा स्पन्दनासद्भटौघा जिनपचरणयुग्मस्यार्चनाप्राप्यते वै ॥

हनुमच्चरित ६।१२२

कविने काव्यकी समाप्तिकी सूचना देते हुए लिखा है—

जैनेन्द्रशासनसुधारसपानपुष्टो,
देवेन्द्रकीर्त्तियतिनायकनैष्टिकात्मा ।
तच्छिष्यसंयमधरेण चरित्रमेतत्,
सृष्टं समीरणसुतस्य महर्द्धिकस्य ॥

हनुच्चरित १२।९१

हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिमें कविने भुवनकीर्तिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

जगति भुवनकीर्तिः भूतले ख्यातकीर्त्तिः
श्रुतजलनिधिवेत्ताऽनंगमात्रप्रमेत्ता ।
विमलगुणनिवासश्छिन्नसंसारपाशः
स जयति जिनराजः साधुराजीसमाजः ॥ ३९।३८

प्रबन्ध-संघटनमें आचार्यको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। कथाके माध्यमसे पौराणिक, धार्मिक और दार्शनिक तथ्योंकी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। चरित, धर्म और दर्शनकी परम्पराका पोषण चरित और रास काव्योंके रूपमें किया गया है। ये भट्टारक सकलकीर्ति और भुवनकीर्त्तिके संघमें प्रविष्ट थे और उन्हें गुरुतुल्य मानते थे। इनकी रचनाएँ ६० से भी अधिक हैं।

सोमकीर्ति

पन्द्रहवीं शताब्दीके प्रमुख साहित्यसेवियोंमें भट्टारक सोमकीर्तिकी गणना की गयी है। आत्मसाधनाके साथ स्वाध्याय, साहित्यसृजन एवं शिष्योंके पठन-पाठनमें ये प्रवृत्त रहते थे। ये काष्ठासंघकी नन्दितट-शाखाके भट्टारक थे तथा १०वीं शताब्दीके प्रसिद्ध भट्टारक रामसेनकी परम्परामें होनेवाले भट्टारक थे। इनके दादागुरुका नाम लक्ष्मीसेन और गुरुका नाम भीमसेन था। इन्होंने सं० १५१८में रचित एक ऐतिहासिक पट्टावलीमें अपने आपको काष्ठासंघका ८७वाँ

भट्टारक लिखा है। साहित्यिक और पट्टावलियोंके निर्देशसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वि० सं० १५१८ में इन्हें भट्टारकपद प्राप्त हो चुका था। श्रीविद्याधर जोहरापुरकरने इनका समय वि० सं० १५२६-१५४० बतलाया[1] है। जोहरापुरकरने लिखा है—

"भीमसेनके पट्टशिष्य सोमकीर्ति हुए। आपने संवत् १५३२ में वीरसेन सूरिके साथ एक शीतलनाथस्वामीकी मूर्ति स्थापित की (ले० ६५१)। संवत् १५३६में गोढ़िलीमें यशोधरचरितकी रचना पूरी की (ले० ६५२) तथा संवत् १५४०में एक मूर्ति स्थापित की (ले० ६५३), आपने सुल्तान पिरोजशाहके राज्य-कालमें पावागढ़में पद्मावतीकी कृपासे आकाशगमनका चमत्कार दिखलाया था (ले०[2] ६५४)।"

सोमकीर्तिने 'प्रद्युम्नचरित' और 'सप्तव्यसनकथा'की रचना क्रमशः वि० सं० १५३१ तथा १५२६में की है। अतएव सोमकीर्तिका समय १५२६के पूर्व होना चाहिये। जिन मूर्तिलेखोंमें इनका नामांकन मिलता है, वे मूर्तिलेख वि० सं० १५२६के पश्चात्के हैं। इन्होंने कुछ प्रतिष्ठाएँ करायी थीं। एक मूर्तिलेख-में आया है—

"संवत् १५२७ वर्षे वैशाख सुदि ५ गुरौ श्रीकाष्ठासंघे नंदतटगच्छे विद्या-गणे भट्टारक श्री सोमकीर्ति आचार्य श्री वीरसेन युगवे प्रतिष्ठिता। नरसिंह राज्ञा भार्या सांपडिय गोत्रे..........लाखा भार्या मांकू देल्हा भार्या मान् पुत्र बना सा० कान्हा देल्हा केन श्री आदिनाथ बिम्ब कारापिता।"

अर्थात् वि० सं० १५२७ वैशाख सुदी पञ्चमीको इन्होंने वीरसेनके साथ नरसिंह एवं उसकी भार्या सापड़ियाके द्वारा आदिनाथस्वामीकी मूर्ति प्रतिष्ठित-की थी।

वि० सं० १५३२ वीरसेनसूरिके साथ शीतलनाथ स्वामीकी मूर्ति प्रतिष्ठित-की[3] थी।

वि० सं० १५३६में अपने शिष्य वीरसेनसूरिके साथ हूंवड़ जातीय श्रावक भूपा भार्या राजके अनुरोधसे चौबीसी मूर्ति प्रतिष्ठित की थी।

वि० सं० १५४०में भी इन्होंने एक मूर्तिकी प्रतिष्ठा करायी[4] थी।

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, पृ० सं० २९८।
२. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २९३।
३. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखाङ्क ६५१।
४. वही, लेखाङ्क ६५३।

इन सब तिथियोंसे स्पष्ट है कि भट्टारक सोमकीर्तिका जन्म वि० सं० १५००के आस-पास होना चाहिये। ऐतिहासिक पट्टावलीके अनुसार वि० सं० १५१८में इन्हें भट्टारकपद प्राप्त हो चुका था। इनके कार्यकालका ज्ञान वि० सं० १५४०के पश्चात् नहीं होता है। इनकी अवस्था यदि ६० वर्षकी भी रही हो, तो इनका जन्म वि० सं० १४८०के लगभग आता है।

इनके शिष्योंमें यशःकीर्ति, वीरसेन और यशोधर ये तीन प्रधान हैं। इनकी मृत्युके पश्चात् यशःकीर्ति ही भट्टारक बने। सोमकीर्ति लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे और इनकी वाणीमें अमृत जैसा प्रभाव था।

रचनाएँ

आचार्य सोमकीर्तिने संस्कृत एवं हिन्दी इन दोनों ही भाषाओंमें ग्रन्थ-प्रणयन किया है। उपलब्ध रचनाएँ निम्न प्रकार हैं—

संस्कृत-रचनाएँ

१. सप्तव्यसनकथा
२. प्रद्युम्नचरित
३. यशोधरचरित

राजस्थानी-रचनाएँ

१. गुर्वावलि
२. यशोधररास
३. ऋषभनाथकी धूलि
४. मल्लिगीत
५. आदिनाथविनती

सप्तव्यसनकथा—इस कथाग्रन्थमें सात सर्ग हैं। प्रथम सर्गमें द्यूतव्यसन-कथा, द्वितीयमें स्तेयव्यसनकथा, तृतीयमें आखेटव्यसनकथा, चतुर्थमें वेश्या-व्यसनकथा, पंचममें पररमणीसेवनव्यसनकथा, षष्ठमें मद्यसेवनव्यसनकथा और सप्तममें मांससेवनव्यसनकथा लिखी गयी है। ग्रन्थ पद्यबद्ध है। अन्तमें ग्रंथसमाप्तिकी तिथि अंकित है। बताया है—

रसनयनसमेते वाणयुक्तेन चन्द्रे (१५२६)
गतवति सति नूनं विक्रमस्यैव काले
प्रतिपदि धवलायां माघमासस्य सोमे
हरिभदिनमनोज्ञे निर्मितो ग्रन्थ एषः ॥७१॥

प्रद्युम्नचरित—इस चरितकाव्यमें श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका जीवनचरित अंकित है। समस्त कथावस्तु १६ सर्गो में विभक्त है। इसका रचनाकाल वि० सं० १५३१ पौष शुक्ला त्रयोदशी बुधवार है।

यशोधरचरित—यशोधरका जीवन जैन कवियोंको विशेष प्रिय रहा है। यशोधरके इस आख्यानको कविने आठ सर्गोंमें विभक्त किया है। रचनाकाल-पर प्रकाश डालते हुए कविने स्वयं लिखा है—

> वर्षे षट्त्रिंशसंख्ये तिथिपरगणनायुक्तसंवत्सरे (१५३६) वै।
> पंचम्यां पौषकृष्णे दिनकरदिवसे चोत्तरास्य हि चंद्रे।
> गोढिल्याः मेदपाटे जिनवरभवने शीतलेन्द्ररम्ये।
> सोमादिकीर्त्तिनेदं नृपवरचरितं निर्मितं शुद्धभक्त्या॥

गुर्वावलि—यह एक ऐतिहासिक रचना है। इसमें कविने अपने संघके पूर्वाचार्यो का संक्षिप्त वर्णन किया है। गुर्वावलि संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओंमें लिखी गयी है। हिन्दीमें गद्य-पद्य दोनोंका उपयोग किया गया है। इसकी समाप्ति वि० सं० १५१८में की गयी है। इसमें काष्ठासंघका इतिहास अंकित है। इस संघके नन्दीतटगच्छ, माथुरगच्छ, वागड़गच्छ एवं लाटवागड़ गच्छका परिचय दिया गया है। इस गुर्वावलीमें आचार्य अर्हद्बलिको नन्दीतट गच्छका प्रथम आचार्य लिखा है। अनन्तर अन्य आचार्योंका संक्षिप्त इतिहास बतलाते हुए ८६ आचार्योंका नामोल्लेख किया है और ८७वें आचार्य भट्टारक सोमकीर्ति ही बतलाये हैं। इस गच्छके आचार्य रामसेनने नरसिंहपुरा जातिकी तथा नेमिसेनने भट्टपुरा जातिकी स्थापना की थी।

यशोधररास—यह एक प्रबन्धकाव्य है। कविने इसमें प्रबन्धकाव्यके समस्त गुणोंका समावेश किया है। समस्त काव्य १० ढालों (सर्गों)में विभक्त है। आचार्यने यशोधरकी जीवनकथा सीधे रूपमें प्रारम्भ न होकर साधु-युगलसे कहलायी गयी है। इस कथाको सुनकर राजा मारिदत्त हिंसक जीवन छोड़कर अहिंसक बन जाता है। वस्तुव्यापारोंका वर्णन कविने विस्तारपूर्वक किया है।

त्रेपनक्रियागीत—श्रावकके पालन करने योग्य त्रेपन क्रियाओंका वर्णन इस गीतिकाव्यमें किया गया है। वर्णनपद्धति गीतिकाव्यकी है। इस प्रकार कविने गीतिशैलीमें श्रावकाचारसम्बन्धी विशेषताओंका निरूपण किया है।

ऋषभनाथकी धूलि—यह प्रबन्धकाव्य है और इसमें आदितीर्थंकर ऋषभ-देवका जीवनवृत्त वर्णित है। समस्त कथावस्तु चार ढालों या सर्गोंमें विभक्त है। कविने इस ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए लिखा है—

प्रणमवि जिनवर पाउ, तु गड त्रिहुंभवन नुए।
समरवि सरसति देव तु सेवा सुरनर करिए॥
गाइसु आदि जिणंद आणद अति उपजिए।
कौशल देश मझार तु सुसार गुण आगलुए॥
नाभि नरिंद सुरिंद जिसु सुरपुर वराए।
मुरा देवी नाम अरधंगि सुरंगि रंभा जिसी ए॥

इस प्रकार सोमकीर्तिने अहिंसा, श्रावकाचार, अनेकान्त आदि विषयोंका प्रतिपादन किया है।

आचार्य ज्ञानभूषण

ज्ञानभूषण नामके चार आचार्योंका उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम ज्ञानभूषण भट्टारक सकलकीर्तिकी परम्परामें भट्टारक भुवनकीर्तिके शिष्य हुए हैं। द्वितीय ज्ञानभूषण सूरत-शाखाके भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिकी परम्परामें भट्टारक वीरचन्द्रके शिष्यके रूपमें हुए हैं। इनके भट्टारक होनेका समय सं० १६००-१६१६ है। तृतीय ज्ञानभूषणका सम्बन्ध अटेर-शाखाके साथ रहा है और इनका समय १७ वीं शताब्दी माना जाता है। चौथे ज्ञानभूषण नागौरके भट्टारक रत्नकीर्तिके शिष्य थे। इनका समय १८ वीं शताब्दीका अन्तिम चरण है।

विवेचनीय ज्ञानभूषण प्रारम्भमें भट्टारक विमलेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। किन्तु उत्तरकालमें इन्होंने भुवनकीर्तिको अपना गुरु स्वीकार किया है। ज्ञानभूषण एवं ज्ञानकीर्ति ये दोनों ही सगे भाई एवं गुरुभाई थे। ये गोलालारे जातिके श्रावक थे। वि० सं० १५३५ में सागवाड़ा एवं नोगाममें एक साथ एक ही दिन आयोजित होनेके कारण दो भट्टारक-परम्पराएँ स्थापित हुईं। सागवाड़ामें होनेवाली प्रतिष्ठाके संचालक भट्टारक ज्ञानभूषण थे और नोगामके प्रतिष्ठा-महोत्सवके संचालक ज्ञानकीर्ति थे। यहींसे ज्ञानभूषण बड़साजनोंके गुरु और ज्ञानकीर्ति लोहड़साजनोंके गुरु कहलाने लगे[1]।

नन्दिसंघकी पट्टावलिसे ज्ञात होता है कि ज्ञानभूषण गुजरातके रहनेवाले थे। गुजरातमें इन्होंने सागारधर्म धारण किया, अहीर (आभीर) देशमें ११ प्रतिमाएँ धारण कीं और वागवट या बागड़देशमें दुर्धर महाव्रत ग्रहण किये। तौलवदेशके यतियोंमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। तैलंगदेशके उत्तम-उत्तम पुरुषोंने इनके चरणोंकी वन्दना की। द्रविड़ देशके विद्वानोंने उनका स्तवन

१. राजस्थानके जैन सन्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जयपुर, पृ० ४९।

किया, महाराष्ट्रमें उन्हें बहुत यश मिला, सौराष्ट्रके धनी श्रावकोंने उनके लिए महामहोत्सव किया, रायदेश (ईडरके आस-पासका प्रान्त) के निवासियोंने उनके वचनोंको अतिशय प्रमाण माना, मेदपाट (मेवाड़) के अज्ञानी लोगोंको उन्होंने प्रतिबोधित किया, मालवेके भव्यजनोंके हृदयकमलको विकसित किया, मेवातमें उनके अध्यात्मरहस्यपूर्ण व्याख्यानसे विविध विद्वान श्रावक प्रसन्न हुए, कुरु-जाङ्गलके लोगोंका अज्ञानरोग दूर किया, तूरवके षड्दर्शन और तर्कके जानने-वालोंपर विजय प्राप्त किया, वैराट (जयपुरके आस-पास) के लोगोंको उभयमार्ग (सागार-अनगार) दिखलाये, नमियाढ (निमाड़) में जिनधर्मकी प्रभावना की, टगराट हड़ी-बटी नागट चार्ल (?) आदि जनपदोंमें प्रतिबोधके निमित्त विहार किया, भैरव राजाने उनकी भक्ति की, इन्द्र राजाने चरण पूजे, राजाधिराज देवराजने चरणोंकी आराधना की, जिनधर्मके आराधक मुदिलियार, रामनाथ राय, धोम्मरसराय, कलपराय, पाण्डुराय आदि राजाओंने पूजा की और उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य-तर्क-आगम-अध्यात्म आदि शास्त्ररूपी कमलोंपर विहार करनेके लिए वे राजहंस थे और शुद्ध ध्याना-मृतपानकी उन्हें लालसा[1] थी"।

नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जो यह प्रशस्ति दी गयी है वह अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम पड़ती है, पर इसमें सन्देह नहीं कि भट्टारक ज्ञानभूषण मेधावी और प्रभावशाली थे।

इनके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें शुभचन्द्र-पट्टावलिसे पूरा प्रकाश प्राप्त होता है। इस पट्टावलिके नवम अनुच्छेदमें बताया है कि इन्होंने अनेक जनपदोंमें विहार कर प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। लिखा है—

"इनके (भुवनकीर्तिके) पट्टरूपी उदयाचलके लिए सूर्यके समान, गुर्जर-देशमें सर्वप्रथम सागारधर्मके प्रचारक, अहीर—आभीर देशमें स्वीकृत एकादश प्रतिमासे पवित्र शरीरवाले, वाग्वर देशमें अंगीकृत दुर्द्धर महाव्रतके भारको धारण करनेवाले, कर्णाटक देशमें ऊँचे-ऊँचे चैत्यालयोंके दर्शनसे महापुण्यको उपार्जित करनेवाले, तौलव देशके महावादीश्वर विद्वज्जनों और चक्रवर्त्तियोंमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले, तैलंग देशके सज्जनोंसे पूजित चरणकमलवाले, द्रविड देशके सुविज्ञोंसे स्तुति किये जानेवाले, महाराष्ट्र दशमें उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाले, सौराष्ट्र देशके उत्तम उपासकोंसे महोत्सव मनाये जानेवाले, सम्य-ग्दर्शनसे युक्त रायदेशके निवासी प्राणिसमूहसे प्रमाणीकृत वाक्यवाले, मेदपाट

1. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, सन् १९४२, पृ० ५२९–३०।

देशके अनेक अज्ञजनोंको उद्बोधित करनेवाले, मालव देशके भव्योंके हृदय-कमलको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान, मेवात देशके अन्यान्य विज्ञ उपासकोंको अपने आध्यत्मिक व्याख्यानोंसे रंजित करनेवाले, कुरुजांगल देशके प्राणियोंके अज्ञानरूपी रोगको हटानेके लिए सद्वैद्यके समान, तुरब देशमें षड्दर्शन न्याय आदिके अध्ययनसे उत्पन्न अखर्व गर्वको दबाकर विजय प्राप्त करनेवाले, विराट् देशमें उभय मार्गको प्रदर्शित करनेवाले, नमियाड़ देशमें जिनधर्मकी अत्यन्त प्रभावना और नव हजार उपदेशकोंको नियत करनेवाले, टग, राट, हड़ी, वटो, नाग और चाल आदि अनेक जनपदोंमें ज्ञानप्रचारके लिए विहार करनेवाले श्रीमूलसंघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छके दिल्ली सिंहासनके अधि-पति, अपने प्रतापसे दिङ्मण्डलको आक्रमण करनेवाले, अष्टांगयुक्त सम्यक्त्व आदि अनेक गुणगणसे अलंकृत और श्रीमान् इन्द्रादि भूपालोंसे पूजित चरण-कमलवाले, गजान्तलक्ष्मी, ध्वजान्तपुण्य, नाटयान्तभोग, समुद्रान्तभूमिभागके रक्षक, सामन्तोंके मस्तकसे घृष्ट चरणवाले श्री देवरायसे पूजितपादपद्मवाले, जिनधर्मके आराधक मुदितपालराय, रामनाथराय, बोम्मसराय, कल्पराय, पाण्डुराय आदि अनेक राजाओंसे चर्चित चरणयुगलवाले, अनेक तीर्थयात्राओंको सम्पन्न करनेवाले, मोक्षलक्ष्मीको वशीभूत करनेवाले, रत्नत्रयसे सुशोभित शरीर-वाले, व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्य, न्याय और अध्यात्मप्रमुख शास्त्ररूपी मानसरोवरके राजहंस, शुद्धध्यानरूपी अमृतपानकी लालसा करनेवाले और वसुन्धराके आचार्य श्रीमद्भट्टारकवर्य श्रीज्ञानभूषण हुए[1] ।"

स्थितिकाल

आचार्य ज्ञानभूषण भट्टारक भुवनकीर्तिके पश्चात् सागवाड़ाके पट्टपर आसीन हुए। इनका प्राचीन उल्लेख निम्नलिखित मूर्तिलेखमें पाया जाता है—

"संवत् १५३१ वर्षे वैसाख वदी ५ बुधे श्रीमूलसंघे भ० श्रीसकलकीर्त्ति-स्तत्पट्टे भ० भुवनकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषणदेवस्तदुपदेशात् मेघा भार्या टीगू प्रणमंति श्री गिरिपुरे रावल श्री सोमदास राज्ञी गुराई सुराज्ये" अर्थात् वि० सं० १५३१ वैशाख कृष्णा द्वितीयामें इनके सान्निध्यमें यह प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई है। श्री जोहरापुरकरने ज्ञानभूषणका भट्टारक-काल १५३४ माना[2] है, पर यह समय युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। डॉ० प्रेमसागरने अपने 'हिन्दी जैनभक्ति काव्य[3] और कवि'में इनका समय वि०सं० १५३२–१५५७ माना

---

१. शुभचन्द्र पट्टावलि, अनुच्छेद ९।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, पृ० १५८।

३. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० ७३।

है, पर डूंगरपुरवाले अभिलेखसे ज्ञात होता है कि ज्ञानभूषण वि० सं० १५३१ या इसके पहले ही भट्टारक गद्दीपर आसीन हुए थे। इन्होंने वि० सं० १५६० में 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी'की रचना की है, जिसकी पुष्पिकामें इनके नामके पूर्व 'मुमुक्षु' शब्द जुड़ा हुआ मिलता है। इससे यह ध्वनित होता है कि वि० सं० १५६० या उसके दो-एक वर्ष पूर्व ही ये भट्टारक पद छोड़ चुके थे। अन्य अभिलेखोंसे यह ज्ञात होता है कि वि० सं० १५५७ तक ये निश्चितरूपसे भट्टारक पदपर आसीन रहे हैं। इसके पश्चात् ये अपने शिष्य विजयकीर्ति-को भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित कर स्वयं साहित्यसाधनामें प्रवृत्त हुए हैं।

भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित होते ही ज्ञानभूषणके कार्यकालमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुई हैं। इन्होंने १५३१में डूंगरपुरमें सहस्रकूट प्रतिष्ठाका संचालन किया। १५३४ फाल्गुन शुक्ला दशमीमें आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सवके समय प्रतिष्ठित की गयी मूर्तियाँ अनेक स्थानोंपर आज भी प्राप्त होती हैं। वि० सं० १५३५में इन्होंने दो प्रतिष्ठाओंमें भाग लिया था। एक प्रतिष्ठाका निर्देश जयपुरके छावड़ोंके मन्दिरमें और दूसरीका उल्लेख उदयपुरके मन्दिरमें मिलता है। वि० सं० १५४०में हूंवड़ जाति श्रावक लाखा एवं उसके परिवारने इन्हींके आदेशसे आदिनाथस्वामीकी प्रतिष्ठा करायी थी। इनके तत्त्वावधानमें वि० सं० १५४३, १५४४ एवं १५४५में विविध प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न हुए थे। वि० सं० १५५२में एक बृहद् आयोजन हुआ, जिसमें भट्टारक ज्ञानभूषण सम्मिलित हुए थे। वि० सं० १५५७ तक सम्पन्न हुई प्रतिष्ठाओंमें इनके सम्मिलित होनेके उल्लेख प्राप्त होते हैं। वि० सं० १५६० और १५६१में सम्पन्न हुई प्रतिष्ठाओंमें इनके शिष्य भट्टारक विजयकीर्तिका उल्लेख मिलता है। यथा—

"संवत् १५६० वर्षे श्री मूलसंघे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ० श्री विजयकीर्तिगुरूपदेशात् बाई श्रीप्रोद्धंन श्रीबाई श्रीविनय श्रीविमान पंक्तिव्रत-उद्यापने श्रीचन्द्रप्रभ"........।

"संवत् १५६१ वर्षे चैत्र वदी ८ शुक्रे श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे भट्टारक श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषण तत्पट्टे भ० विजयकीर्त्तिगुरुपदेशात् हूंवड ज्ञातीय श्रेष्ठि लखमण भार्या मरगदी सुत श्रे० समधर भार्या मचकूं सुत श्रे० गंगा भार्या वल्लि सुत हरखा होरा झठा नित्यं श्री आदीश्वर प्रणमंति बाई मचकूं पिता दोसी रामा भार्या पूरी पुत्री रंगी एते प्रणमंति।"

अतएव भट्टारक ज्ञानभूषणका समय वि० सं० १५००–१५६२ है।

रचनाएँ

भट्टारक ज्ञानभूषणने संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओंमें रचनाएँ लिखी हैं। निम्नलिखित संस्कृत-रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

१. आत्मसम्बोधन काव्य
२. ऋषिमण्डलपूजा
३. तत्त्वज्ञानतरंगिणी
४. पूजाष्टकटीका
५. पञ्चकल्याणकोद्यापनपूजा
६. नेमिनिर्वाणकाव्यकी पञ्जिकाटीका
७. भक्तामरपूजा
८. श्रुतपूजा
९. सरस्वतीपूजा
१०. सरस्वतीस्तुति
११. शास्त्रमण्डलपूजा

हिन्दी रचनाएं

१. आदीश्वरफाग
२. जलगालनरास
३. पोसहरास
४. षट्कर्मरास
५. नागद्रारास

आत्मसम्बोधन—आत्मसम्बोधन आध्यात्मिक कृति है। इसकी प्रति जयपुरके बाबा दुलीचन्दके शास्त्रभण्डारमें संग्रहीत है।

तत्त्वज्ञानतरंगिणी—इस ग्रन्थमें १८ अध्याय हैं और समस्त पद्यसंख्या ५३६ है। कविने अन्तमें अपना परिचय निम्न प्रकार निबद्ध किया है—

> जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेग्रणी—
> स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत्।
> विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रतः
> तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ॥२१॥

स्पष्ट है कि ज्ञानभूषणके प्रगुरु सकलकीर्ति और गुरु भुवनकीर्ति थे। इस

१. तत्त्वज्ञानतरंगिणी, १८।२१।

ग्रन्थमें शुद्ध चैतन्यस्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। ध्यान, भेद-विज्ञान, अहंकार-ममकारका त्याग, रत्नत्रयस्वरूप, शुद्ध चैतन्यरूपका विस्तारसे विवेचन किया गया है। बताया है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूपका स्मरण ही समस्त सुख प्रदान करनेवाला, मोहको जीतनेवाला, अशुभ आस्रव एवं दुष्कर्मोंका हर्त्ता, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिका साधक और मनुष्य-जन्मकी सफलताका सूचक है।

सौख्यं मोहजयोऽशुभास्रवहृतिर्नाशोतिदुष्कर्मणा-
मत्यंतं च विशुद्धता नरि भवेदाराधना तात्त्विकी।
रत्नानां त्रितयं नृजन्मसफलं संसारभीनाशनं
चिद्रूपोहमितिस्मृतेश्च समता सद्भ्यो यशःकीर्त्तनं ॥[1]

आचार्यने बताया है कि भेदविज्ञानके बिना शुद्ध चिद्रूपका ध्यान नहीं किया जा सकता है। जो भेद-विज्ञानका धारी है, उसे यह सारा संसार भ्रान्त प्रतीत होता है। अतएव भेदविज्ञानकी प्राप्तिके लिए निरन्तर प्रयास करना चाहिये। आचार्यने लिखा है—

उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं
निश्चितं प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं बालकावस्थमेतत्।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्त्तैः
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगद् भाति भेदज्ञचित्ते[2]।

इस प्रकार इस तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्ध चैतन्यकी प्राप्तिके लिये परद्रव्यों-के त्यागका वर्णन किया है। आत्मतत्त्वको अवगत करनेके लिए यह ग्रन्थ उपादेय है।

भक्तामर, श्रुत, सरस्वती, शास्त्रमण्डल आदि पूजाग्रन्थोंमें तत्तद्पूजाओंका संकलन किया गया है। पूजाष्टकमें आठ पूजाओंकी स्वोपज्ञ टीका है। समस्त कृति दश अधिकारोंमें विभक्त है। इसका रचनाकाल वि० सं० १५२८ है। अन्तिम पुष्पिका निम्न प्रकार है—

"इति भट्टारकश्रीभुवनकीर्तिशिष्यमुनिज्ञानभूषणविरचितायां स्वकृताष्टक-दशकटीकायां विद्वज्जनवल्लभसंज्ञायां नन्दीश्वरद्वीपजिनालयार्चनवर्णनोयेनाम दशमोऽधिकारः ॥"

१. त० तरंगि०, २।५।

२. वही, ६।२।

आदीश्वरफाग—फागसम्बन्धी हिन्दीकी रचनाओंमें इस कृतिका विशिष्ट स्थान है। इस कृतिमें आदितीर्थंकरका जीवनचरित वर्णित है। आरम्भका अंश संस्कृतमें लिखा गया है और अवशिष्ट हिन्दीमें। २३९ पद्य संस्कृतमें लिखे गये हैं और शेष २६२ हिन्दीमें। समस्त पद्योंकी संख्या ५०१ है। तीर्थंकर आदिनाथका जन्म, शैशवावस्था और युवावस्थाका सांगोपांग चित्रण किया गया है। नीलाञ्जनाके नृत्य करते समय विलीन हो जानेके कारण आदिनाथ संसारसे विरक्त हो जाते हैं। कविने इस घटनाका सजीव चित्रण करते हुए लिखा है—

आहे धिग-धिग इह संसार, बेकार अपार असार।
नहीं सम मार समान कुमार, रमा परिवार॥
आहे घर पुर नगर नहीं निज रज सम राज अकाज।
हय गय पयदल चल मल सरिखउ नारि समाज॥
आहे आयु कमल दल सम चंचल चपल शरीर।
यौवन धन इव अथिर करम जिय करतल नीर॥
आहे भोग वियोग समन्वित रोग तणूं घर अंग।
मोह महा मुनि निंदित निंदित नाटीय संग॥
आहे छेदन भेदन वेदन दोठीय नरग मझारि।
भामिनी भोग तणइ फलि तउ किम बांधइ नारि॥

पोसहरास—यह व्रतविधानके महात्म्यपर आधारित रास है। भाषा एवं शैलीकी दृष्टिसे इसमें रासोकाव्य जैसी सरसता और मधुरत्ता पायी जाती है। कविने कृतिके अन्तमें अपना नामांकन किया है—

वारि रमणियमुगत्तिज सम अनुप सुख अनुभवइ।
भव म कारि पुनरपि न आवइ इह बू फलजस गमइ॥
ते नर पोसह कांन भावइ एणि परि पोसह धरइज नर नारि सुजण।
ज्ञान भूषण गुरु इम भणइ, ते नर करइ बखाण॥

इसी प्रकार षट्कर्मरास कर्मसिद्धान्तपर आधारित है। इसमें देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्कर्मोंके पालन करनेका सुन्दर उपदेश दिया है। इसमें ५३ छन्द हैं और अन्तिम छन्दमें कविने अपने नामका उल्लेख किया है।

'जलगालनरास' में ३३ पद्य हैं। इसमें जल छाननेकी विधिका रासशैलीमें वर्णन है। इस प्रकार ज्ञानभूषणने साहित्य, संस्कृति और समाजके उत्थानके कार्य किये हैं।

भट्टारक अभिनव धर्मभूषण

धर्मभूषण नामके कई आचार्य हुए हैं। एक धर्मभूषण वे हैं, जो भट्टारक धर्मचन्द्रके पट्टपर आसीन हुए थे, जिनका उल्लेख बरार प्रान्तके मूर्तिलेखोंमें पाया जाता है। ये मूर्तिलेख शक संवत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ में उत्कीर्णित हैं। द्वितीय धर्मभूषण वे हैं, जिनके आदेशानुसार केशववर्णी-ने अपनी गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक कन्नड़टीका शक संवत् १२८१ (ई० सन् १३५९) में रची है। तृतीय धर्मभूषण वे हैं, जिनका विजय-नगरके शिलालेख नं० २में उपर्युक्त दो धर्मभूषणोंसे पहले उल्लेख आया है। सम्भवतः ये अमरकीर्तिके गुरु थे। चतुर्थ धर्मभूषण अमरकीर्तिके शिष्यके रूपमें और पूर्वोक्त धर्मभूषणके प्रशिष्यके रूपमें उल्लिखित हैं और ये सिंहनन्दी व्रतीके सधर्मा[1] हैं।

अभिनव धर्मभूषण उक्त चारों धर्मभूषणोंसे भिन्न व्यक्ति हैं। इनका उल्लेख विजयनगरके शिलालेख नं० २में वर्द्धमान भट्टारकके शिष्यके रूपमें आया है। न्यायदीपिकामें तृतीय प्रकाशकी पुष्पिकावाक्यमें तथा ग्रन्थान्तमें आये हुए पद्यमें धर्मभूषणने अपनेको वर्द्धमान भट्टारकका शिष्य बतलाया है। लिखा है—

"इति श्रीमद्वर्द्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारुण्यसिद्धसारस्वतोदयश्रीमदभिनव-धर्मभूषणाचार्यविरचितायां न्यायदीपिकां परोक्षप्रकाशस्तृतीयः ॥"

× × × ×

मद्गुरोर्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः।
श्रीपादस्नेहसम्बन्धात्सिद्धेयं न्यायदीपिका ॥

विजयनगरके शक संवत् १३०७ (ई० सन् १३८५)के अभिलेखमें अभिनव धर्मभूषणकी गुरुपरम्परा प्राप्त होती है। इस परम्परामें मूलसंघ, बलात्कार-गण और सरस्वतीगच्छमें पद्मनन्दि, धर्मभूषण, अमरकीर्ति, धर्मभूषण भट्टारक द्वितीय, वर्द्धमान मुनीश्वर और धर्मभूषण तृतीयका निर्देश प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १११में श्री धर्मभूषणकी गुरुपरम्परा निर्दिष्ट मिलती है। यह अभिलेख शक संवत् १२९५का है। इसमें मूलसंघ बलात्कारगणके आचार्योंका उल्लेख करते हुए देवेन्द्रकीर्त्ति, विशालकीर्ति,

---

१. श्री डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा लिखित न्यायदीपिकाकी प्रस्तावना, वीरसेवा-मन्दिर, सन् १९४५, पृ० ९१।

शुभकीर्तिदेव भट्टारक, धर्मभूषण प्रथम, अमरकीर्तिआचार्य, धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमानस्वामीके नाम आये हैं। इन दोनों अभिलेखोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे धर्मभूषण, अमरकीर्ति, धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान मुनि ये नाम समानरूपसे आते हैं। इस तुलनासे यह भी स्पष्ट है कि शक संवत् १२९५के पश्चात् तृतीय धर्मभूषण जिनका नाम अभिनव धर्मभूषण है हुए होंगे। श्रवण बेलगोलाके अभिलेखसे यह स्पष्ट है कि शक संवत् १२९५के पश्चात् ही अभिनव धर्मभूषणको भट्टारक पद मिला होगा।

स्थितिकाल

अभिनव धर्मभूषणकी निश्चित तिथिका परिज्ञान नहीं है। डॉ० प्रो० हीरालालजीने द्वितीय धर्मभूषणकी निषद्याके निर्माणका समय शक संवत् १२९५ बतलाया है। डॉ० दरबारीलाल कोठियाने लिखा है कि 'केशववर्णीको अपनी गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक टीका लिखनेकी प्रेरणा एवं आदेश जिन धर्मभूषणसे प्राप्त हुआ, वे धर्मभूषण ही द्वितीय धर्मभूषण होंगे। इनके पट्टका समय यदि २५ वर्ष भी हो, तो पट्टारूढ़ होनेका समय शक संवत् १२७० पहुँच जाता है। केशववर्णीने अपनी उक्त टीका शक संवत् १२८१में पूर्ण की। इतनी विशाल टीकाको लिखनेमें ११ वर्षका समय लगना सम्भव है। अतएव प्रथम और तृतीय धर्मभूषण केशववर्णीके प्रेरक नहीं हो सकते हैं। तृतीय धर्मभूषण जीवतत्त्वप्रदीपिकाके समाप्तिकालसे लगभग १९ वर्ष पश्चात् गुरुपट्टके अधिकारी हुए जान पड़ते हैं। अतएव टीकाकी प्रेरणाके समय उनका अस्तित्व ही न रहा होगा। प्रथम धर्मभूषण भी टीकाके प्रेरक नहीं हो सकते, क्योंकि इनका पट्टकाल सम्भवतः शक संवत् १२२०-१२४५ होना चाहिये। अतएव द्वितीय धर्मभूषणको ही केशववर्णीका प्रेरक माना जा सकता[1] है।'

तृतीय धर्मभूषण शक संवत् १२९५-१३०७के मध्यमें किसी भी समय अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारकके पदपर आसीन हुए हैं। यदि पट्टपर आसीन होनेके समय इनकी अवस्था २० वर्ष भी मानी जाये, तो जन्मतिथि शक संवत् १२८० (ई० सन् १३५८)के लगभग आती है। इसकी पुष्टि विजयनगर-साम्राज्यके अभिलेखोंसे भी होती है। इस साम्राज्यके स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भीमादेवी वर्द्धमान गुरुके शिष्य धर्मभूषणके परम भक्त थे तथा उन्हें अपना गुरु मानते थे। पद्मावती बस्तीके एक अभिलेखसे अवगत होता है कि राजाधिराज परमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमान मुनिके शिष्य धर्मभूषण गुरुके

---

१. न्यायदीपिका, प्रस्तावना, पृ० ९२-९७।

चरणोंमें नमस्कार किया करते थे। इस कथनकी पुष्टि दशभक्त्यादिमहाशास्त्रसे भी होती है—

राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुगमः।
श्रीवर्द्धमानमुनिबल्लभमौढ्यमुख्यः श्रीधर्मभूषणसुखी जयति क्षमाढ्यः[1]॥

उपर्युक्त पद्यसे स्पष्ट होता है कि विजयनगरनरेश प्रथम देवराय ही 'राजाधिराजपरमेश्वर'की उपाधिसे विभूषित थे। इनका राज्यकाल सम्भवतः ई० सन् १४१८ तक रहा है और द्वितीय देवरायका समय ई० सन् १४१९से १४४६ तक माना जाता है। अतः इन उल्लेखोंके आधारसे यह ध्वनित होता है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण ही प्रथम देवरायके द्वारा सम्मानित थे। अतएव अभिनव धर्मभूषण प्रथम देवरायके समकालीन हैं। इस प्रकार इनका अन्तिम समय ई० सन् १४१८ आता है।

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर अभिनव धर्मभूषणका समय ई० सन् १३५८-१४१८ है। श्री डॉ० दरबारीलाल कोठियाने बताया है कि 'न्यायदीपिका पृ० २१में 'बालिशाः' शब्दोंके साथ सायणके सर्वदर्शनसंग्रहसे एक पंक्ति उद्धृत की है। सायणका समय शक संवत् १३वीं शताब्दिका उत्तरार्द्ध है क्योंकि शक सं० १३१२का एक दानपत्र मिला है, जिससे वे इसी समयके विद्वान सिद्ध होते हैं। न्यायदीपिकामें आया हुआ बालिशाः' पद अभिनव धर्मभूषणको सायणका समकालीन सिद्ध करता है। दोनों ही विद्वान विजयनगरके रहनेवाले थे। अतएव उनका समकालीन होना भी सिद्ध है।'

रचनाएँ

अभिनव धर्मभूषण राजाओं द्वारा मान्य एवं लब्धप्रतिष्ठ यशस्वी विद्वान थे। इनके द्वारा रचित न्यायदीपिकानामक एक न्यायग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थमें तीन प्रकाश या परिच्छेद हैं। प्रथम प्रकाशमें प्रमाणका सामान्य लक्षण, उसकी प्रमाणता, बौद्ध, भाट्ट, प्राभाकर और नैयायिकों द्वारा मान्य प्रमाणलक्षणोंकी समीक्षा की गयी है। द्वितीय प्रकाशमें प्रमाणके भेद और प्रत्यक्ष-का लक्षण वर्णित है। बौद्धों द्वारा अभिमत प्रत्यक्षलक्षणका निराकरण करनेके पश्चात् योगाभिमत सन्निकर्षका निराकरण किया गया है। प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्षके स्वरूप और भेदोंका कथन किया है। इस प्रकाशके अन्तमें सर्वज्ञसिद्धि एवं अरहन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है।

१. प्रशस्तिसंग्रह, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, पृ० १२५।

तृतीय प्रकाशमें परोक्षप्रमाणका विस्तारसे वर्णन किया है। परोक्षके भेद और उनमें ज्ञानान्तरसापेक्षताका कथन कर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानका निरूपण किया है। साधन और साध्यके लक्षणकथनके अनन्तर स्वार्थानुमान और परार्थानुमानोंका प्रतिपादन किया गया है। बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाञ्च्यरूप्यका निराकरण कर विजिगीषुकथा और वीतराग-कथाका समालोचन किया है। अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुके समर्थनके पश्चात् हेत्वाभास, उदाहरणाभास, उपनयाभास और निगमनाभासके लक्षण बतलाये गये हैं। आप्त, नय, अनेकान्त और सप्तभंगीके भेदोंका प्रतिपादन किया है। इस प्रकार इस छोटेसे ग्रन्थमें न्यायशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्तोंका अच्छा समावेश किया गया है।

भट्टारक वर्द्धमान प्रथम

वर्द्धमान भट्टारकने वरांगचरितकी रचना की है। ये मूलसंघ बलात्कारगण और भारतीगच्छके आचार्य हैं। 'परवादिपंचानन' इनकी उपाधि थी। कहा जाता है कि बलात्कारगणमें सरस्वतीगच्छ और उसके पर्याय भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नामोंका प्रयोग वि० सं० १४वीं शतीसे प्रारम्भ हुआ है। सरस्वती या भारतीगच्छके सम्बन्धमें यह मान्यता प्रचलित है कि दिगम्बर संघके आचार्य पद्मनन्दिने श्वेताम्बरोंसे विवाद कर पाषाणकी सरस्वतीमूर्त्तिसे मन्त्रशक्तिद्वारा निर्णय कराया था। यह विवाद गिरिनार पर्वतपर हुआ कहा जाता है। इसी कारण कुन्दकुन्दान्वय प्रचलित हुआ[1]।

बलात्कारगणका सबसे प्राचीन उल्लेख आचार्य श्रीचन्द्रने किया है। इनके दीक्षागुरु आचार्य श्रीनन्दी और विद्यागुरु आचार्य सागरसेन थे। ये महाराज भोजके समयमें धारानगरीमें निवास करते थे। इस गणमें दूसरे आचार्य केशवनन्दि हुए। अनन्तर पक्षोपवासी पद्मप्रभ हुए। इनकी शिष्यपरम्परामें नयनन्दी, श्रीधर, चन्द्रकीर्ति, श्रीधर, वासुपूज्य, नेमिचन्द्र, पद्मप्रभ, कुमुदचन्द्र, देशनन्दि, श्रवणसेन, वनवासि वसन्तकीर्ति प्रभृति आचार्य हुए हैं। इस परम्परा-की २६वीं पीढ़ीमें वर्द्धमान भट्टारकका उल्लेख मिलता है। कविने इस काव्यकी प्रशस्तिमें लिखा है—

स्वस्तिश्रीमूलसंघे भुवि विदितगणे श्रीबलात्कारसंज्ञे
श्रीभारत्याख्यगच्छे सकलगुणनिधिर्वर्द्धमानाभिधानः।

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, सोलापुर १९५८ ई०, पृ० ४४-४५।

आसीद्भट्टारकोऽसौ सुचरितमकरोच्छ्रीवराङ्गस्य राज्ञो
भव्यश्रेयांसि तन्वद् भुवि चरितमिदं वर्ततामार्कतारम् ॥
वरांग० १३।८७

स्थितिकाल

आचार्य वर्द्धमानने अपने गुरुका निर्देश नहीं किया है। जैन साहित्य परम्परामें नन्दिसंघके एक वर्द्धमान भट्टारक हैं, जिनका दशभक्त्यादि-महाशास्त्र है और जो देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य हैं। इनका समय ई० सन् १५४१के लगभग है। बलात्कारगणमें दो वर्द्धमान प्रसिद्ध हैं। प्रथम वर्द्धमान वह हैं, जो न्यायदीपिकाके कर्त्ता धर्मभूषणके गुरु हैं और द्वितीय हुम्मच्च शिलालेखके रचयिता हैं। विजयनगरके शिलालेखसे अवगत होता है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण हुए। इनके समयमें शक संवत् १३०७ (ई० सन् १३८५) को फाल्गुन कृष्णा द्वितीयाको राजा हरिहरके मन्त्री चैत्रदण्डनायकके पुत्र इरुगप्पने विजयनगरमें कुन्थनाथका मन्दिर बनवाया था[1]।

न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठियाने न्यायदीपिकाकी प्रस्तावनामें लिखा है—"विजयनगरनरेश प्रथम देवराय ही राजाधिराज परमेश्वरकी उपाधिसे विभूषित थे। इनका राज्य सम्भवतः १४१८ ई० तक रहा है और द्वितीय देवराय सन् १४१९–१४४६ ई० तक माने जाते हैं। अतः इन उल्लेखों-से स्पष्ट है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण तृतीय (ग्रन्थकार) ही देवराय प्रथम-के द्वारा सम्मानित थे। प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं, क्योंकि वे वर्द्ध-मानके शिष्य नहीं थे। प्रथम धर्मभूषण शुभकीर्तिके और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्तिके शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभि-नव धर्मभूषण देवराय प्रथमके समकालीन हैं[2]।"

इस सन्दर्भमें श्रीकोठियाजीने धर्मभूषणको सायणका समकालीन सिद्ध कर उनके समयकी पूर्व सीमा शक संवत् १२८० (ई० सन् १३५८) मानी है[3]।

इस अध्ययनके प्रकाशमें वर्द्धमान भट्टारकका समय धर्मभूषणके गुरु होने-के कारण ई० सन्की १४वीं शतीका उत्तरार्द्ध है।

---

१. स्वस्ति शकवर्षे १३०७ प्रवर्तमाने क्रोधनवत्सरे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवासरे—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ९०।

२. न्यायदीपिका, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, वर्तमान दिल्ली, सन् १९४५ ई०, प्रस्ता-वना पृ० ९९।

३. न्यायदीपिकाका 'बालिशाः' पद उन्हें सायणके समकालीन होनेकी ओर संकेत करता है।—वही पृ० ९९।

विन्ध्यगिरिके एक अभिलेखसे वर्द्धमान भट्टारकका समय शक संवत् १२८५ (ई० सन् १३६३) सिद्ध होता[1] है। श्री डॉ० ए० एन० उपाध्येने जटा-सिंहनन्दी द्वारा विरचित वराङ्गचरितकी अंग्रेजी प्रस्तावनामें भट्टारक वर्द्धमानका समय १३वीं शतीके पश्चात् ही अनुमानित किया है। अतएव वराङ्गचरित महाकाव्यके रचयिता वर्द्धमान भट्टारकका समय ई० सन्‌की १४वीं शती है।

रचना

भट्टारक वर्द्धमानने संस्कृत भाषामें 'वरांगचरित' नामक महाकाव्य लिखा है। इसमें १३ सर्ग हैं। सर्गोंका नामकरण कथावस्तुके आधारपर किया गया है। वरांग, २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ और श्रीकृष्णके समकालीन धीरोदात्त नायक हैं। इनकी कथावस्तु कवियोंको बहुत प्रिय रही है। यही कारण है कि ७वीं शतीसे ही उक्त नायकपर महाकाव्य लिखे जाते रहे हैं। संस्कृतके अतिरिक्त कन्नड़में धरणि पं० का वराङ्गचरित एवं हिन्दीमें लालचन्द्र और कमलनयनकृत वराङ्गचरित भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत काव्यका प्रमाण १३८३ श्लोक है।

इस काव्यमें कथाकी अन्विति, सर्गविभाजन और छन्दोंमें अभिव्यञ्जन ये तीनों मिलकर प्रबन्धके बाह्य रूपका निर्माण करते हैं। विचारप्रधान होनेसे इस काव्यमें प्रकृति-चित्रणकी अल्पता है। फिर भी भावात्मक चित्रोंकी कमी नहीं है। कथावस्तु भी शृंखलाबद्ध है। दर्शन या धर्मतत्त्व घटनाओंके क्रममें बाधक नहीं हैं। घटनाओं, प्रसंगों और वर्णनोंको इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, जिससे मार्मिक स्थल स्वयं उपस्थित होते गये हैं। राजकुमार वरांग जन्म लेता है। उसका १० सुन्दरियोंके साथ विवाह हो जाता है और उसकी योग्यतासे प्रभावित होनेके कारण बड़े पुत्रके रहते हुए भी राजा धर्मसेन उसे युवराज बना देता है। विमाताको यह बात खटकती है। उसका सौतेला भाई सुषेण भी राजकुमार वरांगसे ईर्ष्या करता है। विमाता और भाई दोनों मन्त्रीसे मिलकर षड्यन्त्र रचते हैं और एक दुष्ट घोड़े द्वारा कुमारका अपहरण करा देते हैं। घोड़ा एक अन्धकूपमें कुमारको लेकर कूद जाता है। उस अन्धकूपसे निकलनेमें असमर्थ रहनेसे उस दुष्ट घोड़ेकी मृत्यु हो जाती है और कुमार किसी प्रकार बचकर निकल आता है। इस घोर अरण्यमें उसे व्याघ्र, अजगर, भिल्ल आदिका सामना करना पड़ता है। वह किसी प्रकार इन संकटोंसे मुक्ति प्राप्त करता है। कविने इन घटनाओंको सप्राण बनानेके

१. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं० १११, पृ० २२४।

लिये नाटकीय तत्त्वोंकी योजना भी की है। फलतः आन्तरिक द्वन्द्व सहजरूपमें उपस्थित हुए हैं। किसी भी काव्यका प्रबन्ध तभी प्राणवंत होता है, जब उसमें जीवनके समानविरोधी स्वरोंकी योजना की जाये। कविने आत्मनिष्ठ अनुभूतिको वस्तुपरक बिम्बों द्वारा पाठकों तक प्रेषित करनेका प्रयास किया है।

शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसोंका परिपाक सुन्दररूपमें हुआ है। कविने कुमार वराङ्गकी विचारधाराका अंकन करते हुए लिखा है—

वियोगवन्तो भवभोगयोगा वायुःस्थिरं नो नवयौवनं च।
राज्यं महाक्लेशसहस्रसाध्यं ततो न नित्यं भुवि किंचिदस्ति ॥ १३।४
लक्ष्मीरियं वारितरङ्गलोला, क्षणे क्षणे नाशमुपैति चायुः।
तारुण्यमेतत्सरिदम्बुपूरोपमं नृणां कोऽत्र सुखाभिलाषः ॥१३।५

कविने इस काव्यमें सम्पूर्ण जीवनमूल्योंका उल्लेख किया है। कवि आध्यात्मिक जीवनके साथ लोकजीवनको भी महत्त्व देता है। वह धर्मबुद्धि, गुरुविनय, मित्र-बन्धुस्नेह, दीन-अनाथकरुणाभाव, शत्रुओंके मध्य प्रताप-प्रदर्शनको जीवनके लिए आवश्यक मानता है। जीवनका अन्तिम लक्ष्य भले ही मुक्तिलाभ है, पर संसारके मध्य रहते हुए कठोर श्रम द्वारा संयमित आचार-व्यवहारको जीवनमें उतारना ही वास्तविक उपलब्धि है। कविने जीवन-शोधनके उपकरणोंका विश्लेषण करते हुए लिखा है—

सम्यग्ज्ञानं सुचरणयुतं प्राप्तसम्यक्त्वमुच्चैः
पात्रे दानं जिनपतिविभोः पूजनं भावनं च।
धर्मध्यानं तपसि च मतिं साधुसङ्गं वितन्वन्
श्रेयोमार्गप्रकटनपरः श्रीवराङ्गो रराज ॥ ३।४२

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रपूर्वक पात्रदान देना, जिनेन्द्रकी पूजा-भक्ति करना, धर्मध्यान-शुभध्यान करना, तपश्चरण करना, साधु—सज्जन और सदाचारी व्यक्तियोंकी संगति करना एवं कल्याणकारी मार्गका अनु-सरण करना जीवन लक्ष्य है।

कविने रात्रिभोजनत्याग, शोधित अन्न-जलका ग्रहण, मौनपूर्वक भोजन, नवनीतत्याग, कन्द-भक्षण-त्याग, पंचोदम्बरभक्षणफल-त्याग आदिको भी जीवनके लिए आवश्यक बताया है। यह काव्य धर्म, दर्शन, संस्कृति और लोक-जीवनके सिद्धान्तोंसे सम्पृक्त है।

भट्टारक विजयकीर्ति

भट्टारक सकलकीर्तिने अपने त्याग एवं विद्वत्तापूर्ण जीवनसे गुजरात और राजस्थानमें भट्टारकसंस्थाको लोकप्रिय बना दिया था। इनके पश्चात् भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषणने भी जैनपरम्पराके प्रचार और प्रसारमें पूर्ण योगदान दिया। विजयकीर्ति भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे और सकलकीर्ति द्वारा स्थापित भट्टारकगद्दीपर आसीन हुए थे। विजयकीर्तिके प्रमुख शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र थे, जिन्होंने अपने गुरुकी पर्याप्त प्रशंसा की है। यद्यपि भट्टारक विजयकीर्तिके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमें निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। पर शुभचन्द्रके गीतोंमें पाये जानेवाले उल्लेखोंसे यह ज्ञात होता है कि इनके पिताका नाम शाहगंग और माताका नाम कुँअरि था। इनका शरीर कामदेवके समान सुन्दर था। बाल्यकालमें इन्होंने विशेष अध्ययन नहीं किया था, पर भट्टारक ज्ञानभूषणके सम्पर्कमें आते ही इन्होंने गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रिलोकसार जैसे सैद्धान्तिक ग्रन्थोंके साथ न्याय, काव्य, व्याकरण आदि विषयोंका भी अध्ययन किया था। युवावस्थामें ही इन्होंने साधुजीवन ग्रहण कर लिया था और पूर्णतः संयमका पालन कर कठोर साधना स्वीकार की थी।

विजयकीर्तिकी साधनाका वर्णन आचार्य शुभचन्द्रने-रूपक काव्यके रूपमें किया है। बताया है कि जब कामदेवको आचार्य विजयकीर्तिकी सुन्दरता एवं संयमका ज्ञान हुआ तो वह ईर्ष्यासे जलभुन गया और क्रोधित होकर उसने उन्हें संयमसे विचलित करनेका निश्चय किया। उसने देवाङ्गनाओंको बुलाया और उन्हें विजयकीर्तिके संयमको भंग करनेका आदेश दिया। विजयकीर्तिकी साधनाके समक्ष देवाङ्गनाएँ अपने क्रियाकलापमें निष्फल हो गयीं। इसके पश्चात् कामदेवने क्रोध, मान, मद एवं मिथ्यात्वकी सेना एकत्र की। चारों ओर वसन्त ऋतु व्याप्त हो गयी और अमराइयोंमें कोयलकी मधुर कूज सुनायी पड़ने लगी। रणभेरी बज उठी और आचार्य विजयकीर्तिको कामदेवकी सेनाने आवेष्टित कर लिया। क्रोध, मान आदि विकारोंने अपने-अपने प्रहार आरम्भ किये, पर विजयकीर्तिके संयमके समक्ष कामदेवका एक भी सैनिक ठहर न सका। मोहसेनामें भगदड़ मच गयी। विजयकीर्ति ध्यानमें तल्लीन हो गये। उनके समा, दम और यमके समक्ष मदनराज पराजित हो गया तथा विजयकीर्तिके चारित्रकी निर्मलता सर्वत्र व्याप्त हो गयी। श्रेणिकचरितमें विजयकीर्तिको यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणों द्वारा उल्लिखित किया है—

जयति विजयकीर्तिः पुण्यमूर्तिः सुकीर्तिः,
जयतु च यतिराजो भूमिपैः स्पृष्टपादः।

नयनलिनहिमांशुज्ञानभूषस्य पट्टे
विविधपर-विवादि क्षमांधरे वज्रपातः[1] ॥

विजयकीर्तिने अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक कार्योका सम्पादन किया है। वि० सं० १५५७, १५६०, १५६१, १५६४, १५६८ एवं १५७० आदि वर्षोंमें सम्पन्न होनेवाली प्रतिष्ठाओंमें इन्होंने भाग लिया है। वि० सं० १५६१ में इन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रकी महत्ताको व्यक्त करनेके लिए रत्नत्रयकी मूर्ति प्रतिष्ठापित की[2] थी।

स्थितिकाल

भट्टारक विजयकीर्ति ज्ञानभूषणके पट्टपर आसीन हुए थे। ज्ञानभूषण वि० सं० १५५७ तक गद्दीपर आसीन रहे हैं। अतएव वि० सं० १५५७—१५७० तक इनके भट्टारकपदपर आसीन रहनेका उल्लेख मिलता है। श्री डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवालने विजयकीर्तिके जीवनका स्वर्णकाल वि० सं० १५५२–१५७० माना है। उन्होंने लिखा है—"इन १८ वर्षोंमें इन्होंने देशको एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी तथा अपने त्याग एवं तपस्वी जीवनसे देशको आगे बढाया। संवत् १५५७ में इन्हें भट्टारकपद अवश्य मिल गया[3] था।" अतएव विजयकीर्तिका समय विक्रमकी १६वीं शताब्दी है। डॉ० जोहरापुरकरने लिखा है—"भट्टारक ज्ञानभूषणके पट्टशिष्य भट्टारक विजयकीर्ति हुए। आपने संवत् १५५७ की माघ कृष्णा पंचमीको तथा संवत् १५६० की वैशाख शुक्ला द्वितीयाको शान्तिनाथमूर्तियाँ तथा संवत् १५६१ की वैशाख शुक्ला दशमीका रत्नत्रयमूर्ति स्थापित की। संवत् १५५८ की फाल्गुन शुक्ला दशमीको श्रीसंघने अपनी भगिनी आर्यिका देवश्रीके लिए पद्मनन्दि-पंचविंशतिकी प्रति लिखवायी थी। पट्टावलीके अनुसार मल्लिराय, भैरवराय और देवेन्द्ररायने विजयकीर्तिका सम्मान किया था[4]।"

विजयकीर्ति शास्त्रार्थी विद्वान् थे। इन्होंने अपने विहार और प्रवचन द्वारा जैनधर्मका प्रचार एवं प्रसार किया था। इनके द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

---

१. राजस्थानके जैन संत, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जयपुर, पृ० ६६ पर उद्धृत।
२. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखाङ्क ३६४।
३. राजस्थानके जैन संत, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जयपुर, पृ० ६७।
४. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, पृ० १५४–१५५।

आचार्य शुभचन्द्र

भट्टारक शुभचन्द्र विजयकीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने भट्टारक ज्ञानभूषण और विजयकीर्ति इन दोनोंके शासनकालका दर्शन किया था। इनका जन्म वि० सं० १५३०-१५४० के मध्यमें कभी हुआ होगा। शैशवसे इन्होंने संस्कृत, प्राकृत एवं देशी भाषाका अध्ययन प्रारम्भ किया था। व्याकरण, छन्द, काव्य, न्याय आदि विषयोंका पाण्डित्य सहजमें ही प्राप्त कर लिया था। त्रिविध-विद्याधर और षट्भाषाकविचक्रवर्ती ये इनकी उपाधियाँ थीं। इन्होंने अनेक देशोंमें विहार किया था। गौड, कलिंग, कर्नाटक, तौलव, पूर्व, गुर्जर, मालव आदि देशोंके वादियोंको पराजित किया था। इनका धर्मोपदेश सुननेके लिए जनता टूट पड़ती थी। इन्होंने अन्य भट्टारकोंके समान कितने ही प्रतिष्ठा-समारोहोंमें भी सम्मिलित होकर धर्मकी प्रभावना की थी। उदयपुर, सागवाड़ा, डूंगरपुर, जयपुर आदि स्थानोंके मन्दिरोंमें इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

आचार्य शुभचन्द्रकी शिष्यपरम्परामें सकलभूषण, वर्णी क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्रीभूषण आदिके नामोल्लेख मिलते हैं। इनकी मृत्युके पश्चात् सुमतिकीर्ति इनके पट्टपर आसीन हुए थे।

स्थितिकाल

डॉ० जोहरापुरकरने शुभचन्द्रका भट्टारककाल वि० सं० १५७३-१६१३ माना है। शुभचन्द्रकी मृत्युके पश्चात् सुमतिकीर्ति उनके पदपर आसीन हुए हैं और सुमतिकीर्तिका समय वि० सं० १६२२ है। अतः भट्टारक शुभचन्द्रका जीवनकाल वि० सं० १५३५-१६२० होना चाहिए। ४० वर्षों तक भट्टारक पदपर आसीन रहकर शुभचन्द्रने साहित्य और संस्कृतिकी सेवा की है। इन्होंने त्रिभुवनकीर्तिके आग्रहसे वि० सं० १५७३ की आश्विनी शुक्ला पञ्चमीको अमृतचन्द्रकृत समयसार कलशोंपर अध्यात्मतरंगिणी नामक टीका लिखी है। संवत् १५९० में ईडर नगरके हूंवड़जातीय श्रावकोंने ब्रह्मचारी तेजपालके द्वारा पुण्याश्रवकथाकोशकी प्रति लिखवाकर इन्हें भेंट की थी। संवत् १५८१ में इन्हींके उपदेशसे हूंवड़जातीय श्रावक साह, हीरा, राजू आदिने प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न किये थे।

"संवत् १५८१ वर्षे पोष वदी १३ शुक्रे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री ज्ञानभुषण तत्पट्टे श्री भ० विजयकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्रगुरुपदेशात् हूंबड़जाति साह हीरा भा० राजू

सुत सं० तारा द्वि० भार्या पोई सुत सं० माका भार्या हीरा दे.......भा० नारंग दे भ्रा० रत्नपाल भा० विराला दे सुत रखभदास नित्यं प्रणमति।"

संवत् १५९९में डूंगरपुरके आदिनाथचैत्यालयमें इन्हींके उपदेशसे अंगप्रज्ञप्ति-की प्रतिलिपि करवाकर विराजमान की गयी थी। संवत् १६०७की वैशाख कृष्णा तृतीयाको एक पंचपरमेष्ठीकी मूर्ति स्थापित की थी। संवत् १६०८ की भाद्रपद द्वितीयाको सागवाड़ामें 'पाण्डवपुराण' की रचना पूर्ण की थी। संवत् १६११ में करकण्डुचरित और संवत् १६१३ में कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीका लिखी। इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्रका जीवनकाल १५३५–१६२० तक आता है।

रचनाएँ

शुभचन्द्र ज्ञानके सागर एवं विद्याओंमें पारंगत थे। ग्रन्थ-परिमाण और मूल्यकी दृष्टिसे इनकी रचनाएं उल्लेखनीय हैं। संघ व्यवस्था, धर्मोपदेश एवं आत्मसाधनाके अतिरिक्त जो भी समय इन्हें मिलता था, उसका सदुपयोग इन्होंने ग्रन्थरचनामें किया है। वि० सं० १६०८ में इन्होंने पाण्डव-पुराणकी रचना की है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि इस रचनाके पूर्व इनकी २१ कृतियाँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओंमें इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

संस्कृत-रचनाएँ

१. चन्द्रप्रभचरित
२. करकण्डुचरित
३. कीर्तिकेयानुप्रेक्षाटीका
४. चन्दनाचरित
५. जीवन्धरचरित
६. पाण्डवपुराण
७. श्रेणिकचरित
८. सज्जनचित्तबल्लभ
९. पार्श्वनाथकाव्यपञ्जिका
१०. प्राकृतलक्षण
११. अध्यात्मतरंगिणी
१२. अम्बिकाकल्प
१३. अष्टाह्निकाकथा
१४. कर्मदहनपूजा
१५. चन्दनषष्ठीव्रतपूजा
१६. गणधरवलयपूजा
१७. चारित्रशुद्धिविधान
१८. तीसचौबीसीपूजा
१९. पञ्चकल्याणकपूजा
२०. पल्लीव्रतोद्यापन
२१. तेरहद्वीपपूजा
२२. पुष्पाञ्जलिव्रतपूजा
२३. सार्द्धद्वयद्वीपपूजा
२४. सिद्धचक्रपूजा

हिन्दी रचनाएं

१. महावीरछन्द
२. विजयकीर्तिछन्द
३. गुरुछन्द
४. नेमिनाथछन्द

५. तत्त्वसारदूहा ७. क्षेत्रपालगीत
६. अष्टाह्निकागीत

इन रचनाओंमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका, सज्जनचित्तवल्लभ, अम्बिका-कल्प, गणधरवलयपूजा, चन्दनषष्ठीव्रतपूजा, तेरहद्वीपपूजा, पंचकल्याणक-पूजा, पुष्पाञ्जलिव्रतपूजा, सार्द्धद्वयद्वीपपूजा एवं सिद्धचक्रपूजा आदि संवत् १६०८ के पश्चात् अर्थात् पाण्डवपुराणके बादकी कृतियाँ हैं।

१. **करकण्डुचरित**—करकण्डुका जीवन इस काव्यकी मुख्य कथावस्तु है और यह १५ सर्गोंमें विभक्त है। वि० सं० १६११ में जवाच्छपुरके आदिनाथ-चैत्यालयमें इस ग्रन्थकी रचना पूर्ण हुई है। इस ग्रन्थके सहायक शुभचन्द्रके प्रमुख शिष्य सकलभूषण भट्टारक थे। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

श्रीमूलसंघे कृति नंदिसंघे गच्छे बलात्कार इदं चरित्रं।
पूजाफलेद्धं करकण्डुराज्ञो भट्टारकश्रीशुभचन्द्रसूरिः ॥
द्व्याष्टे विक्रमतः शते समहते चैकादशाब्दाधिके।
भाद्रे मासि समुज्वले युगतिथौ खङ्गे जावाछपुरे।
श्रीमच्छ्रीवृषभेश्वरस्य सदने चक्रे चरित्रं त्विदं।
राज्ञः श्रीशुभचन्द्रसूरियतिपश्चंपाधिपस्याद् ध्रुवं ॥
श्रीमत्सकलभूषेण पुराणे पाण्डवे कृतं।
साहाय्यं येन तेनाऽत्र तदाकारिस्वसिद्धये ॥

२. **अध्यात्मतरंगिणी**—इस ग्रन्थका आधार आचार्य अमृतचन्द्रके समयसार-के कलश हैं। इस आध्यात्मिक कृतिमें निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मतत्त्वका वर्णन किया गया है। यह रचना एक प्रकारसे समयसारपर आधृत टीका है। इसका रचनाकाल वि० सं० १५७३ है।

३. **कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका**—प्राकृत भाषामें लिखित स्वामी कार्तिकेया-नुप्रेक्षाकी यह टीका है। इस ग्रन्थको आचार्य शुभचन्द्रकी संस्कृतटीकाने विशेष लोकप्रिय बनाया है। इस ग्रन्थकी रचना वि० सं० १६०० माघ शुक्लाके एकादशीके दिन हिसार नगरमें हुई है। ग्रन्थकी प्रशस्तिमें बताया है—

श्रीमत् विक्रमभूपतेः परमिते वर्षे शते षोडशे,
माघे मासिदशाग्रवह्निमहिते ख्याते दशम्यां तिथौ।
श्रीमच्छ्रीमहीसार-सार नगरे चैत्यालये श्रीपुरोः।
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्रदेवविहिता टीका सदा नन्दतु ॥

यह टीका शुभचन्द्रके शिष्य वर्णी खीमचन्द्रके आग्रहसे लिखी गयी है। टीका सरल और ग्रन्थके हार्दको स्पष्ट करती है।

जीवन्धरचरित—कुमार जीवन्धरका जीवनवृत्त संस्कृतके कवियोंको विशेष प्रिय रहा है। शुभचन्द्रने पुण्यपुरुष जीवन्धरके आख्यानको ग्रहण कर १३ सर्गप्रमाण यह रचना लिखी है। इसकी समाप्ति वि० सं० १६०३ में हुई है।

चन्द्रप्रभचरित—अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभके पावन चरितको १२ सर्गोंमें निबद्ध किया गया है। ग्रन्थके अन्तमें आचार्यने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि न तो छन्द-अलंकारका परिज्ञान है, न काव्यशास्त्रका, न जैनेन्द्रव्याकरणका, न कलापका और न शाकटायनका। त्रिलोकसार एवं गोम्मटसार जैसे महान ग्रन्थोंका भी अध्ययन नहीं किया है। यह रचना मैं भक्तिवश लिख रहा हूँ।

चन्दनाचरित—यह एक कथाकाव्य है। इसमें सती चन्दनाके पावन एवं उज्जवल जीवनका चित्रण किया गया है। काव्यकी कथावस्तु पाँच सर्गोंमें विभक्त है। इसकी रचना वागड प्रदेशके डूंगरपुर नगरमें हुई है।

शास्त्राण्यनेकान्यवगाह्य कृत्वा पुराणसल्लक्षणकानि भूयः।
सच्चंदनाचारुचरित्रमेतत् चकार च श्रीशुभचन्द्रदेवः॥

पाण्डवपुराण—जैन साहित्यमें कौरव और पाण्डवोंकी कथाका आरम्भ जिनसेन प्रथमके हरिवंशपुराणसे होता है। स्वतन्त्ररूपमें इस चरितका प्रणयन देवप्रभ सूरिने वि० सं० १२७० में किया है। पश्चात् आचार्य शुभचन्द्रने वि० सं० १६०८ में इस चरितकी रचना की है। कथाके प्रारम्भमें भोगभूमिकालमें होनेवाले १४ कुलकरोंके उत्पत्तिक्रमके कथनके पश्चात् बताया है कि ऋषभदेवने इक्ष्वाकु, कौरव, हरि और नाथ नामक चार क्षत्रियगोत्र स्थापित किये। कुरुवंशकी परम्परामें सोमप्रभ, जयकुमार, अनन्तवीर्य, कुरुचन्द्र, शुभंकर और द्युतिकर आदि राजाओंके पश्चात् विश्वसेन राजाके पुत्र शान्तिनाथ तीर्थङ्कर हुए। इसी परम्परामें भगवान् कुन्थ और अर्हनाथ तीर्थंकर उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् इस परम्परामें शान्तनु राजा उत्पन्न हुआ। इसकी पत्नीका नाम सवकी था। इन दोनोंके परासर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। परासरका विवाह रत्नपुरनिवासी जह्नुनामक विद्याधरकी पुत्री गङ्गाके साथ हुआ। इनके पुत्रका नाम गाङ्गेय भीष्म पितामह था। परासर राजाने योग्य समझकर गाङ्गेयको युवराजपदपर प्रतिष्ठित किया। एक दिन परासर यमुनाके तटपर गये और वहाँ वे धीवरकी कन्याको देखकर मोहित हो गये। कालान्तरमें गाङ्गेयकी

भीष्मप्रतिज्ञाके अनन्तर गुणवती या योजनगंधाके साथ परासरका विवाह सम्पन्न हुआ। इस पत्नीसे परासरको व्यासनामक पुत्र उत्पन्न हुआ। व्यासकी पत्नीका नाम सुभद्रा था और इससे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें धृतराष्ट्रका विवाह मथुरानिवासी राजा भोजकवृष्टिकी कन्या गान्धारीके साथ सम्पन्न हुआ। इससे धृतराष्ट्रको दुर्योधनादि १०० पुत्र उत्पन्न हुए। विदुरका विवाह देवक राजाकी पुत्री कुमुदवतीके साथ सम्पन्न हुआ।

धृतराष्ट्रने पाण्डुके लिए राजा अन्धकवृष्टिसे उनकी पुत्री कुन्तीकी याचना की। परन्तु पाण्डुके पाण्डुरोगसे पीडित होनेके कारण अन्धकवृष्टिने उसे स्वीकार नहीं किया। पाण्डु कामरूपणी मुद्रिका द्वारा अपना रूप बदलकर कुन्तीके महलमें जाने-आने लगा। फलतः कुन्ती गर्भवती हुई और इस पुत्रका नाम कर्ण रखा गया। विधिवत् विवाह न होनेके कारण, कर्णको एक पेटीमें रखकर यमुनामें प्रवाहित कर दिया गया और वह पेटी चम्पापुरीके राजा भानुको प्राप्त हुई। उसने उस तेजस्वी बालकको अपनी पत्नी राधाको दे दिया और राधाने उसका विधिवत् पालन किया। कालान्तरमें अन्धकवृष्टिने कुन्ती और माद्री इन दोनों कन्याओंका विवाह पाण्डुके साथ कर दिया। कुन्तीसे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पुत्र तथा माद्रीसे नकुल और सहदेव ये दो पुत्र हुए। ये पाँचों ही पाण्डव कहलाये। कौरव और पाण्डवोंको द्रोणाचार्यने धनुर्वेदकी शिक्षा दी। एक दिन पाण्डु माद्रीके साथ क्रीड़ार्थ वनमें गये और वहाँ आकाशवाणी सुनकर विरक्त हो गये। उन्होंने अपनी १३ दिन आयु शेष जानकर दीक्षा ग्रहण की और पाँचों पुत्रोंको बुलाकर, उन्हें राज्य देकर धृतराष्ट्रके अधीन कर दिया। कालान्तरमें कौरवों और पाण्डवोंकी ईर्ष्या प्रज्वलित हुई। दुर्योधनने लाक्षागृहमें पाण्डवोंको दग्ध करनेका प्रयास किया, पर वे सुरंगके रास्तेसे बच कर निकल गये और ग्रामानुग्राम देशाटन करने लगे। हस्तिनापुर लौट आनेके पश्चात् अर्जुनका विवाह द्रौपदी और सुभद्राके साथ सम्पन्न हुआ। तदनन्तर युधिष्ठिर द्यूतक्रीड़ामें समस्त राज्य हार गये और १२ वर्षों तक उन्हें वनवास-में रहना पड़ा। अन्तमें राज्यके लिए कौरवों और पाण्डओंका भयंकर युद्ध हुआ।

यह कथा पच्चीस पर्वोंमें विभक्त है। २१वें पर्वमें युद्धके पश्चात् पाण्डव दीक्षा ग्रहण करते हैं और दुर्धर तपश्चरणके अवसरपर उन्हें उपसर्गादि सहन करने पड़ते हैं। वे अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व आदि १२ भावनाओंका चिन्तन कर कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। फलतः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको मुक्तिलाभ होता है एवं नकुल और सहदेवको सर्वार्थसिद्धिलाभ होता है।

आचार्यने धर्मका महत्त्व बतलाते हुए लिखा है—

> धर्माद्वैरिजनस्य भेदनमहो धर्माच्छुभं सत्प्रभम्
> धर्माद्बन्धुसमागमः सुमहिमालाभः सुधर्मात्सुखम् ।
> धर्मात्कोमलकप्रकायसुकला धर्मात्सुताः समताः
> धर्माच्छ्रीः क्रियतां सदा बुधजना ज्ञात्वेति धर्मः[1] श्रियैः ॥

पूजाग्रन्थोंमें तत्तत् विषयोंकी पूजाएँ निबद्ध हैं। हिन्दीरचनाओंमें महावीर-छन्दमें भगवान् महावीरके सम्बन्धमें २७ पद्योंमें स्तवन हैं। विजयकीर्तिछन्द एक ऐतिहासिक कृति है। यह कविके गुरु विजयकीर्तिकी प्रशंसामें लिखा गया है। इसमें २९ पद्य हैं। यह एक रूपककाव्य है। इसके नायक विजय-कीर्ति हैं और प्रतिनायक कामदेव। इस रूपककाव्यमें अध्यात्मशक्तिकी विजय दिखलायी गयी है। गुरुछन्दमें ११ पद्य हैं और भट्टारक विजयकीर्तिका गुणानु-वाद किया गया है। नेमिनाथछन्दमें तीर्थंकर नेमिनाथके पावन जीवनका चित्रण २५ पद्योंमें किया है। तत्त्वसारदूहामें ९१ दोहे एवं चौपाइयाँ हैं। सात तत्त्वोंका वर्णन है। इस ग्रन्थकी रचना दुलहा नामक श्रावकके अनुरोधसे की गयी है।

भट्टारक विद्यानन्दि

आचार्य विद्यानन्दि बलात्कारगणकी सूरत-शाखाके भट्टारक थे। इस शाखाका आरम्भ भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिसे हुआ है। ये भट्टारक पद्मनन्दिके शिष्य थे। पद्मनन्दिके तीन शिष्योंने तीन भट्टारक-परम्पराएँ आरम्भ की हैं। शुभचन्द्रने दिल्ली-जयपुरशाखा, सकलकीर्तिने ईडर-शाखा और देवेन्द्रकीर्तिने सूरत-शाखाको समृद्ध किया है। बलात्कारगण उत्तर शाखामें वि० सं० १२६४ में वसन्तकीर्ति, वि० सं० १२६६ में विशालकीर्ति, तत्पश्चात् शुभकीर्ति, वि० संवत् १२७१–१२९६ में धर्मचन्द्र, वि० सं० १२९६–१३१० में रत्नकीर्ति, वि० सं० १३१०–१३८४ में प्रभाचन्द्र और वि० सं० १३८५–१४५० में पद्मनन्दि भट्टारक हुए। इन पद्मनन्दिके शिष्य देवेन्द्रकीर्ति वि० सं० १४९३ में पट्ट पर आसीन हुए। देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि हुए। इन्होंने वि० सं० १४९९ की वैशाख शुक्ला द्वितीयाको एक चौबीसी मूर्ति, वि० सं १५१३ की वैशाख शुक्ला दशमीको एक मेरू तथा चौबीसी मूर्ति, वि० सं १५१८ की माघ शुक्ला पंचमीको दो मूर्तियाँ, वि० सं० १५२१ की वैशाख कृष्णा द्वितीयाको एक चौबीसी मूर्ति एवं वि० सं० १५३७ की वैशाख शुक्ला द्वादशीको एक अन्य-

---

१. पाण्डवपुराण, १८।२०१।

मूर्ति स्थापित की है। वि० सं० १५१३ की चौबीसी मूर्ति आर्यिका संयमश्रीके लिये घोघामें प्रतिष्ठित को गयी थी। विद्यानन्दिके सम्बन्धमें निम्नलिखित अभिलेख उपलब्ध हैं—

"सं० १५३७ वर्ष वैशाख सुदि १० गुरौ श्रीमूलसंघे भ० जिनचन्द्राम्नाये मंडलाचार्य विद्यानन्दि तदुपदेशं गोलारारान्वये पियू पुत्र············॥"[1]

× × × × ×

"संवत् १५४४ वर्षे वैसाख सुदि ३ सोमे श्रीमूलसंघे भ० श्रीविद्यानन्दि भट्टारक श्रीभुवनकीर्ति भ० श्रीज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूंबड साह् चांदा, भार्या रेमाई········[2]"।

इन अभिलेखोंसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दिने मन्दिर-प्रतिष्ठा और मूर्ति-प्रतिष्ठामें पूर्ण योगदान दिया था। साह् लखराजने पञ्चास्तिकायकी एक प्रति खरीद कर इन्हें अर्पित की थी। पंचस्तिकायकी पुष्पिकामें बताया गया है—

"स्वस्ति श्रीमूलसंघे हुँबड ज्ञातीय सा० कान्हा भार्या रामति········एतेषां मध्ये सा० लखराजेन मोचयित्वा पंचास्तिकायपुस्तकं श्रीविद्यानंदिने ज्ञानावर्णी-कर्मक्षयार्थं दत्तं शुभं भवतु[3]"।

इनके शिष्य ब्रह्माजितने भडौंचमें हनुमत्चरितकी रचना को है। इनके अन्य शिष्य छाहडने वि० सं० १५९१ से भडौंचमें धन्यकुमारचरितकी एक प्रति लिखी है। इनके तृतीय शिष्य ब्रह्मधर्मपालने सं० १५०५ में एक मूर्तिकी स्थापना की है।

विद्यानन्दिने सुदर्शनचरितकी रचना की है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें पूर्वाचार्योंका स्मरण करते हुए अपनी गुर्वावलि अंकित की है। लिखा है—

श्रीमूलसङ्घे वरभारतीये गच्छे बलात्कारगणेऽतिरम्ये।
श्रीकुन्दकुन्दाख्यमुनीन्द्रवंशे जातः प्रभाचन्द्रमहामुनीन्द्रः॥
पट्टे तदीये मुनिपद्मनन्दो भट्टारको भव्यसरोजभानुः।
जातो जगत्त्रयहितो गुणरत्नसिन्धुः कुर्यात् सतां सारसुखं यतीशः॥

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रथाक ८, सोलापुर, वि० सं० २०१४ लेखांक ४२७–४३३।

२. वही, लेखांक २५७,३५६।

३. वही, लेखांक ४३५।

तत्पट्टपद्माकरभास्करोऽत्र देवेन्द्रकीर्तिर्मुनिचक्रवर्ती ।
तत्पादपङ्कजसुभक्तियुक्तो विद्यादिनन्दी चरितं चकार ।।
तत्पादपट्टेऽजनि मल्लिभूषणगुरुश्चारित्रचूडामणिः
संसाराम्बुधितारणैकचतुरश्चिन्तामणिः प्राणिनाम् ।
सूरिश्रीश्रुतसागरो गुणनिधिः श्रीसिंहनन्दी गुरुः
सर्वे ते यतिसत्तमाः शुभतराः कुर्वन्तु वो मङ्गलम्[1] ।।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि सूरत-शाखाके बलात्कारगणके आचार्योंमें देवेन्द्र-कीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि हैं। ग्रन्थके आरम्भमें भी गुरुपरम्पराका स्मरण किया गया है।

विद्यानन्दिके गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कोई भी वृत्तान्त ग्रन्थप्रशस्तियोंमें उपलब्ध नहीं होता है। केवल एक पट्टावलीमें 'अष्टशाखाप्राग्वाटवंशावतंस' तथा 'हरिराजकुलोद्योतकर'[2] कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये प्राग्वाट (पौरवाड़) जातिके थे तथा इनके पिताका नाम हरिराज था। पौरवाड़ जातिमें अथवा उसके किसी एक वर्गमें आठ शाखाओंकी मान्यता प्रचलित रही होगी। इस जातिका प्रचार प्राचीनकालमें गुजरात प्रदेशमें रहा है। इस प्रदेशकी प्राचीन राजधानी श्रीमाल थी। इश प्राग्वाट जातिमें विद्यानन्दिके गुरुभट्टारक देवेन्द्रकीर्तिका विशेष सम्मान रहा है। इन्होंने पौरपाटान्वयकी अष्टशाखावाले एक श्रावक द्वारा वि० सं० १४९३ में एक जिनमूर्तिकी स्थापना करायी थी।

"संवत् १४९३ शाके १३५८ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ दिने मूलनक्षत्रे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः तत्पट्टे वादिवादीन्द्र भ० पद्मनन्दिदेवाः तत्पट्टे श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवाः पौरपाटान्वये अष्टशाखे आहारदानदानेश्वर सिंघई-लक्ष्मण तस्य भार्या अखयसिरी कुक्षि-समुत्पन्न अर्जुन[3]......।"

अतएव स्पष्ट है कि प्राग्वाट, पौरपाट और पौरवाड़ एक ही जातिके वाचक हैं।[4] डॉ० हीरालालजी जैनका अनुमान है कि भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति भी इसी जातिमें उत्पन्न हुए होंगे और उन्हींके प्रभावसे विद्यानन्दि भी दीक्षित हुए होंगे। वि० सं० १४९९ के मूर्तिलेखमें उन्हें देवेन्द्रकीर्तिका शिष्य कहा गया है, पर वि०

---

१. डा० हीरालाल जैन, सुदर्शनचरित, सन् १९७०, श्लोक १२।४७-५०।
२. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ४३९।
३. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ४२५।
४. सुदर्शनचरित, सम्पादक हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् १९७० प्रस्तावना, पृ० १६।

संवत् १५१३ के मूर्तिलेखमें उनका श्रीदेवेन्द्रकीर्ति दीक्षित आचार्य श्रीविद्यानन्दिके रूपमें उल्लेख आया है। संवत् १५३७ के मूर्तिलेखमें देवेन्द्रकीर्तिपदे प्रतिष्ठित विद्यानन्दिको बताया है। इससे स्पष्ट है कि वे संवत् १५१३ के पश्चात् और संवत् १५३७ के पूर्व भट्टारक गद्दीपर आसीन हो चुके थे। श्रीजोहरापुरकरने वि० सं० १४९९-१५३७ उनका भट्टारककाल माना है।

विद्यानन्दिने पर्याप्त भ्रमण किया था। पट्टावलीके अनुसार उन्होंने सम्मेदशिखर, चम्पा, पावा, उर्जयन्तगिरि आदि समस्त तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा की थी। इनका सम्मान राजाधिराज महामण्डलेश्वर वज्राङ्ग-गङ्ग-जयसिंह-व्याघ्र-नरेन्द्र आदिके द्वारा किया गया था। इनके द्वारा प्रतिष्ठित करायी गयी मूर्तियोंमें हूंबड़जाति श्रावकोंके उल्लेख अधिक आये हैं। अन्यजति और वर्ग सम्बन्धी निर्देशोंमें काष्ठा संघ, हूंबड़वंश, सिंहपुराजाति, राइकवालजाति, गोलश्रृंगारवंश, पल्लीवालजाति, एवं अग्रोतकान्वय (अग्रवाल) के नाम प्राप्त होते हैं।

पट्टावलियों, मूर्तिलेखों एवं ग्रन्थप्रशस्तियोंके आधारपर विद्यानन्दिका समय वि० सं० १४९९-१५३८ पाया जाता है। इस कार्यकालके भीतर उन्होंने धर्मप्रचारके लिये धर्मोपदेशके साथ मूर्ति एवं मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा करायी।

रचनाएँ

भट्टारक विद्यानन्दिके द्वारा सुदर्शनचरितनामक चरितकाव्यकी रचना गन्धार नगर या गन्धारपुरीमें की गयी है। इस गन्धार नगरका उल्लेख अन्य आचार्योंके ग्रन्थोंमें भी मिलता है। सम्भवतः यह सूरत नगरका ही नामान्तर है। इस कृतिकी रचना वि० सं० १३५५ के लगभग सम्पन्न हुई है।

इस ग्रन्थमें पुण्यपुरुष सुदर्शनका आख्यान वर्णित है। कथावस्तु १२ अधिकारोंमें विभक्त है। प्रथम और द्वितीय अधिकारमें तीर्थंकर महावीरका विपुलाचलपर समवशरण प्रस्तुत होता है और उसमें गौतम गणधर उनसे धर्मविषयक प्रश्न पूछते हैं। स्तवनप्रकरणमें गणधरोंके नमस्कारके पश्चात् कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पात्रकेसरी, अकलंक, जिनसेन, रत्नकीर्ति, गुणभद्र, प्रभाचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति और आशाधरका संस्मरण किया है। श्रेणिक जिनेन्द्रकी पूजा-स्तुतिके अनन्तर गौतम गणधरसे पञ्चम अन्तःकृत्केवली सुदर्शनमुनिके चरित-वर्णनकी प्रार्थना करते हैं। गौतम गणधर उस चरितका वर्णन करते हैं। विद्यानन्दिने इस प्रकार तृतीय अधिकारमें सुदर्शनके जन्ममहोत्सवका वर्णन किया है। चतुर्थ अधिकारमें सुदर्शन-मनोरमा विवाह, पंचममें सुदर्शनकी श्रेष्ठिपद प्राप्ति, षष्ठमें कपिलका प्रलोभन तथा रानी अभयमतीका व्यामोह, सप्तममें अभयाकृत उपसर्ग निवारण और शीलप्रभाव वर्णन, अष्टममें सुदर्शन और

मनोरमाके पूर्वभव, नवममें द्वादशानुप्रेक्षा, दशममें सुदर्शनका दीक्षाग्रहण और तप, एकादशमें केवलज्ञानोत्पत्ति और द्वादशमें सुदर्शनमुनिकी मोक्षप्राप्तिका वर्णन आया है। समस्त ग्रन्थ अनुष्टुप छन्दोंमें निर्मित है। सर्गान्तमें छंदपरिवर्तन हुआ है। कविने प्रसंगवश सुभाषितोंका भी प्रयोग किया है। पुण्यका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

> पुण्येन दूरतरवस्तुसमागमोऽस्ति
> पुण्यं विना तदपि हस्ततलात्प्रयाति।
> तस्मात्सुनिर्मलधियः कुरुत प्रमोदात्
> पुण्यं जिनेन्द्रकथितं शिवशर्मबीजम्[1]॥

इस प्रकार सुदर्शनचरितके द्वारा कविने पुराण, धर्मशास्त्र और दर्शनका प्रणयन किया है। इस ग्रन्थकी कुल श्लोकसंख्या १३६२ है।

भट्टारक मल्लिभूषण

विद्यानन्दिके पट्ट शिष्योंमें मल्लिभूषणकी गणना की जाती है। इन्होंने वि० संवत् १५४४ की वैशाख शुक्ला तृतीयाको खम्भातमें एक निषोदिका बनवायी थी। इस निषोदिकापर जो अभिलेख प्राप्त हुआ है, उससे आर्यिका रत्नश्री, कल्याणश्री और जिनमतीका परिचय प्राप्त होता है। यह अभिलेख आर्यिकाकी मूर्तिपर उत्कीर्ण है—

"सं० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भ० श्रीविद्यानन्दिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीमल्लीभूषण श्रीस्तंभतीर्थे हुँबड ज्ञातेय श्रेष्ठी चांपा भार्या रूपिणी तत्पुत्री श्रीअर्जिका रत्नसिरी क्षुल्लिका जिनमती श्रीविद्यानंदीदीक्षिता आर्जिका कल्याणसिरी तत्वल्ली अग्रोतका ज्ञातो साहदेवा भार्या नारिंगदे पुत्री जिनमती नस्सही कारापिता प्रणमति श्रेयार्थम्[2]"।

मल्लिभूषणने गोपाचलकी यात्रा की थी और गयासुद्दीनके द्वारा सम्मान प्राप्त किया था। मल्लिभूषण पद्मावतीके उपासक थे। पट्टावलीमें इनके वादी होनेका भी निर्देश मिलता है। मल्लिभूषणने धर्मोपदेश, शास्त्रार्थ आदिके द्वारा धर्मकी प्रभावना की थी। बताया है—

---

१. सुदर्शनचरित, डा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् १९७०, श्लोक ४।१०६।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक ४५८।

"तत्पट्टोदयाचलबालभास्कर—प्रवरपरवादिगजयूथकेसरि-मंडपगिरिमंत्र-वादसमस्याप्तचन्द्रपूर्णविकटवादि—गोपाचलदुर्गमेघाकर्षकभविकजन-सस्यामृत-वाणिवर्षणसुरेंद्रनागेंद्रमृगेंदादिसेवितचरणारविंदानां ग्यासदीन सभामध्यप्राप्त सन्मानपद्मावत्युपासकानां श्रीमल्लिभूषणभट्टारकवर्याणाम्[1] ॥"

स्पष्ट है कि मल्लिभूषण अपने समयके प्रसिद्ध आचार्य और धर्मप्रचारक थे। इनके पट्टशिष्य लक्ष्मीचन्द्र हुए। इसी भट्टारकशाखामें एक अन्य विद्यानन्दि भी हुए हैं। इन्होंने वि० सं० १८०५में सूरतमें एक आदिनाथमूर्ति स्थापित की थी।

आचार्य वीरचन्द्र

भट्टारकीय बलात्कारगण सूरत-शाखाके भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिकी परम्परामें लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य आचार्य वीरचन्द्र हुए हैं। वीरचन्द्र अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एवं न्यायशास्त्रके प्रकाण्डवेत्ता था। छन्द, अलंकार एवं संगीत शास्त्रकी मर्मज्ञताके साथ वादविद्यामें भी वे निपुण थे। साधुजीवनका निर्वाह करते हुए वे गृहस्थोंको भी संयमित जीवन यापन करनेको शिक्षा देते थे। भट्टारकपट्टावलीमें उनका परिचय निम्न प्रकार प्राप्त होता है—

सूरिश्रीमल्लिभूषण जयो जयो श्रीलक्ष्मीचंद्र ॥
तास वंश विद्यानिलु लाड नाति श्रृंगार।
श्रीवीरचंद्र सूरी भणी चित्तनिरोध विचार

× × × ×

"तद्वंशमंडनकंदर्पदलनविश्वलोकहृदयरंजन—महाव्रतिपुरंदराणां नवसहस्र-प्रमुखदेशाधिपतिराजाधिराज-श्रीअर्जुनजीयराजसभामध्यप्राप्तसन्माना षोडश-वर्षपर्यन्तशाकपाकपक्वान्नशाल्योदनादिसर्पि:प्रभृतिसरसाहारपरिवर्जितानां······ सकलमूलोत्तरगुणगणमणिमंडितविबुधवरश्रीवीरचंद्रभट्टारकाणाम्[2]"।

उपर्युक्त प्रशस्तिसे यह स्पष्ट है कि आचार्य वीरचन्द्रने नवसारीके शासक अर्जुन जीवराजसे सम्मान प्राप्त किया था तथा १६ वर्षों तक नीरस आहारका सेवन किया था। वीरचन्द्रकी विद्वत्ताके सम्बन्धमें अन्य विद्वानोंने भी प्रकाश

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक ४५८।
२. वही, लेखांक, ४७८, ४७९।

डाला है। भट्टारक शुभचन्द्रने अपनी कीर्तिकेयानुपेक्षाकी संस्कृतटीकामें इनकी प्रशंसा की है—

भट्टारकपदाधीशाः मूलसंघे विदांवराः।
रमावीरेन्दु-चिद्रूपाः गुरवो हि गणेशिनः॥

भट्टारक सुमतकीर्तिने भी इन्हें वादियोंके लिये अजेय बतलाया है। प्राकृत-पंचसंग्रहकी टीकामें इन्हें यशस्वी, अप्रतिम विद्वान बतलाया है—

दुर्वारदुर्वादिकपर्वतानां वज्रायमानो वरवीरचन्द्रः।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराजः॥

लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य होनेके कारण वीरचन्द्रका समय वि० सं० १५५६–१५८२ के मध्य है। इनके द्वारा रचित कृतियोंमें जो समय प्राप्त होता है, उससे भी इनका कार्यकाल वि० की १७वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

रचनाएँ

आचार्य वीरचन्द्र संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजरातीके निष्णात विद्वान थे। इनके द्वारा लिखित आठ रचनाएँ प्राप्त हैं।

१. वीरविलासफाग
२. जम्बूस्वामीवेलि
३. जिनान्तर
४. सीमन्धरस्वामीगीत
५. सम्बोधसत्ताणु
६. नेमिनाथरास
७. चित्तनिरोधकथा
८. बाहुबलिवेलि

१. वीरविलासफाग—इस काव्यमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथके जीवनकी एक घटना वर्णित है। इस फागमें १३७ पद्य हैं। रचनाके प्रारम्भमें नेमिनाथके सौन्दर्य एवं शक्तिका वर्णन है, तत्पश्चात् राजुलकी सुन्दरताका चित्रण किया गया है। विवाहके अवसर पर नगरकी शोभा दर्शनीय होती है। बारात बड़ी साज-सज्जाके साथ पहुँचती है, पर तोरणद्वारके निकट पहुँचनेके पूर्व ही पशु-चीत्कारको सुनकर नेमिनाथ विरक्त हो जाते हैं। जब राजुलको उनके वैराग्यकी घटना ज्ञात होती है, तो वह घोर विलाप करने लगती है। वह स्वयं आभूषणोंका त्याग कर तपस्विनी बन जाती है। आचार्यने नेमिनाथके तपस्वी

जीवनका अच्छा चित्रण किया है। नेमिनाथकी सुन्दरताका चित्रण करते हुए लिखा है—

वेलि कमलदल कोमल, सामल वरण शरीर।
त्रिभुवनपति त्रिभुवन निलो, नीलो गुण गंभीर॥
माननी मोहन जिनवर, दिन दिन देह दिपंत।
प्रलंब प्रताप प्रभाकर, भवहर श्री भगवंत॥

राजुलकी सुन्दरताका चित्रण करते हुए लिखा है—

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतंग।
चंपक वर्णी चंद्राननी, माननी सोहि सुरंग॥
हरणी हरखी निज नयणोउ वयणीउ साह सुरंग।
दंत सुपंती दीपंती, सोहंती सिखेणी बंध।
कनक केरी जसी पूतली, पातली पदमनी नारि।
सतीय शिरोमणि सुन्दरी, भवतरी अवनि मझारि॥

कविका राजुल-विलाप वर्णन भी बहुत ही मर्मस्पर्शी है। इस फागके रचना कालका निर्देश नहीं है, पर यह वि० सं० १६०० के पूर्वकी रचना है।

जम्बूस्वामी वेलि—अन्तिम केवली जम्बूस्वामीका जीवन जैन कवियोंको बहुत प्रिय रहा है। यही कारण है कि संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं राजस्थानी आदि विभिन्न भाषाओंमें रचनाएँ लिखी गयी हैं। इस वेलिकी भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। कविने आरम्भमें अपने पट्टका परिचय प्रस्तुत किया है—

श्री मूलसंघे महिमा निलो, अने देवेन्द्र कीरति सूरि राय।
श्री विद्यानंदि वसुधां निलो, नरपति सेवे पाय॥
तेह वारें उदयो गति, लक्ष्मीचन्द्र जेण आण।
श्री मल्लिभूषण महिमा घणो, नमे ग्यासुदीन सुलतान॥
तेह गुरुचरणकमलनमी, अनें वेल्लि रची छे रसाल।
श्री वीरचन्द्र सूरीवर कहें, गांता पुण्य अपार॥

जिनआन्तरा—इस कृतिमें चतुर्विंशति तीर्थंकरोंके मध्यमें होनेवाले अन्तर-कालका इसमें वर्णन किया गया है। काव्यसौष्ठवकी दृष्टिसे यह रचना सामान्य है। उदाहरण निम्न प्रकार है—

श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरु गच्छपती, तिस पाटें सार शृंगार।
श्री वीरचन्द्र मोरें कह्या, जिन आंतरा उदार॥

सम्बोधसत्ताणु भावना—यह एक उपदेशात्मक कृति है, इसमें ५७ पद्य हैं। सभी दोहे भावपूर्ण हैं। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ दोहे प्रस्तुत हैं—

धर्म धर्म नर उच्चरे, न धरे धर्मनो मर्म।
धर्म कारन प्राणि हणे, न गणे निष्ठुर कर्म ॥३॥
× × × ×
धर्म धर्म सहु को कहो, गहे धर्म नूंनाम।
रास राम पोपट पढ़े, बूझे नते निज राम ॥६॥
× × × ×
दया बीज विणजे क्रिया, ते सघली अप्रमाण।
शीतल संजल जल भर्या, जेम जण्डाल न वाण ॥१९॥
× × × ×
नीचनी संगति परिहरो, धारो उत्तम आचार।
दुर्ल्लभ भव मानव तणो, जीव तूं आलिम हार ॥४०॥

नेमिकुमार रास—इस कृतिमें नेमिनाथकी वैवाहिक घटनाका वर्णन है। डा० कस्तूरचन्द काशलीवालकी सूचनाके अनुसार इसकी पाण्डुलिपि उदयपुरके अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सुरक्षित है। इम ग्रन्थकी रचना वि० सं० १६७ में समाप्त हुई है। स्वयं आचार्यने लिखा है—

संवत सोलताहोत्तरि, श्रावण सुदि गुरूवार।
दशमी को दिन संपडो, रास रच्चो मनोहार ॥

चित्त निरोधकथा, वाहुबेलि और सीमन्धर स्वामीगीत छोटी रचनाएँ हैं। इनमें नामानुसार विषयोंका अंकन हैं। चित्तविरोध कथामें चित्तको वश करनेका उपदेश दिया गया है। इस कृतिमें केवल १५ पद्य हैं।

वीरचन्द्रकी उपलब्ध रचनाओंमें सभी रचनाएँ गुजराती मिश्रित राजस्थानीमें है। विषयसे अधिक महत्त्व भाषाका है। १६वीं शताब्दीकी हिन्दी भाषाका रूप अवगत करनेंके लिये ये सभी रचनाएँ उपादेय हैं।

सुमतिकीर्ति

सुमतिकीर्ति नामके दो भट्टारकोंका उल्लेख मिलता है। एक भट्टारक शुभचन्द्रके शिष्य और दूसरे भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य हैं। 'उपदेशरत्नमाला'में भट्टारक शुभचन्द्रके शिष्यके रूपमें सुमतिकीर्तिका निर्देश आया है—

भट्टारकश्रीशुभचन्द्रसूरिस्तत्पट्टपंकेरुहतिग्मरश्मिः ।
त्रैविद्यवंद्यः सकलप्रसिद्धो वादीभसिंहो जयतात् धरिण्यां ॥

पट्टे तस्य प्रीणितप्राणिवर्गः शांतो दांतः शीलशाली सुधीमान् ।
जीयात्सूरिः श्रीसुमत्यादिकीर्तिः गच्छाधीशः कमुकान्तिकलावान् ।।

सकलभूषणने वि० सं० १६२७ में उपदेशरत्नमालाको समाप्त किया था। इन्होंने अपने आपको सुमतिकीर्तिका गुरुभाई होना स्वीकार किया है। ब्रह्म कामराजने अपने 'जयकुमारपुराण'में भी सुमतिकीर्तिको भट्टारक शुभचन्द्रका शिष्य लिखा है—

तेभ्यः श्रीशुभचन्द्रः श्रीसुमतिकीर्तिसंयमी ।
गुणकीर्त्याह्वया आसन् बलात्कारगणेश्वराः ।।

वि० सं० १७२२ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वारा लिखित 'प्रद्युम्नप्रबंध'में भी सुमतिकीर्तिको शुभचन्द्रका शिष्य कहा गया है।

दूसरे सुमतिकीर्तिका उल्लेख भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्यके रूपमें आता है। इन ज्ञानभूषणने कर्मकाण्डकी टीका सुमतिकीर्तिकी सहायतासे लिखी है—

तदन्वये दयांभोधि ज्ञानभूषो गुणाकरः ।
टीकां हि कर्मकांडस्य चक्रे सुमतिकीर्त्तियुक् ।।

ये सुमतिकीर्ति नन्दिसंघ बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छके भट्टारक वीरचन्दके शिष्य थे। इनके पूर्व इस परम्परामें लक्ष्मीभूषण, मल्लिभूषण एवं विद्यानन्दि हो चुके हैं। सुमतिकीर्तिने प्राकृतपंचसंग्रहकी टीकाको वि० सं० १६२० भाद्रपद शुक्ला दशमीके दिन ईडरके ऋषभदेव जिनालयमें लिखा है[1]। इस टीकाका संशोधन ज्ञानभूषण भट्टारकने किया है।

यहाँ जिन सुमतिकीर्तिका निरूपण किया जा रहा है, वे भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिकी परम्परामें होनेवाले भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य हैं। सम्भवतः ये सुमतिकीर्ति किसी भट्टारक गद्दी पर आसीन नहीं हुए हैं। अपितु विरक्त साधुके रूपमें विचरण करते रहे हैं। भट्टारक-विरुदावलीमें बताया गया है—

"अनेकदेशनरनाथनरपतितुरगपतिगजपतियवनाधीशसभामध्यसंप्राप्तसन्मान श्रीनेमिनाथतीर्थंकरकल्याणिकपवित्र श्रीऊर्जयंतशत्रुंजय-तुंगीगिरि-चूलगिर्यादि-सिद्धक्षेत्रयात्रापवित्रीकृतचरणानां.....................सकलसिद्धांतवेदिनिर्ग्रंथाचार्य

---

१. श्रीमद्विक्रमभूपतेः परिमिते वर्षे शते षोडशे। विंशत्यग्रगते (१६२०) सिते शुभतरे भाद्रे दशम्यां तिथौ ।। ईलावे वृषभालये वृषकरे सुश्रावके धार्मिके। सूरिश्रीसुमतीशकीर्तिविहिता टीका सदा नंदतु ।।—प्राकृतपंचसंग्रहकी टीकाका अन्तिम पद्य।

वर्यशिष्य श्रीसुमतिकीर्ति-स्वदेशविख्यातशुभमूर्तिश्रीरत्नभूषणप्रमुखसूरिपाठक-साधुसंसेवितचरणसरोजानां.......भट्टारकश्रीज्ञानभूषणगुरुणाम्[1]" ॥

स्पष्ट है कि सुमतिकीर्ति सिद्धान्तवेदि एवं निर्ग्रन्थाचार्य थे। इनका समय १६वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और १७वीं शताब्दीका मध्यभाग है।

रचनाएँ

भट्टारक सुमतिकीर्तिने 'कर्मकाण्ड' और 'प्राकृतपञ्चसंग्रह' जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी टीका लिखी है। इन टीकाओंसे इनके सिद्धान्तविषयक पाण्डित्यका परिज्ञान होता है। ये आचार, दर्शन, कर्मसिद्धान्त, अध्यात्म एवं काव्यके निष्णात विद्वान थे।

संस्कृत रचनाएँ

१. कर्मकाण्डटीका
२. पञ्चसंग्रहटीका

हिन्दी रचनाएँ

१. धर्मपरीक्षारास
२. वसन्तविद्याविलास
३. जिह्वादन्तसंवाद
४. जिनवरस्वामीविनती
५. शीतलनाथगीत
६. फुटकरपद्य

१. कर्मकाण्ड-टीका—आचार्य नेमिचन्द्रने प्राकृतमें कर्मकाण्डकी रचना की है। इस ग्रन्थकी संस्कृतटीका भट्टारक ज्ञानभूषणकी सहायतासे सुमतिकीर्ति-ने की है। टीकाके आरम्भमें लिखा है—

महावीरं प्रणाम्यादौ विश्वतत्त्व-प्रकाशकं।
भाष्यं हि कर्मकाण्डस्य वक्ष्ये भव्यहितंकरं॥
विद्यानंदि-सुमल्ल्यादिभूष-लक्ष्मीन्दु-सद्गुरून्।
वीरेन्दं ज्ञानभूषं हि वंदे सुमतिकीर्तियुक्॥

टीका द्वारा विषयका स्पष्टीकरण तो होता ही है, साथ ही कई स्थानों पर नये विषयोंका समावेश भी पाया जाता है।

२. प्राकृतपंचसंग्रहटीका—आचार्य अमितगति द्वारा वि० सं० १०७३ में प्राकृत-पंचसंग्रहका संशोधन कर संस्कृत-पचसंग्रह ग्रन्थका गठन किया गया है।

१. भट्टारकसम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक ४८६।

यों यह ग्रन्थ पर्याप्त प्राचीन है, इसमें पाँच प्रकरण हैं और इस पर भाष्य एवं संस्कृतटीकाएँ लिखी गयी हैं। इस पंचसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार भट्टारक सुमतिकीर्ति हैं। टीकाके आरम्भमें गद्यभाग है और अन्तमें पद्योंमें प्रशस्ति दी गयी है। प्रशस्तिके पद्य निम्नप्रकार हैं—

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघो वरो बलात्कारगणप्रसिद्धः।
श्रीकुंदकुंदो वरसूरिवर्यो बभौ बुधो भारतिगच्छसारे॥
तदन्वये देवमुनीन्द्रवंद्यः श्रीपद्मनन्दी जिनधर्म्मनंदी।
ततो हि जातो दिविजेन्द्रकीर्तिविद्या[दि]नंदी वरधर्म्ममूर्तिः॥
तदीयपट्टे नृपमाननीयो मल्लयादिभूषो मुनिवंदनीयः।
ततो हि जातो वरधर्म्मधर्त्ता लक्ष्म्यादिचन्द्रो बहुशिष्यकर्ता॥
पंचाचाररतो नित्यं सूरिसद्गुणधारकः।
लक्ष्मीचंद्रगुरुस्वामी भट्टारकशिरोमणिः॥
दुर्वारदुर्वादिकपर्वतानां वज्रायमानो वरवीरचन्द्रः।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराजः॥

३. **धर्मपरीक्षारास**—यह हिन्दी रचना है। इसका उल्लेख पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने भी अपने प्रशस्ति संग्रहकी भूमिकामें किया है। इस रासका रचनाकाल वि० सं० १६२५ है। बताया है—

संवत् सोल पंचवीसमे, मार्गसिर सुदि बीज वार।
रास रुड़ो रलियामणो, पूर्ण किधो छे सार॥

इस धर्मपरीक्षारासमें प्रसिद्ध ग्रन्थ धर्मपरीक्षाका सारभाग निबद्ध किया गया है।

४. **वसन्तविलास**—तीर्थंकर नेमिनाथका विवाह-सन्दर्भ अत्यन्तमर्म स्पर्शी घटना है। इस घटनाको आधार मानकर अनेक जैनकवियोंने काव्योंकी रचना की है। प्रस्तुत वसन्तविलासमें ३२ छन्द हैं और उक्त सन्दर्भको लेकर रासरूपमें इसकी रचना की गयी है। भाषा गुजराती प्रभावित राजस्थानी है।

५. **जिह्वादन्तसंवाद**—इस लघुकाय रचनामें ११ पद्य हैं। जिह्वा और दाँतोंके बीच होनेवाले विवादका काव्यात्मक वर्णन किया है। भाषा सरल और गुजराती प्रभावित राजस्थानी है।

६. **जिनवरस्वामीविनती**—इस स्तवनमें २३ पद्य हैं। और जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति, वर्णित है। कविने बताया है कि इन्द्रियाएँ उसीकी सफल हैं,

जो प्रभु स्तुति, पूजन, वन्दन और नामस्मरण आदि करता है। इन्द्रियोंकी सार्थकता प्रभुभक्तिमें ही है। कविने लिखा है—

धन्य हाथ ते नर तणा, जे जिन पूजन्त।
नेत्र सफल स्वामी हवां, जे तुम निरखन्त॥

शीतलनाथ गीतमें शीतलनाथ तीर्थंकरकी स्तुतिकी गयी है। फुटकर पदोंमें संसार, शरीर और भोगोंके चित्र अंकित किये गये हैं। इनकी एक अन्य गणित विषयक रचनाकी सूचना पण्डित परमानन्दजीने दी है। यह रचना उत्तर-छत्तीसी नामकी है। डॉ० कस्तूरचन्द काशलीवालकी सूचनाके आधार पर इस कविकी हिन्दी और संस्कृतकी अन्य रचनाएँ भी होनी चाहिये। सुमतिकीर्तिने ग्राम और नगरोंमें विहारकर धर्मविमुख जनताको धर्मकी ओर अग्रसर किया है और मिथ्याडम्बरमें फंसे हुए व्यक्तियोंका उद्धार किया है। आत्मसाधनामें संलग्न होनेके हेतु इन्होंने जनजागरणका अद्भुत कार्य किया है। अतएव धर्म-प्रचार और साहित्यसेवाकी दृष्टिसे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भट्टारक जिनचन्द्र

दिल्लीकी भट्टारकगद्दीके आचार्योंमें जिनचन्द्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यों तो जिनचन्द्र नामके तीन आचार्य हुए हैं। प्रथम गुणचन्द्रके शिष्य जिन-चन्द्र, द्वितीय मेरुचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्र और तृतोय शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्र-पट्टावलीमें बताया गया है—

"सं० १५०७ जेष्ठ वदि ५ भ० जिनचन्द्रजी गृहस्थवर्ष १२ दिक्षावर्ष १५ पट्टवर्ष ६४ मास ८ दिवस १७ अंतर दिवस १० सर्व वर्ष ९१ मास ८ दिवस २७ बघेरवाल जाति पट्ट दिल्ली[1]।

"इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि वि० संवत् १५०७ ज्येष्ठ कृष्णा पंचमीको इनका पट्टाभिषेक बड़ी धूम-धामके साथ हुआ था। १२ वर्षकी अवस्थामें इन्होंने घर छोड़कर दीक्षा ग्रहण की और १५ वर्षों तक शास्त्रोंका अध्ययन किया। ६४ वर्ष तक ये भट्टारक पदपर आसीन रहे। इनकी आयु ९१ वर्ष आठ माह, सत्ताईस दिन थी। ये बघेरबाल जातिके थे। जिनचन्द्रने राज-स्थान, उत्तरप्रदेश, पंजाब एवं दिल्लीके विभिन्न प्रदेशोंमें पर्याप्त विहार किया और जनताको धर्मोपदेश दिया। प्राचोन ग्रन्थोंकी नयो-नयी प्रतियाँ लिखवाकर मन्दिरोंमें विराजमान करायीं तथा नये-नये ग्रन्थोंका स्वयं निर्माण भी किया। पुरातनमन्दिरोंका जीर्णोद्धार एवं नये मन्दिरोंकी प्रति-

१. भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक २४८।

ष्ठाएँ कराकर जैनसंस्कृति और धर्मका पर्याप्त प्रचार किया। वि० सं० १५४८ में जीवराज पापड़ीवालने जो प्रतिष्ठा करायी थी, उसका आचार्यत्व आपके तत्त्वाधानमें ही सम्पन्न हुआ। 'पउमचरिय'की प्रशस्ति एवं दर्शनयन्त्र पर उत्कीर्णित अभिलेखसे यह प्रमाणित होता है कि जिनचन्द्रने १६वीं शताब्दीमें जैनधर्मके जागरणके लिये अनेक कार्य किये हैं। ग्रन्थलेखन, प्रतिलिपिसंपादन धर्मोपदेश, मूर्तिप्रतिष्ठापन आदि कार्यों द्वारा इन्होंने धर्म और संस्कृतिका उत्थान किया है। संवत् १५१२की आषाढ़कृष्णा द्वादशीको नेमिनाथचरितकी एक प्रतिलिपि करायी गयी थी, जिसे इन्हें नयनन्दिमुनिने घोघा बन्दरगाहमें समर्पित[1]की थी।

वि० सं० १५१७की मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमीमें झूंजणपुरमें 'तिलोयपण्णत्ति' की एक प्रति लिखायी[2] गयी। इसी प्रकार वि० सं० १५२१की ज्येष्ठशुक्ला एकादशीको ग्वालियरमें 'पउमचरियं'की एक प्रति लिखायी गयी, जो नेत्रि-नन्दिमुनिको अर्पण की गयी[3] थी। वि० सं० १५३६७ वैशाख शुक्ला दशमीको जिनचन्द्रकी आम्नायमें विद्यानन्दिने एक महावीरस्वामीकी मूर्ति स्थापित की थी। संवत् १५४३की मार्गशीर्षकृष्णा त्रयोदशीको जिनचन्द्रने सम्यग्दर्शनयन्त्र स्थापित किया तथा वि० सं० १५४५को वैशाखशुक्ला दशमीको ऋषभदेवकी एकमूर्त्ति स्थापित की। निश्चयतः जिनचन्द्र अपने समयके प्रसिद्ध विद्वान् भट्टारक थे।

रचनाएँ—आचार्य जिनचन्द्रने मौलिकग्रन्थलेखनके साथ प्राचीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार करायीं। उन्होंने इन लिपियोंका उपयोग स्वयं किया तथा अन्य मुनियों और त्यागियोंको पठनार्थ प्रतिलिपियाँ अर्पित कीं। इनके महत्त्वके सम्बन्धमें पण्डित मेधावीने वि० सं० १५४१में लिखित धर्मसंग्रह-श्रावकाचारमें इनकी पर्याप्त प्रशंसा की है। लिखा हैं—

> तस्मान्नीरनिधेरिवेन्दुरभवच्छ्रीमज्जिनेन्दुर्गणी
> स्याद्वादाम्बरमण्डले कृतगतिर्दिग्वाससां मण्डनः।
> यो व्याख्यानमरीचिभिः कुवलये प्रल्हादनं चक्रिवा—
> न्सद्वृत्तः सकलः कलङ्कविकलः षट्कर्मनिष्णातधीः[4] ॥

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक २५१।

२. वही, लेखांक २५४।

३. वही, लेखांक २५५।

४. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, प्रकाशक बाबू सूरजभानु वकील, देववंद (सहारनपुर) सन् १९१०, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य १२।

अर्थात् जिसप्रकार जलदसे चन्दमा समुद्भूत होता है उसी प्रकार शुभ-चन्द्रमुनिराजसे जिनचन्द्र उत्पन्न हुए। ये स्याद्वादरूपी गगनमंडलमें विहार करनेवाले मुनिराजोंके अलंकारस्वरूप, सदाचारयुक्त, भव्यजनोंके बांधव रूप एवं समस्त कला और शास्त्रोंके विज्ञ हुए। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. सिद्धान्तसार
२. जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र

१. **सिद्धान्तसार**—सिद्धान्तसारमें ७९ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ पर ज्ञान-भूषणकी संस्कृतटीका भी है। श्री पण्डित नाथूराम प्रेमीने सिद्धान्तसारादिकी भूमिकामें शुभचन्द्राचार्यके शिष्य और पण्डित मेधावीके गुरु जिनचन्द्रको ही इस कृतिका लेखक माना है। यों तो उन्होंने भास्करनन्दिके गुरु जिनचन्द्रके भी लेखक होनेकी सम्भावना व्यक्त की है, पर उनका अभिमत मेधावीके गुरु जिन-चन्द्रभट्टारकको ही इसका रचयिता माननेकी ओर अधिक है। सिद्धान्तशास्त्रके संस्कृतटीकाकार ज्ञानभूषणका समय वि० सं० १५३४-१५६१ है। इस प्रकार टीकाकार और मूलग्रन्थ रचयिता समसामयिक सिद्ध होते हैं।

सिद्धान्तसारमें वर्णित विषयोंका अंकन प्रथमगाथामें ही कर दिया गया है। बताया है—

> जीवगुणस्थानसंज्ञापर्याप्तिप्राणमार्गणानवोनान्।
> सिद्धान्तसारमिदानीं भणामि सिद्धान् नमस्कृत्य॥

अर्थात् जीवसमास, गुणस्थान, संज्ञा, पर्याप्ति, प्राण और मार्गणाओंका इसमें वर्णन किया गया है। १४ गुणस्थानोंमें चतुर्दश मार्गणाओंका सुन्दर विवेचन आया है। इस प्रकार मार्गणाओंमें जीवसमासोंकी संख्या भी दिखलायी गयी है। ७८वीं गाथामें लेखकका नाम अंकित है—

> पवयणपमाणलक्खणछंदालंकाररहियहियएण।
> जिणइंदेण पउत्तं इणमागमभत्तिजुत्तेण॥

२. **जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र**—संस्कृत भाषामें २४ तीर्थंकरोंकी स्तुतियाँ निबद्ध की गयी हैं। यह स्तोत्र जयपुरके विजयराम पाण्ड्याके शास्त्रभण्डारके एक गुटकेमें संग्रहीत है।

जिनदेवके शिष्योंमें रत्नकीर्ति, सिंहकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जगतकीर्ति, चारु-कीर्ति, जयकीर्ति, भीमसेन और पण्डित मेधावीके नाम उल्लेखनीय हैं। रत्न-कीर्तिने वि० सं० १५७२में नागौरमें भट्टारक गद्दीकी स्थापना की। सिंहकीर्तिने

अटेरमें भट्टारक गद्दी स्थापित की। इस प्रकार भट्टारक जिनचन्द्रने अपने समयमें साहित्य, पुरातत्त्व एवं धर्मकी सेवा की।

भट्टारक प्रभाचन्द्र

प्रभाचन्द्र नामके चार भट्टारकोंका उल्लेख मिलता है। प्रथम प्रभाचन्द्र बालचन्द्रके शिष्य थे, जो सेनगणके भट्टारक थे तथा जिनका समय १२वीं शताब्दी है। द्वितीय प्रभाचन्द्र भट्टारक रत्नकीर्तिके शिष्य थे, जो गुजरातकी बलात्कारगण उत्तर शाखाके भट्टारक थे। चमत्कारी कार्य करनेके रूपमें इनका यश व्याप्त था। एक बार इन्होंने अमावस्याको पूर्णिमा बनाकर प्रदर्शित किया था। देहलीमें राघव चेतनमें जो विवाद हुआ था, उसमें इन्होंने विजय प्राप्त की थी। अपनी मन्त्रशक्तिके कारण ये पालकी सहित आकाशमें उड़ गये थे। इनकी मंत्रशक्तिके प्रभावसे बादशाह फिरोजशाहकी साम्राज्ञी इतनी प्रभावित हुई कि उन्हें उसको राजमहलमें दर्शन देनेके लिये आना पड़ा। तृतीय प्रभाचन्द्र भट्टारक जिनचन्द्रके शिष्य थे और चतुर्थ प्रभाचन्द्र भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे। यहाँ जिनचन्द्रके शिष्य प्रभाचन्द्रके व्यक्तित्वपर प्रकाश डाला जाता है। इनके सम्बन्धमें पट्टावलीमें बतलाया है—

"संवत् १५७१ फाल्गुनवदी २ भ० प्रभाचंद्रजी गृहस्थवर्ष १५ दिक्षावर्ष ३५ पट्टवर्ष ९ मास ४ दिवस २५ अंतरदिवस ८ सर्ववर्ष ५९ मास ५ दिवस २ एकै बार गछ दोय हुआ चीतोड अर नागोरका सं० १५७२का अष्वाल[1]।"

प्रभाचन्द्र खण्डेलवाल जातिके श्रावक थे। ये १५ वर्षों तक गृहस्थ रहे। एक बार भट्टारक जिनचन्द्र विहार कर रहे थे कि उनकी दृष्टि प्रभाचन्द्र पर पड़ी। प्रभाचन्द्रकी प्रतिभासे जिनचन्द्र प्रभावित हुए और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। यह घटना वि० सं० १५५१ की होगी। २० वर्ष तक अपने पास रखकर विद्याध्ययन कराया और वाद-विवादमें पटु बना दिया। वि० सं० १५७१ की फाल्गुनकृष्णा द्वितीयाको दिल्लीमें धूम-धामसे इनका पट्टाभिषेक हुआ। पट्टावलीके अनुसार ये १५ वर्ष तक भट्टारकपदपर रहे। भट्टारक बननेके अनन्तर इन्होंने अपनी गद्दीको दिल्लीसे चित्तौड़में स्थानान्तरित कर लिया। स्थानान्तरणका समय वि० सं० १५७२ है। इन्होंने अपने समयमें मण्डलाचार्यों-की नियुक्ति की। धर्मचन्द्र पहले मण्डलाचार्य हैं। वि० सं० १५९३ में धर्मचन्द्र मण्डलाचार्य द्वारा कितनी ही मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुई हैं। इन्होंने आँवा नगरमें

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक २६५।

अपने तीन गुरुओंकी निषधिकाएँ स्थापित कीं, जिससे यह ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रका इनके पूर्व ही स्वर्गवास हो चुका था। एक लेखप्रशस्तिमें प्रभाचन्द्रके पूर्वाचलदिनमणि, षट्तर्कतार्किकचूड़ामणि, वादिमदकुद्दल, अबुधप्रतिबोधक आदि विशेषण पाये जाते हैं, जिससे इनकी विद्वत्ता, तर्कशक्तिका परिचय मिलता है। प्रभाचन्द्रने अपने जीवनकालमें ग्रन्थसंरक्षणका सबसे बड़ा कार्य किया है। इन्होंने प्रमुख ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ करायीं और ग्रन्थभण्डारमें विराजमान कीं। वि० सं० १५७५ मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थीको पार्वतीबाईने पुष्पदन्तकृत 'जसहरचरिउ' की प्रतिलिपि करायो और भट्टारक प्रभाचन्द्रको भेंट दी। वि० सं० १५८९ में टोंकनगरमें विहार हुआ और वहाँ पण्डित नरसेन कृत 'सिद्धचक्रकथा' की प्रतिलिपि करायी और उसे बाई पद्मश्रीको स्वाध्यायके लिये भेंट किया। सं० १५८२ में घटयालीपुरमें श्रीचन्द्रकृत रत्नकरण्डकी प्रतिलिपि करायी गयी और उसे ग्रन्थागारमें विराजमान किया गया। संवत् १५८३ की आसाढ़ शुक्ला तृतीयाके दिन इनके प्रमुख शिष्य मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रके उपदेशसे यशःकीर्ति विरचित 'चन्दप्पह चरिउ' की प्रतिलिपि की गयी, जो जयपुरके आमेर-शास्त्रभण्डारमें संग्रहीत है। वि० सं० १५८४ में महाकवि धनपालकृत 'बाहुवलि-चरित' की बघेरवालजातिमें उत्पन्न शाह माघो द्वारा प्रतिलिपि करायी गयी और प्रभाचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी रत्नकीर्तिको स्वाध्यायके लिये भेंटमें दी गयी। निस्संदेह आचार्य प्रभाचन्द्रने विभिन्न स्थानोंमें विहार कर अनेक जीर्णग्रन्थोंका उद्धार किया और उनकी प्रतियाँ विभिन्न शास्त्रभण्डारोंमें संग्रहीत को गयीं।

प्रभाचन्द्रने ग्रन्थ-जीर्णोद्धारके साथ नवीन मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा करानेमें भी भी अपूर्व सहयोग प्रदान किया। वि० सं० १५७१ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीयाको षोडशकारणयन्त्र एवं वि० सं० १५७३ की फाल्गुन कृष्णा तृतीयाको दशलक्षणयन्त्र प्रतिष्ठित किया। सं० १५७८ की फाल्गुन शुक्ला नवमीके दिन तीन चौबीसीकी मूर्ति प्रतिष्ठित करायी और इस तरह संवत् १५८३ में भी चौबीसीकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी।

वि० सं० १५९३ में मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रने आँवा नगरमें होनेवाले बड़े प्रतिष्ठामहोत्सवका नेतृत्व किया और उसमें शान्तिनाथस्वामीकी एक विशाल एवं मनोज्ञ मूर्ति प्रतिष्ठित की। इस प्रकार प्रभाचन्द्रने साहित्य, पुरातत्त्व, ग्रन्थोद्धार एवं जनसाधारणमें धर्मके प्रति अभिरुचि उत्पन्न करनेके कार्य सम्पन्न किये।

भट्टारक जिनसेन द्वितीय

जिनसेननामके दो भट्टारकोंका निर्देश मिलता है। एक सोमसेनके पट्टपर आसीन होनेवाले जिनसेन हैं। इन्होंने शक संवत् १५७७ की मार्गशीर्ष शुक्ला दशमीको पार्श्वनाथकी मूर्ति प्रतिष्ठित की थी और शकसंवत् १५८० में पद्मावतीकी मूर्ति। यह प्रतिष्ठा कारञ्जामें सम्पन्न हुई थी। शक संवत् १५८१ की फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशीको चवरिया माणिकने रत्नाकर विरचित समवशरणपाठकी एक प्रति आपको समर्पित की थी। कहा जाता है कि अचलपुरमें आपको एकबार सर्पदंश हुआ और दूसरी बार धोखेसे भोजनमें बचनाग खिला दिया गया, पर दोनों ही बार विषापहार स्तोत्रके पाठसे आप नीरोग हो गये। जिनसेन हूंमण जातिके रायमलशाहके पुत्र थे। इनकी जन्म-भूमि खम्भात थी। इन्होंने विद्याभ्यास पद्मनंदिके पास किया था। और कारञ्जा में पट्टाभिषेक हुआ था। गिरनार, सम्मेदशिखर, माणिक्यस्वामी आदिकी यात्राएँ इन्होंने की थीं। इनके द्वारा सोयराशाह, निम्बाशाह, माधवशाह, गनवाशाह और कान्हाशाह इन पाँच व्यक्तियोंको संघपतिकी उपाधि प्राप्त हुई थी। ये मयूरपिच्छ धारण करते थे। पूरनमलने इनकी स्तुति की है—

मूलसंघ कुलतिलक गछ पुष्कर मे सोहे।
चारित्र गणमे मुख्य सेनगण महिमा मोहे ॥
भट्टारक जिनसेन गुरु मोरपींछ हस्ते धरे।
पूरनमल यों कहे भव्यलोक तारण तरण ॥

द्वितीय जिनसेन भट्टारक यशःकीर्तिके शिष्य हैं। इनकी एक कृति नेमिनाथ-रास उपलब्ध हुई है, जिसकी रचना वि० सं० १५५८ माघ शुक्ला पंचमी गुरुवार सिद्धयोगमें जवाच्छ नगरमें सम्पन्न हुई है। ग्रन्थके अन्तमें अपने गुरु एवं रचनाकालका निर्देश किया है—

श्री यशकिरति सूरीनि सूरीश्वर कहीइ, महीपलि महिमा पार न लही रे।
तात रूपवर वरसि नित वाणी, सरस सकोमल अमीय सयाणी रे ॥
तास चलणे चित लाइउ रे, गाइउ राइ अपूरव रास रे।
जिनसेन युगति करी दे, तेह ना वयण तणाउ वली वास रे ॥९१॥

× × ×

चंद्र वाण संवच्छर कीजि, पंचाणु पुण्य पासि दीजि।
माघ सुदि पंचमी भणीजि, गुरुवारि सिद्धयोग ठवीजिरे ॥
जावछ नयर जगि जाणीइ रे, तीर्थंकर बली कहींइ सार रे।
शांतिनाथ तिन्हां सोलमु रे। कस्यु राम तेह भवण मझार रे ॥९३॥

स्पष्ट है कि इन जिनसेनका समय वि० सं० की १६वीं शताब्दी है। इनका एक मात्र कृति नेमिनाथरास उपलब्ध है। इसमें तीर्थंकरनेमिनाथके जीवनका चित्रण किया गया है। जन्म, वरात, विवाहकंकणको तोड़कर वैराग्य ग्रहण करना, तपश्चरण, कैवल्यप्राप्ति एवं निर्वाणलाभ इन सभी घटनाओंका संक्षेपमें वर्णन है। यह रास प्रबन्धकाव्य है और जीवनकी समस्त प्रमुख घटनाएँ इसमें चित्रित हैं। समस्त रचनामें ९३ पद्य हैं। इसकी प्रति जयपुरके दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तेरह पंथी शास्त्रभण्डारमें संग्रहीत है। प्रतिका लेखनकाल वि० सं० १५१६ पौषशुक्ला पूर्णिमा है। रासकी भाषा राजस्थानी है जिसपर गुजरातीका प्रभाव है।

ब्रह्म जीवन्धर

भट्टारक ब्रह्म जीवन्धर भट्टारक सोमकीर्तिके प्रशिष्य एवं यशःकीर्तिके शिष्य थे। भट्टारक सोमकीर्ति काष्ठासंघकी नन्दितट-शाखाके गुरु थे तथा ये १०वीं शताब्दीके भट्टारक रामसेनकी परम्परामें हुए हैं। सोमकीर्तिके अनेक शिष्योंमें यशःकीर्ति, वीरसेन और यशोधर प्रसिद्ध हुए हैं। इन्हीं यशःकीर्तिके शिष्य ब्रह्म जीवन्धर हैं। इन्होंने वि० सं० १५९० वैशाख शुक्ला त्रयोदशी सोमवारके दिन भट्टारक विनयचन्द्र 'स्वोपज्ञचूनड़ीटीका' की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयार्थ की थी। अतः इनका समय वि० सं० की १६वीं शताब्दी है। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्राप्त हैं—

रचनाएँ

१. गुणस्थानवेलि
२. खटोलारास
३. झुबुंकगीत
४. श्रुतजयमाला
५. नेमिचरित्त
६. सतीगीत
७. तीनचौबीसोस्तुति
८. दर्शनस्तोत्र
९. ज्ञानविरागविनती
१०. आलोचना
११. बीसतीर्थंकरजयमाला
१२. चौबोसतीर्थंकरजयमाला

गुणस्थानवेलि—आत्मविकासके १४ सोपान बतलाये गये हैं। ये गुणस्थान मोह और योगके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्वगुणस्थानमें दर्शनमोहके उदयसे जीवकी दृष्टि विपरीत होती है। और स्वाद कटुक होता है। वस्तुतत्त्व उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होता है। जीव मिथ्यात्वगुणस्थानमें अनन्त कालतक निवास करता है। मिथ्यात्वके पाँच भेद है—१. विपरीत, २. एकान्त, ३. विनय, ४. संशय और ५. अज्ञान। मिथ्यात्वके इन भेदोंके कारण जीवके परिणामोंमें अस्थिरता बनी रहती है। उसे हितकर मार्ग नहीं सूझता है। इसी कारण वह संसारमें अनेक पर्यायोंमें परिभ्रमण करता रहता है। कविने आदितीर्थंकरके समवशरणमें भरतचक्रवर्ती द्वारा गुणस्थानोंके सम्बन्धमें किये गये प्रश्नके उत्तरस्वरूप, गुणस्थानोंका स्वरूप प्रतिपादित किया है। उत्थानिका-में बताया है—

भरत नरेसरु आविया भाविया सब परिवारे जी
रिसहेयर पाय वंदीए, पूजीए अट्ठपयारे जो
अट्ठपयारीय रचीय पूजा भरत राजा पूछए।
गुणठाण चौद विचार सारा भणहि जिण सुणि वच्छए।
मिथ्यात नामैं गुणहठाणैं वसहि कालु अनंतए।
मिथ्यात पंचहु नित्य पूरे भमहि चिहुगति जंतुए॥

दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जो तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होते ही आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होती है और कषायोंका कालुष्य उत्तरोत्तर क्षीण होने लगता है। आत्मनिरीक्षण करनेसे चारित्र और ज्ञानकी भी वृद्धि होती है। इस प्रकार चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम आदि गुणस्थानोंका क्रमशः आरोहण करता हुआ जीव अपनेको निर्मल बनाता है। इस प्रकार इस कृतिमें स्वात्मोपलब्धि-का चित्रण किया गया है।

२. **खटोला रास**—इस रासमें १२ पद्य हैं और खटोलेका रूपक देकर आत्म-तत्त्वका विश्लेषण किया है। यह आत्मसम्बोधक रूपककाव्य है। खटोलेमें चार पाये होते हैं, दो पाटी और दो सेरुवे। आत्मतत्त्वरूपी खटोला रत्नत्रयरूपी बानसे बुना हुआ है। उसपर शुद्धभावरूपी सेजको संयमश्रीने बिछाया है। उसपर बैठा हुआ आत्माराम परमानन्दकी नींद लेता है। मुक्ति-कान्ता पंखा झलती है और सुर-नरका समूह सेवा करता है। वहाँ आत्मप्रभुकी अनन्त-चतुष्टयरूप स्वात्मसम्पत्ति या सम्पदाका उपभोग करता है।

नेमिचरितरास—इस रासकाव्यमें ११५ पद्य हैं। बसन्तऋतुके वर्णनके

व्याजसे कविने २२ वें तीर्थंकर नेमिजिनका चरित अंकित किया है। वसन्त-वर्णनमें कविने पुरानी रूढ़िके अनुसार अनेक वृक्षों, फलों, पुष्पोंके नामोंकी गणना की है। लिखा है—

वसंत ऋतु प्रभु आइयउ, फूली फली बनराइ।
फूली करुणी केतकी फूली, मउल सिरि जाइ ॥१६॥
फूली पाडलिने वाली, फूली लाल गुलाल।
राय वेलि फूली भली, जाकी वासु रसाल ॥२७॥
फूलिउ मरुवो मोगरो, अरु फूले मचकुंद।
फूली कणियर सेवती, फूले सरि अरविंद ॥२८॥
फूले कदंबक चंपकी, अरु फूली कचनार।
जुही चमेली फूलसी, फूली वन कल्हार ॥२९॥

वसन्तोत्सव मनानेके लिये द्वारावतीके सभी नर-नारी-जन उल्लाससे भर रहे हैं और वे टोलियोंके रूपमें वनकी ओर जा रहे हैं। सुन्दर गीतोंकी ध्वनिसे मार्ग वाचाल बना हुआ है। वनके पशु-पक्षी भी कलरव कर रहे हैं। राजकुलमें बड़ी चहल-पहल है। श्रीकृष्णकी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पट्टमहिषियाँ सज-धजकर केशर, कपूर, मिश्रित बावनचन्दनके घोलको तैयारकर साथमें ले जा रही हैं। नेमिजिन भी भाभियोंकी प्रेरणासे वसन्तोत्सवके लिये तैयार हो रहे हैं। वनमें पहुँचकर सभीने वसन्तोत्सव सम्पन्न किया। वसन्तोत्सवसे वापस लौटनेपर कविने प्रसिद्ध घटनाकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। एक दिन राज-सभामें नेमिजिनके बलका कथन हो रहा था। बलदेवने कहा कि नेमिजिनसे बढ़कर कोई शक्तिशाली नहीं है। इस कथनको सुनकर श्रीकृष्णको अभिमान उत्पन्न हो गया और उन्होंने नेमिजिनसे कहा कि यदि आप अधिक बलशाली हैं, तो मल्लयुद्ध कर देख लिजिये। तब नेमिजिनने उत्तर दिया—"योद्धा मल्ल-युद्ध करते हैं, सत्य है, पर राजकुमारोंके बीच शक्तिपरीक्षाके लिये मल्लयुद्ध-का होना उचित नहीं है। यदि तुम्हें मेरे बलकी परीक्षा करनी है, तो मेरे हाथ या पैरकी उंगलीको झुकाओ। किन्तु श्रीकृष्ण हाथ या पैरकी उंगलीको झुका नहीं सके। नेमिजिनने अपनी उंगलीसे ही श्रीकृष्णको झुला दिया, जिससे उन्हें उनकी शक्तिका परिज्ञान हुआ। जब नेमिजिनके विवाहका उपक्रम किया गया, तो श्रीकृष्णने षड्यन्त्रकर पशुओंको एक बाड़ेमें एकत्र कर दिया। जब बारात जूनागढ़ पहुँची, तो नेमिजिन पशुओंका करुण क्रन्दन सुन विरक्त हो गये। उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण की और उर्जयन्तगिरिपर तपस्या करने चले गये।

जब राजुलको नेमिजिनकी विरक्तका समाचार मिला, तो वह मूच्छित

होकर गिर पड़ी। वह सखियोंके साथ गिरनारपर जानेके लिये तैयार हो गयी। माता-पिता और परिजनोंने बहुत समझाया, पर वह न मानी और दीक्षा लेकर तपश्चरण करनेमें संलग्न हो गयी। कविने लिखा है—

परम महोच्छवि आइए, नेमिजिन तोरण द्वार।
तिव सवुदिहि दयावणे, पशुवहि कियउ पुकार ॥१०४॥
दीन वयणु सुणेवि करि, सारथि पूंछिउ ताम।
तिसु कहणी भेउ जाणियौ, अवधिहिं नेमि जिनु ताम ॥१०५॥
नेमीसरु इम बोलए धिग् धिग् यहु संसार।
राज्य विवाहे कारणेंको करइ जीउ संसार ॥१०६॥
धरि विरागु रथु फेरियउ, तिहा तैं करुणाधार।
पशु बंधन छोड़ाविकरि, नेमि चढ़े गिरनार ॥१०७॥
× × × ×
राजमती संयमधरी समकित रयण सहाय।
अच्युत स्वर्गहि सुर भयौ नारी लिंगु विहाय ॥

इसप्रकार नेमिचरित उच्चकोटिका काव्य है। इसमें खण्डकाव्यके सभी गुण पाये जाते हैं।

४. **झुंबिकगीत**—इस कृतिमें नवदेवोंका कथन किया है। बताया है कि जो व्यक्ति भक्ति-भावसे नवदेवोंकी आराधना करता है, वह इस कलिकालमें सभी प्रकारकी सुख-समृद्धियोंको प्राप्त करता है। इस रचनाके उदाहरणरूप दो पद्य प्रस्तुत हैं—

नवमउ झुंबुक शासनहि, पूजहि सुरनर भव्व।
अक्किट्टिम किट्टिम पडिमा, तेहंउ वंदउ सव्व ॥
जिन मारग नवदेवता, मानै नहि जो लोइ।
काल अनंतइ परिभमइ, सुक्खु न पावइ सोइ ॥

५. **श्रुतजयमाला**—यह रचना संस्कृत-पद्यबद्ध है। इसमें आचारांगादि द्वादश अगोंका परिचय दिया गया है। आगमके विषय परिचयके साथ कविता-में अलंकारिकता भी पायी जाती है।

६. **चतुर्विंशतिजिनस्तवन**—यह संस्कृतमें रचित स्तुतिकाव्य है। २४ तीर्थंकरोंकी संस्कृत-भाषामें स्तुति लिखी गयी है। कविता रसात्मक और सरल है। कविने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे अलंकारोंका भी प्रयोग किया है।

७. **सतीगीत**—इसमें २७ पद्य हैं। शीलकी महत्ता अंकित की गयी है। प्रत्येक गीतमें सतीमाहात्म्य वर्णित है।

८. **बीसतीर्थंकरजयमाला**—बीस तीर्थंकरोंकी महत्त्वसूचक स्तुतियाँ अंकित हैं।

९. **तीनचौबीसीस्तुति**—इस रचनामे २८-२९ पद्य हैं और त्रिकालवर्ती चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुतियाँ गुम्फित हैं।

श्रुतसागरसूरि

श्रुतसागरसूरि केवल परम्परा परिपोषक ही नहीं हैं, अपितु मौलिक संस्थापक भी हैं। इनकी तत्त्वार्थसूत्र पर एक श्रुतसागरी नामकी वृत्ति उपलब्ध है, जिससे इनकी मौलिकताका परिचय प्राप्त होता है। श्रुतसागरने अपनी रचनाओंके अन्तमें अपने गुरु आदिका नाम अंकित किया है। ये मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके आचार्य हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दिके गुरुका नाम देवेन्द्रकीर्ति और देवेन्द्रकीर्त्तिके गुरुका नाम पद्मनन्दि था। ये पद्मनन्दि सम्भवतः वही हैं, जिनको गिरनार पर्वतपर सरस्वतीदेवीने दिगम्बर पंथके सच्चे होनेकी सूचना दी थी। इन्हींकी एक शिष्य-शाखामें सकलकीर्ति, विजयकीर्ति और शुभचन्द्र भट्टारक हुए हैं। ये बलात्कारगणकी सूरत-शाखाके भट्टारक हैं। विद्यानन्दिके पश्चात् मल्लिभूषण-भट्टारक हुए, जो श्रुतसागरके गुरुभाई थे। मल्लिषेणके अनुरोधसे श्रुतसागरने यशोधरचरित, मुकुटसप्तमीकथा और पल्लिविधानकथा आदिकी रचना की है।

श्रुतसागरके अनेक शिष्य हुए हैं, जिनमें एक शिष्य श्रीचन्द्र थे, जिनके द्वारा रचित वैराग्यमणिमाला उपलब्ध है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण आदिग्रन्थोंके रचयिता ब्रह्मनेमिदत्तने भी श्रुतसारको गुरुभावसे स्मरण किया है। ये ब्रह्मनेमिदत्त मल्लिभूषणके शिष्य थे।

श्रुतसागरने अपनेको देशव्रती, ब्रह्मचारी या वर्णी लिखा है तथा 'नवनवति-महावादिविजेता, तर्क-व्याकरण-छंद-अलंकार-सिद्धान्त-साहित्यादि-शास्त्रनिपुण, प्राकृतव्याकरणादिअनेकशास्त्रचञ्चु, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया'[1] है। तत्त्वार्थवृत्तिके

१. "इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपवित्रमतिसभाजरत्नराजमहतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्री

अन्तिम सन्धिवाक्यसे ज्ञात होता है कि इन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। इससे स्पष्ट है कि श्रुतसागर अपने समयके अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार थे।

श्रुतसागरसूरि द्वारा रचित पल्लिविधानकथामें ईडरके राजा भानु अथवा रावभाणजीके राज्यकालका निर्देश है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें बताया है कि भानुभूपतिकी भुजारूपी तलवारके जलप्रवाहमें शत्रुकुलका विस्तृत प्रभाव निमग्न हो गया था और उनका मंत्री हुम्मड कुलभूषण भोजराज था। उसकी पत्नीका नाम विनयदेवी था, जो अतीव पतिव्रता, साध्वी और जिनचरण-कमलोंकी उपासिका थी। उसके चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनमें प्रथम पुत्र कर्मसिंह, जिसका शरीर भूरि रत्नगुणोंसे विभूषित था और दूसरा पुत्र कुल-भूषण था, जो शत्रुकुलके लिये कालस्वरूप था। तीसरा पुत्र पुण्यशाली श्री घोष था, जो सघनपापरूपी गिरीन्द्रके लिये वज्रके समान था और चौथा गंगा-जलके समान निर्मल मन वाला गंगा था। इन चार पुत्रोंके पश्चात् इनकी एक बहन भी थी, जो जिनवरके मुखसे निकली हुई सरस्वतीके समान थी। श्रुत-सागरने स्वयं उसके साथ संघ सहित गजपन्थ और तुंगीगिरि आदिकी यात्रा[1] की थी।

श्रुतसागरका व्यक्तित्व एक ज्ञानाराधक तपस्वीका व्यक्तित्व है, जिनका एक-एक क्षण श्रुतदेवताकी उपासनामें व्यतीत हुआ है। श्रुतसागर निस्सन्देह अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान हैं। ये कलिकालसर्वज्ञ कहे जाते थे। तार्किक होनेके कारण असहिष्णु भी प्रतीत होते हैं। अन्य मतोंका खण्डन और विरोध करनेमें अत्यन्त सतर्क रहे हैं।

विद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोक-वार्तिक-राजवार्तिक-सर्वार्थसिद्धि-न्यायकुमुदचन्दोदय-प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रचण्डाष्टसह-स्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भावलोकनबुद्धिविराजितायां"—श्रुतसागरीतत्त्वार्थवृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृ० ३२६ पर उद्धृत। तथा—"तर्क-व्याकरणार्हत-प्रविल-सत्सिद्धांतसारामलछंदोलंकृतिपूर्वनव्यकृतधीसंश्रव्यकाव्योच्चये"—जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, यशोधर चरितप्रशस्ति पृ० ३१।

१. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, सन् १९५४, प्रस्तावना, पृ० १६।

स्थितिकाल

श्रुतसागरने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाकाल अंकित नहीं किया है, किन्तु अन्य आधारोंसे उनके समयका निर्णय किया जा सकता है।

१. पद्मनन्दिके शिष्य देवेन्द्रकीर्तिका एक अभिलेख देवगढ़में है, जिसपर सं० १४९३ अंकित है। ये देवेन्द्रकीर्ति श्रुतसागरके दादागुरु[1] थे।

२. सूरतके[2] एक मूर्ति-अभिलेखमें संवत् १४९९ और एकमें संवत् १५१३ अंकित है। ये दोनों मूर्तियाँ देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थीं। विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित अन्य मूर्तियोंपर वि० सं० १५१८, १५२१ और १५३७ अंकित है।

३. सूरतमें पद्मावतीकी एक मूर्तिपर वि० सं० १५४४ अंकित[3] है। उस समय विद्यानन्दिके पट्ट पर मल्लिभूषण विराजमान थे। इन्हीं मल्लिभूषणके उपदेशसे श्रुतसागरने कुछ कथाएँ लिखी हैं और ये श्रुतसागरके गुरुभाई थे।

४. ब्रह्मनेमिदत्तने अपने आराधनाकथाकोशकी[4] प्रशस्तिमें विद्यानन्दिके पट्टधर मल्लिभूषण और उनके शिष्य सिंहनन्दिका गुरुरूपमें स्मरण करके श्रुतसागरका जयघोष किया है। इससे ध्वनित होता है कि वे उस समय जीवित थे। इन्हीं ब्रह्मनेमिदत्तने वि० सं० १५८५में श्रीपालचरितकी रचना की है और उसमें श्रुतसागरसूरि द्वारा रचित 'श्रीपालचरित'का[5] निर्देश करते हुए इनको पूर्वसूरि तथा उनके द्वारा 'श्रीपालचरित'को पुरारचित कहा है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय श्रुतसागरका देहावसान हो चुका था।

५. पल्लिविधानकथाकी प्रशस्तिसे भी श्रुतसागरका समय वि० सं० १५०२-१५२२ तक आता[6] है। विद्यानन्दि और मल्लिभूषणके पट्टकालों पर विचार करनेसे भी श्रुतसागरका समय वि० सं० १५४४–१५५६ आता है। इस प्रकार भट्टारक श्रुतसागरसूरिका समय वि० की १६वीं शताब्दी है।

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलपुर, लेखांक ४२५।
२. वही, लेखांक ४२५।
३. वही, लेखांक ४५८।
४. वही, लेखांक ४६६।
५. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, दिल्ली, प्रथम भाग, पृ० १७।
६. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ४६३।

रचनाएँ

श्रुतसागरसूरिकी अबतक ३८ रचनाएँ प्राप्त हैं। इनमें आठ टीकाग्रन्थ हैं, और चौबीस कथाग्रन्थ हैं, शेष छह व्याकरण और काव्य ग्रन्थ हैं।

१. यशस्तिलकचन्द्रिका
२. तत्त्वार्थवृत्ति
३. तत्त्वत्रयप्रकाशिका
४. जिनसहस्रनामटीका
५. महाभिषेकटीका
६. षट्पाहुडटीका
७. सिद्धभक्तिटीका
८. सिद्धचक्राष्टकटीका
९. ज्येष्ठजिनवरकथा
१०. रविव्रतकथा
११. सप्तपरमस्थानकथा
१२. मुकुटसप्तमीकथा
१३. अक्षयनिधिकथा
१४. षोड़सकारणकथा
१५. मेघमालाव्रतकथा
१६. चन्दनषष्ठीकथा
१७. लब्धिविधानकथा
१८. पुरन्दरविधानकथा
१९. दशलाक्षणीव्रतकथा
२०. पुष्पाञ्जलिव्रतकथा
२१. आकाशपंचमीव्रतकथा
२२. मुक्तावलीव्रतकथा
२३. निर्दुःखसप्तमीकथा
२४. सुगन्धदशमीकथा
२५. श्रावणद्वादशीकथा
२६. रत्नत्रयव्रतकथा
२७. अनन्तव्रतकथा
२८. अशोकरोहिणीकथा
२९. तपोलक्षणपंक्तिकथा
३०. मेरुपंक्तिकथा
३१. विमानपंक्तिकथा
३२. पल्लिविधानकथा
३३. श्रीपालचरित्
३४. यशोधरचरित्
३५. औदार्यचिन्तामणि (प्राकृत व्याकरण)
३६. श्रुतस्कन्धपूजा
३७. पार्श्वनाथस्तवन
३८. शान्तिनाथस्तवन

यशस्तिलकचन्द्रिका—श्रुतसागरने यशस्तिलकग्रंथपर चन्द्रिका नामक-टीका लिखी है। टीकामें बताया है—

"इति श्रीपद्मनन्दि–देवेन्द्रकीर्ति–विद्यानन्दि-मल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारक-श्रीमल्लिभूषणगुरुपरमाभीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनस्थभट्टारकश्रीलक्ष्मी-चन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनन्दिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागर व्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्क-व्याकरणछन्दो-लंकारसिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना व्याकरणाद्यनेकशास्त्रचञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्तिलकचन्द्रिकाभिधानायां यशोधरमहा-

राजचरितचम्पूमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णनं नाम तृतीया श्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता[1]"।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि श्रुतसागरने अपने परिचयके साथ यशस्तिलककी टीका लिखनेका निर्देश किया है। श्रुतसागरने इस टीकामें विषयोंके स्पष्टी-करणके साथ कठिन शब्दोंकी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। यशस्तिलकमें जितने नये शब्दोंका प्रयोग सोमदेवने किया है, उन सभीका व्याख्यान इस टीकामें किया गया है। यशस्तिलकको स्पष्ट करनेके लिये यह टीका बहुत उपादेय है।

श्रुतसागरी टीका—इस वृत्तिमें तत्त्वार्थसूत्रपर रचित समस्त वृत्तियोंका निचोड़ अंकित है। श्रुतसागरने तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीके साथ पूज्यपाद, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द और अकलंकका भी स्मरण किया है। ये चारों ही आचार्य तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार हैं। वृत्तिका प्रारम्भ सर्वार्थसिद्धिकी आरम्भिक शब्दोंकी शैलीको अपनाकर किया है। सर्वार्थसिद्धिमें प्रश्नकर्त्ता भव्यका नाम नहीं लिखा है, पर श्रुतसागरने 'द्वैयाकनामा' लिखा है। १३वीं शताब्दीके बालचन्द्र मुनि द्वारा तत्त्वार्थसूत्रकी जो कन्नड़टीका लिखी गयी है, उसमें उस प्रश्नकर्त्ताका नाम सिद्धय्य पाया जाता है। सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें निबद्ध मंगलश्लोक—'मोक्षमार्गस्य नेत्तारं' आदिका व्याख्यान भास्करनन्दिके समान श्रुतसागरने भी किया है। श्रुतसागरसूरिका पूरा व्याख्यान एक तरहसे सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्तिका ही व्याख्यान है, जो बातें सर्वार्थसिद्धिमें संक्षेपरूपमें कही गयी हैं, उन्हीं बातोंको विस्तार और स्पष्टताके साथ इस वृत्तिमें अंकित किया गया है। यथास्थान ग्रन्थातरोंके प्रमाण देकर विशेष कथन भी किया गया है। ग्रन्थातरोंके उद्धरण प्रचुर परिमाणमें प्राप्त हैं। पाणिनि और कातन्त्र व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण भी प्राप्त हैं।

श्रुतसागरके व्याख्यानमें कतिपय विरोध भी प्राप्त होते हैं। न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारजीने श्रुतसागरके स्खलनका निर्देश किया है। सर्वार्थसिद्धि-में 'द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः' (५।४१) सूत्रकी व्याख्यामें 'निर्गुण' इस विशेषणकी सार्थकता बतलाते हुए लिखा है—"निर्गुण इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम्, तान्यपि हि कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निर्वर्तितानि भवन्ति।"

अर्थात् द्व्यणुकादि स्कन्ध नैयायिकोंकी दृष्टिसे परमाणुरूप कारणद्रव्योंमें आश्रित होनेसे द्रव्याश्रित हैं और रूपादि गुणवाले होनेसे गुणवाले भी हैं। अतः

---

१. तत्त्वार्थवृत्ति, भारतीयज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना, पृ० १००।

इनमें भी उक्त गुणका लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा। इस कारण इनकी निवृत्तिके हेतु 'निर्गुणाः' यह विशेषण दिया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरिने लिखा है—

"निर्गुणाः इति विशेषणं द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धनिषेधार्थम्, तेन स्कन्धाश्रया गुणा गुणा नोच्यन्ते। कस्मात् ? कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयत्वात् तस्मात् कारणात् निर्गुणा इति विशेषणात्स्कन्ध गुणा गुणा न भवन्ति पर्यायाश्रयत्वात्।" अर्थात् 'निर्गुण' यह विशेषण द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्धके निषेधके लिए है। इससे स्कन्धमें रहनेवाले गुण गुण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे कारणभूत परमाणुद्रव्यमें रहते हैं। अतएव स्कन्धके गुण गुण नहीं हो सकते, क्योंकि वे पर्यायमें रहते हैं। यह हेतुवाद बड़ा विचित्र है और है सिद्धान्तके प्रतिकूल। सिद्धान्तमें रूपादि चाहे घटादि स्कन्धोंमें रहनेवाले हों, या परमाणुमें सभी गुण कहे जाते हैं। ये स्कन्धके गुणोंको गुण ही नहीं कहना चाहते, क्योंकि ये पर्यायाश्रित हैं। अतएव 'निर्गुण' पदकी सार्थकताका मेल नहीं बैठता है। इस असंगतिके कारण आगेके शंका-समाधानमें भी असंगति प्रतीत होती है।

श्रुतसागरी वृत्तिके २८१वें पृष्ठपर गुणस्थानोंका वर्णन करते समय लिखा है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानसे सम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें पहुँचनेवाला जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वमें ही दर्शनमोहनोकी तीन और अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम करता है। यह सिद्धान्तविरुद्ध है, क्योंकि प्रथमोपशमसम्यक्त्वमें दर्शनमोहनीयकी केवल एक प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चार इस तरह ५ प्रकृतियोंके उपशमसे ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व बताया गया है। सातका उपशम तो, जिनके एकबार सम्यक्त्व हो चुकता है, उन जीवोंके द्वारा प्रथमोपशमके समय होता है। ९।४७ सूत्रकी वृत्तिमें श्रुतसागरने द्रव्यलिंगकी व्याख्या करते हुए असमर्थ मुनियोंको अपवाद रूपसे वस्त्रादि ग्रहण करने पर सहमति प्रकट की है—

"केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न तत् सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेण अपवादरूपं ज्ञातव्यम्। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलवान् इत्युत्सर्गेण तावद् यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति, आर्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षया अपवादव्याख्याने न दोषः।" अर्थात् असमर्थमुनि शीतकाल आदिमें कम्बल वगैरह ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु न तो वे उसे धोते हैं, न सीते हैं और न कोई उसके लिये प्रयत्नादि ही करते हैं। शीतकाल

बीतने पर उसे त्याग देते हैं। कुछ मुनिशरीरमें दोष उत्पन्न होनेसे लज्जावश वस्त्रको ग्रहण कर लेते हैं। यह व्याख्या भगवतीआराधनामें कहे हुए अभिप्रायसे अपवादरूप जाननी चाहिये। पर भगवतीआराधनामें इस तरहका कोई विधान नहीं है, उसके टीकाकार अपराजितसूरिने अपनी विजयोदया-टीकामें आचेलक्य आदि दश कल्पोंका निरूपण करनेवाली ४२१वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए आचारांग आदि सूत्रोंमें पाये जानेवाले कुछ वाक्योंके आधारपर यह माना है कि यदि भिक्षुका शरीरावयव सदोष हो, अथवा वह परीषह सहन करनेमें असमर्थ हो, तो वह वस्त्र ग्रहण कर सकता है। अपराजितसूरिने तो समन्वयार्थं इस प्रकारकी व्याख्या की है, पर, श्रुतसागरसूरि दिगम्बर होते हुए, क्यों इस प्रकारकी भूल कर गये ?

षट्प्राभृतटीका—आचार्य श्रुतसागरसूरिने षट्प्राभृतकी टीका प्रारम्भ करते हुए लिखा है—

"अथ श्रीविद्यानन्दिभट्टारक-पट्टाभरणभूतश्रीमल्लिभूषणभट्टारकाणामादेशादध्येषणावशाद् बहुशः प्रार्थनावशात् कलिकालसर्वज्ञविरुदावलीविराजमानाः श्रीसद्धर्मोपदेशकुशला निजात्मस्वरूपप्राप्तिं पञ्चपरमेष्ठिचरणान् प्रार्थयन्तः सर्वजगदुपकारिण उत्तमक्षमाप्रधानतपोरत्नसंभूषितहृदयस्थला भव्यजनजनकतुल्याः श्रीश्रुतसागरसूरयः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितषट्प्राभृतग्रन्थं टीकयन्तः स्वरुचिविरचितसद्दृष्टयः।" अर्थात् कलिकालसर्वज्ञ आदि विरुदावलिसे सुशोभित, श्रीसम्पन्न, आर्हद्धर्मके उपदेशमें कुशल, पञ्चपरमेष्ठीके चरणोंको प्रार्थनासे आत्मस्वरूपके ध्याता, सर्वजगतके उपकार करनेवाले उत्तमक्षमादि तपोंसे विभूषित, सम्यग्दर्शनयुक्त और भव्य जीवोंके लिए पिताके समान सुखदायक श्रुतसागरसूरि श्रीविद्यानन्दि भट्टारक सम्बन्धी पट्टके अलंकारस्वरूप श्रीमल्लिभूषणभट्टारककी आज्ञासे, प्रेरणासे और अनेक जीवोंकी प्रार्थनासे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित 'षट्प्राभृत' ग्रन्थकी टीका करनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं।

इस टीकामें भी 'तथाचोक्तं' कहकर अनेक स्थानोंके उद्धरण संकलित किये हैं। कुन्दकुन्दस्वामीके मूलवचनोंका व्याख्यान सरल और संक्षेपरूपमें किया है। यद्यपि इस टीकामें श्रुतसागरीवृत्ति जैसी गम्भीरता या प्रौढ़ता नहीं है, तो भी विषयको स्पष्ट करनेकी क्षमता इस टीकामें है। टीकाकी शैली बहुत ही सरल, स्वच्छ और स्पष्ट है। दर्शन, चरित्र, सूत्र, बोध, भाव और मोक्ष इन छह प्राभृतोंका व्याख्यान श्रुतसागरसूरिने किया। टीका केवल भावोंके स्पष्टीकरण

लिये की गयी है। मोक्षप्राभृतके अन्तमें पूर्व प्रशस्ति भी दी गयी है। इस प्रकार संक्षेपमें षट्प्राभृतकी टीका कुन्दकुन्दके ग्रन्थको स्पष्ट करती है।

तत्त्वत्रयप्रकाशिका—यह ज्ञानावर्णवके गद्यभागकी संस्कृत टीका है। यह टीका अभी तक अप्रकाशित है। शुभचन्द्राचार्यने योगविषयको लेकर ज्ञानार्णवकी रचना की है। श्रुतसागरने केवल इसके गद्यांशपर ही संस्कृत टीका लिखी है।

जिनसहस्रनामटीका—यह पं० आशाधर कृत सहस्रनामकी विस्तृत टीका है। टीकाके अन्तमें लिखा है—

श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम्।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम्।
अस्ति स्वास्ति समस्तसङ्घतिलकं श्रीमूलसङ्घोऽनघं
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः।
विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु॥

महाभिषेकटीका—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी यह टीका है। इसका प्रणयन उस समय हुआ था, जब श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

औदार्यचिन्तामणि—प्राकृत भाषाका शब्दानुशासन है। दो अध्यायोंमें पूर्ण हुआ है। प्रथम अध्यायमें २४५ सूत्र और द्वितीय अध्यायमें २१३ सूत्र हैं। प्रथम अध्यायके अन्तमें लिखा है—

श्रीपूज्यपादसूरिर्विद्यानन्दी समन्तभद्रगुरुः।
श्रीमदकलङ्कदेवो जिनदेवो मङ्गलं दिशतु॥

"इत्युभयभाषाकविचक्रवर्त्तिव्याकरणकमलमार्त्तण्डतार्किकबुधशिरोमणिपरमागमप्रवीणसूरिश्रीदेवेन्द्रकीर्त्तिप्रशिष्य-मुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिप्रियशिष्यश्रीमूलसंघपरमात्मविद्सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिते औदार्यचिन्तारत्ननाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे वर्णादेशनिरूपणो नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।"

द्वितीय अध्यायके अन्तमें भी इसी प्रकारकी प्रशस्ति है। इस अध्यायका नाम संयुक्त अव्ययनिरूपण है। इसमें संयुक्त वर्णविकार और अव्ययोंके निपातका कथन आया है। प्रथम अध्यायमें स्वर और व्यञ्जनोंके विकारका निरूपण है। इस अध्यायका प्रथम सूत्र—

तदार्षञ्च बहुलम्॥१॥

तत्प्राकृतमृषिप्रणीतमार्षमनार्षञ्च बहुलमित्यधिकृतं वेदितव्यम्। तत्र

ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ऐ, औ, ङ, ञ, श, ष प्लुत स्वर व्यञ्जन द्विवचन चतुर्थी बहुवचनानि च न स्युः। कै अवं। सौ अरिअं। कौरवा। इति च दृश्यते। सर्वविधिर्विकल्पश्चार्षे॥

अर्थात् प्राकृतमें ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ऐ, औ, ङ, ञ, ष प्लुत नहीं होते हैं। द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति भी नहीं है। आर्ष प्रयोगोंमें सभी विधियाँ विकल्पसे प्रयुक्त होती हैं।

प्रथम अध्यायके द्वितीय सूत्रमें समासमें परस्पर ह्रस्व और दीर्घकी व्यवस्था बतायी गयी है। यथा—अन्तर्वेदि > अन्तावेई। सप्तविंशति > सत्तावीसा। अप्रवृत्तौ जुवइअणो। विकल्पे वारिमइ, वारिमइ। भुजयन्त्रं > भुआयंतं, भुअयंतं। पतिगृहं > पईहरं, पइहरं। गौरीगृहं > गोरिहरं, गोरीहरं।

तृतीयसूत्रमें सन्धिव्यवस्था, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तममें भी सन्धिव्यवस्थापर प्रकाश डाला गया है। नवम, दशम और एकादश सूत्रमें उपसर्गव्यवस्था बतलायी गयी है। चतुर्दश सूत्रसे विंशति सूत्र पर्यन्त शब्दोंके आदेशका कथन आया है। इक्कीस और बाइसवें सूत्रमें अनुस्वारव्यवस्थाका कथन है। इसके पश्चात् शब्दोंके आदेशोंका निरूपण किया गया है। अध्यायके अन्तमें कतिपय विशेष शब्दोंकी व्यवस्था बतलायी गयी है। तथा दन्त्य नकारके स्थानपर मूर्धन्य णकारका कथन आया है। इस प्रकार प्रथम अध्यायमें स्वर और व्यञ्जनोंकी व्यवस्था बतलायी गयी है।

द्वितीय अध्यायके प्रारम्भमें मृदुत्व आदि पाँच शब्दोंमें संयुक्त वर्णके स्थान पर ककारकी व्यवस्था बतलायी गयी है।

को वा मृदुत्त्व-रुग्ण-दष्ट-मुक्तशक्तेषु ॥ १ ॥

मृदुत्त्वादिषु पञ्चसु शब्देषु यः संयुक्तो वर्णस्तस्य ककारो भवति वा। मृदुत्त्वं माउत्तणं माउक्कं, रुज्यतेस्म रुग्णः-भुग्णपर्यायः (१) रोमादिना वक्रीभूते लुग्गो लुक्को। दष्टः-दट्ठो डक्को, मुक्तः-मुत्तो-मुक्को, शक्तः सत्तो सक्को।

क्षः खः क्वचित्तु छझौ ॥ २ ॥

क्षकारस्य खकारो भवति। झछौ च क्वचिद्भवतः लक्षणं-लक्खणं, क्षयः खओ, क्षीयते-झिज्जइ छिज्जइ खिज्जइ, क्षीणं-झीणं छीणं खीणं।

इसी प्रकार इस अध्यायमें स्क, ष्क, स्थ, स्फ, स्त आदिके विकारका भी अनुशासन वर्णित है। संयुक्त वर्णोंकी व्यवस्था विस्तारके साथ बतलायी गयी

है। अव्ययोंके निपातकी व्यवस्था १७१वें सूत्रसे २१३वें सूत्र तक वर्णित है। इसप्रकार इस प्राकृतव्याकरणमें स्वर और व्यञ्जन परिवर्तनके साथ शब्दरूप एवं अव्ययोंका कथन आया है। धातुरूप सदाकृदन्तप्रत्ययोंका अनुशासन इसमें वर्णित नहीं है। इस व्याकरणके दो ही अध्याय उपलब्ध हैं, शेष दो अध्याय अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। ये दो अध्याय जैन सिद्धान्त भवन आरा, एवं ब्यावरके ग्रन्थागरमें उपलब्ध हैं।

श्रीपालचरित—इस चरितकाव्यके आरम्भमें मंगलाचरण पद्यबद्ध है तथा अन्तमें प्रशस्ति भाग भी पद्यमें दिया गया है। मध्यका कथाभाग संस्कृत-गद्यमें लिखा गया है। श्रीपालके पुण्य चरितका अंकन इस काव्यमें है। सिद्धचक्रविधानके महात्म्यको दिखलानेके लिये यह काव्यग्रन्थ लिखा गया है। अन्तिम प्रशस्तिमें बताया है—

सिद्धचक्रव्रतात्सोऽयमीदृशाऽभ्युदयो बभौ।
निःश्रेयसमितोऽस्मभ्यं ददातु स्वर्गतिं प्रभुः॥

यशोधरचरित—पुण्यपुरुष यशोधरकी कथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-के जैन कवियोंको विशेष रुचिकर रही है। यही कारण है कि यशोधरके चरितको लेकर अनेक काव्य लिखे गये हैं। आरम्भमें नमस्कारात्मक पद्य लिखे गये हैं, जिनमें विद्यानन्द, अकलंक, समन्तभद्र, उमास्वामी, भद्रबाहु, गुप्तिगुप्त आदिका स्मरण किया गया है। अन्तिम प्रशस्तिमें श्रुतसागरने अपना परिचय लिखा है। इस परिचयमें गुरुपरम्परा एवं अपना पाण्डित्य बतलाया गया है। अहिंसाव्रतका माहात्म्य बतलानेके लिये यशोधरकी कथा विशेष आकर्षक है। यह कथा वही है, जिसका अंकन सोमदेवने अपने यशस्तिलकचम्पूमें किया है।

श्रुतस्कन्धपूजा—श्रुतस्कन्धका पूजन निबद्ध किया गया है। श्रुतके माहात्म्यके साथ श्रुतज्ञानके पदों और अक्षरोंकी संख्या भी बतलायी गयी है। यह छोटी-सी कृति है, इसकी पाण्डुलिपि बम्बईके सरस्वतीभवनमें है।

व्रतकथाकोश—श्रुतसागरने आकाशपञ्चमी, मुकुटसप्तमी, चन्दनषष्ठी, अष्टाह्निका, ज्येष्ठजिनवर, रविव्रत, सप्तपरमस्थान, अक्षयनिधि षोड़शकारण, मेघमाला, लब्धिविधान, पुरन्दरविधान, दशलाक्षणीव्रत, पुष्पाञ्जलिव्रत, मुक्तावलीव्रत, निर्दुःखसप्तमी, सुगन्धदशमी, श्रावणद्वादशी, रत्नत्रय, अनन्तव्रत, अशोकरोहिणी, तपोलक्षणपंक्ति, मेरुपंक्ति, विमानपंक्ति और पल्लिविधान व्रतोंकी कथाएँ लिखी हैं। इन कथाओंकी संख्या २४ है। पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने इन कथाग्रन्थोंको स्वतन्त्ररूपमें स्थान दिया है और एक कथाकोश न मानकर २४ कथाग्रन्थ माने हैं। उन्होंने बताया है कि भिन्न-भिन्न कथाएँ

भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न महानुभावोंके अनुरोधसे लिखी गयी हैं। अतएव वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं।

जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह प्रथमभागमें १४३ ग्रन्थसंख्यासे १६६ ग्रन्थ संख्यातक २४ कथाग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ संकलित की गयी हैं। ज्येष्ठजिनवरव्रतकथाके आदिमें मंगलाचरण करते हुए लिखा है—

ज्येष्ठं जिनं प्रणम्यादावकलंककलध्वनिं।
श्रीविद्यादिनंदिनं ज्येष्ठजिनव्रतमथोच्यते ॥ १ ॥

प्रायः प्रत्येक कथाग्रन्थके अन्तमें अंकित प्रशस्तिमें श्रुतसारकी गुरुपरम्परा उपलब्ध होती है। इन कथाग्रन्थोंकी शैलीसे भी इनका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रत्येक कथाके अन्तमें, जो प्रशस्ति भाग दिया गया है, वही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करता है। ये कथाएँ यदि कथाकोशके रूपमें लिखी जातीं, तो प्रत्येक कथाके अन्तमें प्रशस्ति देनेकी आवश्यकता नहीं थी। रत्नत्रय-कथा, अनन्तव्रतकथा और अशोकरोहिणीकथाके अन्तमें दी गयी प्रशस्तिको उदाहरणार्थं प्रस्तुत करते हैं—

सर्वज्ञसारगुणरत्नविभूषणोऽसौ विद्यादिनंदिगुरुरुद्यतरप्रसिद्धः।
शिष्येण तस्य विदुषा श्रुतसागरेण रत्नत्रयस्य सुकथा कथितात्मसिद्ध्यै ॥

× × × ×

सूरिर्देवेन्द्रकीर्तिर्विबुधजननुतस्तस्य पट्टाब्धिचंद्रो
रुद्रो विद्यादिनंदो गुरुरमलतपा भूरिभव्याब्जभानुः।
तत्पादांभोजभृंगः कमलदललसल्लोचनश्चंद्रवक्त्रः
कर्त्तामुष्याऽनन्तव्रतस्य श्रुतसमुपपदः सागरः शं क्रियाद्वः ॥

× × × ×

गच्छे श्रीमति मूलसंघतिलके सारस्वते निर्मले
तत्त्वज्ञाननिधिर्बभूव सुकृती विद्यादिनन्दी गुरुः।
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता संक्षेपतः सत्कथा
रोहिण्याः श्रवणामृतं भवतु वस्तापच्छिदे संततम् ॥

उक्त तीनों प्रशस्तियोंसे स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ स्वतन्त्र हैं।

श्रुतसागरकी शैली और जैन संस्कृतिको देन—श्रुतसागरकी भाषा और शैली सुबोध है। उनकी शैलीमें कहीं भी जटिलता नहीं है। स्वतन्त्ररूपसे लिखे गये चरित और कथाग्रन्थोंमें भाषाकी प्रौढ़ता पायी जाती है। यथा—

श्रीमद्वीरजिनेन्द्र-शासन-शिरोरत्नं सतां मंडनं
साक्षादक्षयमोक्षकारि करुणाकृन्मूलसंघेऽभवत्।

वंशे श्रीमत्कुंदकुंदविदुषो देवेन्द्रकीर्तिगुरुः
पट्टे तस्य मुमुक्षरक्षयगुणो विद्यादिनंदीश्वरः ॥
तत्पादपावनपयोरुहमत्तभृंगः श्रीमल्लिभूषणगुरुर्गरिमप्रधानः ।
संप्रेरितोहममुनाभयरुच्यभिख्ये भट्टाकरेण चरिते श्रुतसागराख्यः ॥

इन पद्योंसे स्पष्ट है कि चरितग्रन्थोंकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और काव्योचित है। इसी प्रकार कथाग्रन्थोंकी भाषा भी काव्योचित है। श्रुतसागरसूरिने ग्रन्थरचना द्वारा तो जैनधर्मका प्रकाश किया ही, पर शास्त्रार्थ द्वारा भी उन्होंने जैनधर्मका पर्याप्त प्रकाश किया है। श्रुतसागर अपने समयके बहुत ही प्रसिद्ध मान्य और प्रभावक विद्वान रहे हैं। इन्होंने अपने समयके राजाओं, सामन्तों और प्रभावक व्यक्तियोंको भी प्रभावित किया था। श्रुतसागरका व्यक्तित्व बहुमुखी है। उनके सम्बन्धमें प्रयुक्त विशेषण ही यह सिद्ध करते हैं कि वे कलिकाल गौतम थे। जिस प्रकार गौतम गणधरने श्रुतका बीजरूपमें प्रचार और प्रसार किया, उसी प्रकार, परमागमप्रवीण, तार्किकशिरोमणि श्रुतसागरने अनेक वादियोंको पराजित कर जैनधर्मका उद्योत किया है।

ब्रह्मनेमिदत्त

ब्रह्म नेमिदत्त मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगणके विद्वान भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य थे। इनके दीक्षागुरु भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि थे। इन्हीं विद्यानन्दिके पट्टपर मल्लिभूषण प्रतिष्ठित हुए, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रयसे सुशोभित थे। आराधनाकथाकोशकी प्रशस्तिमें मल्लिभूषणकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

श्रीमज्जैनपदाब्जसारमधुकृच्छ्रीमूलसंघाग्रणीः ।
सम्यग्दर्शनसाधुबोधविलसच्चारित्रचूडामणिः ॥
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥

ब्रह्मनेमिदत्त संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी और गुजराती भाषाके विद्वान थे। इन्होंने संस्कृतमें चरित, पुराण, कथा आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इन्होंने मालारोहिणी नामक एक प्रसिद्ध रचना लिखी है, जिसमें मूलसंघके आचार्य श्रुतसागरको नमस्कारकर फूलमाला कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। मोंगरा, पारिजात, चम्पा, जूही, चमेली, मालती, मुचकुन्द, कदम्ब एवं रक्तकमल आदि सुगन्धित पुष्प समूहोंसे गुम्फित जिनेन्द्रमालको स्वर्गमोक्ष सुखकारिणी बताया है और इसे समस्त दुःख-दारिद्र दूर करनेवाली कहा है। इस मालारोहिणीसे प्रतीत होता है कि ब्रह्मजिनदासको स्वाभाविक कविप्रतिभा

प्राप्त थी। वे सरस्वतीके वरद पुत्र थे। इनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। प्रतिमा-निर्माण और मन्दिर-निर्माणके कार्योंमें सहयोग भी देते थे। एक मूर्तिलेखमें ब्रह्मनेमिदत्तके साथ ब्रह्ममहेन्द्रदत्तके नामका भी उल्लेख आया है, जिससे वे इनके सहपाठी प्रतीत होते हैं। ये अग्रवालजातिके थे और इनका गोत्र गोयल था। मालव देशके आशानगरके निवासी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना प्रमुख व्यक्तियोंके अनुरोधसे की है, जिससे यह ध्वनित होता है कि अनेक व्यक्ति इनके सम्पर्कमें रहे हैं।

स्थितिकाल

ब्रह्मनेमिदत्तकी रचनाओंमें उनके समयका निर्देश प्राप्त होता है, जिससे इनके स्थितिकालपर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। इन्होंने वि० सं० १५८५ में श्रीशान्तिदासके अनुरोधसे श्रीपालचरितकी रचना की है। सं० १५७५ में आराधनाकथाकोश लिखा है। नेमिनाथपुराणकी रचना भी १५८५ में हुई है। अतएव इनका समय विक्रमकी १६ वीं शताब्दी है। सुदर्शनचरितकी प्रशस्तिमें कविने पद्मनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण और श्रुतसागरकी प्रशंसा की है। इस प्रशंसाके अध्ययनसे स्पष्ट ज्ञात होता कि मल्लिभूषण वि० की १६ वीं शताब्दीमें हुए हैं और उनके प्रसिद्ध शिष्य ब्रह्म-नेमिदत्त भी इसी शताब्दीमें हुए हैं। अतएव ब्रह्मनेमिदत्तका समय वि० की १६ वीं शताब्दी है। सुदर्शनचरितके अन्तमें लिखा है—

> श्रीमूलसंघे वरभारतीये गच्छे बलात्कारगणेंतिरम्ये।
> श्रीकुन्दकुंदाख्यमुनींद्रवंशे जातः प्रभाचन्द्रमहामुनींद्रः ॥२॥
> पट्टे तदीये मुनिपद्मनन्दीभट्टारको भव्यसरोजभानुः।
> जातो जगत्त्रयहितो गुणरत्नसिंधुः कुर्यात् सतां सारसुखं यतीशः ॥३॥
> तत्पट्टपद्माकरभास्करोऽत्र देवेंद्रकीर्त्तिमुनिचक्रवर्त्ती।
> तत्पादपंकेजसुभक्तियुक्तो विद्यादिनंदी चरितं चकार ॥४॥
> तत्पट्टेऽजनि मल्लिभूषणगुरुचारित्रचूडामणिः,
> संसारांबुधितारणैकचतुरश्चिंतामणिः प्राणिनां।
> सूरिः श्रीश्रुतसागरो गुणनिधिः श्रीसिंहनन्दी गुरुः,
> सर्वे ते यतिसत्तमाः शुभतरा कुर्वंतु वो मंगलं ॥५॥
> गुरूणामुपदेशेन सच्चरित्रमिदं शुभं।
> नेमिदत्तो व्रती भक्त्या भावयामास शर्म्मदं[1] ॥६॥

१. प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, सन् १९५०, पृ० ६७–६८ पर उद्धृत।

रचनाएँ

ब्रह्म नेमिदत्तकी लगभग १२-१३ रचनाएँ प्राप्त हैं

१. आराधनाकथाकोश
२. नेमिनाथपुराण
३. श्रीपालचरित
४. सुदर्शनचरित
५. रात्रि-भोजनत्यागकथा
६. प्रीतङ्करमहामुनिचरित
७. धन्यकुमारचरित
८. नेमिनिर्वाणकाव्य—इसकी प्रति ईडरमें प्राप्त है।
९. नागकुमारकथा
१०. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार
११. मालारोहिणी
१२. आदित्यवारव्रतरास

आराधनाकथाकोश—आराधनाकथाकोश प्रसिद्ध कथाग्रन्थ है। इसका प्रकाशन हो चुका है। इसकी सभी कथाएँ अहिंसादि व्रतोंसे सम्बद्ध हैं। सामान्य व्यक्ति भी इन कथाओंके अध्ययनसे अपने चरितको उज्ज्वल कर सकता है। संसारके विषय-कषायोंमें निमग्न व्यक्तिको ये कथाएँ आत्मोत्थानकी ओर प्रेरित करती हैं। वास्तवमें ब्रह्मनेमिदत्तके आराधनाकथाकोशका कथासाहित्यकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रीपालचरित—इस ग्रन्थमें ९ अधिकार हैं और श्रीपालकी कथा वर्णित है। इसकी प्रशस्तिमें कविने अपना परिचय लिखा है। ९वें अधिकारके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिमें बताया है—

"इति श्रसिद्धचक्रपूजातिशयं प्राप्ते श्रीपालमहाराजचरिते भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्याचार्यश्रीसिंहनन्दिब्रह्मश्रीशांतिदासानुमोदिते ब्रह्मनेमिदत्तविरचिते श्रीपालमहामुनींद्रनिर्वाणगमनो नाम नवमोधिकारः समाप्तः।"

इस चरितके रचनेका उद्देश्य कविने सिद्धचक्रका महात्म्य बतलाया है। सर्गबद्ध कथा नियोजित है। श्रीपालके जन्मसे लेकर उनके निर्वाणपर्यन्त चरितका अंकन किया गया है। भाव और शैलीको दृष्टिसे यह रचना अध्ययनीय है।

नेमिनाथपुराण—इस पुराणग्रन्थकी रचना सोलह अधिकारोंमें की गयी है और इसमें नेमिनाथका चरित अंकित है। उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और केवल इन पाँचों कल्याणकोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। नेमिनाथकी अपूर्व शक्तिसे

प्रभावित होकर राजनीतिज्ञ कृष्ण द्वारा प्रस्तुत की गयी कूटनीतिका भी चित्रण आया है। श्रीकृष्णकी कूटनीतिके फलस्वरूप ही नेमिनाथ विरक्त होते हैं। विलखती हुई राजुलके आँसुओंका प्रभाव भी उनपर नहीं पड़ता। कविने सभी मर्मस्पर्शी कथांशोंका उद्घाटन किया है। अन्तमें इस चरितको मोक्षप्रद बताया गया है। लिखा है—

यस्योपदेशवशतो जिनपुंगवस्य
नेमिपुराणमतुलं शिवसौख्यकारी,
चक्रे मयापि मतितुच्छतयात्र भक्त्या,
कुर्यादिदं शुभमतं मम मंगलानि ॥

सुदर्शनचरित—सुदर्शनचरितके रचयिता यद्यपि आचार्य विद्यानन्दि हैं। पर एकादश अधिकारके अन्तमें ब्रह्मनेमिदत्तका नाम आया है, तथा—

गुरूणामुपदेशेन सच्चरित्रमिदं शुभम्।
नेमिदत्तो व्रती भक्त्याभावयामास शर्मदम् ॥

इस पद्यमें 'भावयामास' पद आया है, जिसका अर्थ, प्रकट किया, प्रदर्शित किया या पालन-पोषण किया अथवा मनन द्वारा पावन किया, किया है। अतएव यहाँ प्रकट किया या निर्मित किया यह अर्थ लेनेसे विरोध आता है। जिसका समाधान कुछ विद्वान यह कह कर करते हैं कि सुदर्शनचरितके दश अधिकार मुमुक्षु विद्यानन्दि द्वारा विरचित हैं और ११वें अधिकारके रचयिता ब्रह्मनेमिदत्त हैं। हमारी दृष्टिसे यहाँ 'भावयामास'का अर्थ रचना किया गया न होकर संशोधन या सम्बर्द्धन किया गया होना चाहिये। अतएव ब्रह्मनेमिदत्त सुदर्शनचरितके रचयिता नहीं हैं, अपितु उसके संशोधनकर्त्ता या सम्पादनकर्त्ता हैं।

धर्मोपदेशपीयूषवर्षी श्रावकाचार—इस ग्रन्थमें श्रावकाचारका निरूपण किया गया है। प्रारम्भमें लिखा गया है—

श्रीसर्वज्ञं प्रणम्योच्चैः केवलज्ञानलोचनम्।
सद्धर्म्मं देशयाम्येष भव्यानां शर्महेतवे ॥

इस मगलाचरणसे स्पष्ट है कि ब्रह्मनेमिदत्त सधर्म्मका उपदेश भव्यजीवोंके कल्याणके लिये लिखते हैं। इस ग्रंथमें श्रावकोंके मूलगुण और उत्तर गुणोंका विवेचन करनेके पश्चात् व्रतोंके अतिचारोंका निरूपण आया है। श्रावककी दैनिक षट्क्रियाओं, पूजा-भक्ति एवं आराधना आदिका भी उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकारोंमें विभक्त है और पंचम अधिकार सल्लेखना नामका है। अन्तका पुष्पिकावाक्य निम्न प्रकार है—

"इति धर्मोपदेशपीयूषवर्षनामश्रावकाचारे भट्टारकश्रीमलिनभूषणशिष्य-ब्रह्मनेमिदत्तविरचिते सल्लेखनाक्रमव्यावर्णनो नाम पंचमोऽधिकारः" ।

रात्रिभोजनत्यागकथा—रात्रिभोजनत्याग व्रतका महत्त्व बतलानेके लिए नागश्रीकी कथा लिखी गयी है। आचार्यने कथाके मध्यमें रात्रिभोजनके दोषोंका भी निरूपण किया है। अन्तमें पुष्पिकावाक्य निम्नप्रकार आया है—

"इति भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्याचार्यश्रीसिंहनन्दिगुरूपदेशेन ब्रह्मनेमि-दत्तविरचिता रात्रिभोजन-परित्यागफलदृष्टान्त-श्रीनागश्रीकथा समाप्ता।"

मालारोहिणी—इस फूलमालामें आरम्भमें २४ तीर्थंकरोंका स्तवन किया गया है। मध्यमें धन, सम्पत्ति, यौवन, पुत्र, कलत्र आदिको क्षणविध्वंशी कहकर दान देनेकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहित किया गया है। संसारके समस्त ऐश्वर्योंको प्राप्तकर जो व्यक्ति प्रभुभक्ति नहीं करता, तीर्थंकरोंके चरणोंकी आराधना नहीं करता, वह अपने जन्मको निरर्थक व्यतीत करता है। इस पंचम कालमें तीर्थंकरभक्ति ही आत्मोत्थानका साधक है। भक्त सरलता-पूर्वक अपने राग, द्वेष, रोग, शोक, दारिद्रय आदिको दूर कर देता है। रचना निम्नप्रकार है—

वृषभ अजित संभव अभिनन्दन,
सुमति जिणेसर पाप निकंदन।
पद्म प्रभु जिन नामें गज्जउँ श्रीसुपास चंदप्पह पुज्जउँ।
पुप्फयंतु सीयलु पुज्जिज्जइ,
जिणु सेयंसु मणहिं भाविज्जइ।
वासुपुज्ज जिण पुज्ज करेप्पिणु,
विमल अणंत धम्मुझाएप्पिणु ॥

× × × ×

सुरासुर किनर खेयर भूरि,
जिणिंद पयच्चहिं णच्चहिं णारि।
सुरअप्छर गावहि सोक्खह धाम,
जिणिंदह सोहइ मोत्तिय दाम ॥

× × × ×

गलंति झत्ति जाइ कालु मोह जालु वट्टए।
सु होहि जाणु भव्व भाणु अग्गि जेम कड्ढए।
जिणिंद चंद पाय पुज्ज धम्मकज्जकिज्जए,
सुपत्तदाणु पुण्णठाणु वयणिहाणु लिज्जए ॥

आदित्यव्रतरास—इसमें १०९ पद्य हैं। गुजराती मिश्रित हिन्दीमें यह रचना लिखी गयी है। रविव्रतकी कथा वही अंकित है, जो अन्यत्र पायी जाती है। आरम्भमें ही कविने लिखा है—

पास जिनेसर पयकमल प्रणमिवि परमानंदनु।
भव-सायर-तरण-तारण भवीयण सुहतरुकंदनु॥
श्रीसारदा सहिगुरुनमीए निर्मल सौख्यनिधाननु।
आदित्यव्रतबखाणसुं ए जिन शासनपरधाननु॥

इस प्रकार ब्रह्मनेमिदत्त पुराणकाव्य और आचार शास्त्रके रचयिता हैं। इनके ग्रन्थोंमें मौलिकताकी कमी हो सकती है, पर पुराने कथानकोंको ग्रहण कर उसे अपनी शैलीमें निबद्ध करनेकी प्रक्रियामें आचार्य पारंगत हैं।

यशःकीर्ति

काष्ठासंघके माथुरान्वय पुष्करगणके भट्टारकोंमें भट्टारक यशःकीर्तिका नाम आया है। यों तो यशःकीर्ति नामके कई आचार्य और भट्टारक हुए हैं। एक यशःकीर्ति पद्मनन्दिके शिष्य जेरहट शाखाके भट्टारक हैं। इनका समय वि०की १७वीं शती है। दूसरे यशःकीर्ति नेमिचन्द्रके शिष्य हुए हैं। ये नौ वर्ष गृहस्थीमें रहे थे और ४० वर्ष तक इन्होंने पट्ट पर निवास किया था। तीसरे यशःकीर्ति माथुरगच्छके पद्मनन्दिके शिष्य हैं। इनका समय वि०की १८वीं शताब्दी है। चतुर्थ यशःकीर्ति रत्नकीर्तिके शिष्य हैं। वि०सं० १५३५के पश्चात् नोगाममें इनका पट्टाभिषेक हुआ था और वि०सं० १६१३में इनका स्वर्गवास हुआ। इन यशःकीर्तिके पश्चात् सिंहनन्दि तथा उनके पश्चात् गुणचन्द्र भट्टारक हुए। छट्ठे यशःकीर्ति रामकीर्तिके शिष्य हैं। रामकीर्तिका समय वि०की १९वीं शती है। ये बलात्कारगण ईडर शाखाके भट्टारक थे। इनके दादागुरु चन्द्रकीर्तिने वि०सं० १८३२में केसरियाजी तीर्थक्षेत्रमें २४ तीर्थंकरोंकी चरण-पादुकाएँ स्थापित की थीं। चन्द्रकीर्तिके पश्चात् रामकीर्ति और उनके पश्चात् यशःकीर्ति भट्टारक हुए। इनके उपदेशसे संवत् १८६३की आषाढ़शुक्ला तृतीयाको केसरियाजी मन्दिरके परकोटेका निर्माण पूरा हुआ था। श्रीब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने ईडरके भट्टारकोंका जो वृतान्त लिखा है, उसमें यशःकीर्तिके पश्चात् क्रमशः सुरेन्द्रकीर्ति, रामकीर्ति, कनककीर्ति और विजयकीर्तिका उल्लेख किया[1] है। सातवें यशःकीर्ति विजयसेनके शिष्य हैं और ८वें यशःकीर्ति विमलकीर्तिके शिष्य बताये गये हैं। जगतसुन्दरीप्रयोगमालामें

1. दानवीर माणिकचन्द्र, पृ० ३३।

विमलकीर्तिकी प्रशंसा की गयी है और उनके शिष्य यशःकीर्ति भी प्रशंसनीय माने गये हैं।

> संजाउ तस्स सीसो विबुहो सिरिविमलइत्ति विक्खाओ।
> विमलपरत्ति खडिया धवलिया धूणिय गयणाययले ॥
> जसइत्ति णाम पयडो पयपयरुहजुअलपडियभव्वयणो।
> सत्थमिणं जणदुलहं तेण हहिय समुद्धरियं ॥

अध्यनीय यशःकीर्त्ति काष्ठासंघ, माथुरगच्छकी पुष्करगण शाखाके सर्वाधिक यशस्वी, उच्चकोटिके साहित्यकार, कठिन तपस्वी, प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थोंके उद्धारक, नयी पीढ़ीके साहित्यकारोंके प्रेरक, उपदेष्टा एवं कला-साहित्य सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियोंके मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनकी प्रतिभासे राजन्यवर्ग, श्रेष्ठिवर्ग एवं सामान्य जन-समूह प्रभावित था। भविष्यदत्तपञ्चमीकथाकी प्रशस्तिमें इन्हें गुणकीर्त्तिका शिष्य कहा गया है—

"संवत् १४८६ वर्षे आषाढ़वदि ७ गुरुदिने गोपाचलदुर्गे राजाडूंगरसिंह राज्य-प्रवर्त्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे आचार्यश्रीसहस्रकीर्त्तिदेवाः तत्पट्टे आचार्यश्रीगुणकीर्त्तिदेवाः तच्छिष्य श्रीयशःकीर्त्तिदेवाः तत्पट्टे आचार्य श्रीगुणकीर्त्तिदेवाः तच्छिष्य श्रीयशःकीर्त्तिदेवाः तेन निजज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्तपञ्चमीकथा लिखापितम्[1]।"

महाकवि रइधूने इन्हें अपने गुरुके रूपमें स्मरण किया है। उन्होंने लिखा है—

> ....। सिरि गुणकित्तिसूरि पायउजणि।
> तहु सिंहासण सिहरि परिट्ठिउ। मुत्तिरमणि राएणोव-कंठिउ ॥
> सुजसयसर वासिय दिव्वासउँ। सिरि जसकित्ति णाम दिव्वासउँ ॥
>
> —सम्मइ० १०।३०।११-१३

× × ×

> तह पुणु सुतवतावतवियंगो। भव्वकमलसंबोहपयंगो।
> णिच्चोब्भासियपवयणअंगो। वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो ॥
>
> —सम्मतगुण० १।२।६-७

> पुणु तहु पट्टि पवर जसभायणु। सिरि जसकित्ति भव्व सुहदायणु ॥
>
> —महेसर० १।३।५

अर्थात् गुणकीर्त्तिके सिंहासन पर स्थित, मुक्तिरूपी रमणीसे अनुराग करनेके लिए उत्कंठित, प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजोन्मुख, यशस्वी, दिव्य नाम धारी और तपोयुक्त यशःकीर्त्ति हुए। ये भव्यजन-कमलोंको सम्बोधित

१. भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक ५५७।

करनेवाले, अंगसाहित्यके प्रवचनकर्त्ता, निष्परिग्रही, यतीश्वर, सुन्दर, सौम्य, मुनिगणतिलक और धर्मानुरागी थे।

महाकवि रइधूने इनको गुणकीर्त्तिका भाई भी बतलाया है। लिखा है—

········जो गुणस्सुकित्ति णामसो ॥
सुतासु पट्टि भायरो। वि आयत्थसायरो ॥
रिसीसु गच्छणायको। जयत्तसिक्खदायको ॥
जसक्खुकित्ति सुंदरो। अंकपु णायमंदिरो ॥

—पासणाह० १।२।८-११

इस कथन पुष्टि अन्य प्रशस्तिसे भी होती है—

संयमविवेक निलयान् विबुधकुलतिलकान् भट्टारक-लघु-भ्राता यशःकीर्त्ति-देवाः[1]।

अर्थात् भट्टारकयशःकीर्ति भट्टारकगुणकीर्तिके भाई, आगमग्रन्थोंके अर्थके लिए सागरके समान, ऋषीश्वरोंके गच्छनायक, विजयकी शिक्षा देनेवाले, सुन्दर, निर्भीक, ज्ञानमन्दिर, भट्टारक गुणकीर्तिके शिष्य तथा क्षमागुणसे सुशोभित थे।

भट्टारकयशःकीर्तिको गुणकीर्तिका लघुभाई महाकविसिंहने 'पज्जुण्ण-चरिउ'की अन्त्य पुष्पिकामें बताया है। भट्टारकयशःकीर्तिने भी अपनेको गुणकीर्तिका भाई लिखा है—

तह विक्खायउ मुणि गुणकित्तिणामु।
तव तेएं जासु सरीस खामु।
तहो णियबधउ जसकित्ति जाउ ॥

—यशःकीर्ति पाण्डवपुराण, अन्त्य प्रशस्ति।

अतः यह सम्भव है कि यशःकीर्ति गृहस्थावस्थामें गुणकीर्तिके लघुभाई रहे हों। गुणकीर्तिके पट्टासीन होनेपर ये उनके शिष्य हो गये होंगे।

भट्टारक परम्पराके इतिहास पर दृष्टिपात करनेसे अवगत होता है कि मध्यकालीन माथुरगच्छ परम्पराका आरम्भ माधवसेनसे हुआ है। इनके दो शिष्य हुए—उद्धरसेन और विजयसेन। उद्धरसेनके पश्चात् क्रमशः देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति और गुणकीर्तिभट्टारक हुए। गुण-कीर्तिके आम्नायमें वि०सं० १४६८में ग्वालियरमें राजा वीरमदेवके राज्यकालमें अग्रवाल साध्वी देवश्रीने पञ्चास्तिकायकी प्रति लिखवायी थी। आपने संवत् १४७३में एक मूर्ति स्थापित की थी।

---

१. आमेर प्रशस्ति संग्रह (जयपुर), पृ० १३७।

गुणकीर्तिके पट्टशिष्य—यश:कीर्ति हुए तथा इनके पट्टशिष्य मलयकीर्ति हुए। यश:कीर्ति अपने समयके अत्यन्त प्रसिद्ध और यशस्वी व्यक्ति थे।

स्थितिकाल

'भविष्यदत्तचरित'के प्रतिलिपिकी पुष्पिकासे स्पष्ट है कि वि०सं० १४८६में डूँगरसिंहके राज्यकालमें भट्टारकयश:कीर्ति यशस्वी हो चुके थे। भट्टारक यश:कीर्तिने जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थोद्धारके साथ-साथ लघु ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियोंका भी कार्य कराया था। इन ग्रन्थोंमें दो रचनाएँ प्रधान हैं—१. सुकुमालचरित[1] (अपभ्रंश) और २. भविष्यदत्तचरित। इन दोनों ग्रन्थोंके लेखक पं० विबुध श्रीधर थे। पं० थल्हू कायस्थने इन दोनों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ की थीं। इन प्रतिलिपियोंके पुष्पिकाओं एवं ग्वालियरके एक मूर्ति लेखसे यश:कीर्तिका समय वि०सं० १४८६-१५१० सिद्ध होता है।

यश:कीर्त्तिने पाण्डवपुराणकी रचना वि० सं० १४९७में की है तथा गोपाचल दुर्गकी श्रीआदिनाथ मूर्त्तिका एक अभिलेख वि० सं० १४९७ का प्राप्त है, जिसमें गुणकीर्त्तिके पट्टपर यश:कीर्त्तिके आसीन होनेकी चर्चा है। इस मूर्त्तिका प्रतिष्ठाकार्य पं० रइधूने सम्पन्न किया था। वि० सं० १५१० के मूर्ति लेखोंमें मलयकीर्त्तिका उल्लेख मिलने लगता है तथा एकाध मूर्त्ति लेखमें यश:कीर्त्तिका भी नाम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वि० सं० १५१० के लगभग यश:कीर्त्ति अपना पट्ट विमलकीर्त्तिको दे चुके थे। वि० सं० १५०२ के एक मन्त्र लेखमें भी मलयकीर्त्तिका निर्देश है। इस आधार पर श्री जोहरापुरकरने यश:कीर्त्तिका समय १४८६–१४९७ वि० सं० माना है। पर गोपाचलके मूर्त्ति लेखोंमें इनका निर्देश वि० १५१० तक पाया जाता है। अतएव इनका समय वि० सं० की पन्द्रहवीं शतीका अन्तिम भाग तथा सोलहवींका पूर्व भाग है।

यश:कीर्त्तिका व्यक्तित्व बहुमुखी है। ग्रन्थकर्त्ता, ग्रंथोद्धारकर्त्ता, ग्रन्थसंरक्षक होनेके साथ नये साहित्यकारोंके प्रेरणास्रोत भी ये रहे हैं। मूर्त्ति प्रतिष्ठाओंमें भी इन्होंने योगदान दिया है। इस प्रकार जैन संस्कृतिके प्रचार और प्रसारकी दृष्टिसे यश:कीर्त्तिके कार्योंका महत्त्व कम नहीं है।

१. सं० १४८६ वर्षे अश्विणिवदि १३ सोमदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगरसिंह देवविजय राज्यप्रवर्त्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्रीभावसेन देवास्त-त्पट्टे श्रीसहस्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे श्रीगुणकीर्ति देवास्तच्छिष्येण श्री यश:कीर्ति-देवेन····।

रचनाएं

आचार्यंयश:कीर्त्तिकी चार रचनाएँ प्राप्त हैं—

१. पाण्डवपुराण (अपभ्रंश)।

२. हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)।

३. जिणरत्तिकहा (अपभ्रंश)।

४. रविवयकहा (अपभ्रंश)।

१. पाण्डवपुराण—इस ग्रन्थमें ३४ सन्धियाँ हैं। इस ग्रन्थकी रचना मुवारिक शाहके राज्यकालमें साधुवील्हाके पुत्र हेमराजकी प्रेरणासे की गयी है। हेमराज योगिनीपुरकेनिवासी और अग्रवालवंशीय थे। ग्रन्थमें हेमराजकी प्रशंसा करते हुए बतलाया है कि ये सत्यवादी, व्यवसनरहित, जिनपूजक, परस्त्रीत्यागी, उदार और परोपकारी हैं। इनकी माताका नाम धेताही और पिताका नाम साधुवील्हा तथा धर्मपत्नीका नाम गंधा था। हेमराजका परिवार धर्मात्मा और कर्त्तव्यपरायण था।

इस ग्रन्थमें पाण्डव और कौरवोंके साथ श्रीकृष्णका चरित भी अंकित किया गया है। रचनाकी भाषाशैली प्रौढ़ है।

२ हरिवंशपुराण—इस रचनाका प्रणयन हिसारनिवासी अग्रवाल गर्गगोत्रीयसाहूदिवड्ढाके अनुरोधसे किया गया है। ग्रन्थकर्त्ताने प्रशस्तिमें बतलाया है कि योगिनीपुरमें पं०डूँगरसिंह और दिवड्ढा निवास करते थे। दिवड्ढा सेठसुदर्शनके समान शुद्धमनवाले, कर्मपरायण, दैनिक षट्कर्मोंका आचरण करनेवाले, दयालु, एकादश प्रतिमाओंके अनुष्ठाता एवं ज्ञानी थे। इनकी प्रेरणा प्राप्त कर यश:कीर्त्तिने हरिवंशपुराणकी अपभ्रंश भाषामें रचना की। इसमें १३ सन्धियाँ और २७१ कड़वक हैं। हरिवंशकी कथा अंकित है।

३. जिणरत्तिकहा—इस लघुकाय काव्यमें महावीरकी निर्वाणरात्रि कार्त्तिककृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिका काव्यात्मक चित्रण है।

४. रविवयकहा या आदित्यवार कथा—इसमें रविव्रतकथा अंकित है। छोटी-सी यह रचना भी उपादेय है।

शुभकीर्त्ति

शुभकीर्त्ति नामके अनेक आचार्य हुए हैं। इनमें एक शुभकीर्त्तिवादीन्द्र विशालकीर्त्तिके पट्टधर थे। इनके सम्बन्धमें बताया है—

········तपो महात्मा शुभकीर्त्तिदेवः।

एकान्तराद्युग्रतपोविधानाद्धातेव सन्मार्गविधेर्विधाने।

—पट्टावलिशुभचन्द्रः

तत्पट्टेजनि विख्यातः पंचाचारपवित्रधीः ।
शुभकीर्त्तिर्मुनिश्रेष्ठः शुभकीर्त्ति शुभप्रदः ॥

—सुदर्शनचरितम्

अर्थात् शुभकीर्ति पञ्चाचारके पालन करनेमें दत्तचित्त थे और सन्मार्गके विधिविधानमें ब्रह्माके तुल्य थे। मुनियोंमें श्रेष्ठ और शुभप्रदाता भी इन्हें कहा गया है। एक मूर्ति अभिलेखसे इनका समय वि० की १३ वीं शताब्दी सिद्ध होता है। गुर्वावलिमें बताया है—

ततो महात्मा शुभकीर्तिदेवः ।
एकान्तराद्युग्रतपोविधाता धातेव सन्मार्गविधेर्विधाने ॥

एक अन्य शुभकीर्तिका नाम चन्द्रगिरिपर्वतके अभिलेखमें आया है। इस अभिलेखमें कुन्दकुन्दाचार्यसे प्रारम्भ कर मेघचन्द्रवती तककी परम्परा दी गयी है। मेघचन्द्रके गुरुभाईका नाम बालचन्द्रमुनिराज बताया है। तत्पश्चात् आचार्य शुभकीर्तिका उल्लेख किया है, जिनके सम्मुख बादमें बौद्ध मीमांसकादि कोई भी नहीं ठहर सकता था। यह अभिलेख शकसंवत् १०६८ का है। अतः शुभकीर्तिका समय इसके कुछ पूर्व ही होना चाहिये[1]।

तीसरे शुभकीर्ति कुन्दकुन्दान्वयी प्रभावशाली रामचन्द्रके शिष्य थे। चतुर्थ शुभकीर्ति अपभ्रंश शान्तिनाथचरितके रचयिता हैं। इस चरितकाव्यमें ग्रन्थकर्त्ताका किसी भी प्रकारका परिचय प्राप्त नहीं है। ग्रन्थकी पुष्पिकामें निम्नलिखित वाक्य उपलब्ध होता है—"उहयभाषाचक्कवट्टि सुहकित्तिदेवविरइये" अर्थात् ग्रन्थ रचयिता संस्कृत और अपभ्रंश दोनों भाषाओंके निष्णात विद्वान् थे। कविने ग्रन्थके अन्तमें देवकीर्तिका उल्लेख किया है। एक देवकीर्ति काष्ठासंघ माथुरान्वयके विद्वान् हैं। उनके द्वारा विक्रम सं० १४९४ आषाढ़ वदी द्वितीयाके दिन एक धातुमूर्ति प्रतिष्ठित की गयी थी, जो आगराके कचौड़ा बाजारके मन्दिरमें विराजमान है। मूर्तिलेखमें बताया है—सं० १४९४ अषाढ़ वदि २ काष्ठासंघे माथूरान्वय श्रीदेवकीर्ति प्रतिष्ठिता।" उपलब्ध शान्तिनाथचरितकी प्रति वि० सं० १५५१ में लिखी गयी है। अतः इसका रचनाकाल इसके पूर्ववर्ती होना चाहिये। देवकीर्तिका समय वि० सं० १४९४ है, अतः बहुत

---

१. श्रीबालचन्द्रमुनिराजपवित्रपुत्रः
प्रोट्टप्तवादि जनमानलतालवित्रः ।
जीयादयं जितमनोजभुजप्रतापः
स्याद्वादसूक्तिशुभगश्शुभकीर्तिदेवः ॥ जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथमभाग, अभिलेख सं० ५०, पृ० ७७, पद्य ३७ ।

सम्भव है कि शुभकीर्ति इनके समकालीन रहे हों। इस प्रकार उनका समय वि० सं० की १५ वीं शताब्दी आता है।

रचना

शुभकीर्ति द्वारा विरचित अपभ्रंश शान्तिनाथचरित उपलब्ध होता है। जिसकी पाण्डुलिपि नागौरके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है। ग्रन्थ १९ सन्धियोंमें पूर्ण हुआ है। इसमें १६वें तीर्थंकरशान्तिनाथका जीवनचरित्र वर्णित है। शान्तिनाथ पंचम चक्रवर्ती भी थे। इन्होंने षट्खण्डोंको जीत कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। पश्चात् दिगम्बर दीक्षा ले तपश्चरणरूप समाधिचक्रसे महा-दुर्जय मोहकर्मका विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्तमें अघातिया-कर्मोंका नाशक अचल अविनाशी सिद्धपदको प्राप्त किया। ग्रन्थके आरम्भमें आचार्यने गौतमगणधर, जिनसेन, पुष्पदन्तका स्मरण किया है और बताया है कि जिस चरितको जिनराजने गौतम गणधरसे कहा, उस चरितको जिनसेन और पुष्पदन्तने अपने ग्रन्थोंमें निबद्ध किया। उसी चरितको शुभकीर्ति रूपचन्द-के अनुरोधसे निबद्ध करते हैं। रूपचन्दका परिचय देते हुए लिखा है कि इक्ष्वाकुवंशमें आशाधर हुए, जो ठक्कुर नामसे प्रसिद्ध थे और जिनशासनके भक्त थे। इनके 'धनवउ' ठक्कुर नामका एक पुत्र हुआ, जिसकी पत्नीका नाम लोनावती था और जो सम्यक्त्वसे विभूषित थी। इन्हींका पुत्र रूपचन्द हुआ, जिसके अनुरोधसे कविने शान्तिनाथचरित लिखा। ग्रन्थके पुष्पिकावाक्यमें रूपचन्दका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

> इक्ष्वाकूणां विशुद्धो जिनवर विभवाम्नायवंशे समांशे,
> तस्मादाशाधरीया बहुजनमहिमा जात जैसालवंशे।
> लीलालंकारसारोद्भवविभवगुणासारसत्कारलुब्धैः।
> शुद्धिसिद्धार्थसारां परियणगुणी रूपचन्द्रः सुचन्द्रः॥

कविने ग्रन्थके अन्तमें एक संस्कृत पद्यमें उसका रचनाकाल १४३६ दिया है। यह ग्रन्थ क्रोधनामक संवत्सरमें फाल्गुन मासमें कृष्णतृतीया बुधवारको समाप्त हुआ है।

> आसीद्विक्रमभूपतेः कलियुगे शांतोत्तरे संगते,
> सत्यं क्रोधननामधेयविपुले संवच्छरे संमते।
> दत्ते त्रयचतुर्दशे तु परमो षट्त्रिंशके स्वांशके।
> मासे फाल्गुणि पूर्वपक्षक बुधे सम्यक् तृतीयां तिथौ॥

इससे स्पष्ट है कि शुभकीर्तिका समय निश्चितरूपसे वि० की १५वीं शताब्दी है और उनका शान्तिनाथचरित महाकाव्य है। इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही महा-

काव्योचित उपकरणोंका निर्देश करते हुए शब्दालंकार और अर्थालंकारोंके साथ गुण, रीति और रसभावोंको महत्त्व दिया गया है। सिद्धान्त विषयोंके परिचय प्रसंगमें गुणस्थान, मार्गणा, ध्यान एवं तपोंका विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि काव्य, सिद्धान्त और आचार इन तीनोंकी त्रिवेणी इस ग्रन्थमें पायी जाती है।

टीकाकार नेमिचन्द्र

नेमिचन्द्र नामके अनेक आचार्योंका निर्देश जैन इतिहासमें प्राप्त होता है। गोम्मटसार और त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्तीने नेमिचन्द्र और द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचन्द्रके अतिरिक्त गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिकाके रचयिता नेमिचन्द्र भी उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त विजयकीर्तिके शिष्य नेमिचन्द्र, जिनका समय वि०की १८वीं शताब्दी है, निर्देश प्राप्त होता है। बलात्कारगण ईडर शाखाके पट्टपर नरेन्द्रकीर्तिके पश्चात् क्रमशः विजयकीर्ति, नेमिचन्द्र और चन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए हैं। बलात्कारगणके आचार्योंमें श्रीधरके शिष्य नेमिचन्द्रका उल्लेख प्राप्त होता है। श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें कोणूरके अभिलेखमें बताया है—

आ मुनिमुख्यन शिष्यं श्रीमच्चारित्रचक्रिसुजनविलासं।
भूमिपकिरीटताडितकोमलनखरश्मिनेमिचन्द्रमुनीद्रं[1] ॥

श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें नयकीर्तिके शिष्य नेमिचन्द्रका निर्देश मिलता है। अभिलेखसंख्या १२२ और १२४में नयकीर्ति सिद्धान्तदेवकी परम्परामें भानुकीर्ति, प्रभाचन्द्र, माघनन्दि, पद्मनन्दि और नेमिचन्द्रके नाम आते हैं। ये अभिलेख शकसंवत् ११०३ और शकसंवत् ११२२के हैं। इससे नेमिचन्द्रका समय वि०सं० की १३वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

नेमिचन्द्र नामके एक अन्य भट्टारक सहस्रकीर्तिके शिष्यके रूपमें उल्लिखित मिलते हैं। इनका समय वि०की १७वीं शताब्दी प्रतीत होता है। पट्टावलीमें नेमिचन्द्रके गृहस्थवर्ष, दीक्षावर्ष और स्वर्गारोहणवर्षका उल्लेख[2] है। बताया गया है कि सहस्रकीर्तिके पट्टपर वि० सं० १६५०की श्रावण शुक्ला त्रयोदशीको नेमिचन्द्रका पट्टाभिषेक हुआ। ये ११ वर्षों तक भट्टारक पदपर आसीन रहे। संवत् १६५४की आषाढ़ कृष्णा एकादशीको अजमेरमें इनकी शिष्या बाई सवीराके लिए वसुनन्दिश्रावकाचारकी एक प्रति लिखायी गयी[3]।

१. भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, लेखांक ९१, पद्य २३।

२. भट्टारक-सम्प्रदाय, लेखांक २८५।

३. वसुनन्दि-श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९४४, प्रस्तावना, पृ० १५।

इस समय दिल्ली-जयपुर शाखामें भट्टारक चन्द्रकीर्ति पट्टाधीश थे। नेमिचन्द्रके लिए पाण्डवपुराण की भी एक प्रति लिखायी गयी थी[1]। वि०सं० १६७२ फाल्गुन शुक्ला पञ्चमीको पाटणीगोत्रके भट्टारक यशःकीर्ति रेवा शहरमें पट्टाधीश हुए, तथा १८ वर्ष तक पट्टपर आसीन रहे[2]।

इस प्रकार जैन साहित्यमें कई नेमिचन्द्रोंका उल्लेख प्राप्त होता है। गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिकाके टीकाकार नेमिचन्द्र कौन हैं और इनकी गुरुपरम्परा क्या थी? यह सब विचारणीय है। गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणमें एक प्रशस्ति प्राप्त होती है, जिससे नेमिचन्द्रके संघ, गच्छ, गण आदिका परिचय प्राप्त होता है। प्रशस्तिमें लिखा गया है—

तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्कारगणोऽन्वयः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य नन्द्याम्नायोऽपि नन्दतु ॥
यो गुणैर्गुणभृद्गीतो भट्टारकशिरोमणिः।
भक्त्या नमामि तं भूयो गुरुं श्रीज्ञानभूषणम् ॥
कर्णाटप्रायदेशेशमल्लिभूपालभक्तितः।
सिद्धान्तः पाठितो येन मुनिचन्द्रं नमामि तम् ॥
योऽभ्यर्थ्य धर्मवृद्धयर्थं मह्यं सूरिपदं ददौ।
भट्टारकशिरोरत्नं प्रभेन्दुः स नमस्यते ॥
त्रिविधविद्याविख्यातविशालकीर्तिसूरिणा।
सहायोऽस्यां कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुदा ॥
सूरेः श्रीधर्मचन्द्रस्याभयचन्द्रगणेशिनः।
वर्णिलालादिभव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः ॥
रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वनाथालयेऽमुना।
साधुसांगासहेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥
गोम्मटसारवृत्तिर्हि नंद्याद्भव्यैः प्रवर्तिता।
शोधयन्त्वागमात् किंचिद्विरुद्धं चेत् बहुश्रुताः ॥
निर्ग्रन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना।
संशोध्याभयचन्द्रेणालेखि प्रथमपुस्तिका[3] ॥

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि संस्कृत जीवप्रदीपिकाटीकाके रचयिता मूलसंघ बलात्कारगण शारदागच्छ कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि आम्नायके नेमिचन्द्र हैं।

---

१. जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ० ३९।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक २८८।

३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पृ० २०९७-९८।

ये ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे। प्रभाचन्द्र भट्टारकने इन्हें आचार्यपद प्रदान किया था। कर्नाटकके जैन राजा मल्लिभूपालके भक्तिवश इन्हें मुनिचन्द्रने सिद्धान्तशास्त्रका अध्ययन कराया था। श्रीलालावर्णीके आग्रहसे ये गुर्जर देशसे आकर चित्रकूटमें जिनदास शाह द्वारा निर्मापित चैत्यालयमें ठहरे थे। यहाँ इन्होंने सूरिश्री धर्मचन्द्र, अभयचन्द्र भट्टारक और लालावर्णी आदि भव्य जीवोंके लिए खण्डेलवाल वंशके शाह साँगा और शाह सहेसकी प्रार्थनापर कर्नाटकीय वृत्तिके अनुसार जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति लिखी। इसकी रचनामें त्रैविद्यविद्याविख्यातविशालकीर्तिसूरिने सहायता की और उसे प्रथम बार हर्षपूर्वक पढ़ा। त्रैविद्य चक्रवर्ती निर्ग्रन्थाचार्य अभयचन्द्रने उसका संशोधन करके उसकी प्रथम प्रति तैयार की थी।

अतः उपर्युक्त प्रशस्तिके अनुसार केशववर्णीकी कन्नड़ टीकाके आधारपर जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके रचयिता नेमिचन्द्र हैं। इस टीकाके अन्तमें जो सन्धिवाक्य आते हैं, उनमें भी नेमिचन्द्रका उल्लेख है। यथा—'इत्याचार्यश्रीनेमिचन्द्रकृतायां गोम्मटसारापरनामपञ्चसंग्रहवृत्तौ'—यहाँ 'नेमिचन्द्रकृतायायां' वृत्तिका विशेषण है, गोम्मटसारका नहीं। अतएव यहाँ गोम्मटसारके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका भ्रम नहीं होना चाहिये।

टीकाके प्रारम्भमें जो मंगलाचरण किया गया है, वह भी नेमिचन्द्र टीकाकारको सूचित करता है। टीकाकारने यहाँ श्लेष द्वारा अपना और अपने गुरुका नाम प्रस्तुत किया है। यथा—

नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणम्।
वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तितः॥

केशववर्णीने गोम्मटसारकी कर्नाटकवृत्ति लिखी है। इस वृत्तिका नाम भी जीवतत्त्वप्रदीपिका है। केशववर्णीको ही कुछ लोग संस्कृत जीवतत्त्वप्रदीपिकाका रचयिता मानते हैं। पर डॉ० ए० एन० उपाध्येने केशववर्णीकी कन्नड़ टीका बतलायी है और इस टीकाके आधारपर नेमिचन्द्रने संस्कृतमें जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका लिखी है[1]। कर्नाटकवृत्तिके रचयिता केशववर्णीके गुरु अभयचन्द्रसूरि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। इन्होंने गोम्मटसारकी वृत्ति शक संवत् १२८१ (वि०सं० १४१६)में पूर्ण की है।

स्थितिकाल

वृत्तिकार नेमिचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें समयका निर्देश नहीं किया है। केशववर्णीने अपनी कर्नाटक वृत्तिको शक संवत् १२८१ (वि०सं० १४१६)में

१. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० ११३।

समाप्त किया है। जीवतत्त्वप्रदीपिका कर्नाटकवृत्तिके अनुसरणपर लिखी गयी है। अतः उसका रचनाकाल वि०सं० १४१६के पश्चात् होना चाहिये। पण्डित टोडरमलजीने संस्कृत-जीवतत्त्वप्रदीपिकाके आधारपर हिन्दी-टीकाका निर्माण वि०सं० १८१८में किया है। अतः इन दोनों समय-सीमाओंके बीचमें ही जीवतत्त्वप्रदीपिकाका रचनाकाल सम्भाव्य है।

टीकाकी प्रशस्तिमें कर्नाटप्रायदेशके स्वामी मल्लिभूपालका उल्लेख आया है। डॉ० ए० एन० उपाध्येने संस्कृत-जीवतत्त्वप्रदीपिकाका रचनाकाल ई० सन्की १६वीं शताब्दी बतलाया है। डॉ० उपाध्येने लिखा है—'जैन साहित्यके उद्धरणोंपर दृष्टि डालनेसे मुझे मालूम होता है कि मल्लिनामका एक शासक कुछ जैन लेखकोंके साथ प्रायः सम्पर्कको प्राप्त है। शुभचन्द्र-गुर्वावलीके अनुसार विजयकीर्त्ति (ई० सन् १६वीं शताब्दीके प्रारंभमें) मल्लिभूपालके द्वारा सम्मानित हुआ था। विजयकीर्त्तिका समकालीन होनेसे उस मल्लिभूपालको १६वीं शताब्दीके प्रारम्भमें रखा जा सकता है। उसके स्थान और धर्म विषयका हमें कोई परिचय ज्ञात नहीं। दूसरे, विशालकीर्त्तिके शिष्य विद्यानन्दिके विषयमें कहा जाता है कि ये मल्लिरायके द्वारा पूजे गये थे और ये विद्यानन्दि ई० सन् १५४१में दिवंगत हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि १६वीं शताब्दीके प्रारम्भमें एक मल्लिभूपाल था। हुम्मचका शिलालेख इस विषयको और भी स्पष्ट कर देता है। उसमें बताया गया है कि यह राजा जो विद्यानन्दिके सम्पर्क में था, सालुव मल्लिराय कहलाता था। यह उल्लेख हमें मात्र परम्परागत किंवदन्तियोंसे हटाकर ऐतिहासिक आधारपर ले आता है। सालुव नरेशोंने कनारा जिलेके एक भागपर राज्य किया है और वे जैनधर्मको मानते थे। मल्लिभूपाल मल्लिरायका संस्कृत किया हुआ रूप है। और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नेमिचन्द्र सालुवरायका उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि उन्होंने उनके वंशका उल्लेख नहीं किया है। १५३० ई०के लेखमें उल्लिखित होनेसे हम सालुव मल्लिरायको १६वीं शताब्दीके प्रथम चरणमें रख सकते हैं। और उसके विद्यानन्दि तथा विजयकीर्त्ति विषयक सम्पर्कके साथ भी अच्छी तरह संगत जान पड़ता है। इस तरह नेमिचन्द्रके सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे हम संस्कृत-जीवतत्त्वप्रदीपिकाकी रचनाको ईसाकी १६वीं शताब्दीके प्रारम्भकी ठहरा सकते हैं[१]।"

डॉ० उपाध्येके उक्त कथनसे स्पष्ट है कि टीकाकार नेमिचन्द्रका समय १६ वीं शती है। अब यह विचारणीय है कि प्रशस्ति और मंगलाचरणमें जिन ज्ञान-

१. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० १२०।

भूषणका उल्लेख आया है, उनके समयपर विचार करनेसे भी नेमिचन्द्रकी तिथि ज्ञात की जा सकती है। जैन साहित्यमें चार ज्ञानभूषणोंका उल्लेख मिलता है। एक ज्ञानभूषण भुवनकीर्तिके शिष्य हैं, दूसरे रत्नकीर्तिके शिष्य हैं, तीसरे वीरचन्द्रके शिष्य हैं और चौथे शीलभूषणके शिष्य। भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषण बलात्कारगण ईडरशाखाके भट्टारक थे। इन्होंने संवत् १५३४ में चारित्र-यन्त्र, संवत् १५३५ में एक रत्नत्रयमूर्ति और संवत् १५४२ में पद्मप्रभमूर्तिकी प्रतिष्ठा करायी थी। वि० सं० १५६० में तत्त्वज्ञानतरंगिणीकी रचना[1] भी इन्हीं ज्ञानभूषणने की है। नन्दिसंघकी[2] पट्टावलीमें इनका परिचय दिया गया है। अतः भुवनकीर्त्तिके शिष्य ज्ञानभूषण ही नेमिचन्द्रके गुरु हो सकते हैं। ज्ञानभूषण गुज-रातके रहनेवाले थे और दक्षिण तथा उत्तरके प्रदेशोंमें सम्मान्य थे। नेमिचन्द्र भी गुजरातसे चित्रकूट गये थे।

नेमिचन्द्रको सूरिपद भट्टारक प्रभाचन्द्रने प्रदान किया था। वादिचन्द्रने विक्रम संवत् १५४० में पार्श्वपुराण और वि० सं० १६४८ में ज्ञानसूर्योदय नाटक लिखा है। इन्होंने अपने गुरुका नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र बतलाया है, साथ ही अपनेको ज्ञानभूषणका प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रका शिष्य बताया है। इनके द्वारा रचित श्रीपालाख्यान नामक गुजराती ग्रन्थमें इनकी गुरुपरम्परामें विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र और वादिचन्द्रके नाम आये हैं। अतः इस परम्पराके अनुसार तत्त्वज्ञानतरंगिणीके रचयिता भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र थे। इन्हीं प्रभाचन्द्र भट्टारकने नेमिचन्द्र-को सूरिपद प्रदान किया था। अतः ज्ञानभूषण और प्रभाचन्द्रकी संगति नेमि-चन्द्रके साथ बैठ जाती है। अतएव टीकाकार नेमिचन्द्रका समय १६वीं शती सिद्ध होता है और जीवतत्त्वप्रदीपिकाका समाप्तिकाल ई० सन् १५१५ के लगभग आता है। श्री पं० नाथूराम प्रेमीने भी वीर निर्वाण संवत् २१७७—६०५ = १५७२ माना है। पर वे इसे शक संवत् मानते हैं, जो गलत है। यह विक्रम संवत् है, शक नहीं। इस प्रकार नेमिचन्द्रका समय ईस्वी सन्की १६वीं शतीका मध्य भाग है।

रचना

नेमिचन्द्रकी 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक गोम्मटसारकी संस्कृत-टीका प्राप्त

१. यदैव विक्रमातीताः शतपञ्चदशाधिकाः।
षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः॥

—तत्त्वज्ञान० कलकत्ता १९१६, १८।२३।

२. जैनसिद्धान्तभास्कर भाग १, किरण ४, पृ० ४३–४५।

है। यह टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें गम्भीर और कठिन विषयको अत्यन्त सरलतापूर्वक स्पष्ट किया गया है। सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चाके साथ ही साथ अलौकिक गणित, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, श्रेणि, जगत्प्रतर, घनलोक आदि राशियोंका कथन है, उसे सहनानियोंके द्वारा अंकसंदृष्टिके रूपमें स्पष्ट किया गया है। समस्त गूढ़ और दुरूह विषयोंका स्पष्टीकरण सम्यक्तया किया है। जीवविषयक और कर्मविषयक प्रत्येक चर्चित विषयका सैद्धान्तिक रूपमें सुन्दर विवेचन किया है। टीकाके अध्ययनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि टीकाकारको विषय, भाषा, गणित, सिद्धान्त, आचार आदिका स्पष्ट ज्ञान था।

इस टीकाकी शैलीकी यह विशेषता है कि इसमें न तो अनावश्यक विस्तार है और न अत्यधिक संकोच ही। विषयके विवेचनमें पर्याप्त सन्तुलन रखा गया है।

इस टीकामें संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंके शताधिक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। इन्होंने समन्तभद्राचार्यके आप्तमीमांसा, विद्यानन्दके आप्तपरीक्षा, सोमदेवके यशस्तिलक, नेमिचन्द्रके त्रिलोकसार और आशाधरके अनगार-धर्मामृत प्रभृति ग्रन्थोंसे अपने विषयकी पुष्टिके लिए उद्धरण दिये हैं। टीका-में यतिवृषभ, भूतबली, समन्तभद्र, भट्टाकलंक, नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र और केशववर्णी आदि ग्रन्थकारोंके नामोंका भी निर्देश किया है।

यह सत्य है कि यह संस्कृत-टीका न होती, तो पं० टोडरमलजी गोम्मटसार-का रहस्योद्‌घाटन नहीं कर पाते। केशववर्णीकी कर्णाटक वृत्तिका आश्रय लिया गया है।

मुनि महनन्दि

मुनि महनन्दिभट्टारक वीरचन्दके शिष्य थे। ये अपने युगके अत्यन्त प्रति-ष्ठित साहित्यकार थे। इनके द्वारा विरचित 'बारहखड़ी दोहा' या 'पाहुड दोहा' ग्रन्थ प्राप्त है। इसमें ३३३ दोहे हैं। इन्होंने ग्रन्थके आदिमें अपने गुरुका नाम उल्लेख किया है—

बारह विउणा जिण णवमि किय बारह अक्खरकक्क।
महयंदिण भवियायण हो, णिसुणहु थिरमण थक्क॥
भवदुक्खह निव्विणएण, वीरचन्दसिस्सेण।
भवियह पडिबोहण कया, दोहा कव्वमिसेण॥

उपलब्ध पाण्डुलिपिके अन्तमें निम्नलिखित ग्रन्थ-प्रशस्ति पायी जाती है—

"संवत् १६०२ वर्षे वैशाख सुदि १० तिथौ रविवासरे उत्तराफाल्गुनक्षत्रे। राजाधिराज साहि आलम राये। नगर चंपावतीमध्ये श्रीपार्श्वनाथचैत्यालये।

श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे भट्टारकश्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये। भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पटे भट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीजिनचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीप्रभाचन्द्रदेवस्तच्छिष्यमंडलाचार्य श्रीधर्म्मचन्द्रदेवास्तदाम्नाये।''

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि यह पाण्डुलिपि वि० सं० १६०२ में तैयार की गयी है। यह प्रति चम्पावतीके पार्श्वनाथके चैत्यालयमें लिखी गयी है। महनन्दिने अपना विशेष परिचय नहीं दिया है और न इस ग्रन्थके लिखनेका काल ही दिया है। भट्टारक वीरचन्द्र, जिनको इन्होंने अपना गुरु माना है वह भी निश्चितरूपसे कौन वीरचन्द्र हैं, यह नहीं कहा जा सकता है। बलात्कारगण संघ सूरत-शाखाके भट्टारकोंमें भट्टारक लक्ष्मीचन्द्रके दो शिष्योंके नाम आते हैं—अभयचन्द्र और वीरचन्द्र। वीरचन्द्रका समय एक मूर्तिलेखके आधारपर १६ वीं शताब्दी प्रतीत होता है। यदि इन्हीं वीरचन्द्रके ये शिष्य हों, तो महनन्दिका समय भी १६ वीं शतीका उत्तरार्द्ध होना चाहिये। महनन्दि मुनि थे, भट्टारक नहीं। अतएव वीरचन्द्रकी पट्टावलीमें इनके नामका उल्लेख न होना स्वाभाविक ही है। अतः हमारा अनुमान है कि लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य वीरचन्द्र ही इनके गुरु हैं और इनका समय वि० सं० की १६ वीं शताब्दी है।

रचना

महनन्दिकी एक ही रचना प्राप्त है—पाहुडदोहा। यह रचना बाहरखड़ीके क्रमसे लिखी गयी है। इस बारहखड़ीमें य, श, ष, ङ, ञ और ण इन वर्णोंका समावेश नहीं किया है और न इन वर्णोंपर कोई दोहा ही लिखा गया है। इसमें ३३३ दोहे हैं, जिनकी संख्याकी अभिव्यञ्जना कविने विभिन्न रूपोंमें की है।

एक्कु या रु ष शारदुह ङ ण तिन्निवि मिल्लि।
चउवीस गल तिण्णिसय, विरइए दोहा वेल्लि॥ ४॥
तेतीसह छह छंडिया, विरइय सत्तावीस।
वारह गुणिया तिण्णिसय, हुअ दोहा चउवीस॥ ५॥
सो दोहा अप्पाणयहु, दोहो जोण मुणेइ।
मुणि महयंदिण भासियउ, सुणिविण चित्ति धरेइ॥ ६॥

यह रचना उपदेशात्मक, आध्यात्मिक और नीति सम्बन्धी है। कविने छोटे-छोटे दोहोंमें सुन्दर भावोंका गुम्फन किया है। स्थापत्यकी दृष्टिसे भी इसका कम महत्त्व नहीं है। बारह खड़ी शैलीमें कविने दोहोंका सृजन किया है। प्रत्येक दोहेके आरम्भमें क, का, की, कि, कु- कू, के, कै, को, कौ, कं, कः तथा ख, खा, खी, खि, खु, खू, खे, खै, खो, खौ, खं, खः के क्रमसे दोहोंका सृजन किया

गया है। विषय आरम्भ करते समय कवि अहिंसाकी महत्ताका निरूपण करते हुए कहता है कि संसारमें समस्त धर्मका सार अहिंसा है। अतएव प्राणीको हिंसक आचरण द्वारा इस संसारमें निमग्न नहीं होना चाहिये। अहिंसाका आचरण व्यक्तिके जीवनको उन्नत बनाता है, भावोंको विशुद्ध करता है और निर्वाण-मार्गकी ओर ले जाता है। कविने लिखा है—

किजइ जिणवर भासियऊ, धम्मु अहिंसा सारु।
जिम छिजइ रे जीव तुहु, अवलीढउ संसारु ॥ ९ ॥

कवि आत्माकी अमरता और शरीरकी नश्वरताका चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार दूधमें घी, तिलमें तैल और काष्ठमें अग्नि रहती है, उसी प्रकार शरीरमें आत्मा निवास करती है। अतएव जो क्षुद्र भावोंको त्यागकर स्वभाव धारण करता है, वही तप, व्रत और संयम धारण कर कर्मोंका क्षय करता है। जो ध्यान द्वारा कर्मोंका क्षपण करता है, वह सात-आठ या दो-तीन भवमें मुनिपद प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कवि व्रत, संयम, नियम और तपपर विशेष जोर देता है। वस्तुतः जो आराधक सम्यक्त्वको प्राप्त कर व्रत और संयम द्वारा अपनी आत्माको पवित्र करता है, वह शीघ्र ही निर्वाणपद पाता है। कवि शरीरप्रमाण सर्वांगीण आत्माकी सिद्धि करता हुआ कहता है—

खीरह मज्झइ जेम घिउ, तिलउ मंज्झि जिम तिलु।
कट्ठिहु वासणु जिम वसइ, तिम देहहि देहिल्लु ॥ २२ ॥
खुद्दभाव जिय परिहरहिं, सुहभाव हिं मणुदेहि।
तव वयणिर्महि संजमहि, ढुक्किय कम्म खवेहि ॥ २३ ॥
खणाम वंदणि पडि कमणि, झाण सयण मकरीसि।
सत्तट्ठहिं दुहु-तिहि भवहि, मुणि णिव्वाणु लहीसि ॥ २४ ॥

आचार्यने बताया है कि जो व्यक्ति जीवनपर्यन्त, इन्द्रियनिग्रह, दया, संयम, नियम और तपका आचरण करता है, उसके मरण करनेमें कोई हानि या कष्ट नहीं है। इस मनुष्यपर्यायका उद्देश्य व्रत और संयम धारण करना है। यदि जीवनमें व्रत और संयमकी प्राप्ति हो गयी, तो यह मनुष्यपर्याय सार्थक हो जाती है। जीवनका अन्तिम लक्ष्य आत्मशुद्धि है, जो व्यक्ति इस आत्मशुद्धिके लिए प्रयत्नशील रहता है, वह मनुष्यभवको सार्थक कर लेता है।

दमु दय संजमु णियमु तउ, आजं मुवि किउ जेण।
तासु मर तहं कवण भऊ, कहियउ महइंदेण ॥ १७५ ॥

आचार्यने दानके चार भेद बतलाये हैं—जीवदया, आहारदान, औषधदान

और विद्यादान। जो श्रावक इन चारों दानोंको देता रहता है, वह अपने कर्मोंकी शीघ्र निर्जरा कर लेता है। गृहस्थावस्थामें दान, पूजन और स्वाध्याय ही कर्मक्षयका कारण है। लिखा है—

दाणु चउविहु जिणवरहं, कहियउ सावय दिज्ज।
दय जीवहं चउसंघहवि, भोयणु ऊसह विज्ज॥ १७६॥

इसी प्रकार समाधिमरणके सम्बन्धमें लिखते हुए कविने पण्डितमरणको श्रेष्ठ बताया है—

बाल मरण मुणि परिहरहिं, पंडिय मरणु मरेहिं।
बारह जिण सासणि कहिय, अणुवेक्खउ सुमरेहि॥ २२६॥

कविने ग्रन्थको समाप्त करते हुए लिखा है—

जो पढइ पढावई संभलइ, देविणु दवि लिहावइ।
महयंदु भणंइ सो नित्तुलउ, अक्खइ सोक्खु परावइ॥ ३३३॥

गुणचन्द्र

भट्टारक गुणचन्द्र मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगणके भट्टारक रत्नकीर्तिके प्रशिष्य और भट्टारक यशःकीर्तिके शिष्य थे। यशःकीर्ति अपने समयके अच्छे विद्वान हैं। पट्टावलीमें यशःकीर्तिका उल्लेख निम्न प्रकार आया है—

श्रीरत्नकीर्तिपदपुष्करालिरादेष्टमुख्यो यशकीर्तिसूरिः।
पदौ भजामि सुहृचेष्टमूर्तिर्देदीप्यातां कौ मुनिचक्रवर्ती[1]॥ ३८॥

भट्टारक-सम्प्रदायके लेखक जोहरापुरकरके अनुसार भानपुर-शाखाके भट्टारकोंमें रत्नकीर्तिका समय वि० सं० १५३५, यशःकीर्तिका समय १६१३ और गुणचन्द्रका समय वि०सं० १६३०–१६५३ बताया गया है। गुणचन्द्रका पट्टाभिषेक साँवला गाँवमें हुआ था। इनका स्वर्गवास सागवाड़ामें वि० सं० १६५३में हुआ है। एक ऐतिहासिक पत्रमें बताया है—"तेणानो पाटे गाम सावले····समस्त संघ मिली आचार्य गुणचन्द्र स्थापना करवानी····सं० १६५३ वर्षे आचार्यश्री गुणचन्द्रजी सागवाडे काल करयो[2]॥"

गुणचन्द्रके पश्चात् इस पट्टपर सकलचन्द्र भट्टारक पट्टाधीश हुए हैं। भट्टारक गुणचन्द्र संस्कृत और हिन्दी भाषाके विद्वान् और कवि हैं। इनका समय वि० की १७ वीं शताब्दी है। यशःकीर्तिका स्वर्गवास वि० सं० १६१३ में हुआ था और इसके पश्चात् भट्टारक गुणकीर्ति उनके पट्टपर आसीन हुए। ऐतिहासिक

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ४०१।

२. वही, लेखांक ४०५।

पत्रमें गुणकीर्तिके भट्टारक होनेका यही समय दिया है। लिखा है—"पीछे संवत् १६१३ वर्षे जसकीर्ति ये वागड माहे गाम भीलोडे काल करयो तेणानेपाटे गाम सावले पछोरी खाता पछोरी छा छादी समस्त संघ मीली आचार्य गुणचन्द्र स्थापना करवाने[1]"। अतएव भट्टारक गुणचन्द्रका समय वि० सं० १६१३–१६५३ है।

रचनाएँ

भट्टारक गुणचन्द्रकी संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओंमें रचनाएँ पायी जाती हैं। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. अनन्तनाथपूजा (संस्कृत)
२. मौनव्रतकथा ,,
३. दयारसरास[2] (हिन्दी)
४. राजमतिरास ,,
५. आदित्यव्रतकथा ,,
६. बारहमासा ,,
७. बारहव्रत ,,
८. विनती ,,
९. स्तुति नेमिजिनेन्द्र ,,
१०. ज्ञानचेतनानुप्रेक्षा ,,
११. फुटकर पद ,,

अनन्तनाथपूजा—कविने इसे वि० सं० १६३० में हुम्मड़वंशी सेठ हरखचन्द दुर्गादास नामक वणिककी प्रेरणासे सागवाड़ाके आदिनाथ मन्दिरमें रहकर उन्हींके व्रत-उद्यापनार्थ रचना की गयी है। इस रचनामें अनन्तनाथ भगवान्की पूजा और विधि अंकित है। इस पूजाके अन्तमें कृतिका रचनाकाल एवं कविने अपनी गुरुपरम्परा अंकित की है। लिखा है—

संवत् षोडशत्रिंशतैष्यपलके पक्षेवदाते तिथौ
पक्षत्यां गुरुवासरे पुरजिनेट् श्रीशाकमार्गे पुरे।
श्रीमध्दु बड़वंशपद्मसविता हर्षाख्यदुर्गी वणिक्
सोयं कारितवाननंतजिनसत्पूजां वरे वाग्वरे[3] ॥

मौनव्रतकथा—मौनव्रतकथामें मौनव्रतका महत्त्व बतलानेके लिए कथा

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १३, किरण २, पृ० ११४।
२. अनेकान्त, वर्ष १७, किरण ४, पृ० १८९।
३. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ४०४।

अंकित की गयी है। यह कृति भाव, भाषा और शैलीकी दृष्टिसे साधारण है।

हिन्दी रचनाओंमें राजमतिरास, दयारसरास ही महत्त्वपूर्ण हैं। शेष रचनाएँ सामान्य हैं। इनकी भाषापर गुजराती प्रभाव स्पष्ट है। राजमतिरासमें २०४ पद्य हैं और दयारसरासमें ९५। राजमतिरासमें २२वें तीर्थङ्कर भगवान नेमिनाथ और राजमतिका जीवन अंकित किया गया है। नेमिनाथकी विरक्तिके पश्चात् राजुलका विरह मार्मिक रूपमें चित्रित हुआ है। राजुल आत्मशक्ति एकत्र कर स्वयं तपस्विनी बनती है। इस रासमें राजुल और सखीका संवाद बहुत ही मार्मिक है। सखी कहती है—

तव सखि भणइ न जानसि भावा, रुत्ति असाढ कामिनि सरु लावा।
बादर उमडि रहे चहुँ देसा, विरहनि नयन भरइ अलिकेसा[1]॥

इस प्रकार कविकी रचनाएँ जनसामान्यको तो प्रभावित करती ही हैं, विद्वानोंको भी प्रेरणा देती हैं। कविने वि० सं० १६३९ की मार्गशीर्ष शुक्ला एकमको षड़ावश्यककी एक प्रति अपने डूंगराको दी थी।

नरेन्द्रसेन

नरेन्द्रसेन नामके कई आचार्य हुए हैं, पर हमें 'प्रमाणप्रमेयकलिका' के रचयिता नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कृतित्व उपस्थित करना अभीष्ट है। एक नरेन्द्रसेनका उल्लेख वादिराजने अपने न्यायविनिश्चयकी अन्तिम प्रशस्तिमें किया है। वादिराजने इनकी गणना विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, पूज्यपाद, दयापाल, सन्मतिसागर, कनकसेन, अकलंक और स्वामी समन्तभद्रकी श्रेणीमें की है। वादिराजका समय ई० सन् १०२५ है, अतः नरेन्द्रसेन इनके पूर्ववर्ती हैं।

दूसरे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनकी गुणस्तुति मल्लिषेण सूरिने नागकुमार चरितकी अन्तिम प्रशस्तिमें की है।

तस्यानुजश्चारुचरित्रवृत्तिः प्रख्यातकीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्तिः।
नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्रः॥

मल्लिषेणने इन नरेन्द्रसेनको जिनसेनका अनुज बतलाया है और उन्हें उज्ज्वल चरित्रका धारक, प्रख्यातकीर्ति, पुण्यमूर्ति, वादिविजेता, तत्त्वज्ञ एवं कामविजयीके रूपमें वर्णित किया है[2]। वादिराज और मल्लिषेण दोनों समकालीन हैं। अतएव दोनोंके द्वारा उल्लिखित नरेन्द्रसेन एक ही व्यक्ति हो सकते हैं।

---

१. अनेकान्त, पृ० १९० से उद्धृत।

२. प्रशस्तिसंग्रह, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, पृ० ६१।

तृतीय नरेन्द्रसेन 'सिद्धान्तसारसंग्रह' और 'प्रतिष्ठादीपक'के रचयिता हैं। प्रशस्तियोंमें उनकी उपाधि पण्डिताचार्य प्राप्त होती है। ये नरेन्द्रसेन अपनेको वीरसेनका प्रशिष्य और गुणसेनका शिष्य बतलाते हैं। इनके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है।

चौथे नरेन्द्रसेन काष्ठासंघके लाडवागडगच्छकी पट्टावलीमें उल्लिखित हैं। इन्होंने अल्पविद्याजन्य गर्वसे युक्त आशाधरको सूत्रविरुद्ध प्ररूपणा करनेके कारण अपने गच्छसे निकाल दिया[1] था। ये नरेन्द्रसेन पद्मसेनके शिष्य थे। पट्टावलीमें गुरु-शिष्योंकी लम्बी परम्परा दी गयी है। इसमें त्रिषष्टिपुराणपुरुषचरित-कर्त्ता महेन्द्रसेन, चतुर्दशतीर्थङ्करचरितकर्त्ता अनन्तकीर्ति, चन्द्रतपस्वीविजेता विजयसेन, लाडवागडगच्छके जन्मदाता चित्रसेन, पद्मसेन और नरेन्द्रसेनके नाम आये हैं। पट्टावलीसे यह भी अवगत होता है कि पद्मसेनशिष्य नरेन्द्रसेन प्रभावशाली विद्वान् थे। इनके द्वारा बहिष्कृत किये गये आशाधरको श्रेणि-गच्छमें जाकर आश्रय लेना पड़ा था। ५वें नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख वीतरागस्तोत्रमें उसके कर्त्ताके रूपमें हुआ है—

श्रीजैनसूरि-विनत-क्रमपद्मसेनं,
हेला-विनिर्दलित-मोह-नरेन्द्रसेनम्[2]।

इस स्तोत्रमें पद्मसेनका भी उल्लेख है। ये दोनों आचार्य स्तोत्रकर्त्ता द्वारा गुरुरूपसे स्मृत किये गये हैं। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने इस स्तोत्रका रचयिता कल्याणकीर्तिको बतलाया है। स्तोत्रमें पद्मसेन और नरेन्द्रसेनका उल्लेख होनेसे ये चतुर्थ नरेन्द्रसे भिन्न नहीं हैं।

छट्ठे नरेन्द्रसेन संस्कृत-रत्नत्रयपूजाके कर्त्ता हैं। इस पूजाके पुष्पिका-वाक्यमें लिखा है—

"इति श्रीलाडवागडीयपण्डिताचार्यश्रीमन्नरेन्द्रसेन-विरचिते-रत्नत्रयपूजा-विधाने दर्शनपूजा समाप्ता[3]।"

सिद्धान्तसारके कर्त्ता नरेन्द्रसेनकी उपाधि भी पण्डिताचार्य है तथा वे भी लाडवागडगच्छके आचार्य हैं। अतः बहुत सम्भव है कि ये दोनों व्यक्ति अभिन्न हों।

---

१. तदन्वये श्रीमत्‌लाटवर्गटप्रभावश्रीपद्मसेनदेवानां तस्य शिष्यश्रीनरेन्द्रसेनदेवैः किंचिद्-विद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशाधरः स्वगच्छान्निःसारितः कदाग्रहग्रस्त' श्रेणिगच्छ-मशिश्रियत्।—भट्टारक सम्प्रदाय, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, लेखांक ६३२।

२. अनेकान्त वर्ष ८, किरण—६—७, पृ० २३३।

३. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २५३, लेखांक ६३३।

७वें नरेन्द्रसेन सेनगण पुष्करगच्छकी गुरुपरम्परामें छत्रसेनके पट्टाधिकारी हुए हैं। इन्होंने शक संवत् १६५२ में कमलेश्वर (नागपुर) के एक जिन-मन्दिरमें ज्ञानयंत्रकी प्रतिष्ठा करायी थी।

श्रीमज्जैनमते पुरन्दरनुते श्रीमूलसंघे वरे
श्रीशूरस्थगणे प्रतापसहिते सद्भूपवृन्दस्तुते।
गच्छे पुष्करनामके समभवत् श्रीसोमसेनो गुरुः
तत्पट्टे जिनसेनसन्मतिरभूत धर्मामृतादेशकः ॥१॥
तज्जोऽभूद्धि समन्तभद्रगुणवत् शास्त्रार्थपारंगतः
तत्पट्टोदयतर्कशास्त्रकुशलो ध्यानप्रमोदान्वितः।
सद्विद्यामृतवर्षणैकजलदः श्रीछत्रसेनो गुरुः
तत्पट्टे हि नरेन्द्रसेनचरणौ संपूजयेऽहं मुदा[1] ॥२॥

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि इसमें छत्रसेनको 'तर्कशास्त्रकुशल' और दादागुरु समन्तभद्रको 'शास्त्रार्थपारंगतः' कहा गया है। अतएव छत्रसेनके शिष्य नरेन्द्र-सेन तर्कशास्त्री विद्वान् थे।

इनके एक शिष्य अर्जुनसुत सोयराने शक संवत् १६७३ में 'कैलास-छप्पय'-की रचना की है, जिसमें इन्हें 'वादिविजेता' और सूर्यके समान 'तेजस्वी' कहा गया है।

तस पट्टे सुखकारनाम भट्टारक जानो।
नरेन्द्रसेन पट्टधार तेजे मार्त्तण्ड बखानो।
जीतो वाद पवित्र नगर चम्पापुर माहे।
करियो जिनप्रासाद ध्वजा गगने जइ सोहे[2] ॥२६॥

प्रमाणप्रमेयकलिका इन्हीं छत्रसेनके शिष्य नरेन्द्रसेनकी है।

'यशोधरचरित' और 'नरेन्द्रसेनगुरुपूजा' में अंकित इनकी गुरुपरम्परामें सोमसेन, जिनसेन, समन्तभद्र, छत्रसेन और नरेन्द्रसेनके नाम आते हैं। काष्ठा-संघ-मन्दिर, अंजनगाँवकी विरुदावलीमें विस्तृत गुरुपरम्परा मिलती है—

"निखिलतार्किकशिरोमणि-श्रीसोमसेन-माणिक्यसेन-गुणभद्र-अभिनवसोमसेन भट्टारकाणाम् तत्पट्टे निखिलजनरंजनगुणात्मविद्यानिधिश्रीजिनसेनभट्टारका-णाम्। तदन्वये श्रीसमन्तभद्रभट्टारकाणाम् तद्वंशे श्रीछत्रसेनभट्टारकाणाम् तत्पट्टे श्रीमन्नरेन्द्रसेनभट्टारकाणाम् स्वस्ति श्रीमद्रायराजगुरुश्रीमदभिनव-

१. नरेन्द्रसेनगुरुपूजा, उद्धृत भ० सम्प्रदाय, पृ० २०, लेखांक ६६।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ६९।

शान्तिसेनतपोराज्याभ्युदयसमृद्ध्यर्थम्"[1]।

इस विरुदावलीमें सोमसेनसे पूर्व गुणभद्र, वीरसेन, श्रुतवीर, माणिक्यसेन, गुणसेन, लक्ष्मीसेन, सोमसेन (प्रथम), माणिक्यसेन (द्वितीय), गुणभद्र (द्वितीय)के नाम आये हैं और उक्त सोमसेनको अभिनव सोमसेन कहा गया है। नरेन्द्रसेन के बाद उनके पट्टपर बैठनेवाले शान्तिसेनका भी निर्देश आया है। अतएव इस विरुदावलिसे भी नरेन्द्रसेनके गुरु छत्रसेन और दादागुरु समन्तभद्र सिद्ध होते हैं।

नरेन्द्रसेनके दो शिष्योंके नाम भी मिलते हैं—१. शान्तिसेन २. अर्जुनसुत सोयरा। शान्तिसेन नरेन्द्रसेनके पट्टाधिकारी हुए। अर्जुनसुत सोयरा गृहस्थ थे, इन्होंने कैलाश छप्पयकी रचना की है।

नरेन्द्रसेनके समय और व्यक्तित्वपर विचार करते हुए डॉ० प्रो० दरबारी लाल कोठियाने लिखा है—

'नरेन्द्रसेनका समय प्रायः सुनिश्चित है। इन्होंने विक्रम संवत् १७८७ में ज्ञानयन्त्रकी प्रतिष्ठा करवायी थी और विक्रम संवत् १७९० में पुष्पदन्तके 'जसहरचरिउ'की प्रतिलिपि स्वयं की थी। अतः इनका समय वि० सं० १७८७—१७९० (ई० सन् १७३०—१७३३ ई०) है'[2]।

रचना

नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका न्यायविषयक रचना है। इसमें प्रमाणतत्त्वपरीक्षा और प्रमेयतत्त्वपरीक्षा निबद्ध की गयी हैं। प्रमाण और प्रमेयका विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। मङ्गलाचरणके पश्चात् तत्त्व क्या है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए लिखा है—'यतस्तत्त्वपरिज्ञानाभावान्न तदाश्रिता मीमांसा प्रमाणकोटिकुटीरकमटाट्यते। आधारपरिज्ञाने आधेयपरिज्ञानाभावात्। अथ भवतु नाम नामतः सिद्धं किंचित्तत्त्वम्, यतस्तत्त्वं सामान्येनाभ्युपगम्य पश्चाद्विचार्यते, तत्त्वसामान्ये केषांचिद्विप्रतिपत्त्यभावात्[3]।'

इस उत्थानिकाके पश्चात् इस प्रकरणमें प्रभाकरके 'ज्ञातृव्यापार', सांख्ययोगके 'इन्द्रियवृत्ति', जरन्नैयायिक'भट्ट जयन्तके 'सामग्री' अपरनाम कारकसाकल्य और योगोंके 'सन्निकर्ष' प्रमाणलक्षणोंकी परीक्षा कर स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया है। ज्ञानके कारणोंपर विचार करते हुए इन्द्रिय और मनको ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है। ज्ञानोत्पत्तिमें कारण

---

१. भट्टारक परम्परा, सोलापुर, लेखांक ७६।

२. प्रमाण-प्रमेयकलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना, पृ० ५९।

३. प्रमाणप्रमेयकलिका, पृ० १।

माने जानेवाले अर्थ एवं आलोककी सोपपत्तिक समीक्षा की है। प्रमाणका फल और उसका प्रमाणसे कथञ्चित् भिन्नभिन्नत्व सिद्ध किया गया है। बौद्धके अविसंवादी ज्ञानकी समालोचना कर उसे व्यवसायात्मक स्वीकार किया है। ज्ञानके अस्वसंवेदी-स्वसंवेदी मतोंपर भी विचार किया है।

प्रमेयतत्त्वमें सांख्योंके सामान्यका, बौद्धके विशेषतत्त्वका, वैशेषिकोंके परस्पर निरपेक्ष सामान्यविशेषोभयका और वेदान्तियोंके परमब्रह्मका विस्तारपूर्वक परीक्षण किया है। बौद्धोंके निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी भी आलोचना की है। प्रमेय-को सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध किया गया है। यह लघुकाय ग्रन्थ प्रमाण और प्रमेय सम्बन्धी विषयोंकी दृष्टिसे विशेष उपादेय है।

मलयकीर्ति

मलयकीर्ति नामके दो भट्टारकोंका उल्लेख प्राप्त होता है। एक मलयकीर्ति भट्टारक यशःकीर्तिके शिष्य हैं। इनके सम्बन्धमें यन्त्रलेख और मूर्तिलेख उपलब्ध हैं। इन्होंने वि०सं० १५०२में एक यन्त्र[१] तथा वि०सं० १५१०में एक मूर्ति[२] स्थापित की थी। इन मलयकीर्तिके पश्चात् गुणभद्र भट्टारक हुए। इनके आम्नायमें अग्रवाल जिनदासने सं० १५१०में डूँगरसिंहके राज्यकालमें समय-सारकी[३] एक प्रति लिखवायी। सं० १५१२में गुणभद्रने पञ्चास्तिकायकी एक प्रति ब्रह्मधर्मदासको[४] दी।

दूसरे मलयकीर्ति भट्टारक धर्मकीर्तिके शिष्य हैं। धर्मकीर्तिके तीन शिष्य हुए—हेमकीर्ति, मलयकीर्ति और सहस्रकीर्ति। ये तीनों ही गुजरात प्रदेशमें विहार करते रहे। मलयकीर्तिके पट्टशिष्य नरेन्द्रकीर्ति हुए। इन्होंने कलबुरगाके पिरोजसाहकी सभामें समस्यापूर्ति करके जिनमन्दिरका जीर्णोद्धार करानेकी अनुज्ञा प्राप्त की तथा प्रस्तरीमें राजा बैजनाथसे सम्मान पाकर पार्श्वनाथ-मन्दिरमें सहस्रकूट-जिनमन्दिरकी स्थापना[५] की।

---

१. संवत् १५०२ वर्षे कार्तिक सुदि ५ भौमदिने श्रीकाष्ठासंघेभ० श्री गुणकीर्तिदेवाः तत्पट्टे श्रीयशकीर्तिदेवाः तत्पट्टे श्रीमलैकीर्तिदेवान्वये साहु बरदेवा तस्य भार्या जैणी। भट्टारक सम्प्रदाय, आभ० ५६३।

२. संवत् १५१० माघ सुदि १३ सौमे श्रीकाष्ठासंघे आचार्य मलयकीर्तिदेवाः तयो प्रति-ष्ठितम्। भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ५६४।

३. वही, लेखांक ५६५।

४. वही, लेखांक ५६६।

५, वही, लेखांक ६४०।

प्रस्तुत मलयकीर्ति अनेक विषयोंके पण्डित थे। इनके दादागुरु त्रिभुवन-कीर्ति थे और गुरु धर्मकीर्ति। धर्मकीर्तिके समय वि०सं० १४३१में केसरियाजी तीर्थक्षेत्रपर विमलनाथमन्दिरका निर्माण हुआ[1]। मलयकीर्ति काष्ठासंघ पुन्नाट, लाडबागडगच्छके आचार्य हैं। दिल्लीके साहू फेरूने वि०सं० १४९३में श्रुतपञ्चमी-उद्यापनके निमित्त मूलाचारकी एक प्रति मलयकीर्तिको अर्पित की। इस ग्रन्थकी प्रशस्ति ऐतिहासिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें श्रुतधर, सारस्वत और प्रबुद्धाचार्योंके नाम आये हैं। प्रशस्तिमें अङ्गपूर्वादिके पाठी आचार्योंका उल्लेख करनेके पश्चात् धरसेन, भूतबलि, जिनपालित, पुष्प-दन्त और समन्तभद्रादिके नाम बागडसंघकी पट्टावलिमें परिगणित किये हैं। इन आचार्योंके अतिरिक्त सिद्धसेन, देवसूरि, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, कुमारसेन, प्रभाचन्द्र, अकलंक, वीरसेन, अमितसेन, जिनसेन, वासवसेन, रामसेन, माधव-सेन, धर्मसेन, विजयसेन, सम्भवसेन, दायसेन, केशवसेन, चारित्रसेन, महेन्द्रसेन, अनन्तकीर्ति, विजयसेन, जयसेन और केशवसेनके नाम भी उल्लिखित हैं।

प्रशस्तिमें यह भी बताया है कि वि० सं० १४९३ में योगिनीपुर (दिल्ली)के पास बादशाह फिरोजशाह तुगलक द्वारा बसाये गये फेरोजाबाद नगरमें, जो उस समय धन-धान्यसे परिपूर्ण था, अग्रवाल वंश, गर्ग गोत्री साहू लाखू निवास करता था। उसकी प्रेमवती नामकी पत्नी थी, जो पातिव्रतादि गुणोंसे अलंकृत थी। इनके दो पुत्र थे साहू खेतल और मदन। खेतलकी धर्मपत्नीका नाम सरो था। इस पत्नीसे खेतलको फेरू, पल्हू और वीधा नामक तीन पुत्र हुए। इन तीनोंकी काकलेही, माल्हाही और हरिचन्दही नामकी क्रमशः धर्मपत्नियाँ थीं। खेतलके द्वितीय पुत्र पल्लूके मण्डन, जाल्हा, घिरीया और हरिश्चन्द्र नामके चार पुत्र उत्पन्न हुए। इस परिवारके सभी व्यक्ति विधिवत जैनधर्मका पालन करते और आहार, औषध, अभय और ज्ञान दानादि चारों दानोंका उपयोग करते थे। साहू खेतलने गिरिनगरका यात्रोत्सव किया। साहू फेरूकी धर्मपत्नीने अपने स्वामी-से अनुरोध किया कि श्रुतपञ्चमीका उद्यापन कराइये। इसे सुनकर फेरू अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने मूलाचार नामक ग्रन्थ श्रुतपञ्चमीके निमित्त लिखाकर मुनि धर्मकीर्तिके लिए अर्पित किया। इन धर्मकीर्तिके स्वर्ग चले जानेपर उक्त ग्रन्थ यम-नियममें निरत तपस्वी मलयकीर्तिको सम्मानपूर्वक अर्पित किया गया। मलयकीर्तिने उक्त ग्रन्थकी प्रशस्ति लिखी है। यह प्रशस्ति ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। प्रशस्तिमें ३६ पद्य हैं और पद्योंके मध्यमें गद्यांशका भी उप-योग किया गया है।

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६३७।

प्रशस्तिका निर्माणकाल वि० सं० १४९३ है। अतएव मलयकीर्तिका समय विक्रमकी १५वीं शताब्दी है। मलयकीर्तिने एलदुग्गके राजा रणमलको उपदेश देकर तरसुम्बामें मूलसंघका प्रभाव कम किया तथा शान्तिनाथकी विशाल मूर्ति स्थापित की। बताया है—

"तत्पट्टे भ० श्रीमलयकीर्तिदेवानां यैर्निजबोधनशक्तितः एलदुग्गाधीश्वर राजश्री रणमल्लं प्रतिबोध्य तरसुंबानगरे केकापिछायान् हटान् महाकायश्री शांतिनाथस्य प्रासादः कारितः[1]।"

मलयकीर्ति द्वारा लिखित रचनाओंमें केवल मूलाचारकी प्रशस्ति ही अभी तक उपलब्ध है। इस प्रशस्तिके प्रारम्भमें ही लिखा है—

'मूलाचार पुस्तकस्य प्रशस्ति चकार मलयकीर्तिः' तथा अन्तिम पद्योंमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्योंका परिचय भी इन्होंने लिखा है। बताया है—

श्रीधर्मकीर्तिभुवने प्रसिद्धिस्तत्पट्टरत्नाकरचंद्ररोचिः।
षट्तर्कवेत्ता गतमानमायक्रोधारिलोभोऽभवदत्र पुण्यः॥
तस्य पादसरोजालिगुणमूर्तिर्विचक्षणः।
मलयोत्तरकीर्तिर्वा मुदं कुर्याद्दिगम्बरः॥
हेमकीर्तिगुणज्येष्ठो ज्येष्ठो मत्तः कुशाग्रधीः।
धर्मध्यानरतः शान्तो दान्तः सूनृतवाग्यमी॥
ततोऽनुजो मुनींद्रस्तु सहस्रोत्तरकीर्तियुक्।
गुर्जरीं जगतीं शास्तो द्वौ यती महिमोदयौ॥
वयं त्रयोऽपि धीमन्तः साधीयांसो निरेनसः।
धर्मकीर्तेर्भगवतः शिष्या इव रेवः करः[2]॥

श्रुतकीर्ति

भट्टारक श्रुतकीर्ति नन्दिसंघ बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छके विद्वान् हैं। यह भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके प्रशिष्य और त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य थे। श्रुतकीर्ति सुलेखक, चिन्तक और प्रभावक विद्वान् हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है।

श्रुतकीर्तिका समय उनकी रचनाओंके आधारपर विक्रम संवत्की १६वीं शती सिद्ध होता है। इनकी रचनाओंमें हरिवंशपुराण सबसे बड़ा है। जैन सिद्धान्तभवन आरामें उसकी पाण्डुलिपि वि०सं० १५५३की है, जो मण्डपाचलदुर्गके

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६३९।
२. अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ४, पृ० ११०, श्लोक २१–२५।

सुल्तान गयासुद्दीनके राज्यकालमें दमोवा देशके जोरहट नगरके महाखान और भोजखानके समयमें लिखी गयी है। ये महाखान और भोजखान जोरहट नगरके सूबेदार जान पड़ते हैं। इतिहाससे स्पष्ट है कि सन् १४०६ में मालवाके सूबेदार दिलवरखाँको उसके पुत्र अलफखाँने विष देकर मार डाला था और मालवाको स्वतन्त्र उद्घोषित कर स्वयं राजा बन गया था। इसकी उपाधि हुशंगशाह थी। इसने माण्डवगढ़को सुदृढ़ कर अपनी राजधानी बनाया था। उसीके वंशमें शाह गयासुद्दीन हुआ। जिसने माण्डवगढ़से मालवाका राज्य वि० सं० १५२६ से १५५७ तक किया। इसके पुत्रका नाम नसीरशाह था। भट्टारक श्रुतकीर्तिने जेरहट नगरके नेमिनाथचैत्यालयमें हरिवंशपुराणकी रचना बि० सं० १५५२ माघ कृष्णा पञ्चमी सोमवारके दिन हस्तनक्षत्रमें की है।

संवतविक्कमसेण—नरेसहं, साहिगयासुपयावअसेसइं।
णयरजेरहटजिणहरु चंगउ, णेमिणाहजिणबिबु अभंगउ।
गंथसउण्णु तत्थ इहु जायउ, चउविहुसंसुणिसुणिअणुरायउ।
माघकिण्हपंचमिससिवारइं, हत्थणखत्तसमत्तुगुणालइं।
गंथु सउण्णु जाउ सुपवित्तउ, कम्मक्खउणिमित्त जं उत्तउ[1]।

भ० श्रुतकीर्तिने वि०सं० १५५२में धर्मपरीक्षाकी भी रचना की है। 'परमेष्ठी प्रकाशसार'की रचना भी वि० सं० १५५३ को श्रावण मास पञ्चमीके दिन हुई है। इस समय गयासुद्दीनका राज्य था और उसका पुत्र राज्यकार्यमें अनुराग रखता था। पूज्यराज नामके वणिक उस समय नसीरशाहके मन्त्री थे।

दहपणसयतेवण गयवासइ,
पुण विक्कमणिवसंवच्छरहे
तह सावण मासहु गुरुपंचमि,
सहु गंथु पुण्णु तय सहस[2] तहे॥

योगसार ग्रन्थकी प्रशस्तिसे भी अवगत होता है कि इस ग्रन्थकी रचना भी वि० सं० १५५२ मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षमें हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि भट्टारक श्रुतकीर्तिका समय वि० सं० की १६वीं शती है।

रचनाएँ

भ० श्रुतकीर्त्ति बहुश्रुतज्ञ विद्वान् हैं। इनके द्वारा लिखित निम्नलिखित कृतियाँ उपलब्ध हैं—

---

१. अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ११–१२, पृ० २७९।
२. वही, पृ० २८०।

१. हरिवंशपुराण,
२. धर्मपरीक्षा,
३. परमेष्ठीप्रकाशसार,
४. योगसार।

१. हरिवंशपुराण

हरिवंशपुराण बृहद्काय रचना है। इसमें ४७ सन्धियाँ हैं और २२वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथका जीवनचरित अंकित है। प्रसंगवश इसमें श्रीकृष्ण आदि यदुवंशियोंका संक्षिप्त जीवन परिचय भी आया है। यह ग्रन्थ काव्य, सिद्धान्त, आचार आदि सभी दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है।

२. धर्मपरीक्षा

इस ग्रन्थमें १७९ कड़वक हैं। इसमें पौराणिक मान्यताओंकी व्यंग्य-शैलीमें समीक्षा की गयी है।

३. परमेष्ठीप्रकाशसार

इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि आमेर-भण्डारमें सुरक्षित है। इसमें तीन हजार पद्य हैं और ग्रन्थ सात परिच्छेदोंमें विभक्त है।

४. योगसार

यह ग्रन्थ दो परिच्छेदों या सन्धियोंमें विभक्त है। इसमें गृहस्थोपयोगी सैद्धान्तिक बातोंपर प्रकाश डाला गया है। साथ ही कुछ मुनिचर्याका भी उल्लेख किया है। श्रुतकीर्त्ति अपने समयके उद्भट विद्वान् थे और ग्रन्थरचना करनेमें प्रवीण थे।

धर्मकीर्त्ति

भट्टारक परम्परामें धर्मकीर्त्ति नामके चार भट्टारकोंका निर्देश प्राप्त होता है। एक धर्मकीर्ति त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य हैं, जिनका निर्देश मलयकीर्तिके प्रसंगमें किया जा चुका है। दूसरे धर्मकीर्ति बलात्कारगण नागौर शाखामें भुवनकीर्तिके शिष्य हैं। इन धर्मकीर्तिके सम्बन्धमें पट्टावलीमें बताया गया है कि ये वि०सं० १५९० चैत्र कृष्णा सप्तमीको पट्टारूढ़ हुए और दश वर्ष तक पट्टपर रहे। ये जातिसे सेठी थे। वि०सं० १६०१की फाल्गुन शुक्ला नवमीको इन्होंने एक चन्द्रप्रभकी मूर्ति स्थापित की थी। बताया है—

"संवत् १५९० चैत्र वदि ७ भ० धर्मकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष १३, दीक्षा वर्ष ३१, पट्ट वर्ष १०, मास १, दिवस २०, अंतर मास १, दिवस १०, सर्व वर्ष

५५, मास १, दिवस ४, जाति सेठी, पट्ट अजमेर[1]" ॥

तीसरे धर्मकीर्ति सिंहकीर्तिके शिष्य हैं। बलात्कारगण अटेर शाखाका प्रारम्भ सिंहकीर्तिसे होता है। ये सिंहकीर्ति भट्टारक जिनचन्द्रके शिष्य थे। इन्होंने वि०सं० १५२०की आषाढ़ शुक्ला सप्तमीको एक महावीरमूर्ति प्रतिष्ठापित की थी। सिंहकीर्तिके बाद धर्मकीर्त्ति और उनके पश्चात् शीलभूषण भट्टारक हुए।

चतुर्थ धर्मकीर्ति ललितकीर्तिके शिष्य हैं। ये बलात्कारगण जेरहट शाखाके आचार्य हैं। इस शाखाका प्रारम्भ भट्टारक त्रिभुवनकीर्तिसे होता है। ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। त्रिभुवनकीर्तिके पश्चात् क्रमशः सहस्रकीर्ति, पद्मनन्दि, यशःकीर्ति, ललितकीर्त्ति और धर्मकीर्ति भट्टारक हुए। धर्मकीर्तिने संवत् १६४५ माघ शुक्ला पञ्चमीको एक मूर्ति; संवत् १६६९ चैत्र पूर्णिमाको एक चन्द्रप्रभुमूर्ति तथा एक पार्श्वनाथमूर्ति और संवत् १६७१ वैशाख शुक्ला पञ्चमीको एक नन्दीश्वरमूर्ति स्थापित की। अभिलेख निम्न प्रकार है—

"सं० (१६) ४५ माघ सुदि ५ श्रीमूलसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० यशकीर्तिपट्टे भ० ललितकीर्ति पट्टे भ० श्रीधर्मकीर्ति उपदेशात् पौरपट्टे छितिरा मूर गोहिलगोत्र साधु दीनू भार्या....॥"

× × × ×

"संवत् १६६९ चैत सुद १५ रवौ मूलसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० यशोकीर्ति तत्पट्टे भ० ललितकीर्ति तत्पट्टे भ० धर्मकीर्ति उपदेशात्....॥"

× × × ×

"संवत् १६६९ चैत सुदी १५ रवौ भ० ललितकीर्ति भ० धर्मकीर्त्ति तदुपदेशात् सा० पदारथ भार्या जिया पुत्र दो खेमकरण पमायेता नित्यं नमति।"

× × × ×

"संवत् १६७१ वर्षे वैसाख सुदि ५ मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० यशकीर्ति तत्पट्टे भ० ललितकीर्ति तत्पट्टे भ० धर्मकीर्ति उपदेशात् पौरपट्टे सा० उदयचंदे भार्या....उदयगिरेन्द्र प्रतिष्ठा प्रसिद्धं[2] ॥"

यही धर्मकीर्ति ग्रन्थरचयिता होनेके कारण इस प्रस्तुत सन्दर्भमें उल्लेख्य हैं। ये मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके आचार्य थे। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम रचना पद्मपुराण वि०सं० १६६८में सावन महीनेकी तृतीया शनिवारके दिन मालव देशमें पूर्ण की गयी है। और हरिवंशपुराण वि०

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक २८०।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक, २२५-२२८।

संवत् १६७१ आश्विन कृष्णा पञ्चमी रविवारके दिन पूर्ण हुआ है। ग्रन्थरचना-के कालका उल्लेख करते हुए बताया है—

वर्षे द्व्यष्टशते चैकाग्रसप्तत्यधिके रवौ।
आश्विने कृष्णपंचम्यां, ग्रंथोयं रचितो मया[1]॥

इससे स्पष्ट है कि धर्मकीर्तिका समय वि० की १७ वीं शताब्दी है। इन धर्मकीर्तिके उपदेशसे वि०सं० १६८१ माघ शुक्ला पूर्णिमा गुरुवारके दिन पार्श्व-नाथकी मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी थी और इन्हींके उपदेशसे वि०सं० १६८२ मार्ग-शीर्ष वदीको षोडशकारणयन्त्रकी प्रतिष्ठा की गयी है। अतएव धर्मकीर्तिका यश जैनसंस्कृतिके प्रचार और प्रसारकी दृष्टिसे भी कम नहीं है।

धर्मकीर्तिकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—पद्मपुराण और हरिवंशपुराण। पद्मपुराणकी रचना रविषेणके पद्मचरितके आधारपर की गयी है। मूल कथामें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है।

हरिवंशपुराणमें भी २२वें तीर्थंकर नेमिनाथका चरित अंकित है। रच-नाओंमें मौलिकताकी अपेक्षा अनुकरण ही अधिक प्राप्त होता है।

भद्रबाहुचरितके रचयिता रत्नकीर्ति या रत्ननन्दी

जैन साहित्यमें रत्नकीर्ति नामके आठ आचार्य उपलब्ध हैं। एक रत्नकीर्ति अभयनन्दीके शिष्य हैं। इनका समय वि० की १७वीं शती है। ये बलात्कारगण सूरत शाखाके आचार्य थे। तीर्थङ्कर महावीरके निम्नलिखित मूर्तिलेखसे इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है—

"सं० १६६२ वर्षे वैसाख वदो २ शुभदिने श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बला-त्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री अभयचन्द्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्री अभय-नन्द तच्छिष्य आचार्यश्रीरत्नकीर्ति तस्य शिष्याणी बाई वीरमती नित्यं प्रणमति श्रीमहावीरम्"[1]। इस अभिलेखसे स्पष्ट है कि मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कार-गण कुन्दकुन्दाचार्यान्वयमें रत्नकीर्ति हुए हैं। इनके गुरुका नाम अभयनन्दि और दादागुरुका नाम अभयचन्द्र है।

दूसरे रत्नकीर्ति जिनचन्द्रके शिष्य हैं। बलात्कारगण नागौर शाखाका आरंभ भट्टारक रत्नकीर्तिसे होता है। ये जिनचन्द्रके शिष्य थे। इनका पट्टा-भिषेक वि० सं० १५८१ श्रावण शुक्ला पञ्चमीको हुआ था। तथा आप २१ वर्षों तक पट्टपर आसीन रहे। पट्टावलीमें बताया है—

---

१. सं० स०, लेखांक, ५२९।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ५२२।

"संवत् १५८१ श्रावण सुदि ५ भ० रत्नकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ३१, पट्ट वर्ष २१ मास ८ दिवस १३, अन्तर दिवस ५ सर्व वर्ष ६१ मास ८ दिवस १८ पट्ट दिल्ली[1]।"

तीसरे रत्नकीर्ति भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य हैं। इनका समय विक्रम संवत् १९५३ के पूर्व है, क्योंकि रत्नकीर्तिका स्वर्गवास अचलपुरमें वि० सं० १९५३में हो चुका था।

चौथे रत्नकीर्ति धर्मचन्द्रके शिष्य हैं। भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थमें धर्मचन्द्रका भट्टारक काल वि० सं० १२७१–१२९६ और भट्टारक रत्नकीर्तिका वि० सं० १२९६–१३१० माना है। रत्नकीर्ति वि० सं० १२९६ भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशीको पट्टारूढ़ हुए थे। ये १४ वर्ष तक पट्टपर आसीन रहे। ये हूँवड जातिके थे और अजमेरके निवासी थे।

पाँचवें रत्नकीर्ति लक्ष्मीसेनके गुरु हैं। छट्ठे रत्नकीर्ति सुरेन्द्रकीर्तिके शिष्य हैं। ये वि० सं० १७४५ में पट्टाधीश हुए। इनका गोधा गोत्र था और काला डहराके निवासी थे। सातवें रत्नकीर्ति ज्ञानकीर्तिके शिष्य हैं। ये बलात्कारगण-भानपुर शाखाके आचार्य हैं। इन्होंने वि० सं० १५३५ में नवगाँवमें दीक्षा ग्रहण की थी।

"रत्नकीर्ति हता तेणे सं० १५३५ वर्षे श्रीनोगामे दीक्षा लीधो हती··· त्यारे रत्नकीर्तिने भट्टारक पदवी आपवानु स्थापन करी[2]।"

आठवें रत्नकीर्ति ललितकीर्तिके शिष्य हैं। ललितकीर्तिके दो शिष्य थे—धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति। धर्मकीर्ति वि० सं० १६४५ से १६८३ तक पट्टपर आसीन रहे हैं। एक यन्त्र अभिलेखमें ललितकीर्तिके पट्टपर मण्डलाचार्य रत्नकीर्तिके आसीन होनेका संकेत प्राप्त होता है। यन्त्र अभिलेखमें बताया है—

"संवत् १६७५ पोह सुदि ३ भौमे श्रीमूलसंघे भ० ललितकीर्ति तत्पट्टे मंडलाचार्य श्रीरत्नकीर्ति तत्पट्टे आचार्य श्रीचन्द्रकीर्ति उपदेशात् साहु रूपा भार्या पता·······॥"

× × × ×

"संवत् १६८१ वरषे चैत्र सुदी ५ रवौ श्रीमूलसंघे भ० श्रीललितकीर्ति तत्पट्टे मंडलाचार्य श्रीरत्नकीर्ति तत्पट्टे आचार्य चंद्रकीर्तिस्तदुपदेशात् गोलापूर्वान्वये खागनाम गोत्रे सेठीभानु भार्या चन्दनसिरी[3]····॥"

---

१. वही, लेखांक २७७।

२. ऐतिहासिक पत्र, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १३, पृ० ११३।

३. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ५३९, ५४०।

भद्रबाहुचरितमें ग्रन्थरचयिताने जो अपनी प्रशस्ति अंकित की है, उसमें अपने गुरुका नाम ललितकीर्ति बताया है। प्रशस्तिमें लिखा है—प्रतिवादीरूपी गजराजके मदको नष्ट करनेके लिए केसरीकी उपमासे युक्त है, जो शीलपीयूष-का जलधि है और जिसने उज्ज्वल कीर्तिसुन्दरीका आलिंगन किया है, उन्हीं अनन्तकीर्ति आचार्यके विनेय और अपने शिक्षागुरु श्री ललितकीर्ति मुनिराज-का ध्यान कर मैंने इस निर्दोष चरितग्रन्थका संकलन किया है।

वादीभेन्द्रमदप्रमर्दनहरेः शीलामृताम्भोनिधेः
शिष्यं श्रीमदनन्तकीर्त्तिगणिनः सत्कीर्त्तिकान्ताजुषः।
स्मृत्वा श्रीललितादिकीर्तिमुनिपं शिक्षागुरुं सद्गुणं
चक्रे चारुचरित्रमेतदनघं रत्नादिनन्दी मुनिः[1] ॥

विचार करनेपर भद्रबाहुचरितके रचयिता रत्नकीर्ति पूर्वोक्त सभी रत्न-कीर्तियोंसे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि रत्ननन्दी या रत्नकीर्तिके गुरु ललित-कीर्ति थे और उनके दादागुरु अनन्तकीर्ति थे। बलात्कारगण जेरहट शाखामें रत्नकीर्तिके गुरु ललितकीर्ति तो अवश्य उपलब्ध होते हैं, पर दादागुरु अनन्त-कीर्ति न होकर यशःकीर्ति हैं। अतः ग्रन्थकी प्रशस्तिके साथ उसका समन्वय घटित नहीं होता है। अतएव अनन्तकीर्तिके प्रशिष्य और ललितकीर्तिके शिष्य रत्ननन्दी या रत्नकीर्ति कोई भिन्न व्यक्ति हैं।

स्थितिकाल

भद्रबाहुचरितमें उसके रचनाकालका उल्लेख नहीं है, पर ग्रन्थमें लुंका-मतकी समीक्षा की गयी है। इस समीक्षा-सन्दर्भमें बताया है—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुताऽपरम् ॥
लुङ्कामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे[2] ॥

अर्थात् महाराज विक्रमकी मृत्युके पश्चात् १५२७ वर्ष बीत जानेपर गुज-रात देशके अणहिल नगरमें कुलुम्बीवंशीय एक महामानी लुंका नामक व्यक्ति हुआ। इसने लुंकामत—ढूंढ़ियामतका प्रादुर्भाव किया। इस उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार वि० सं० १५२७ के पश्चात् हुआ है। तभी उसने इस ग्रन्थमें

---

१. भद्रबाहु चरित्र, प्रकाशक मूलचन्द किसनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, गांधी चौक, सूरत, श्लोक १७५।
२. श्रीभद्रबाहुचरित, सर्ग ४, श्लोक १५७–१५८।

लुंकामतकी समीक्षा की है। इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहुचरितके रचयिता रत्न-नन्दीका समय विक्रमकी १६वीं शतीका उत्तरार्द्ध है।

रचना

रत्ननन्दी या रत्नकीर्तिकी एक ही रचना उपलब्ध है—भद्रबाहुचरित। इसमें चार परिच्छेद या सर्ग हैं और भद्रबाहुका जीवनवृत्त वर्णित है। प्रथम परिच्छेद-में १२९ पद्य हैं और इसमें भद्रबाहुके बाल्यकाल, शिक्षा, पाण्डित्य, वाद-विवाद शक्ति आदिका वर्णन किया गया है। बताया गया है कि गोबर्धनाचार्य विहार करते हुए पुण्ड्रवर्द्धन देशके कोट्टपुर नगरमें पधारे, वहाँ सोम शर्म नामक द्विज-के पुत्र भद्रबाहुको एकके ऊपर एक गोली रखकर, इस प्रकार चतुर्दश गोलियाँ चढ़ाते हुए देखा और अपने ज्ञानबलसे उसे भावी श्रुतकेवली जानकर आचार्य बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने द्विजकुमारसे उसका परिचय पूछा और वे उसके माता-पिताके पास पहुँचे। माता सोमश्री और पिता सर्व मुनिराजको अपने यहाँ आया हुआ देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें आसन देकर प्रार्थना की कि प्रभो! अपने आनेका कारण बतलाइये। गोबर्द्धनाचार्यने उत्तर दिया, भद्र! यह तुम्हारा पुत्र भद्रबाहु समस्त विद्यामें पारंगत होगा; अतएव मैं इसे अपने साथ शिक्षाप्राप्तिके लिए ले जाना चाहता हूँ। आचार्यके वचन सुनकर सोम-शर्म बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनको अपने पुत्रको सौंप दिया। गोबर्द्धना-चार्य भद्रबाहुको अपने साथ ले गये और उसे व्याकरण, साहित्य, न्याय, सिद्धान्त आदि विषयोंका अध्ययन कराया। भद्रबाहुने गोबर्द्धनाचार्यसे समस्त शास्त्रोंका अध्ययन किया। विद्या समाप्त कर वे गुरुके आदेशसे अपने घर लौट आये। तदनन्तर संसारमें जैनधर्मके उद्योतकी इच्छासे उन्होंने परिभ्रमण किया और राजा पद्मधरकी सभामें अनेक विद्वानोंको पराजित कर जैनधर्मका प्रभाव स्था-पित किया। भद्रबाहुके तेजसे प्रभावित होकर राजा पद्मधर भी जैन हो गया। इस प्रकार भद्रबाहुने अनेक स्थानोंमें अपनी विद्याका महत्त्व प्रदर्शित किया। कुछ समयके पश्चात् भद्रबाहुको सांसारिक सुख नीरस प्रतीत होने लगे। अतएव वह अपने माता-पितासे आदेश प्राप्त कर गोबर्द्धनाचार्यकी शरणमें गया और प्रार्थना कि प्रभो! कर्मोंको नाश करनेवाली पवित्र दीक्षा मुझे दीजिये। गोबर्द्धना-चार्यने भद्रबाहुको निर्ग्रन्थ-दीक्षा प्रदान की। कुछ दिनोंके पश्चात् गोबर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहुको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

द्वितीय परिच्छेदमें बताया है कि गोबर्द्धनाचार्यने चार प्रकारके आहारके परित्यागपूर्वक चारों प्रकारकी आराधनाओंको ग्रहण किया। कुछ समय पश्चात् समाधिपूर्वक उन्होंने शरीरका त्याग किया। भद्रबाहु अपने संघको लेकर विहार

करते हुए उज्जयिनीमें पधारे। इस नगरीमें उस समय चन्द्रगुप्त राजा अपनी चन्द्रश्री महिषीके साथ निवास कर रहा था। उसने रात्रिके पिछले भागमें १६ स्वप्न देखे और इन स्वप्नोंका फल जाननेके लिए वह आकुलित था। जब उसे भद्रबाहुके ससंघ पधारनेका समाचार प्राप्त हुआ तो वह आचार्यके संघका दर्शन करने गया और वहींपर अपने स्वप्नोंका फल उनसे जाना। स्वप्नोंका फल अवगत करते ही चन्द्रगुप्तको विरक्ति हो गयी और उसने भद्रबाहु गुरुसे जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु जिनदास सेठके घरपर आहार करनेके लिए पधारे। उनके यहाँ एक निर्जन कोष्ठमें साठ दिनकी आयुवाला एक बालक पालनेमें झूल रहा था, वह मुनिराजको देखकर कहने लगा—जाओ, जाओ। बालकके अद्भुत वचन सुनकर मुनिराजने पूछा—वत्स! कितने वर्ष तक? बालकने कहा १२ वर्षपर्यन्त। बालकके इन वचनोंसे मुनिराजने समझा कि मालवदेशमें १२ वर्षपर्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। अतः वे अन्तराय समझकर अपने स्थानपर वापस लौट आये। उन्होंने संघके समस्त मुनियोंको एकत्र कर कहा कि अब इस देशमें रहना उचित नहीं है, अतएव दक्षिण भारतकी ओर प्रस्थान करना चाहिये वहींपर हमारी चर्या सम्पन्न हो सकेगी। रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्रादि साधुओंको छोड़ शेष सभी साधु-संघ दक्षिणकी ओर विहार कर गया।

तृतीय परिच्छेदमें बताया है कि भद्रबाहुस्वामी विहार करते हुए किसी सघन अटवीमें पहुँचे। वहाँ उन्हें आकाशवाणी सुनायी पड़ी, जिससे उन्होंने समझा कि अब उनकी आयु बहुत कम शेष रह गयी है। अतएव उन्होंने विशाखाचार्यको संघका आचार्य नियत किया और स्वयं वहींपर शैलकन्दरामें संन्यास ग्रहण कर लिया। चन्द्रगुप्त मुनि आचार्य भद्रबाहुकी सेवाके लिए वहीं-पर रह गये और शेष संघ विशाखाचार्यकी अध्यक्षतामें दक्षिणकी ओर गया।

चन्द्रगुप्त मुनिकी चर्या वहीं पर वन-देवताओं द्वारा सम्पादित होने लगी।

चतुर्थ परिच्छेदमें विशाखाचार्यका संघ मालवदेशमें लौट आता है। और रामल्य, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य शिथिलाचार्य बनकर नये सम्प्रदायका प्रचार करते हैं। इस परिच्छेदमें अर्द्धफालक सम्प्रदाय, श्वेताम्बरमत, लुंकामत आदिकी समीक्षा की गयी है।

इस प्रकार इस काव्यमें पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित भद्रबाहुके चरितको निबद्ध किया है। रत्ननन्दीने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं गुरुओंसे प्राप्त इस भद्रबाहुचरितको लिखता हूँ—

शक्तया हीनोऽपि वक्ष्येऽहं गुरुभक्तया प्रणोदितः ।
श्रीभद्रबाहुचरितं यथा ज्ञातं गुरूक्तितः[1] ॥

रत्ननन्दीका यह ग्रन्थ पुराणशैलीमें लिखा गया है, जिससे अध्येताओंका मन सहज रूपमें रम जाता है। चन्द्रगुप्त और भद्रबाहुके इतिहास प्रसिद्ध आख्यानको इस ग्रन्थमें स्थान दिया गया है।

श्रीभूषण

श्रीभूषण नामके दो भट्टारकोंका परिचय प्राप्त होता है। एक श्रीभूषण भानुकीर्तिके शिष्य हैं। पट्टावलीमें इनका परिचय देते हुए लिखा है—

"संवत् १७०५ आश्विन सुदी ३ श्रीभूषणजी गृहस्थ वर्ष १३ दीक्षा वर्ष १५ पट्ट वर्ष ७ पाछै धर्मचन्द्रजी नै पट्ट दियो पाछै १२ वर्ष जीया संवत् १७२४ ताई जाति पाटणी पट्ट नागौर[2]"।

अर्थात् वि०सं० १६९०में भानुकीर्ति पट्टारूढ़ हुए और १४ वर्ष तक पट्ट पर आसीन रहे। इनके शिष्य भट्टारक श्रीभूषण वि०सं० १७०५ आश्विन शुक्ला तृतीयाको पट्टाधीश हुए और १९ वर्ष तक पट्ट पर प्रतिष्ठित रहे। इनका गोत्र पाटणी था। पद प्राप्तिके ७ वर्षके पश्चात् वि०सं० १७१२ चैत्र शुक्ला एकादशीको अपने शिष्य धर्मचन्द्रको भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किया था।

दूसरे श्रीभूषण विद्याभूषणके शिष्य हैं। ये काष्ठासंघी नन्दीतटगच्छके आचार्य थे। संवत् १६३४में श्वेताम्बरोंके साथ इनका विवाद हुआ था, जिसके परिणाम स्वरूप श्वेताम्बरोंको देश त्याग करना पड़ा[3] था। इनके पिताका नाम कृष्णशाह और माताका नाम माकुही था।

"माकुही मात कृष्णासाह तात श्रीभूषण विख्यात दिन दिनह दिवाजा वादीगजघट्ट दीयत सुथट्ट न्यायकुहट्ट दीवादीव दीपाया[4]।"

इन्होंने वादीचन्द्रको बादमें पराजित किया था।

श्रीभूषणकी उपाधि षट्भाषाकविचक्रवर्ती थी। ये सोजित्रा (भंडौंच) की काष्ठासंघकी गद्दीके पट्टधर थे। श्रीभूषणके शिष्य भट्टारक चन्द्रकीर्ति द्वारा विरचित पार्श्वपुराण ग्रन्थ उपलब्ध है। इस गन्थमें चन्द्रकीर्तिने अपने

---

१. भद्रबाहुचरितम्, श्लोक ६।
२. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक २९१।
३. वही, लेखांक ६८१।
४. वही, लेखांक ६८८।

गुरु विश्वभूषणको सच्चारित्र, तपोनिधि, विद्वानोंके अभिमानशिखरक तोड़ने वाला वज्र, स्याद्वादविद्याप्रवीण बतलाया है और लिखा है कि उनके आगे गुरु (बृहस्पति)का गुरुत्व नहीं रहा, उष्णा (शुक्राचार्य)की बुद्धिकी भी कोई प्रशंसा नहीं।

स्थितिकाल

श्रीभूषणने संवत् १६३६में पार्श्वनाथकी एक मूर्ति स्थापित[1] की। वि०सं० १६६०में पद्मावतीकी मूर्त्ति, वि०सं० १६६५में रत्नत्रययन्त्र एवं वि०सं० १६७६में चन्द्रप्रभु मूर्तिकी स्थापना की है। अतएव भट्टारक श्रीभूषणका समय विक्रम-की १७वीं शताब्दी है। इन्होंने शान्तिनाथपुराणकी रचना भी वि०सं० १६६९ में की है।

रचनाएँ

श्रीभूषणकी कई रचनाएँ होनी चाहिये। क्योंकि ये अपने युगके बहुत बड़े विद्वान् थे। अभी तक इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. शान्तिनाथ पुराण,
२. द्वादशांगपूजा,
३. प्रतिबोधचिन्तामणि।

१. शान्तिनाथपुराण

शान्तिनाथपुराणमें १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथका जीवनचरित्र वर्णित है। कथावस्तु १६ सर्गोंमें विभक्त है। शान्तिनाथपुराणमें जो प्रशस्ति दी गयी है उसमें काष्ठासंघके नन्दीतटगच्छके आचार्योंकी गुरु-परम्परा समाविष्ट है। इस परम्परामें रामसेनके अन्वयमें क्रमसे नेमिसेन, धर्मसेन, विमलसेन, विशाल-कीर्ति, विश्वसेन, विद्याभूषण और श्रीभूषणके नाम दिये गये हैं। प्रशस्तिका कुछ भाग निम्न प्रकार है—

काष्ठासंघावगच्छे विमलतरगुणे सारनंदीतटांके
ख्याते विद्यागणे वै सकलबुधजनैः सेवनीये वरेण्ये।
श्रीमच्छीरामसेनान्वयतिलकसमा नेम(मि) सेना सुरेन्द्राः
भूयासुस्ते मुनीन्द्रा व्रतनिकरयुता भूमिपैः पूज्यपादाः ॥४५६॥

× × × ×

विद्याभूषणपट्टकंजतरणिः श्रीभूषणो भूषणो
जीयाज्जीवदयापरो गुणनिधिः संसेवितो सज्जनैः ॥

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६८२।

काष्ठासंघसरित्पतिः शशधरो वादी विशालोपमः
सद्व्रतोऽर्कधरातिसुंदरतरो श्रीजैनमार्गानुगः ॥४६१॥
संवत्सरे षोड़शनामधेये एकोनशतषष्टियुते वरेण्ये।
श्रीमार्गशीर्षे रचितं मया हि शास्त्रं च वर्षे विमलं विशुद्धं ॥४६२॥
त्रयोदशीसद्दिवसे विशुद्धं वारे गुरौ शान्तिजिनस्य रम्यं।
पुराणमेतद्विमलं विशालं जीयाच्चिरं पुण्यकरं नराणाम् ॥४६३॥

२. द्वादशांगपूजा

द्वादशांगपूजामें श्रुतज्ञानकी पूजा वर्णित है। प्रशस्तिमें बताया है—

अर्चे आगमदेवतां सुखकरां लोकत्रये दीपिकां।
नीराज्यप्रतिकारकैः क्रमयुगं संपूज्य बोधप्रदां॥
विद्याभूषणसद्गुरो पदयुगं नत्वा कृतं निर्मलं।
सच्छ्रीभूषणसंज्ञकेन कथितं ज्ञानप्रदं बुद्धिदं[1]॥

३. प्रतिबोधचिन्तामणि

इस ग्रन्थमें मूलसंघकी उत्पत्तिकी कथा दी गयी है, जो साम्प्रदायिक विद्वेष[2]-पूर्ण है। इस प्रकार श्रीभूषण भट्टारकने साहित्य और संस्कृतिके प्रचारमें अपूर्व योगदान किया है।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

ये काष्ठासंघ नन्दितटगच्छके भट्टारक विद्याभूषणके प्रशिष्य और भट्टारक श्रीभूषणके शिष्य एवं पट्टधर थे। ये ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे और ईडरकी गद्दीके पट्टस्थान उस समय सूरत, डूंगरपुर, सोजित्रा, झेर और कल्लोल आदि प्रधान नगर थे। पार्श्वनाथपुराणकी प्रशस्तिमें चन्द्रकीर्तिने अपना परिचय अंकित किया है। यों तो नन्दीश्वरपूजा, ज्येष्ठजिनवरपूजा और सरस्वतीपूजामें भी इनका परिचय उपलब्ध होता है। यहाँ पार्श्वनाथ-पुराणकी प्रशस्ति उपस्थित की जाती है—

काष्ठासंघे गच्छनंदीतटीयः श्रीमद्विद्याभूषणाख्यश्च सूरिः।
आसीत्पट्टे तस्य कामांतकारी विद्यापात्रं दिव्यचारित्रधारी॥
यदग्रतो नैति गुरुर्गुरुत्वं श्लाघ्यं न गच्छत्युशनोपि बुद्धया।
मारत्यपि नैति माहात्म्यमुग्रं श्रीभूषणः सूरिवरः स पायात्॥

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६८७।
२. जैन साहित्य और इतिहासके अन्तर्गत साम्प्रदायिक विद्वेषका एक उदाहरण, प्रथम संस्करण, पृ० ३४१, ३४४।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति किस स्थानके पट्टधर थे, इसका निर्णय करना कठिन है। पर इतना निश्चित है कि ये ईडर शाखाके भट्टारक थे।

स्थितिकाल

श्रीभूषणके पश्चात् चन्द्रकीर्तिभट्टारक हुए। इन्होंने संवत् १६५४ में देवगिरि पर पार्श्वनाथ[1]पुराणकी रचना की। वि० सं० १६८१ में इन्होंने एक पद्मावतीकी मूर्ति स्थापित की[2] थी। चन्द्रकीर्तिने दक्षिणकी यात्रा करते समय कावेरीके तीर पर नरसिंह पट्टनमें कृष्णभट्टको बादमें पराजित किया[3]। इस समय चारुकीर्ति भट्टारक भी उपस्थित थे। चिद्घनने चन्द्रकीर्तिकी पर्याप्त प्रशंसा की है। इस प्रशंसासे अवगत होता है कि १७वीं शतीमें चन्द्रकीर्ति बहुत ही लब्धप्रतिष्ठ और यशस्वी भट्टारक थे। लिखा है—

> दक्षिणमें राजत वादिवज्रांकुश चंद्रसुकीर्ति ये चिद्घनरी।
> दिगंबरमें यह सोभित वादिजु मानत पंडित चिद्घन[4] री॥

रचनाएँ

चन्द्रकीर्तिने पार्श्वनाथपुराण, वृषभदेवपुराण, पार्श्वनाथपूजा, नन्दीश्वरपूजा, ज्येष्ठजिनवरपूजा, षोडशकारणपूजा, सरस्वतीपूजा, जिनचौबीसी, पाण्डवपुराण और गुरुपूजा ये रचनाएँ लिखी हैं। पार्श्वपुराण १५ सर्गोंमें विभक्त है। इसकी श्लोकसंख्या २७१५ है। वृषभदेवपुराणमें तीर्थङ्कर वृषभदेवकी कथा २५ सर्गोंमें वर्णित है। अन्य रचनाएँ भाषा, भाव और विचारकी दृष्टिसे साधारण है।

ब्रह्म ज्ञानसागर

काष्ठासंघ, नन्दीतटगच्छमें विश्वसेनके पट्टशिष्य विद्याभूषण हुए हैं। इन्होंने वि० सं० १६०४ में तथा वि० सं० १६३६ में दो पार्श्वनाथमूर्तियाँ स्थापित की हैं। विद्याभूषणके पट्टपर श्रीभूषणभट्टारक हुए। सं० १६३४ में श्वेताम्बरोंसे इनका विवाद हुआ। जिसके परिणामस्वरूप श्वेताम्बरोंको देश

---

१. श्रीमद्देवगिरौ मनोहरपुरे श्रीपार्श्वनाथालये।
वर्षेब्धीषुरसैकमेयइह वै श्रीविक्रमांकेसरे॥
सप्तम्यां गुरुवासरे श्रवणभे वैशाखमासे सिते।
पार्श्वाधीशपुराणमुत्तममिदं पर्याप्तमेवोत्तरम्॥ —पार्श्वनाथपुराणप्रशस्ति

२. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ७१०।

३. वही, लेखांक ७२०।

४. वही, लेखांक ७१९।

त्याग करना पड़ा। इन्हीं श्रीभूषणके प्रधान शिष्य ब्रह्म ज्ञानसागर हुए। इनके सम्बन्धमें इन्हींके द्वारा रचित अक्षरबावनीसे ज्ञात होता है कि काष्ठासंघ नन्दितटगच्छमें रामसेन मुनि हुए और उन्हींकी परम्परामें श्रीभूषणके शिष्य ब्रह्म ज्ञानसागर हुए। दशलक्षणकथाकी प्रशस्तिमें लिखा है—

भट्टारक श्रीभूषणवीर। तिनके चेला गुणगंभीर ॥
ब्रह्म ज्ञानसागर सुविचार। कही कथा दशलक्षणसार[1] ॥

ब्रह्म ज्ञानसागरका समय वि० सं० की १७वीं शती है। इन्होंने निम्नलिखित रचनाएँ लिखी हैं—

१. अक्षरबावनी।
२. नेमिधर्मोपदेश।
३. नेमिनाथपूजा।
४. गोम्मटदेवपूजा।
५. पार्श्वनाथपूजा।
६. जिनचौबीसी।
७. द्वादशीकथा।
८. दशलक्षणकथा।
९. राखीबन्धनरास।
१०. पल्लीविधानकथा।
११. निःशल्याष्टमीकथा।
१२. श्रुतस्कन्धकथा।
१३. मौनएकादशीकथा।

ये सभी रचनाएँ भाषा और भावकी दृष्टिसे साधारण हैं। नेमिधर्मोपदेश हिन्दीमें तथा नेमिनाथपूजा, गोम्मटदेवपूजा और पार्श्वनाथपूजा संस्कृतमें लिखी गयी हैं। शेष सभी ग्रन्थ हिन्दी भाषामें हैं।

सोमसेन

सोमसेन सेनगण और पुष्कर गच्छकी, भट्टारकपरम्परामें हुए हैं। ये गुणभद्र भट्टारकके शिष्य थे। गुणभद्रका नामान्तर गुणसेन भी था। सोमसेन-के सम्बन्धमें पट्टावलीमें पाया जाता है—

"विबुधविविधजनमनइंदीवरविकासनपूर्णशशिसमानानां ·········· सोमसेन-भट्टारकाणाम्[2]।"

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ७०२।
२. वही, लेखांक ३४।

सोमसेनके उपदेशसे शक संवत् १५६१ फाल्गुन शुक्ला पञ्चमीको पार्श्वनाथ और संभवनाथकी मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठापित की गयी थीं।[1]

सोमसेनके शिष्य अभय पण्डित भी कवि और विद्वान् थे। उन्होंने रविव्रत-कथाकी रचना की है। त्रिवर्णाचार और रामपुराणकी प्रशस्तिमें भी इन्होंने अपना परिचय पूर्वोक्त प्रकार ही दिया है। दोनों ग्रन्थोंके प्रशस्तिपद्योंमें पर्याप्त साम्य है। यथा—

श्री मूलसंघे वरपुष्कराख्ये गच्छे सुजातो गुणभद्रसूरिः।
पट्टे च तस्यैव सुसोमसेनो भट्टारकोऽभूद्विदुषां शिरोमणिः॥

रामपुराण ३३।२३३।

× × × ×

श्री मूलसंघे वरपुष्कराख्ये गच्छे सुजातो गुणभद्रसूरिः।
तस्यात्र पट्टे मुनिसोमसेनो भट्टारकोऽभूद्विदुषां वरेण्यः॥

त्रिवर्णाचार, प्रशस्ति, २१३।

स्थितिकाल

सोमसेनका समय वि० सं० की १७ वीं शती है। इन्होंने वि० सं० १६५६ में रविषेण कृत पद्मचरितके आधार पर संस्कृतमें रामपुराणकी रचना की है। वि० सं० १६६६ में इन्होंने 'शब्दरत्नप्रदीप' नामक संस्कृतकोश लिखा है और वि०सं० १६६७की कार्तिकी पूर्णिमाको त्रिवर्णाचारकी समाप्ति की है। अतएव वि० सं० की १७ वीं शतीका उत्तरार्द्ध स्पष्ट है।

सोमसेन अपने समयके प्रभावशाली वक्ता, धर्मोपदेशक और संस्कृति-अनुरागी व्यक्ति थे। इनका भ्रमण राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशोंमें निरन्तर होता रहता था। उदयपुरमें संस्कृतकोश लिखा गया है और वराट देशके जित्वर नगरमें रामपुराण रचा गया है।

रचनाएँ

सोमसेनने निम्नलिखित रचनाएँ निबद्ध की हैं—

१. रामपुराण।
२. शब्दरत्नप्रदीप (संस्कृतकोश)
३. धर्मरसिक—त्रिवर्णाचार।

'रामपुराण' में रामकथा वर्णित है। इस कथाका आधार रविषेणका पद्म-

---

१. शाके १५६१ वर्षे प्रमाथीनामसंवत्सरे फाल्गुन सुदि द्वितीया मूलसंघे सेनगणे पुष्कर-गच्छे भ० श्रीसोमसेन उपदेशात् प्रतिष्ठितम्। —भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ४२।

चरित है। कथावस्तुको आचार्यने ३३ अधिकारोंमें विभक्त किया है। ग्रन्थकी भाषा और शैली सरल होने पर भी प्रवाहमय है। कविने अनुष्टुप् पद्योंके साथ इन्द्रवज्रा, उपजाति, शार्दूलविक्रीड़ित आदि छन्दोंको भी स्थान दिया है।

'शब्दरत्नप्रदीप' संस्कृतभाषाका कोश है। इसमें कविने शब्दोंके अर्थ तो दिये ही हैं, साथ ही उनके प्रकृति, प्रत्यय और लिंगादि भी निर्दिष्ट किये हैं। 'शब्दरत्नप्रदीप' की प्रशस्तिमें सोमसेनने अपनेको अभिनव भट्टारक कहा है। ग्रंथकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

"शुभमस्तु कल्याणं ॥ संवत् १६६६ शाके १५३१ वार्षे श्रावणकृष्णप तिथि प्रतिपदा ॥१॥ शुक्रवासरे ग्रन्थ लिखिते ठा० गोपिचंद उदयपुरस्थाने तिष्ठंत्ये ॥ कल्याणंभवेत् अभिनव भ० श्रीसोमसेनस्येदं पुस्तकम्[1] ।"

धर्मरसिक—त्रिवर्णाचारमें धर्म, अर्थ और काम इन तीनों विषयोंका वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ पर वैदिक धर्मका पूरा प्रभाव है। श्री जुगलकिशोर मुख्तारने अपनी ग्रन्थपरीक्षामें इसका समालोचन किया है। ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें लिखा है—

धर्मार्थकामाय कृतं सुशास्त्रं श्रीसोमसेनेन शिवार्थिनापि।
गृहस्थधर्मेषु सदा रता ये कुर्वंतु तेऽभ्यासमहो सुभव्याः ॥२१३॥

छत्रसेन

मूलसंघ, सेनगण, पुष्करगच्छकी शाखामें सोमसेनके शिष्य जिनसेन हुए और जिनसेनके समन्तभद्र। इन समन्तभद्रका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। छत्रसेनके सम्बन्धमें विशेष उल्लेख नहीं मिलते हैं, पर उनकी रचनाओंमें जो प्रशस्तियाँ अंकित हैं, उनसे ऐसा अनुमान होता है कि छत्रसेन काव्यरचयिता होनेके साथ वाग्मी और प्रतिष्ठाकारक भी थे। बताया गया है—

श्रीमूलसंघमे गछ मनोहर सोभत हे जु अतिहि रसाला।
पुष्करगछ सुसेनगणाश्रित पूज रचे जिनकी गुणमाला ॥
समंतजुभद्रके पट प्रगट भयो छत्रसेन सुवादि विसाला।
अर्जुनसुत कहे भवि सु परवादीको मान मिटे ततकाला[2] ॥

इस प्रकार अर्जुनसुत विहारीदासने छत्रसेनका प्रशंसात्मक परिचय दिया है। विहारीदासने इन्हें काव्य, पुराण और आगमका ज्ञाता तो कहा ही है, साथ ही यह भी बताया है कि, ये सेनगणके भट्टारक समन्तभद्रके शिष्य थे।

---

१. भट्टारक् सम्प्रदाय, लेखांक ४०।
२. भट्टारकसम्प्रदाय, लेखांक ६२।

छत्रसेनके अनन्तर नरेन्द्रसेन पट्टाधीश हुए। इन्होंने शक संवत् १६५२में ज्ञानयन्त्र प्रतिष्ठित किया है। सूरतमें रहते हुए इन्होंने वि०सं० १७९०में आश्विन कृष्णा त्रयोदशीमें यशोधरचरितकी प्रति लिखी है। नरेन्द्रसेनने पार्श्वनाथपूजा और वृषभनाथपालना रचनाएँ भी लिखी हैं।

छत्रसेनके एक शिष्य हीरा नामके हुए हैं, जिन्होंने संवत् १७५४में कडलशाह्की प्रेरणासे वृषणपुरमें 'अनिरुद्धहरण'की रचना की है। छत्रसेनका समय एक प्रतिष्ठित मूर्तिके आधार पर वि०सं० १७५४के आसपास है। इनके उपदेशसे सं० १७५४में पार्श्वनाथकी मूर्ति प्रतिष्ठित हुई है। कारञ्जा गद्दीके ये भट्टारक हैं। रचनाओंके आधार पर भी छत्रसेनका समय वि०सं० की १८वीं शती सिद्ध होता है।

रचनाएँ

छत्रसेनने संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओंमें रचनाएँ लिखी हैं। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. द्रौपदीहरण (हिन्दी),
२. समवशरण षटपदी (हिन्दी),
३. मेरुपूजा (संस्कृत),
४. पार्श्वनाथ पूजा (संस्कृत),
५. अनन्तनाथस्तोत्र (संस्कृत),
६. पद्मावतीस्तोत्र (संस्कृत),
७. झूलना (हिन्दी),
८. छत्रसेनगुरु आरती (हिंन्दी)।

रचनाएँ सामान्यतः अच्छी हैं। अनन्तनाथस्तोत्रका एक पद्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

भुवनविदितभावं देवदेवेंद्रवंद्यं परमजिनमनंतं स्तौति यो शुद्धभावैः।
भवति सुभगसर्गी मुक्तिनाथश्च नित्यं स्तवनमिदमनिंद्यं भाषितं छत्रसेनैः[1]॥

वर्द्धमान द्वितीय

बलात्कारगण कारञ्जा शाखामें विशालकीर्ति आचार्य हुए हैं। इन्होंने सुल्तान सिकन्दर, विजयनगरके महाराज विरूपाक्ष और आरगनगरके दण्डनायक देवप्पकी सभाओंमें सम्मान प्राप्त किया था। इन्हीं विशालकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि हुए। इन्होंने श्रीरंगपट्टनके वीर पृथ्वीपति, सालुव कृष्णदेव, विजय-

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ५८।

नगरके सम्राट् श्रीकृष्णराय और सुल्तान अल्लाउद्दीनसे सम्मान प्राप्त किया था। इन्हींके शिष्य भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति हुए और देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य भट्टारक वर्द्धमान द्वितीय थे। वर्द्धमान द्वितीयने अपने दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमें अपना परिचय संक्षेप रूपमें प्रस्तुत किया है और अपनेको देवेन्द्रकीर्तिका शिष्य बताया है। लिखा है—

बलात्कारगणाम्भोजभास्करस्य महाद्युतेः।
श्रीमद्देवेन्द्रकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणेः॥
शिष्येण ज्ञातशास्त्रार्थस्वरूपेण सुधीमता।
जिनेन्द्रचरणाद्वैतस्मरणाधीनचेतसा ॥
वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना।
कथितं दशभक्त्यादिशासनं भव्यसौख्यदम्[१]॥

निश्चयतः वर्द्धमान द्वितीय अपने समयके प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्योंमें धरसेन, समन्तभद्र, आर्यसेन, अजितसेन, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, लोकसेन, आशाधर, कमलभद्र, नरेन्द्रसेन, धर्मसेन, रविषेण, कनकसेन, दयापाल, रामसेन, माधवसेन, लक्ष्मीसेन, जयसेन, नागसेन, मतिसागर, रामसेन और सोमसेनका स्मरण किया है। इन आचार्योंके अतिरिक्त श्रुतकीर्ति, विजयकीर्ति, पद्मप्रभ, भट्टाकलंक वा चन्द्रप्रभका भी स्मरण किया है। ऐतिहासिक अध्ययनकी दृष्टिसे दशभक्त्यादिमहाशास्त्र बहुत ही उपयोगी है।

इस महाशास्त्रकी रचना शक संवत् १४६४ (वि०सं० १५९९)में हुई है। लिखा है—

शाके वह्निखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे शार्वरे।
शुद्धश्रावणभाक्कृतान्तधरणीतुग्मैत्रमेषे रवौ।
कर्किस्थे सुगुरौ जिनस्मरणतो वादींद्रवृन्दार्चित-
विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानंदकः॥

—दशभक्त्यादिमहाशास्त्र, अन्तिम प्रशस्ति।

रचना

वर्द्धमान द्वितीयकी एक ही रचना दशभक्त्यादिमहाशास्त्र उपलब्ध है। यह रचना संस्कृतमें लिखी गयी है।

गंगादास

धर्मचन्द्र विशालकीर्तिके पट्ट शिष्य थे। बलात्कारगण कारञ्जा शाखामें

---

१. दशभक्त्यादिमहाशास्त्र, प्रशस्तिभाग—प्रशस्ति संग्रह आरा, पृ० १४३।

धर्मचन्द्र नामके चार विद्वान् हुए हैं। एक देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य धर्मचन्द्र हैं। द्वितीय कुमुदचन्द्रके शिष्य धर्मचन्द्र हैं, तृतीय विशालकीर्तिके शिष्य धर्मचन्द्र हैं और चतुर्थ देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य धर्मचन्द्र हैं। विशालकीर्तिके पट्टशिष्य धर्मचन्द्रने शक संवत् १६०७ फाल्गुन कृष्णा दशमीको चौबीसी मूर्तिकी स्थापना की। इन्होंने शक संवत् १६१२ ज्येष्ठ कृष्णा सप्तमीको पद्मावतीकी मूर्ति स्थापित की है। धर्मचन्द्रके शिष्य गंगादासने वि० सं० १७४३ श्रावण शुक्ला सप्तमीको श्रुतस्कन्ध कथाकी एक प्रति लिखी है। हमारे द्वारा विवेच्य गंगादास विशालकीर्तिके पट्टशिष्य धर्मचन्द्रके शिष्य हैं। इनकी पण्डित उपाधि थी। इससे यह ज्ञात होता है कि इन्हें भट्टारकका पट्ट प्राप्त नहीं हुआ था। श्रुतस्कन्धकथाकी प्रशस्तिमें लिखा है—

"सं० १७४३ वर्षे श्रावण सुदि ७ शुक्रे भ० श्री६ धर्मचन्द्रः तस्य पंडित गंगादास लिखितं। श्रीकार्यरंजकनगरे श्रीचंद्रप्रभचैत्यालये[1]।"

गंगादासने श्रुतस्कन्धकथाके अतिरिक्त शक संवत् १६१२ पौष शुक्ला त्रयोदशीको पार्श्वनाथभवान्तरकी रचना तथा शक संवत् १६१५ की अषाढ़ शुक्ला द्वितीयाको आदित्यवारकथाकी रचना की है। इनके अतिरिक्त सम्मेदाचलपूजा, त्रेपनक्रियाविनती, जटामुकुट और क्षेत्रपालपूजा भी इन्होंने लिखी हैं। क्षेत्रपालपूजा और सम्मेदाचलपूजा संस्कृतभाषामें लिखी गयी हैं और इनकी रचनाकी प्रेरणा संघपति मेघा और शोभाके द्वारा प्राप्त हुई है।

देवेन्द्रकीर्ति

धर्मचन्द्रके पश्चात् बलात्कार गणकी कारञ्जा शाखामें देवेन्द्रकीर्ति पट्टाधीश हुए। इन्होंने कारञ्जा निवासी बघेरवाल शिष्योंके साथ शक संवत् १६४३ की पौष कृष्णा द्वादशीको श्रवणवेलगोलकी यात्रा की। इस यात्राका उल्लेख श्रवणवेलगोलके अभिलेखोंमें निम्न प्रकार हुआ है—

"सके १६४३ पौस वदि १२ शुक्रवारे भण्डेवेडकीर्ति (देवेन्द्रकीर्ति) सहित उघरवल जाति हीरासाहू सुत हाससा सुत चागेवा सोनाबाई राजाई गोमाई राधाई, मन्नाई सहित जात्रा सफल करी कारज[2] कर।"

शक संवत् १६५० की पौष शुक्ला द्वितीयाको आपने नासिकके पास त्र्यम्बक ग्रामके पार्श्ववर्ती गजपंथ पर्वतकी वन्दना की थी। तदनन्तर ११ दिनके पश्चात्

१. भट्टारकसम्प्रदाय, लेखांक १३७।

२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभि० सं० ३६६, पृ० ३४५।

मांगीतुंगी पर्वतकी यात्रा की। इस समय जिनसागर, रत्नसागर, चन्द्रसागर, रूपजी, वीरजी, आदि क्षात्र भी आपके साथ थे। इसके पश्चात् गिरिनारकी यात्राके लिये जाते हुए आप सूरतमें ठहरे। वहाँ माघ शुक्ला प्रतिपदाको आणन्द नामक श्रावकने 'णायकुमारचरिउ'की एक प्रति आपको अर्पित की। शक संवत् १६५१ की वैशाख कृष्णा त्रयोदशीको इन्होंने केसरियाजीकी यात्रा की तथा उसी वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमीको तारंगा पर्वत और कोटिशिलाकी वन्दना की। इसी वर्ष पौष कृष्णा द्वादशीको गिरिनारकी और माघकृष्णा चतुर्थीको शत्रुञ्जय पर्वतकी यात्रा की और मार्गमें सूरतमें पड़ाव डाला।

वि० सं० १७२७की भाद्रपद शुक्ला पञ्चमीको आर्यिका पासमतीके लिए श्रीचन्द्र विरचित कथाकोशकी एक प्रति लिखवायी। इनके द्वारा लिखी एक नन्दीश्वर-आरती भी उपलब्ध है। आगरानिवासी बनारसीदासके पुत्र जीवन-दासको पहले इनके विषयमें अनादर था, किन्तु सूरतके चातुर्मासमें इनकी विद्वत्ता देखकर वे इनके शिष्य बन गये। बुद्धिसागर और रूपचन्दने भी इनकी स्तुति की है। इनके शिष्य माणिकनन्दिने शक संवत् १६४६ की भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशीको अनन्तनाथ-आरतीकी रचना की है। अतएव इनका समय वि० सं० की १८वीं शती सुनिश्चित है। देवेन्द्रकीर्तिने कल्याणमन्दिरपूजा, विषापहार-पूजा इन दो पूजाग्रन्थोंकी रचना की है। ये दोनों रचनाएँ साधारण हैं। रच-नाएँ संस्कृत भाषामें हैं। कल्याणमन्दिरमें रचनाकालका निर्देश भी किया गया है। यथा—

गुणवेदांगचंद्राब्दे शाके १६४३ फाल्गुनमास्येदं।
कारंजाख्यापुरे दृष्टं चन्द्रनाथदेवार्चनम्॥

इति श्रीबलात्कारगणेयं भ० देवेन्द्रकीर्तिविरचितम्। कल्याणमंदिरपूजा संपूर्णम्[1]॥

जिनसागर

बलात्कारगण कारञ्जा शाखाके भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके शिष्योंमें जिनसागर प्रमुख हैं। जिनसागरने शक संवत्‌की १७वीं शती और वि० सं० की १८वीं शती में कई रचनाएँ लिखी हैं। कवि संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओंके विद्वान हैं, पर इनकी अधिकांश रचनाएँ हिन्दीमें पायी जाती हैं। अब तक इनकी निम्नलिखित रचनाओंकी सूचनाएँ प्राप्त हैं—

१. आदित्यव्रतकथा (शक संवत् १६४६ चैत्रकृष्णा पंचमी),

२. जिनकथा (शक सं० १६४९)

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक १५०।

३. पद्मावतीकथा (शक सं० १६५२ आश्विन शुक्ला द्वादशी),
४. पुष्पाञ्जलिकथा (शक सं० १६६०),
५. लवणांकुशकथा,
६. अनन्तकथा,
७. सुगन्धदशमीकथा,
८. जीवन्धरपुराण (शक सं० १६६६ वैशाख शुक्ला द्वादशी),
९. नन्दीश्वरउद्यापन,
१०. आदिनाथस्तोत्र,
११. शान्तिनाथस्तोत्र,
१२. पार्श्वनाथस्तोत्र,
१३. पद्मावतीस्तोत्र,
१४. क्षेत्रपालस्तोत्र,
१५. ज्येष्ठजिनवरपूजा,
१६. शान्तिनाथआरती ।

सुरेन्द्रभूषण

साहित्य और संस्कृतिके परिपोषकोंमें बलात्कारगण और अटेर शाखाका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस शाखामें सिंहकीर्ति, धर्मकीर्ति, शीलभूषण, ज्ञानभूषण, जगतभूषण, विश्वभूषण, देवेन्द्रभूषण और सुरेन्द्रभूषणका नामोल्लेख मिलता है। सुरेन्द्रभूषण देवेन्द्रभूषणके शिष्य थे। इन्होंने संवत् १७६० फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदाको सम्यग्ज्ञानयन्त्र; सं० १७६६ माघ शुक्ला पंचमीको षोडशकारण यन्त्र; सं० १७७२ फाल्गुन कृष्णा नवमीको सम्यग्दर्शनयन्त्र और सं० १७९१ को फाल्गुन कृष्णा नवमीको अटेरमें दशलक्षणयन्त्रकी स्थापना की। अतएव सुरेन्द्रभूषण भट्टारकका समय वि० सं० की १८वीं शतीका उत्तरार्द्ध है। सम्यग्दर्शनयन्त्रपर निम्नलिखित अभिलेख अंकित है—

"सं० १७७२ वर्षे फाल्गुन वदि ९ चंद्रे श्रीमूलसंघे....भ० श्रीदेवेन्द्रभूषणदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीसुरेन्द्रभूषणदेवाः तस्मात् ब्रह्म जगतसिंह गुरूपदेशात् तदाम्नाये लंबकंचुकान्वये बुढेले ज्ञातीये ककौआ गोत्रे श्री सा सिवरामदास भार्या देवजावी....[1]"।

सुरेन्द्रभूषणकी एक ही रचना 'ऋषिपंचमी'कथा उपलब्ध है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें रचनाकाल वि० सं० १७५७ अंकित है। कविने इसे श्रावकोंके पढ़ने-पढ़ानेके लिये लिखा है।

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ३२१ .

महेन्द्रसेन

काष्ठासंघ नन्दितटगच्छके आचार्योंमें रत्नकीर्ति, लक्ष्मीसेन, भीमसेन, सोमकीर्ति, विजयसेन, यशःकीर्ति, उदयसेन, त्रिभुवनकीर्ति, रत्नभूषण, जयकीर्ति, केशवसेन, विश्वकीर्ति, धर्मसेन, विमलसेन, विशालकीर्ति, विश्वसेन, विजयकीर्ति, विद्याभूषण, श्रीभूषण आदि आचार्य हुए। महेन्द्रसेनके गुरु विजयकीर्ति थे। इस परम्परामें धर्मसेनके पश्चात् विमलसेन और विशालकीर्तिके नाम आये हैं। विशालकीर्तिके शिष्य विश्वसेनने वि० सं० १५९६ में एक मूर्ति स्थापित की थी। इनके द्वारा लिखित आराधनासारटीका भी उपलब्ध है। विश्वसेनके दो शिष्य हुए विजयकीर्ति और विद्याभूषण। इन विजयकीर्तिके शिष्य महेन्द्रभूषण हैं। इनका समय वि० की १७वीं शतीका अन्तिम पाद और १८वीं शतीका प्रथम पाद है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—सीताहरण और बारहमासा। सीताहरणमें निम्नलिखित प्रशस्ति उपलब्ध होती है—

काष्ठासंघशृङ्गारविविधविद्यारससागर।
नंदीतटगच्छकाव्य पुराण गुण आगर॥
सूरि विश्वसेन पाटि प्रगट सूरि विजयकीर्ति वंदितचरण।
महेंद्रसेन एवं वदति राम सीता मंगलकरण[1]॥

सुरेन्द्रकीर्ति

काष्ठासंघ नन्दीतटगच्छकी शाखामें इन्द्रभूषणके पश्चात् सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए। इन्होंने वि० सं० १७४४ में रत्नत्रय यंत्र, वि० सं० १७४७ में मेरुमूर्ति एवं इसी वर्ष एक रत्नत्रय यंत्रकी स्थापना की। रत्नत्रय यंत्रके अभिलेखमें काष्ठासंघ और नन्दितटगच्छके आचार्योंमें इन्द्रभूषण और उनके शिष्य सुरेन्द्रकीर्तिका उल्लेख आया है—

"संवत् १७४४ सके १६०९ फाल्गुण सुद १३ श्रीकाष्ठासंघे लाडबागडगच्छे भ० प्रतापकीर्त्याम्नाये बघेरवालज्ञाती गोवाल गोत्रे सं० पदाजी भार्यातानाई.... प्रणमंति। श्रीकाष्ठासंघे नंदीतटगच्छे भ० इन्द्रभूषण तत्पट्टे भ० सुरेंद्रकीर्तिः[2]।"

सुरेन्द्रकीर्तिने वि०सं० १७५३में चौबीसी मूर्तिकी तथा संवत् १७५४ और सं० १७५६में केसरियाजी क्षेत्र पर दो चैत्याल्योंकी प्रतिष्ठा की है। अतएव सुरेन्द्रकीर्तिका समय वि०सं० की १८वीं शती है। सुरेन्द्रकीर्तिकी निम्नलिखित रचनाएँ प्राप्त हैं—

१. पद्मावती पूजा (वि०सं० १७७३),

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६७४।
२. वही, लेखांक ७४४।

२. कल्याणमन्दिर (छप्पय),
३. एकीभाव (छप्पय),
४. विषापहार (छप्पय),
५. भूपाल (छप्पय) ।

सुरेन्द्रकीर्तिके शिष्य धनसागरने सं० १७५१में 'नवकारपच्चीसी' तथा सं० १७५३में 'विहरमान तीर्थंकर स्तुति'की रचना की है ।

इनके एक अन्य शिष्य पामोने सं० १७४९में 'भरत-भुजवलिचरित' लिखा है । सुरेन्द्रकीर्तिके शिष्य देवेन्द्रकीर्तिने 'पुरन्दरव्रतकथा'की रचना की है ।

ललितकीर्ति

भट्टारक ललितकीर्ति काष्ठासंघ माथुरगच्छ और पुष्करगणके भट्टारक जगतकीर्तिके शिष्य हैं । ये दिल्लीकी भट्टारकीय गद्दीके पट्टधर थे । ये बड़े विद्वान और वक्ता थे । मन्त्र-तन्त्र आदि कार्योंमें भी निपुण थे । भट्टारक ललितकीर्तिके समयमें वि०सं० १८६१में फतेहपुरमें दशलक्षणव्रतका उद्यापन हुआ था । इस अवसर पर निर्मित दशलक्षण यन्त्र पर अंकित अभिलेखसे इनका परिचय प्राप्त होता है । अभिलेख निम्नप्रकार है—

"सं० १८६१ शक १७२६ मिती वैशाख सुदी ३ शनिवार श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे .... भ० देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० जगतकीर्ति तत्पट्टे भ० ललितकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहजी जठमलजी तत् भार्या कृषा....श्रीबृहत् दशलक्षणयन्त्र करापितं उद्यापितं फतेहपुरमध्ये जतीहरजीमल श्रीरस्तु सेखावत लक्षमणसिंहजी'राज्ये" ।

वि०सं० १८८१में पमोसामें एक मन्दिरका निर्माण हुआ है । इन्होंने वि०सं० १८८५में महापुराणकी टीका भी लिखी है ।

भट्टारक ललितकीर्ति अत्यन्त प्रभावक थे । इन्होंने दिल्लीके बादशाह अल्लाउद्दीन खिलजीसे ३२ फरमान और फिरोजशाह तुगलकसे ३२ उपाधियाँ प्राप्त की थीं । भट्टारक ललितकीर्ति दिल्लीसे कभी-कभी फतेहपुर जाया करते थे और वहाँ महीनों ठहरते थे । वहाँ उनके शिष्योंकी संख्या बहुत थी ।

ललितकीर्तिने महापुराणकी टीका तीन खण्डोंमें समाप्त की है । प्रथम खण्डमें ४२ पर्व हैं और द्वितीय खण्डमें ४३से ४७वें पर्व तककी टीका है । इस

१. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६१५ ।

द्वितीय खण्डको उन्होंने वि०सं० १८८५में पूर्ण किया है। इसके पश्चात् ललित-कीर्तिने तृतीयखण्डमें उत्तरपुराणकी टीका रची है।

ललितकीर्तिके नामसे अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये सभी रचनाएँ इन्हीं ललितकीर्त्ति की हैं या दूसरे ललितकीर्ति की। इन ललितकीर्तिका समय वि०सं० की १९वीं शती निश्चित है। श्री पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने ललितकीर्तिके नामसे निम्नलिखित २४ रचनाओंका निर्देश किया है—

१. सिद्धचक्रपाठ,
२. नन्दीश्वरव्रत कथा,
३. अनन्तव्रत कथा,
४. सुगन्धदशमी कथा,
५. षोडशकारण कथा,
६. रत्नत्रयव्रत कथा,
७. आकाशपञ्चमी कथा,
८. रोहिणीव्रत कथा।
९. धनकलश कथा,
१०. निर्दोषसप्तमी कथा,
११. लब्धिविधान कथा,
१२. पुरन्दरविधान कथा,
१३. कर्मनिर्जरचतुर्दशीव्रत कथा,
१४. मुकुटसप्तमी कथा,
१५. दशलाक्षणीव्रत कथा,
१६. पुष्पाञ्जलिव्रत कथा,
१७. ज्येष्ठजिनवर कथा,
१८. अक्षयनिधिदशमी व्रत कथा,
१९. निःशल्याष्टमी विधान कथा,
२०. रक्षाविधान कथा,
२१. श्रुतस्कन्ध कथा,
२२. कञ्जिकाव्रत कथा,
२३. सप्तपरमस्थान कथा,
२४. षट्रस कथा।

परम्परापोषक आचार्योंके अन्तर्गत भट्टारकोंकी गणना की जाती है।

इन्होंने मूर्ति-मन्दिरप्रतिष्ठा, पुराण, कथा, पूजा-पाठ, स्तोत्र आदिकी रचना एवं मन्त्र-तन्त्रोंका चमत्कार दिखला कर जैन संस्कृतिकी रक्षा की है। भट्टारकोंने अपने कला-कौशल, काव्यप्रतिभा, आध्यात्मिकता आदिके कारण तत्कालीन शासकोंको भी प्रभावित किया है। ये ई० सन्की ९वीं, १०वीं शतीसे ही जैन-साहित्य और संस्कृतिका प्रचार करते रहे हैं। हमने यहाँ प्रमुख साहित्यसेवी भट्टारकोंका ही परिचय प्रस्तुत किया है, क्योंकि इनके द्वारा तीर्थंकर महावीरकी परम्परा सुरक्षित रह सकी है।